हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला—ग्रन्थ १

पण्डितवरश्रीवामनविरचिता

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः

['काव्यालङ्कारदीपिका' हिन्दीव्याख्याविभूषिता]

व्याख्याकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

अध्यक्ष, 'श्रीधर अनुसन्धान विभाग'

गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

तथा

सम्मान्य सदस्य, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

दिल्ली विश्वविद्यालय

सम्पादक

डा० नगेन्द्र, एम.ए., डी.लिट्.
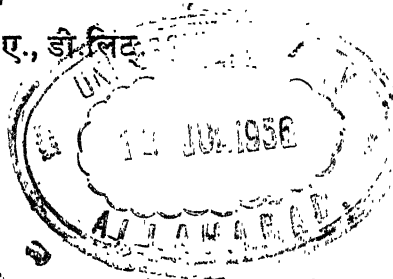
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

की ओर से

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

द्वारा प्रकाशित

आचार्य वामन

भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में आचार्य वामन की कीर्ति अक्षय है। वे उन आचार्यों में से हैं जिन्होंने मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना कर एक नवीन काव्य-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

वामन का जीवन-वृत्त भी संस्कृत के अन्य कवियों तथा आचार्यों की भांति ही तमसाच्छन्न है। उनके वंश, माता-पिता, संतान आदि के विषय में इतिहास सर्वथा मौन है। आविर्भाव काल के विषय में भी कोई निश्चित तथ्य उपलब्ध नहीं है—परन्तु वामनीय ग्रंथ के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उसकी सीमाएं निर्धारित करना कठिन नहीं है। वामन के सिद्धान्त और उनके सूत्र, वृत्ति, श्लोक आदि के उल्लेख-उद्धरण राजशेखर, प्रतिहारेन्दुराज और अभिनव गुप्त में स्पष्ट मिलते हैं। राजशेखर ने वामन और उनके सम्प्रदाय का उल्लेख वामनीयाः रूप में किया है। 'ते च द्विधाऽरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च'। कवयोऽपि भवन्ति इति वामनीयाः। अर्थात् वे दो प्रकार के होते हैं। अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। वामनीयों के मत से कवियों के भी उपर्युक्त दो प्रकार होते हैं। राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। उधर प्रतिहारेन्दुराज और अभिनव गुप्त ने भी स्थान स्थान पर वामन के उद्धरण दिये हैं। एक स्थान पर अभिनवगुप्त ने

> अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत् पुरःसरः।
> अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥

इस श्लोक के विवेचन में लिखा है।

का विवेचन है। तीसरा अधिकरण है 'गुण-विवेचन' जिसमें सबसे पहले तो वामन ने गुण और अलङ्कार का भेद स्पष्ट किया है—तदुपरान्त शब्द गुण और अर्थ-गुण का विस्तृत विवेचन है। इस अधिकरण में वामन ने शब्द-गुण और अर्थ-गुण का पार्थक्य प्रतिपादित करते हुए दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुणों की सूक्ष्म विवेचना की है। चौथे अधिकरण 'आलङ्कारिक' में अलङ्कारों का व्याख्यान है—और 'प्रायोगिक' नामक पंचम अधिकरण में शब्द-शुद्धि तथा संदिग्ध शब्दों के प्रयोग आदि की विस्तार से चर्चा है। यह अधिकरण संस्कृत व्याकरण पर आश्रत है—अतः हिन्दी के विद्यार्थी के लिए इसकी विशेष सार्थकता नहीं है। परन्तु इससे वामन की निर्भ्रान्त समीक्षा-दृष्टि तथा सूक्ष्म व्याकरण ज्ञान का परिचय मिलता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में मौलिकता की दृष्टि से वामन के ग्रन्थ के अनेक प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि उसकी अत्यन्त कठोर आलोचना की है, फिर भी उसकी महत्ता असंदिग्ध है। मध्ययुग में दुर्भाग्य-वश इसका प्रचार लुप्त हो गया था। वामन के टीकाकार सहदेव के साक्ष्या-नुसार मुकुल भट्ट नामक काश्मीरी पण्डित ने कहीं से इसकी प्रति प्राप्त कर इसका जीर्णोद्धार किया। सहदेव के अतिरिक्त गोपेन्द्र (तिप्पभूपाल), भट्ट गोपाल तथा महेश्वर आदि ने भी काव्यालंकारसूत्र पर टीकाएं लिखी हैं।

वामन के काव्य-सिद्धान्त

विवेचन क्षेत्र :

आचार्य वामन ने सामान्य रूप से काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, अधि-कारी, काव्य-हेतुक, काव्य की आत्मा तथा काव्य के रूप आदि का, और विशेष रूप से रीति, गुण—शब्दगुण तथा अर्थ-गुण, अलंकार, दोष और शब्द-प्रयोग आदि का सूक्ष्म विवेचन किया है। काव्य के प्रसिद्ध दशांग में से उन्होंने रस और शब्द-शक्ति की समीक्षा नहीं की; ध्वनि का तो उस समय प्रश्न ही नहीं था। नायिका-भेद का सम्बन्ध रस और रूपक से ही अधिक है, इसलिए वामन की योजना में उसको भी कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ, वैसे भी गंभीर रुचि के आचार्यों ने उसको उपेक्षा ही की है। इस प्रकार वामन ने काव्य के बहिरंग को प्रमुख रूप से अपना विवेच्य माना है, और उसी की सांगोपांग तथा सूक्ष्म-गहन व्याख्या की है। काव्य के आन्तरिक

तत्वों में उन्होंने गुणों को ही ग्रहण किया है—रस का गुण के ही एक तत्व रूप में उल्लेख किया गया है।

काव्य की परिभाषा और स्वरूप :

वामन ने यद्यपि काव्य की परिभाषा पृथक रूप से नहीं दी, फिर भी आरम्भ में ही उन्होंने काव्य के लक्षण और स्वरूप का निर्देश किया है : काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते—अर्थात् गुणों और अलङ्कारों से संस्कृत (भूषित) शब्द और अर्थ के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग होता है। इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है :—काव्य अलङ्कार के कारण ही ग्राह्य होता है।* अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य और सौन्दर्य का समावेश दोषों के बहिष्कार और गुण तथा अलंकार के आदान से होता है। गुण नित्य धर्म हैं, अलङ्कार अनित्य—केवल गुण सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं परन्तु केवल अलङ्कार नहीं :—अर्थात् गुण की स्थिति अनिवार्य है, अलङ्कार की वैकल्पिक। इस प्रकार वामन के अनुसार गुणों से अनिवार्यतः और अलङ्कारों से साधारणतः युक्त तथा दोष से रहित शब्द-अर्थ का नाम काव्य है। वामन की इसी परिभाषा को ध्वनिवादी मम्मट ने यथावत् स्वीकार करते हुए काव्य का लक्षण किया है : तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि—काव्य उस शब्दार्थ का नाम है जो दोषों से रहित और गुणों से युक्त हो—साधारणतः अलंकृत भी हो परन्तु यदि कहीं अलंकार न भी हो तो कोई हानि नहीं। अर्थात् दोषों से रहित तथा गुणों से अनिवार्यतः एवं अलङ्कारों से साधारणतः युक्त शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं। मम्मट ने वामन का सिद्धान्त रूप से घोर विरोध किया है, परन्तु काव्य-लक्षण उन्होंने वामन का ही ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में वामन के पूर्व भरत, भामह और दण्डी के काव्य-लक्षण मिलते हैं। भरत का वामन से मौलिक मतभेद है, भरत अन्तर्तत्व-रस को प्रधानता देते हैं, वामन बाह्य तत्व रीति को। भामह और दण्डी भी देहवादियों में ही आते हैं, अतएव इस प्रसंग में उन्हीं के लक्षणों का तुलनात्मक विवेचन अधिक सार्थक होगा।

भामह का लक्षण इस प्रकार है : शब्दार्थौ सहितौ काव्यं—सहित अर्थात् सामंजस्यपूर्ण शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं। भामह ने शब्द और अर्थ

---

* काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ॥१॥ सौन्दर्यमलंकारः ॥२॥ स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम् ॥३॥ (काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः १,१)

'वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्।' लोचन, पृ० ३७।

अर्थात् इस श्लोक में वामन के अनुसार आक्षेपालंकार है और भामह के अनुसार समासोक्ति। इस आशय को अपने मन में रख कर ग्रन्थकार आनन्दवर्धन ने समासोक्ति और आक्षेप दोनों का यह एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि अभिनव के मत से वामन आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती हैं—अर्थात् उनका आविर्भाव सन् ८५० ई० से पूर्व हुआ था।

यह तो हुई परवर्ती सीमा।

अब पूर्ववर्ती सीमा लीजिए। वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में कालिदास, भवभूति, बाण, माघ आदि के छन्द उद्धृत किये हैं जिनसे स्पष्ट है कि वे निस्संदेह ही इन कवियों के परवर्ती थे। भवभूति-कृत उत्तररामचरित के 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः'—आदि पद को वामन ने रूपक अलंकार के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है। इन कवियों में भवभूति का समय, जैसा कि डा० भण्डारकर ने मालती माधव की भूमिका में युक्ति-पूर्वक निर्देश किया है, सन् ७०० और ७४० के बीच में पड़ता है। उपर्युक्त शेष कवि प्रायः भवभूति के पूर्ववर्ती ही हैं—अतएव ७४० ई० को वामन के आविर्भाव काल की पूर्वावधि माना जा सकता है।

उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त वामन के विषय में एक बहिःसाक्ष्य भी उपलब्ध है। राजतरंगिणी में कल्हण ने काश्मीर के अधिपति जयापीड के मंत्रिमंडल में वामन का नाम भी लिखा है:

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मंत्रिणः॥

राजतरंगिणी ४।४९७

काश्मीरी पण्डितों में यह अनुश्रुति है कि ये ही वामन काव्यालंकारसूत्र के रचयिता थे और ये उद्भट के समकालीन एवं प्रतिद्वन्द्वी थे। प्रसिद्ध भारत-विद्या-विशारद बुहूलर इसे मान्यता देने को प्रस्तुत हैं। वास्तव में इसके

विरुद्ध कोई प्रमाण मिलता भी नहीं है। वामन ने अपने विवेचन में दण्डनीति की शिक्षा आदि तथा कवि और काव्य के आभिजात्य पर जो बल दिया है उससे इस प्रवाद की यत्किंचित पुष्टि भी होती है। जयापीड का राज्यकाल ८०० ई० है।

इस प्रकार वामन का आविर्भाव काल ७५० ई० और ८५० ई० के आस-पास ८०० ई० के लगभग निर्धारित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त वामन के जीवन-वृत्त के विषय में और कोई विशेष तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। उनके ग्रन्थ के अध्ययन से यह विदित होता है कि वे काव्य, काव्य-शास्त्र, दण्डनीति, व्याकरण आदि के निष्णात पण्डित थे—उनके स्वभाव में आभिजात्य और विचार में स्वच्छता थी। अभिनव गुप्त ने काव्यालंकारसूत्र में उद्धृत आक्षेपालंकार के उदाहरणों को वामन की ही अपनी रचना माना है—जिससे प्रतीत होता है कि इन्होंने कदाचित् थोड़ी बहुत काव्य-रचना भी की थी।

ग्रंथ :—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन का एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है काव्यालङ्कार-सूत्र। इसके तीन अंग हैं सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने निर्देश किया है सूत्र-शैली में लिखा हुआ काव्यशास्त्र का कदाचित् यह एकमात्र ग्रन्थ है। साधारणतः भरत से लेकर अन्तिम आचार्यों तक सभी ने कारिका और वृत्ति की शैली ही अपनाई है। इस ग्रन्थ का वृत्ति भाग भी वामन का ही है जिसे उन्होंने कविप्रिया नाम दिया है :

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥

काव्यालंकारसूत्र का उपर्युक्त मंगल-श्लोक वृत्ति के विषय में कोई संदेह ही नहीं छोड़ता। इसके अतिरिक्त प्रतिहारेन्दुराज, अभिनव गुप्त आदि सभी ने वृत्ति को वामन की ही रचना माना है। इसीलिए ग्रन्थ का नाम भी काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ही अधिक प्रसिद्ध है।

काव्यालङ्कारसूत्र में पांच अधिकरण हैं—और ये अधिकरण अध्यायों में विभक्त हैं। पहले अधिकरण में वामन ने काव्य की परिभाषा, काव्य के अंग, प्रयोजन, काव्य की आत्मा—रीति, काव्य-सहायक अर्थात् काव्यहेतुक, अधिकारी, काव्य के रूप आदि मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन किया है। दूसरे में 'दोष-दर्शन' है जिसके अन्तर्गत पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों

के सामंजस्य को काव्य की संज्ञा दी है। इसी प्रकार दण्डी ने काव्य को 'इष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली'—अर्थात् अभिलषित अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली माना है। उपर्युक्त दोनों लक्षणों में केवल शब्दावली का भेद है—इष्टार्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द—और शब्द-अर्थ का साहित्य या सामंजस्य एक ही बात है क्योंकि शब्द इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति तभी कर सकता है जब शब्द और अर्थ में पूर्ण सामंजस्य एवं सहभाव हो। आगे चलकर भामह और दण्डी के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही काव्य-सौन्दर्य है और वह अलङ्कार से अभिन्न है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य निसर्गतः अलङ्कार-युक्त होता है। भामह और दण्डी ने वास्तव में गुण और अलङ्कार में भेद नहीं किया—दोनों ही अलङ्कार हैं। देहवादी आचार्यों में कुन्तक का स्थान अन्यतम है। उनका मत है कि वक्रोक्तियुक्त बन्ध (पद-रचना) में सहभाव से व्यवस्थित शब्द-अर्थ ही काव्य है—

> शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं···· ।

यहां भी मूल तथ्य वही है—वचन-भंगिमा भिन्न है। 'गुण और अलङ्कार से युक्त' के स्थान पर कुन्तक ने केवल एक शब्द 'वक्रकविव्यापारशाली' प्रयुक्त किया है : वास्तव में भामह तथा दण्डी के अलङ्कार और वामन के गुण तथा अलंकार को कुन्तक ने वक्रोक्ति में अन्तर्भूत कर लिया है—और वे उसी के प्रस्तार मात्र बन गए हैं।

इनके विपरीत दूसरा वर्ग साहित्यिक आत्मवादियों का है—जिसके अन्तर्गत भरत, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्य आते हैं। भरत ने रसमयी, सुखबोध्य मृदु-ललित पदावली को काव्य माना है—आगे के आचार्यों ने इसी में संशोधन करते हुये उसे रसात्मक वाक्य अथवा रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द कहा है। इन आचार्यों ने स्पष्टतया आंतरिक तत्व अर्थ-सम्पदा पर अधिक बल दिया है, जबकि उपर्युक्त साहित्यिक देहवादियों ने बाह्य रूपाकार पर।

इस पृष्ठभूमि में वामन के लक्षण का विवेचन करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं :

(१) वामन शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्व देते हैं—सहित

शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वे दोनों के साहित्य को ही काव्य का मूल अंग मानते हैं।

(२) दोष को वे काव्य के लिए असह्य मानते हैं : इसीलिए सौन्दर्य का समावेश करने के लिए दोष का बहिष्कार पहला प्रतिबन्ध है।

(३) गुण काव्य का नित्य धर्म है—अर्थात् उसकी स्थिति काव्य के लिए अनिवार्य है।

(४) अलङ्कार काव्य का अनित्य धर्म है—उसकी स्थिति वांछनीय है, अनिवार्य नहीं।

यह तो स्पष्ट ही है कि वामन का लक्षण निर्दोष नहीं है। लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से मुक्त होना चाहिये : उसकी शब्दावली सर्वथा स्पष्ट किन्तु संतुलित होनी चाहिये—उसमें कोई शब्द अनावश्यक नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से, पहले तो वामन का और वामन के अनुकरण पर मम्मट का दोष के अभाव को लक्षण में स्थान देना अधिक संगत नहीं है। दोष की स्थिति एक तो सापेक्षिक है, दूसरे, दोष काव्य में बाधक तो हो सकता है, परन्तु उसके अस्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं कर सकता। काणत्व अथवा क्लीवत्व मनुष्य के व्यक्तित्व की हानि करता है, मनुष्यता का निषेध नहीं करता। इसलिए दोषाभाव को काव्य-लक्षण में स्थान देना अनावश्यक ही है। इसके अतिरिक्त अलङ्कार की वांछनीयता भी लक्षण का अंग नहीं हो सकती। मनुष्य के लिए अलंकरण वांछनीय तो हो सकता है, किन्तु वह मनुष्यता का अनिवार्य गुण नहीं हो सकता। वास्तव में लक्षण के अन्तर्गत वांछनीय तथा वैकल्पिक के लिए स्थान ही नहीं है। लक्षण में मूल, पार्थक्य-कारी विशेषता रहनी चाहिए : भावात्मक अथवा अभावात्मक सहायक गुणों की सूची नहीं। इस दृष्टि से भामह का लक्षण "शब्द-अर्थ का साहित्य" कहीं अधिक तत्व-गत तथा मौलिक है। जहां शब्द हमारे अर्थ का अनिवार्य माध्यम बन जाता है वहीं वाणी की सफलता है। यही अभिव्यञ्जनावाद का मूल सिद्धान्त है—क्रोचे ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसी का स्थापन और विवेचन किया है। आत्माभिव्यंजन का सिद्धान्त भी यही है। मौलिक और व्यापक दृष्टि से भामह का लक्षण अत्यन्त शुद्ध और मान्य है : परन्तु इस पर अतिव्याप्ति का आरोप किया जा सकता है, और परवर्ती आचार्यों ने किया भी है। आरोप यह है कि यह तो अभिव्यंजना का लक्षण हुआ—काव्य का नहीं। शब्द और अर्थ का सामंजस्य उक्ति की सफलता है—अभिव्यञ्जना

की सफलता है। परन्तु क्या केवल सफल उक्ति अथवा सफल अभिव्यंजना ही काव्य है ? हमारे आचार्यों ने—भरत से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक ने इसका निषेध किया है। उधर विदेश में भी अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक सभी ने इसका प्रतिवाद किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इसीलिए विश्वनाथ को 'रसात्मक' शब्द का प्रयोग करना पड़ा और पंडितराज जगन्नाथ को 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' विशेषण लगाना पड़ा—शुक्ल जी ने भी इसीलिए रमणीय और रागात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। इन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अर्थ और शब्द का सामंजस्य काव्य नहीं है—रमणीय अर्थ और शब्द का सामंजस्य ही काव्य है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक (सफल) उक्ति काव्य नहीं है सरस या रमणीय (रमणीय अर्थ को व्यक्त करने वाली) उक्ति ही काव्य है। अरस्तू ने भी भाव-वैभव पर इसी दृष्टि से अधिक बल दिया है—और आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स भी, जो कि काव्य को मूलतः एक अनुभव मानते हैं, इस अनुभव के लिए—प्रकार की दृष्टि से नहीं—प्रभाव आदि की दृष्टि से कतिपय गुणों की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। स्थूल शब्दों में प्रत्येक अनुभव काव्य नहीं है—समृद्ध अनुभव[1] ही काव्य है।

परन्तु इस तर्क के विरुद्ध भामह के लक्षण के समर्थन में भी युक्ति दी जा सकती है—और वह यह कि शब्द और अर्थ का सामंजस्य अपने आप में ही रमणीय होता है उसके लिए रमणीय विशेषण की आवश्यकता नहीं। क्रोचे का यही मत है कि सफल उक्ति स्वयं सौंदर्य है—उसके अतिरिक्त सौन्दर्य कोई बाह्य तत्त्व नहीं है। "सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है क्योंकि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं होती।" (क्रोचे)। भारतीय काव्य-शास्त्र में कुन्तक की सूक्ष्म दृष्टि इस तथ्य तक पहुंची है और उन्होंने इस विरोधाभास को दूर करने का प्रयत्न किया है। एक स्थान पर साहित्य अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द और अर्थ का यह सहभाव केवल वाच्य-वाचक-सम्बन्ध-रूप नहीं होना चाहिए—उसमें तो वक्रता-वैचित्र्य गुणालंकार-सम्पदा की मानो परस्पर स्पर्धा रहनी चाहिए।[2] अन्यथा केवल वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने से तो वह आह्लाद-

---

१ रिच एक्सपीरियंस

२ वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः।

कारी नहीं होगा।[1] परन्तु अन्यत्र अपने आशय को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द-अर्थ के साहित्य का अभिप्राय है अन्यून-अनतिरिक्त प्रयोग के कारण इन दोनों की मनोहारिणी अवस्थिति। इससे स्पष्ट व्यंजित होता है कि शब्द-अर्थ का अन्यून-अनतिरिक्त प्रयोग और तज्जन्य पूर्ण सामंजस्य अथवा साहित्य (सहभाव) स्वयं ही मनोहारी होता है।[2]

वामन का काव्य-लक्षण उपर्युक्त लक्षणों की अपेक्षा स्थूल है—'गुण और अलंकार से युक्त' तथा 'दोष से रहित' शब्दावली तत्व को शब्द-बद्ध नहीं करती—केवल गुणों का वर्णन करती है। वैसे यह लक्षण अशुद्ध नहीं है क्योंकि गुण और अलंकार के अन्तर्गत वामन ने काव्यगत सौंदर्य के विभिन्न रूपों को अन्तभूत कर—उन्हें एक प्रकार से सौंदर्य के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त किया है : सौंदर्यमलंकारः। अतएव वामन के लक्षण का संक्षिप्तरूप यह हुआ : "सुन्दर (सौंदर्यमय) शब्दार्थ काव्य है।" और, यह लक्षण बुरा नहीं है। परन्तु वामन ने कदाचित् गुण और अलंकार का जानबूझकर प्रयोग इसलिए किया है कि उनका रीति-सिद्धान्त मूलतः गुण और सामान्यतः अलंकार पर ही आश्रित है अतएव अपने वैशिष्ट्य को व्यक्त करने के लिए उनका प्रयोग वामन के लिए अनिवार्य हो गया है।

फिर भी कारण चाहे कुछ भी रहा हो यह लक्षण तात्विक न रह कर वर्णनात्मक हो गया है—अतएव लक्षण की दृष्टि से यह सर्वथा श्लाघ्य नहीं है।

काव्य की आत्मा :

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है : रीतिरात्मा काव्यस्य। जो सम्बन्ध शरीर का आत्मा के साथ है, वही शब्द-अर्थ रूप काव्य-शरीर का रीति के साथ है। रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना : विशिष्टा पद-रचना रीतिः। विशिष्ट का अर्थ है गुणयुक्त—विशेषो गुणात्मा। इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ गुण सम्पन्न पद-रचना और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का अर्थ हुआ : गुणसम्पन्न पदरचना काव्य की आत्मा है।

---

१ अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः।

२ साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥

रीति के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र।[1] इन तीन रीतियों (वैदर्भी, गौड़ीया, और पांचाली) में से वैदर्भी ही ग्राह्य है।[2] इसमें ही अर्थ-गुण-सम्पदा का पूर्णतया आस्वादन किया जा सकता है। उसके उपधान (आश्रय) से थोड़ासा अर्थगुण भी आस्वाद्य (चमत्कारपूर्ण) हो जाता है। सम्पन्न अर्थगुण का तो कहना ही क्या।[3]

उपर्युक्त विवेचन से कतिपय स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं। काव्य मूलतः पदरचना है—अर्थात् वामन ने वस्तु और रीति (शैली) में रीति (शैली) को ही प्रधानता दी है। रीति का स्वरूप बहुत कुछ बाह्य ही है: चित्र में जो रेखा का स्थान है वही काव्य में रीति का; काव्य उसी में निहित रहता है; वस्तु—जिसके लिए वामन ने अर्थगुणसम्पदा शब्द का प्रयोग किया है, उसी के आश्रित है—रीति के उपधान से ही उसका सौंदर्य निखरता है। इस प्रकार वामन वस्तु को रीति के आश्रित मानते हैं—परन्तु वे वस्तु-तत्व का निषेध नहीं करते—उसका पृथक अस्तित्व वे निस्संदेह स्वीकार करते हैं: उन्होंने इसीलिए अर्थगुणसम्पदा और अर्थलेश—इन दो परिमाण-सूचक शब्दों का प्रयोग किया है।

वस्तु और रीति के सापेक्षिक महत्व के विषय में साधारणतः चार सिद्धान्त हैं:

(१) एक सिद्धान्त तो यह है कि काव्य का मूल तत्व वस्तु (भाव तथा विचार) तत्व ही है: रीति सर्वथा उसी के आश्रित है। रीति केवल वाहन अथवा माध्यम है जो वस्तु की पूर्णतया अनुवर्तिनी है। महान काव्यवस्तु अनिवार्यतः महान् शैली की अपेक्षा करती है। क्षुद्र वस्तु का माध्यम क्षुद्र ही होगा। स्वदेश-विदेश के प्राचीन आचार्यों का प्रायः यही मत रहा है। प्राचीन समृद्ध काव्य इस सिद्धान्त का उदाहरण है। यूनान के प्रसिद्ध नाट्यकार एस्का-इलस ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसकी घोषणा की थी।

---

१ एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति। तासां पूर्वा ग्राह्या ॥१४॥

२ तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति ॥२०॥ तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि ॥२१॥ तदुपधानतः खल्वर्थमलेशोऽपि स्वदते।

३ किमंग पुनरर्थगुणसंपत्। [काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः (प्रथम अधिकरण)]

"ह्वैन द सबजेक्ट इज़ ग्रेट……देन ऑफ़ निसेसिटी ग्रेट गोज़ द वर्ड।'—काव्य-वस्तु के महान् होने से शैली अनिवार्य्यतः महान् हो जाती है। अरस्तू, लोंजाइनस, इधर मैथ्यू आर्नल्ड आदि का यही अभिमत था। मैथ्यू आर्नल्ड ने वस्तु-गौरव पर बहुत बल दिया है :—

"प्राचीन कवियों की अभिव्यंजना इतनी उत्कृष्ट इसलिए है क्योंकि वह अपनी शक्ति सीधे उस वस्तु-तत्व के अर्थ-गौरव से ग्रहण करती है।"[१]—हमारे यहां इसकी सबसे प्रबल उद्घोषणा शुक्ल जी ने की है।

(२) दूसरा सिद्धान्त इससे ईषत् भिन्न व्यक्तिवादियों का है जो काव्य को मूलतः आत्माभिव्यंजन मानते हैं और वस्तु तथा रीति दोनों को ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं।

(३) तीसरा सिद्धान्त आधुनिक अभिव्यंजनावादियों का है जिसके अनुसार केवल रीति अथवा अभिव्यंजना की ही सत्ता है—वस्तु का उससे स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं है। यह दूसरे सिद्धान्त से दूर नहीं है।

(४) चौथा सिद्धान्त वस्तु और रीति दोनों के समन्वय पर बल देता है—उसके अनुसार अर्थ और शब्द दोनों का समान अस्तित्व है। विदेश में भी पेटर, रैले आदि परवर्ती आलोचकों ने विषय और शैली दोनों—को समान गौरव प्रदान किया है।

वामन की स्थिति इन चारों से भिन्न है : वामन का दृष्टिकोण सर्वथा अव्यक्तिगत है—अतएव व्यक्तित्व की तो वे उपेक्षा ही कर गए हैं। उधर वस्तु-वादियों की भाँति रीति को वस्तु की आश्रिता मानने का भी उनके लिए प्रश्न नहीं उठता। परन्तु अभिव्यंजनावादियों की भाँति वस्तु-तत्व का निषेध भी वे नहीं करते। साथ ही वे दोनों का समान महत्व भी नहीं मानते : उन्होंने पद-रचना को ही काव्य माना है किन्तु उसके लिए गुण-सम्पन्नता अनिवार्य मानी है। गुण के अर्थगुण और शब्दगुण ये दो भेद कर, और कान्ति में रस की दीप्ति मानते हुए वामन ने अर्थ अथवा वस्तु की सत्ता तथा महत्व दोनों ही अंगीकार किये हैं, फिर भी सब मिलाकर सापेक्षिक महत्व रीति का ही है—जिसके बिना अर्थ-गुण-सम्पदा का उत्कर्ष सिद्ध ही नहीं हो सकता। इस प्रकार उनकी स्थिति वास्तव में अभिव्यंजनावादियों और समन्वयवादियों की मध्यवर्तिनी

१ (प्रिफ़ेस : ऐसेज़ इन क्रिटिसिज़्म)

है। वस्तु-तत्व की सत्ता स्वीकार कर वे अभिव्यंजनावादियों (विशेषकर परवर्ती अभिव्यंजनावादियों) से पृथक हो जाते हैं और वस्तु-तत्व को रीति के आश्रित मानकर वे समन्वयवादियों की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। वामन का सिद्धान्त (मैथ्यू आर्नल्ड और शुक्लजी जैसे) उन आलोचकों के सिद्धान्त के विपरीत है जो रीति को वस्तु की आश्रिता मानते हैं। साहित्य के क्षेत्र में उनको देहवादी ही मानना पड़ेगा—किन्तु वे ऐसे देहवादी हैं जो आत्मा की सत्ता का निषेध तो नहीं करते पर उसे मानते हैं पंचभूत का ही विलास।

काव्य का प्रयोजन :

मनुष्य के प्रत्येक कर्म का—निष्काम कर्म का भी कुछ न कुछ प्रयोजन रहता है। शास्त्र तथा काव्य का भी निश्चित प्रयोजन होता है क्योंकि यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी क्या सार्थकता :

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ॥

अतएव काव्य के प्रयोजन का अस्तित्व निस्संदेह मानना ही पड़ेगा—यह दूसरी बात है कि यह प्रयोजन स्थूल और भौतिक न होकर सूक्ष्म हो—अथवा चाहे वह काव्य से अभिन्न ही क्यों न हो। काव्य का प्रयोजन काव्य मानने वाले भी प्रयोजन के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। संस्कृत वाङ्मय में प्रत्येक शास्त्र के चार अनुबन्ध माने गये हैं—जिन्हें अनुबन्ध-चतुष्टय कहा गया है : अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। वामन ने भी उपर्युक्त प्रश्न उठाते हुए काव्य के प्रयोजन का विवेचन किया है :

प्रश्न—अलंकरवान् काव्य से ऐसा क्या लाभ है जो उसके लिए इतना यत्न किया जाए ?

उत्तर :—सत्काव्य दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है—वे हैं प्रीति (आनंद) और कीर्ति।

सुन्दर काव्य का दृष्ट प्रयोजन है आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन है कीर्ति।

इस आशय के कुछ श्लोक लीजिए :

सत्काव्य की रचना को यश की सरणि और कुकवियों की विडम्बना को अपयश की सरणि कहा गया है।

विद्वानों ने कीर्ति को स्वर्गभला कहा है जो सृष्टि पर्यन्त रहती है और अपकीर्ति को आलोकहीन नरक की दूतिका।

इस प्रकार वामन ने आनन्द और कीर्ति—ये दो काव्य के मूल प्रयोजन माने हैं। वामन के पूर्व और उनके उपरान्त भी अनेक आचार्यों ने इस विषय का विवेचन किया है। भरत मुनि ने लिखा है :

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

अर्थात् यह नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक, हित और बुद्धि का वर्धक तथा लोकोपदेष्टा होगा। इस प्रकार भरत के अनुसार काव्य के प्रयोजन हुए—धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश। भरत के उपरान्त भामह ने इसमें थोड़ा परिवर्तन-परिशोधन किया। उनके अनुसार

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥

सत्काव्य के सेवन से—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति, कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है। इनमें भामह के धर्म और अर्थ भरत के धर्म और हित हैं, कलाओं में विचक्षणता के लिए भरत ने एक शब्द बुद्धि का प्रयोग किया है, उधर भामह ने कीर्ति और भरत ने यश शब्द प्रयुक्त किया है। यहां तक तो दोनों आचार्यों के मत प्रायः समान ही हैं। परन्तु इसके आगे थोड़ा पार्थक्य है : भामह ने प्रीति—आनन्द—का स्पष्ट उल्लेख किया है, उधर भरत ने लोकोपदेश को भी स्वतंत्र रूप से काव्य का प्रयोजन माना है। परन्तु मेरी धारणा है कि यह भेद मौलिक न होकर शाब्दिक ही है क्योंकि लोकोपदेश—(लोकव्यवहार का उपदेश अथवा लोक का पथ निर्देशन) का अन्तर्भाव भामह के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में हो जाता है, और उधर रस को काव्य का मूल माननेवाले भरत के लिए भी प्रीति—आनन्द—उपेक्षणीय नहीं हो सकता।

आनन्द की सबसे प्रबल प्रतिष्ठा कुंतक ने की है। धर्मादि की प्राप्ति, व्यवहार का सुन्दर ज्ञान आदि तो काव्य के प्रयोजन हैं ही परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि काव्यामृत के रस से चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार की उत्पत्ति होती है :—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

(व० जी० १, ५)

आगे चलकर आचार्यों ने प्रायः इन्हीं प्रयोजनों की चर्चा की है। भोज के सरस्वीकण्ठाभरण में इस प्रसंग में निम्नोद्धृत श्लोक दिया हुआ है :

अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥

यहां भी भामह और वामन के कीर्ति और प्रीति इन दो प्रयोजनों का उल्लेख है। मम्मट ने इस प्रसंग में कुछ अधिक निश्चित शब्दावली का प्रयोग किया :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

अर्थात् यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अशिव की क्षति, तात्कालिक आनन्द, और कान्तासम्मित उपदेश—ये छः काव्य के प्रयोजन हैं। मम्मट का मत भरत और भामह के मत से मूलतः भिन्न नहीं है। 'अशिव की क्षति' कुछ नवीन सी उद्भावना अवश्य प्रतीत होती है। परन्तु एक तो यह प्रयोजन दैविक चमत्कार पर आश्रित है, और कुछ विशेष कवियों से सम्बद्ध किंवदन्तियां ही इसका आधार हैं—इसलिए बहुत कुछ एकांगी तथा आकस्मिक है और आज के युग में यह विश्वसनीय भी नहीं हो सकता। दूसरे, भरत के हित शब्द में और भामह के चतुर्वर्ग में इसका अन्तर्भाव भी हो जाता है। सब मिला कर मम्मट का विवेचन स्थूल है—उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन निश्चित अवश्य हैं, परन्तु मौलिक नहीं हैं—उन्होंने मूलभूत तत्वों को ग्रहण न कर व्यक्त परिणामों को ही लिया है। उन्हें काव्य के फल कहना अधिक संगत होगा। विश्वनाथ ने इन सबका पृथक निर्देशन न कर चतुर्वर्ग में ही समाहार कर दिया है :—

चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखादल्पधियामपि।

उपर्युक्त कारिका में चतुर्वर्ग को काव्य का उद्देश्य और सुख को उसकी विधि बताया गया है। किन्तु सुख यहां आनन्द का पर्याय नहीं है, सरल और रुचिकर का ही वाचक है।

उपर्युक्त विवेचन का सार इस प्रकार है :

भरत से लेकर मम्मट आदि तक सभी आचार्यों ने काव्य-प्रयोजन का विवेचन कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से ही किया है। भरत-निर्दिष्ट प्रयोजनों में हित, बुद्धि-विवर्धन तथा लोकोपदेश तो सहृदय की दृष्टि से कहे

गये हैं—यश कवि की दृष्टि से और धर्म कदाचित् दोनों की दृष्टि से ही। इसी प्रकार भामह की कारिका में कलाओं में विचक्षणता तथा प्रीति पाठक के लिए कीर्ति कवि के लिए, और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष दोनों के लिए कहे गये हैं। मम्मट में यह विभाजन विवेचन की स्थूलता के कारण और भी स्पष्ट हो जाता है : यश, अर्थ, और अशिव की क्षति कवि के प्राप्य हैं, और व्यवहार-ज्ञान, सद्यःपरनिर्वृत्ति, कान्तासम्मित उपदेश पाठक के। विश्वनाथ ने 'अल्पधियामपि' कह कर अपनी दृष्टि पाठक तक ही सीमित कर दी है। परन्तु कवि और सहृदय की दृष्टि से प्रयोजनों का यह विभाजन सर्वथा अन्तिम अथवा अतर्क्य नहीं है—उपर्युक्त प्रायः सभी प्रयोजनों को उभयमुख—अर्थात् कवि और पाठक दोनों के लिए मानने में कोई मौलिक आपत्ति नहीं हो सकती।

वामन ने विस्तार में न जाकर काव्य के प्रयोजन केवल दो माने हैं : दृष्ट प्रयोजन प्रीति—आनन्द, और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति। उन्होंने अपने स्तर को न तो धर्म और मोक्ष जैसे परम पुरुषार्थों तक ऊंचा उठाया है और न वे अर्थोपार्जन के निम्नतर स्तर तक ही उतरे हैं। इनके अतिरिक्त भरत मम्मटादि द्वारा निर्दिष्ट काव्य के अन्य प्रयोजन इस प्रकार हैं :—बुद्धि-विवर्धन, कलाओं में विचक्षणता, लोक-व्यवहार-ज्ञान, और उपदेश। आधुनिक शब्दावली में इन सबका समाहार बौद्धिक विकास, व्युत्पन्नता और लोक-मंगल में हो जाता है। मोक्ष को रूढ़ अर्थ में तो काव्य का प्रयोजन आज नहीं माना जा सकता—परन्तु मोक्ष का अर्थ यदि मुक्तावस्था किया जाय—तो निस्सन्देह ही काव्य का उच्चतम लक्ष्य (शुक्लजी के शब्दों में) हृदय की मुक्तावस्था ही तो है—जहां मनुष्य अपने क्षुद्र राग-द्वेष—अपने और पराये की भावना से ऊपर उठ कर रसवती भूमिका में पहुँच जाता है। काव्य का इससे भव्यतर लक्ष्य आधुनिक काव्य-शास्त्र और मनोविज्ञान दोनों मिलकर भी नहीं खोज सके हैं। परन्तु वामन ने इन सभी को अप्रासंगिक मान कर छोड़ दिया है और काव्य के केवल दो ही प्रयोजन माने हैं प्रीति और कीर्ति। उनकी वृत्ति से प्रतीत होता है कि साधारणतः कीर्ति कवि की सिद्धि और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही की गयी है।

वामन का दृष्टिकोण शास्त्रीय—या यों कहिए कि शास्त्र-सीमित ही

रहा है—दार्शनिक और तात्विक नहीं हो पाया। उन्होंने एक सीधा प्रश्न उठाया है : और उसका सीधा ही उत्तर दिया है—उनकी दृष्टि प्रत्यक्ष पर ही रही है—मूल तत्व पर नहीं गई, इसीलिए उन्होंने भामह के अन्तिम दो प्रत्यक्ष प्रयोजनों को ही ग्रहण किया है। इन दोनों में भी वामन ने कीर्ति पर ही अधिक बल दिया है। कीर्ति की प्रशस्ति में उद्धृत श्लोक इसके प्रमाण हैं। इसमें संदेह नहीं कि कीर्ति के प्रति मनुष्य की बहुत बड़ी एषणा रहती है, और कवि के लिए भी वह बाह्य दृष्टि से एक प्रबल प्रलोभन है ही—परन्तु फिर भी काव्य का वह आधारभूत प्रयोजन नहीं है—धन उससे भी निम्नतर कोटि का है : इन दोनों को प्रासंगिक फल ही माना जा सकता है। कीर्ति को प्रयोजन मान कर महान काव्य की रचना संभव नहीं है। वह उसका एक परिणाम मात्र ही हो सकती है। काव्य का मूल प्रयोजन तो आनन्द ही है : सकलप्रयोजनमौलिभूतमानन्दं··· वेद्यान्तरस्पर्शशून्यं। वामन ने निस्संदेह ही उसको स्वीकार किया है—परन्तु उसको उचित गौरव नहीं दिया। कीर्ति और प्रीति—इन दोनों में कीर्ति बाह्य गुण है—प्रीति आन्तरिक; पहले का अस्तित्व प्रदर्शनात्मक है, दूसरे का अनुभूत्यात्मक। अतएव यह अस्वाभाविक नहीं है कि काव्य के बाह्य उपकरण रीति को आत्मा मानने वाले शास्त्रकार का ध्यान कीर्ति के प्रति अधिक आकृष्ट हुआ है और रस-जन्य प्रीति के प्रति कम।

आधुनिक काव्य-शास्त्र में काव्य के मूलतः दो प्रयोजन माने गए हैं : (१) व्यक्तिगत : आनन्द (२) सामाजिक : लोकमंगल। भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित प्रयोजनों का भी इसी प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रीति, बुद्धि-वर्द्धन, कला-नैपुण्य आदि व्यक्तिगत सिद्धियां हैं : लोकव्यवहार, लोकोपदेश, हित आदि सामाजिक हैं। कीर्ति और अर्थ की भी गणना व्यक्तिगत सिद्धियों के अन्तर्गत ही की जाएगी—परन्तु जैसा कि मैंने अभी कहा, वे काव्य की प्रासंगिक सिद्धियां मात्र ही हैं—लक्ष्य नहीं हैं। वामन ने सामाजिक पक्ष की तो पूर्णतया उपेक्षा ही की है—प्रीति को कीर्ति की अपेक्षा कम महत्व देकर व्यक्तिगत पक्ष को भी वाञ्छित गौरव नहीं दिया। इसका कारण यही है कि उनकी दृष्टि काव्य के बाह्य पर ही अटकी रही—मूल तत्वों तक नहीं पहुंच सकी।

काव्य-हेतु :—वामन ने काव्य-हेतु के लिए काव्यांग शब्द का प्रयोग किया है और राजशेखर ने उन्हें काव्य-माताएं माना है। परन्तु साधा-

हमारी योजना

'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र', 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला' का पहला ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर १९५२ में हुई थी। इसका कार्य क्षेत्र हिन्दी भाषा एवं साहित्य विषयक अनुसन्धान तक ही सीमित है और कार्य-क्रम मूलतः दो भागों में विभक्त है। पहले विभाग पर गवेषणात्मक अनुशीलन का और दूसरे पर उसके फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व है।

परिषद् ने इस वर्ष पाँच ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बनाई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त दो ग्रन्थ और प्रकाशित हो चुके हैं: (१) मध्य-कालीन हिन्दी कवयित्रियाँ और (२) अनुसन्धान का स्वरूप। अन्य दो ग्रन्थ—'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' तथा 'हिन्दी साहित्य पर सूफ़ीमत का प्रभाव' भी प्रेस में हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में से 'अनुसन्धान का स्वरूप' अनुसन्धान के मूल सिद्धान्त तथा प्रक्रिया के सम्बन्ध में मान्य आचार्यों के निबन्धों का सङ्कलन है; 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' आचार्य 'कुन्तक' के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' की हिन्दी-व्याख्या है, और शेष दोनों ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत गवेषणात्मक प्रबन्ध हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था—'आत्माराम एण्ड संस' के अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। उनके अमूल्य सहयोग ने हमें प्रायः सभी प्रकार की व्यावहारिक चिन्ताओं से मुक्त कर यह अवसर दिया है कि हम अपना ध्यान और शक्ति पूर्णतः साहित्यिक कार्य पर ही केन्द्रित कर सकें। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' श्री पुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा, २०११ वि०

वक्तव्य

सामान्यतः भूमिका की भूमिका लिखना विचित्र ही लगता है। फिर भी दो-एक बातों का पृथक उल्लेख करना कुछ आवश्यक-सा हो गया है। काव्यशास्त्र के अध्ययन में ज्यों-ज्यों मैंने प्रवेश किया है त्यों-त्यों यह एक तथ्य मेरे मन में स्पष्ट होता गया है कि भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक-दूसरे के पूरक हैं, और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक संश्लिष्ट, आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज-सम्भव है। हिन्दी-ध्वन्यालोक तथा प्रस्तुत ग्रन्थ—हिन्दी-काव्यालङ्कारसूत्र और इनकी विस्तृत भूमिकाएँ इसी दिशा में विनम्र प्रयास है।

आज हिन्दी के वर्ण-योग के स्थिरीकरण के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। थोड़ा कठिन होते हुए भी यह कार्य आवश्यक है, इसमें संदेह नहीं। मुझे खेद है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के मुद्रण में यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी मैंने पंचम वर्ण का प्रयोग प्रायः बचाया है, और हल् चिह्न का प्रयोग भी कम ही किया है। संस्कृत के नियमानुसार जगत, महान, विद्वान, बुद्धिमान, पश्चात और पृथक सभी को हलन्त करने से हिन्दी के मुद्रणादि में अनावश्यक उलझन पैदा हो जाती है। मैंने इस सम्बन्ध में अपने लिए एक साधारण-सा नियम बना लिया है—और वह यह कि हल् का प्रयोग हमें या तो ऐसे शब्दों में करना चाहिए जो हिन्दी में हलन्त रूप में सर्व-स्वीकृत हो गये हैं यथा 'अर्थात्', 'वरन्' आदि, या फिर कुछ ऐसे शब्दों को हलन्त किया जा सकता है जिनका, हिन्दी में अपेक्षाकृत कम प्रचलन होने से, अभी संस्कृत-संस्कार नहीं छूटा है: उदाहरणार्थ—सम्यक्, ईषत्, किंचित् आदि। मैंने सामान्यतः इसी नियम का अनुसरण किया है—जहाँ कहीं नहीं हो सका वहाँ उसके लिए मेरा या मेरे प्रूफ-शोधक का संस्कार ही उत्तरदायी हो सकता है।

—नगेन्द्र

होलिका-पर्व संवत्, २०१०

विषय-क्रम

स्मात: काव्य के सहायक अंगों के लिए काव्य-हेतु शब्द ही प्रचलित हो गया है। वामन ने काव्य के हेतु तीन माने हैं : लोक, विद्या और प्रकीर्ण।

१ लोक :— लोक का अर्थ है लोक-व्यवहार।

२ विद्या :— शब्द-शास्त्र, कोश, छन्दशास्त्र, कला, दण्डनीति, आदि विद्याएँ हैं। शब्द-शास्त्र से शब्द-शुद्धि आती है। शब्द-कोश से शब्द के अर्थ का निश्चय होता है। किन्तु अपूर्व शब्दों के लिये कोश का उपयोग करना उचित नहीं है। अप्रयुक्त (अप्रचलित) शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं करना चाहिये। छन्द-शास्त्र के द्वारा छन्द-सम्बन्धी संशय का नाश होता है। कलाशास्त्र के अध्ययन से कला-तत्व का बोध होता है। कला-तत्व की उपलब्धि के बिना कला-कृति की रचना सम्भव नहीं है। काम-शास्त्र से प्रणय-रीति का ज्ञान प्राप्त होता है : काव्य-विषय में प्रायः प्रणय-रीति का ही बाहुल्य रहता है। दण्डनीति (राजनीति से) नीति और अनीति की पहचान होती है। षाड्गुण्य अर्थात् सन्धि और विग्रह, यात्रा और विराम, विभाजन और सम (संयोग)—इन छः गुणों का यथावत् प्रयोग नीति है। उसका वैपरीत्य अनीति है। इनका ज्ञान हुए बिना काव्य में नायक प्रतिनायक के कार्यों का वर्णन नहीं किया जा सकता। दण्डनीति के अध्ययन से कथावस्तु में जटिलता आती है। इतिहास आदि (पर आश्रित) इतिवृत्त काव्य का शरीर है। इतिवृत्त में जटिलता दण्डनीति से ही आती है। इसी प्रकार अन्य विद्याओं के लाभ भी बताए जा सकते हैं।

३ प्रकीर्ण :—प्रकीर्ण के अन्तर्गत लक्ष्य-ज्ञान, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान आते हैं।

लक्ष्यज्ञान का अर्थ है दूसरों के काव्य से परिचय, अभियोग से तात्पर्य है काव्य-रचना में उद्यम—लगन, काव्य कला की शिक्षा देने योग्य गुरुजन की सेवा वृद्ध-सेवा है, पदों को रखना और हटाना अर्थात् उपयुक्त शब्द का चयन और अनुपयुक्त का त्याग अवेक्षण कहलाता है। प्रतिभान तो कवित्व का बीज है : यह एक जन्मान्तर-गत संस्कार-विशेष है जिसके बिना काव्य सम्भव नहीं है, और यदि सम्भव है तो उपहास्य होता है। चित्त की एकाग्रता अवधान है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-हेतुओं का विस्तार से उल्लेख है। वामन से पूर्व भामह और दण्डी ने भी उनका स्पष्ट विवेचन किया है। दण्डी ने काव्य के तीन कारण माने हैं :

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहु निर्मलम्
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्य-सम्पदः।

काव्यादर्श १।१०३

—निसर्गजात प्रतिभा, निर्भ्रान्त लोक-शास्त्र-ज्ञान, और अमन्द अभियोग। मम्मट ने इन्हें और भी व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है: उन्होंने इन्हें क्रमशः शक्ति, निपुणता और अभ्यास नामों से अभिहित किया है। परवर्ती आचार्यों ने प्रायः मम्मट की व्यवस्था को ही स्वीकृत कर लिया है; परन्तु प्रतिभा और निपुणता के सापेक्षिक महत्व पर थोड़ा विवाद रहा है। भामह ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा की महत्व-प्रतिष्ठा की है: गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़बुद्धि भी कर सकते हैं, परन्तु काव्य की रचना प्रतिभावान ही कर सकता है। उधर दण्डी ने प्रतिभा की महत्ता स्वीकार करते हुये भी श्रम और यत्न को पर्याप्त महत्व दिया है। रुद्रट एक चरण और आगे बढ़ गये हैं और उन्होंने प्रतिभा को भी आहार्य—या उत्पाद्य माना है: सहजोत्पाद्या सा द्विधा भवति। इनके अतिरिक्त, प्रायः सभी ने प्रतिभा को नैसर्गिकी माना है—और उसे निपुणता तथा अभ्यास से श्रेष्ठतर घोषित किया है। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि व्युत्पत्त्याभाव-जन्य दोष का कवि की प्रतिभा द्वारा संवरण हो जाता है। वाग्भट्टादि भी प्रतिभा को काव्य का कारण और व्युत्पत्ति आदि को उसका भूषण मात्र माना है। और, यही मत पण्डितराज जगन्नाथ का है; वे व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का पोषक मानते हैं। इस परम्परा में अपवाद केवल आचार्य मंगल हैं जिन्होंने व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठतर माना है और आनन्दवर्धन के वज़न पर लिखा है: "कवि की व्युत्पत्ति उसकी अशक्ति का संवरण कर लेती है।" परन्तु मंगल का मत अतिवाद मात्र है और आनन्दवर्धन का सिद्धान्त ही विवेक-संगत है।

इसमें संदेह नहीं कि वामन ने प्रतिभा (प्रतिभान) को कवित्व का बीज माना है जिसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है, और यदि है भी तो उपहास्य हो जाती है। परन्तु फिर भी उनके सम्पूर्ण विवेचन से यह परिलक्षित होता है कि उन्होंने प्रतिभा को वाञ्छित गौरव नहीं दिया। एक तो उन्होंने काव्य के जो तीन अंग माने हैं उनमें लोक और विद्या को पहले स्थान दिया है। प्रतिभा का उन्होंने तीसरे काव्यांग प्रकीर्ण के अन्तर्गत उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने लोक और विद्या को सर्वथा स्वतंत्र महत्व दिया है जबकि मन्य आचार्यों ने उन्हें प्रतिभा के पोषक—अथवा प्रतिभा द्वारा

अनुशासित ही माना है। प्रतिभा की प्रतिष्ठा वासना अर्थात् आत्मपरक दृष्टि-कोण को प्रतिष्ठा है। वामन ने उसका निषेध तो नहीं किया—कर भी नहीं सकते थे। परन्तु उसे प्रकीर्ण में फेंक दिया है।

वामन के विवेचन में एक वैचित्र्य और है। अन्य आचार्यों ने लोक और शास्त्र को पृथक पृथक ग्रहण न कर उनके परिणामस्वरूप निपुणता को ही संयुक्त रूप से काव्य का हेतु माना है। उनके मतानुसार लोक-व्यवहार-ज्ञान अथवा शास्त्र-ज्ञान अपने आप में काव्य का हेतु नहीं हो सकता, वरन् इन दोनों के समवेत प्रभाव-रूप निपुणता ही कवि-कर्म में सहायक हो सकती है। मम्मट तो वास्तव में और भी आगे गए हैं—उन्होंने शक्ति, निपुणता और अभ्यास को भी पृथक पृथक काव्य के हेतु नहीं माना—वरन इन तीनों को समन्वित रूप से काव्य का हेतु माना है (हेतुर्न तु हेतवः)। और वास्तव में यही ठीक भी है—क्योंकि न तो लोकव्यवहार-ज्ञान और न शास्त्रीय पाण्डित्य ही काव्य का कारण हो सकता है :

इश्क़ को दिल में दे जगह नासिख़
इल्म से शायरी नहीं आती।

संस्कृत के माघ, हिन्दी के केशवदास, अंगरेज़ी के मिल्टन आदि कवियों के काव्य साक्षी हैं कि लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान दोनों का ही स्वतंत्र और सीधा प्रयोग काव्य में बाधक हो जाता है। इनका अप्रत्यक्ष उपयोग ही श्रेय-स्कर है—अर्थात् इनके द्वारा प्राप्त व्युत्पन्नता ही कवि के व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के द्वारा उसके काव्य को समृद्ध करती है। वामन ने इनका पृथक निर्देश कर इस सत्य की उपेक्षा की है। परन्तु इन दोनों त्रुटियों के लिए वामन की वस्तु-परक—अथवा—बाह्यार्थ-निरूपिणी दृष्टि ही उत्तरदायी है। पूर्व-जन्म के अर्जित संस्कार जिनका नाम है प्रतिभा, और इस जन्म में लोकानुभव तथा शास्त्राध्ययन द्वारा अर्जित साहित्यिक संस्कार (लिटरेरी कल्चर) जिनको काव्य शास्त्र में निपुणता कहा गया है, आंतरिक गुण हैं : इनकी संगति रस और ध्वनि के साथ ही अधिक बैठती है। इसके विपरीत लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान बाह्य गुण हैं। अतएव रीति अर्थात् विशिष्ट पदरचना को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य के लिए लोक और विद्या को स्वतंत्र रूप से काव्य-हेतु मानना भी संगत ही है।

काव्य के अधिकारी :—अनुबन्ध-चतुष्टय का एक मुख्य अंग है

अधिकारी। वामन ने अधिकारी-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और निर्भीक शब्दों में किया है। उन्होंने कवियों के दो वर्ग किये हैं: अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। ये दोनों यहां गौणार्थ—लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं: इनका क्रमशः अर्थ है विवेकी और अविवेकी। इनमें विवेकी ही काव्य-शास्त्र की शिक्षा के अधिकारी हैं—अविवेकी नहीं, क्योंकि उनमें विवेचन की शक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है: तो फिर यह शास्त्र सर्व-हितकारी नहीं हुआ। इसके उत्तर में कहते हैं: तो मानता कौन है? शास्त्र अकिंचन के लिए हितकर नहीं हो सकता।[1] आगे चलकर राजशेखर ने पाठक के भी यही भेद किए, और वास्तव में पाठक के सम्बन्ध में ही यह वर्गीकरण उचित भी है। क्योंकि पाठक तो अविवेकी होते हैं, परन्तु साधारणतः अविवेकी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता—जिसमें विवेचन-बुद्धि का सर्वथा अभाव है वह कवि क्या होगा? परन्तु संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि और पाठक में कोई मौलिक भेद नहीं माना गया। अतएव काव्य के अधिकारी और काव्य-शास्त्र के अधिकारी में भी कोई मौलिक भेद नहीं है—जो काव्य-शास्त्र का अधिकारी है वही काव्य का भी अधिकारी है।

इस प्रकार वामन ने केवल उसी को काव्य का अधिकारी माना है जिसमें विवेचन-बुद्धि है—काव्य और काव्य-शास्त्र सबके लिए न होकर व्युत्पन्न तथा विवेकशील व्यक्तियों के लिए ही हैं। वे काव्य को सार्वजनिक सम्पत्ति न मानकर विशिष्ट समुदाय का ही विशेषाधिकार मानते हैं। उनके अनुसार काव्य बहुजनहिताय नहीं है—इसीलिए कदाचित् उन्होंने लोकमंगल को काव्य का प्रयोजन नहीं माना। वे एक प्रकार के साहित्यिक अथवा बौद्धिक आभिजात्य में विश्वास करते हैं। काव्य के विषय में यह प्रश्न अत्यन्त मौलिक और प्राचीन है: काव्य सबके लिए है—या एक विशिष्ट वर्ग के लिए? काव्य-दर्शन का विवेचन करने वाले आचार्यों में इस विषय में मतभेद रहा है। जो काव्य को जीवन की एक मौलिक प्रवृत्ति मानते हैं, उनके लिए तो निश्चय ही काव्य जीवन के अन्य सत्यों की भांति सार्वजनिक और सर्वजनहिताय है—परन्तु जो काव्य को एक कला मानते हैं उनके मत से—शिक्षा और संस्कार-सम्पन्न निपुण सामाजिक-वर्ग ही काव्य का अधिकारी है। विश्व-काव्य वास्तव में सभी के लिए होता है—और कला-काव्य विशिष्ट

१ काव्यालंकार सूत्र

व्युत्पन्न वर्ग के लिए ही। वामन ने स्वभावतः अपना मत इस दूसरे वर्ग के पक्ष में ही दिया है।

काव्य के भेद :— वामन ने काव्य का वर्ग-विभाजन दो प्रकार से किया है : माध्यम के आधार पर और विषय के आधार पर। माध्यम की दृष्टि से काव्य के दो भेद हैं गद्य और पद्य। गद्य का पहले निर्देश किया गया है क्योंकि स्वरूप सर्वथा अनिश्चित होने के कारण इसकी रचना अत्यन्त कठिन होती है। एक उक्ति है : गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है। गद्य के तीन भेद हैं—वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिकाप्राय। वृत्तगन्धि गद्य का वह रूप है जिसमें पद्य के अंश वर्तमान रहते हैं—उदाहरण के लिए—'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' (अर्थात् पातालतलवासी दानवों में) संस्कृत के इस उद्धरण में वसंततिलका छन्द का अंश स्पष्ट लक्षित होता है। चूर्ण गद्य का वह रूप है जो अनाविद्ध और ललितपद होता है—अर्थात् जिसमें छोटे छोटे समास और ललित (कोमल-मधुर) पद होते हैं। उत्कलिकाप्राय गद्य चूर्ण के विपरीत आविद्ध और उद्धतपद होता है—अर्थात् उसमें बड़े बड़े समास और कठोर पद होते हैं।

पद्य के अनेक भेद हैं : सम, अर्धसम और विषम आदि के भेद से उसके अनेक भेद हैं।[१]

इसके उपरान्त वामन ने विषय की दृष्टि से गद्य-पद्य-मय काव्य के दो भेद किये हैं : अनिबद्ध और निबद्ध। अनिबद्ध मुक्तक का पर्याय है और निबद्ध के लिए काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध शब्द प्रचलित है – वामन ने उसको सन्दर्भ-काव्य भी कहा है। उन्होंने इनके लक्षण तो नहीं दिये—क्योंकि वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनके सापेक्षिक महत्त्व का विवेचन किया है : इन दोनों की सिद्धि माला और उत्तंस की भाँति क्रम से होती है—अर्थात् अनिबद्ध (मुक्तक) रचना में सिद्धि प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही निबद्ध (प्रबन्ध) की रचना में सफलता मिलती है, जिस प्रकार कि माला गूँथने के बाद ही उत्तंस (फूलों का मुकुट) गूँथना सम्भव है। कुछ व्यक्ति मुक्तक रचना तक ही अपना कवि-कर्म सीमित रखते हैं—यह ठीक नहीं है। अग्नि के पृथक परमाणु की भाँति मुक्तक रचना कभी नहीं चमकती।[२]

---

१ काव्यालंकारसूत्र

संदर्भों में—प्रबन्ध काव्यों में दशरूपक सबसे श्रेष्ठ होते हैं। तरह तरह की विशेषताओं (काव्य, गीत, नृत्य, रंगशोभा आदि) के कारण रूपक चित्र-विचित्र रंग वाले पट के समान मनोरंजक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इस प्रसंग में वामन की तीन मान्यताएं हैं।

(१) गद्य-रचना पद्य-रचना की अपेक्षा कठिन होती है। इसीलिए गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है।

(२) मुक्तक और प्रबन्ध में प्रबन्ध का गौरव अधिक है—उनके मतानुसार मुक्तक के स्फुट कलेवर में—काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन नहीं हो सकता। मुक्तक प्रबन्ध का एक सोपान मात्र है—उसकी सार्थकता इसी में है कि उसकी रचना द्वारा प्रबन्ध-रचना में नैपुण्य प्राप्त होता है।

(३) काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप नाटक है क्योंकि (अ) वह एक मिश्र कला है जो काव्य, संगीत, नृत्य, रंग-शोभा आदि के चित्र-विचित्र वैभव द्वारा मनोरंजन करती है, और (आ) काव्य के अन्य भेद प्रबन्ध, कथा आख्यायिका आदि सब का समावेश उसके अन्तर्गत रहता है।

इन तीनों का अब एक एक करके विवेचन करते हैं: वामन का पहला मन्तव्य है कि गद्य-रचना पद्य-रचना की अपेक्षा कठिन है—इसीलिए गद्य कवि-कौशल की कसौटी है। यह मन्तव्य भारतीय वाङ्मय की आरम्भिक अवस्था का द्योतक है जब साहित्य मुख्यत: पद्यमय ही था—पद्य जब अभिव्यक्ति का सहज माध्यम था, और गद्य प्रयत्न-साध्य। परन्तु इस प्रकार गद्य और पद्य का विभाजन और उस पर आधृत वामन का यह अभिमत अधिक तात्विक नहीं है क्योंकि यह काव्य को रचना-नैपुण्य मात्र मान कर चलता है। परन्तु काव्य वास्तव में रचना-नैपुण्य मात्र नहीं है—वह जीवन की अभिव्यक्ति है और गद्य और पद्य का अन्तर केवल पद-रचना पर अश्रित न होकर अभिव्यक्तिकर्त्ता के स्वभाव और अभिव्यक्ति के विषय से सम्बद्ध है। इनका भेद केवल बाह्य नहीं है—आन्तरिक है: वह केवल लय-युक्त और लय-मुक्त पद-रचना का—अथवा, और यथार्थ रूप में, नियमित लय और अनियमित लय का भेद मात्र नहीं है—वह प्रेरक अनुभूति अथवा संवेद्य विषय—और, इससे भी आगे, साहित्यकार के व्यक्तित्व का भेद है। गद्य और पद्य साहित्य के इस विकास-काल में यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। उपन्यास और

महाकाव्य तितली और कामायनी की शैलियों में केवल अनियमित लय और नियमित लय के माध्यम का ही भेद नहीं है, न तितली का माध्यम कामायनी के माध्यम से कठिन है, और न तितली की शैली को कामायनीकार के लिए कसौटी ही माना जा सकता है।

वामन की दूसरी स्थापना यह है कि कवि का वास्तविक गौरव प्रबन्ध-रचना में ही है, मुक्तक की रचना उस उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति का सोपान मात्र है: मुक्तक की संक्षिप्त परिधि में काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन सम्भव नहीं है। इस स्थापना में इतना सत्य तो अवश्य है कि प्रबन्ध काव्य में जीवन का पूरा चित्र रहता है—और मुक्तक में किसी क्षणिक स्थिति अथवा मनोदशा आदि का। इसलिए प्रबन्ध का प्रभाव अधिक स्थायी तथा व्यापक होता है और मुक्तक का प्रभाव अचिर होता है। इसीलिए विश्व के अनेक आचार्यों का झुकाव प्रबन्ध की ओर रहा है—भारत और यूरोप के प्राचीन आचार्यों का काव्य-विवेचन बहुत सीमा तक प्रबन्ध को ही आदर्श मान कर किया गया है, आधुनिक युग में भी शुक्लजी जैसे विवेकशील आलोचक ने भी प्रबन्ध को ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आदर्श माना है। परन्तु व्यवहार-दृष्टि से एक विशेष सीमा तक मान्य होते हुए भी, यह सिद्धान्त तत्त्व-दृष्टि से प्रामाणिक नहीं है कि मुक्तक में—जिसमें गीतिकाव्य का भी अन्तर्भाव है, काव्य-सौन्दर्य का सम्यक उद्घाटन—दूसरे शब्दों में रस का सम्यक परिपाक नहीं हो सकता। आनन्दवर्धन ने इसी असंगति को दूर करने के लिए ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना की थी। इसमें संदेह नहीं कि मुक्तक में विस्तार के अभाव में व्यापकता का समावेश सम्भव नहीं है, परन्तु उसकी एकाग्रता सहज ही तीव्रता की सृष्टि कर सकती है। और काव्य के लिए व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता का मूल्य कम नहीं है। व्यापक जीवन का विस्तार यदि भव्य है तो स्पन्दित क्षणों की तीव्रता भी कम प्रभावपूर्ण नहीं है। कर्म का गौरव है और भाव का भी। वनस्थली की अपनी शोभा है, और पुष्प-स्तबक की अपनी। नैषध और अमरुक, रामचरित मानस और विनय-पत्रिका, पद्मावत और मीरा की पदावली, रामचन्द्रिका और बिहारी-सतसई, मेघनाद-वध और गीताञ्जलि, साकेत और नीरजा का सापेक्षिक मूल्य उनकी निबद्धता और अनिबद्धता के आधार पर आँकना अनुचित होगा।

वामन की तीसरी मान्यता—काव्य में नाटक की श्रेष्ठता—संस्कृत काव्य-शास्त्र की अत्यन्त प्रचलित धारणा है: काव्येषु नाटकं रम्यं। इसका

उद्गम कदाचित् भरत का नाट्य शास्त्र ही है। यह स्थापना भी अधिक मौलिक नहीं है—क्योंकि नाटक में नृत्य, गीत, रंग-शोभा आदि अनेक विशेषताओं का समावेश उसको अधिक मनोरंजक अवश्य बना सकता है—परन्तु मनोरंजन तो काव्य का मूल प्रयोजन नहीं है। ये बाह्य विशेषताएं काव्य के मूल तत्त्व नहीं हैं—इनका सम्बन्ध काव्य के माध्यम से है आत्मा से नहीं है—माध्यम का उपकार करते हुए ये आत्मा का भी उपकार करते हैं, यह दूसरी बात है: परन्तु ये काव्य के नित्य और अन्तरंग धर्म नहीं हैं। रंग-कला एक पृथक कला ही है। वास्तव में नाटक, प्रबन्ध, मुक्तक, कथा आदि माध्यम के रूप अथवा प्रकार मात्र हैं—उनके आधार पर काव्य का मूल्यांकन विश्वसनीय नहीं हो सकता।

वामन की उपर्युक्त मान्यताओं का विवेचन करने के उपरान्त फिर यही निष्कर्ष निकलता है कि वे उनके उसी बाह्यार्थदर्शी वस्तु-परक दृष्टिकोण का परिणाम है जो मूलतः रचना को ही कवित्व मान कर चला है।

आलोचना शक्ति

मौलिकता :—वामन की प्रतिभा अत्यन्त मौलिक है। उन्होंने महत्त्वपूर्ण मौलिक उद्भावनायें की हैं: जहां उन्होंने कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों की उद्भावनाओं का उपयोग किया है—वहां भी अपनी मौलिकता की छाप लगा दी है। उन्होंने कहीं भी पुनरावृत्ति नहीं की—जिन विषयों पर उन्हें कोई मौलिक बात नहीं कहनी होती, उनको वे यह कहकर छोड़ देते हैं: "ये प्रसिद्ध ही हैं, अतएव इनके लक्षण नहीं करते।.......इनका ज्ञान दूसरे ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिए।" उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण स्थापना है—रीतिरात्मा काव्यस्य। रीति (और गुण) का विवेचन भामह, दण्डी ने और उनसे पूर्व भरत आदि ने भी किया है, परन्तु उसको काव्य की आत्मा किसीने नहीं माना। रीति और गुण के विवेचन में भी वामन भरत, भामह और दण्डी पर आश्रित नहीं रहे। दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है और केवल दो रीतियां ही मानी हैं वैदर्भी और गौड़ीया। वामन ने पांचाली नाम की तीसरी रीति का उद्भावना और की है। विवेचन भी वामन का भिन्न है। दण्डी के गौड़ीय मार्ग की अपेक्षा वामन की गौड़ीया रीति की स्थिति अधिक संतोषप्रद है। दण्डी की अपेक्षा वामन की रीति में प्रादेशिकता कम है—

साहित्यिकता अधिक है। इस प्रकार वामन ने रीति-विवेचन को सर्वथा व्यवस्थित कर दिया है—प्रत्येक रीति की विशिष्ट सीमा और उसका सापेक्षिक साहित्यिक महत्त्व निर्धारित कर दिया गया है। साथही उन्होंने रीति का गुण के साथ नित्य और अनिवार्य संबन्ध स्थापित कर उस आधार को अत्यन्त पुष्ट कर दिया है। मूलतः (पद) रचना होती हुई भी वामन की रीति अपनी परिधि में शब्द-चमत्कार, अलंकार-सम्पदा, तथा अर्थ-स्वारस्य का भी समावेश कर लेती है : इस प्रकार उन्होंने अपनी रीति को शब्द-सौंदर्य, उक्ति-सौंदर्य, और अर्थ-सौंदर्य का संयुक्त पर्याय बनाने का प्रयत्न किया है। वामन की मौलिक प्रतिभा का यह सबसे ज्वलंत प्रमाण है।

गुण के विवेचन में भी वामन का मौलिक योग अत्यंत स्पष्ट है। शब्दगुण और अर्थगुण की पृथक कल्पना उनकी अपनी उद्भावना है। इसके अतिरिक्त गुणों की परिभाषाएं भी प्रायः उनकी अपनी हैं—भरत और दण्डी के लक्षण उन्होंने प्रायः स्वीकार नहीं किए। उन्होंने अर्थगुण के अन्तर्गत अर्थ की प्रौढ़ि, उक्ति-वैचित्र्य (कल्पनात्मक अभिव्यंजना) तथा रस-दीप्ति का भी समावेश कर गुणों का स्वरूप अधिक समृद्ध और व्यापक कर दिया है।

उधर गुण और अलंकार का भेद सबसे पहले वामन ने ही स्पष्ट किया है—दण्डी ने काव्य-चमत्कार के सभी रूपों को अलंकार कहा है : उनके अनुसार माधुर्य, ओज आदि गुण भी काव्य के शोभाकारक होने के कारण अलंकार हैं—और उपमा रूपकादि अप्रस्तुत-विधान भी। वामन ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में इनका अन्तर स्पष्ट किया है। भरत, भामह तथा दण्डी ने और बाद में अन्य प्रमुख आचार्यों ने दोषों को भावात्मक माना है, भरत ने तो गुणों को ही उनका विपर्यय सिद्ध किया है। वामन ने इनके विपरीत गुणों को भावात्मक और दोषों को उनका विपर्यय माना है।

अलंकार प्रसंग में वामन का वैशिष्ट्य मूलतः दो उद्भावनाओं पर आधृत है : एक तो उन्होंने उपमा को मूल अलंकार माना है। भामह आदि ने भी उपमा को प्रमुखता दी है—और उसे सादृश्य-मूलक अलंकारों का मूल आधार भी माना है। परन्तु वामन ने तो उपमा को सभी अलंकारों का ही मूल मान लिया है और समस्त अप्रस्तुत-विधान का उपमा-प्रपंच के रूप में वर्णन किया है।

उधर भामह की वक्रोक्ति को वामन ने अर्थालंकार मानकर उसका लक्षण किया है : जहां लक्षणा सादृश्य-गर्भा हो वहां वक्रोक्ति होती है। वक्रोक्ति

के सम्बन्ध में तो यह कोई महत्वपूर्ण उद्भावना नहीं हुई, परन्तु वामन का यह लक्षण आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्व-सूचना अवश्य सिद्ध हुआ। उधर रस के विषय में भी वामन ने कान्तिगुण के विवेचन में प्रकारान्तर से सफल संकेत किया है—उन्होंने रस को कान्ति का आधार मान कर उसे काव्य के अन्तरंग तत्वों में स्थान दिया है। इस प्रकार वामन ने प्रधानतः बाह्यार्थ-निरूपण करते हुए भी रस और ध्वनि के सम्बन्ध में सफल पूर्व-संकेत किये हैं। यह उनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है।

प्रामाणिकता :—मौलिकता का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पोषक अंग है प्रामाणिकता। कोई भी मौलिक उद्भावना तब तक मान्य नहीं हो सकती जब तक तर्क का प्रमाण उसे प्राप्त न हो। इतिहास साक्षी है कि वामन के आधार-भूत सिद्धान्त मान्य नहीं हुए—आज उनके रीति-सिद्धान्त का ऐतिहासिक महत्व ही अधिक रहा है—और उनकी आत्मभूत रीति को अन्त में अंग-संस्थान का ही पद मिला। परन्तु रीति के विवेचन में वामन का मत ही सर्वमान्य हुआ। वामन से पूर्व और वामन के पश्चात् भी अनेक आचार्यों ने रीति का विवेचन किया—नवीन रीतियों की उद्भावना हुई, भिन्न भिन्न प्रकार से लक्षण किए गए, परन्तु अन्त में वामन की संख्या और प्रायः वामन की ही परिभाषाएं मान्य हुईं।

गुणों के क्षेत्र में वामन की मौलिकता अपुष्ट ही रही। पहले तो उनकी अर्थगुण और शब्दगुण की पार्थक्य-कल्पना ही अधिक संगत नहीं है—दोनों के लक्षणों के साथ मनमानी कर के भी वामन उनका संक्रमण नहीं बचा सके—उदाहरण के लिए अर्थ-व्यक्ति को शब्दगुण मानकर वे अपने ही वाग्जाल में उलझ गए हैं: जिसका नाम ही अर्थव्यक्ति है, वह शब्द-गुण कैसे हो सकता है? उनके शब्दगुण माधुर्य और शब्दगुण प्रसाद में कोई स्पष्ट पार्थक्य नहीं है—वास्तव में उनके शब्दगुण प्रसाद का लक्षण ही असंगत है। इसका परिज्ञान उन्हें है, और उन्होंने शंका उठा कर उसका समाधान करने का प्रयत्न भी किया है: उनके अनुसार शब्दगुण प्रसाद की आधारभूत विशेषता शिथिल पद-रचना है। अपने आप में यह विशेषता एक दोष है, परन्तु ओज के साथ प्रयुक्त होकर उसकी सघनता में लोच पैदा करके यह निश्चय ही गुण बन जाती है। अपने प्रतिपादन में वामन निर्भ्रान्त हैं, परन्तु फिर भी उनका लक्षण—और लक्षण से भी अधिक यह वर्गीकरण असंगत है, और अनावश्यक भी। समाधि के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इस प्रसंग में

वामन के विरुद्ध सबसे प्रबल आक्षेप यह है कि यदि उन्होंने गुण का शब्द और अर्थ के आधार पर विभाजन किया भी है तो एक नाम के शब्दगुण और अर्थगुण में एकसूत्रता रहनी चाहिए थी क्योंकि गुण तो वही है—शब्द और अर्थ के आधार पर उसमें भेद हो गया है। परन्तु वामन ने यहां भी पूर्णतया स्वेच्छाचारिता बरती है। उनके समाधि, माधुर्य, उदारता आदि शब्द-अर्थ-गुणों में कोई सम्बन्ध नहीं है। इस असंगति ने वामन के विवेचन को और भी अग्राह्य बना दिया है।

अलंकार के क्षेत्र में वामन का सबसे महत्वपूर्ण योग है गुणालंकार-भेद-निरूपण—उसकी प्रामाणिकता आज भी असन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य उद्भावनाएं मान्य नहीं हुईं क्योंकि उनका आधार पुष्ट नहीं था। उदाहरण के लिए उनकी यह स्थापना ग्राह्य नहीं हो सकी कि अलंकारों का मूल उपमा है। भामह ने जहां वक्रोक्ति को, और दण्डी ने अतिशय को अलंकार का मूल माना है, वहां वामन ने उपमा को आधार माना है। भामह और दण्डी के वक्रता और अतिशय दोनों में मौलिक अंतर नहीं है—दोनों का अर्थ है लोकाक्रान्तगोचरता—अर्थात् असाधारणता—विचित्रता, चमत्कार। वामन इससे भिन्न औपम्य या साम्य को अलंकार का आधार मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अलंकार-विधान में साम्य (सादृश्य और साधर्म्य) का बड़ा महत्व है, और अनेक अलंकार स्पष्टतः साम्यमूलक ही हैं: इसके अतिरिक्त अलंकारिक साम्य अतिशय तथा वक्रता से भी असम्बद्ध नहीं है क्यों कि अलंकारिक साम्य अनिवार्यतः चमत्कार-मूलक (असाधारण) और प्रायः सदा ही अतिशय-मूलक भी होता ही है। परन्तु फिर भी उसे अलंकार का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि सभी प्रकार का अलंकारिक चमत्कार साम्य-मूलक नहीं होता। वास्तव में जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है अलंकार-विधान के मूल में एक निश्चित मनोवैज्ञानिक आधार रहता है और भिन्न भिन्न अलंकार-वर्गों के पीछे हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों की प्रेरणा रहती है। जहां हमें अपनी भावना को स्पष्ट करना होता है—वहां हम सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग करते हैं। कौतूहल आदि वृत्तियों के परितोष के लिए, मानसिक सामंजस्य के लिए, अथवा उत्तेजना की अवस्था में सादृश्यमूलक अलंकारों का विशेष उपयोग नहीं रहता। उक्ति-चमत्कार के अनेक रूप ऐसे हैं जिनका सादृश्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उपमा को अलंकारों का मूल मानना अधिक संगत नहीं है।

व्याख्यान-विवेचन :—वामन ने (मानों अपने वैशिष्ट्य का निर्वाह करने के लिए) व्याख्यान के लिए काव्य-शास्त्र में प्रचलित कारिका-वृत्ति शैली के स्थान पर दर्शन-शास्त्र की सूत्र-वृत्ति शैली का उपयोग किया है। पहले तो वामन के सूत्र ही अपने आप में अत्यंत स्पष्ट हैं—फिर उन पर वृत्ति देकर उनको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। जहां कहीं शंका या विवाद के लिए अवकाश रहा है वहां लेखक ने स्वयं अपनी ओर से ही शंका उठा कर उसका समाधान कर दिया है। इसमें संदेह नहीं कि वामन की स्थापनाएं तर्क-संगत सिद्ध नहीं हुईं—उनके भेद-प्रभेद, वर्ग-विभाजन आदि भी अनेक स्थानों पर असंगत हैं। परन्तु वे असंगत ही हैं—अस्पष्ट नहीं हैं : वामन का तर्क भ्रान्त हो सकता है—परन्तु अपने मंतव्य के विषय में उन्हें कोई भ्रान्ति नहीं है। उनकी दृष्टि पैनी है और सूक्ष्मताओं को सफ़ाई से पकड़ती है। सिद्धान्त रूप में, प्रायः हम उनमे असहमत रहते हैं, परन्तु हम पर इस बात का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है कि यह व्यक्ति चाहे ठीक बात न भी कर रहा हो, परन्तु अपने मन में निर्भ्रान्त अवश्य है। इसीलिए वे तर्क से बचने का प्रयत्न नहीं करते, वरन् आत्मविश्वास के साथ स्वयं प्रतिवाद की कल्पना करते हुए उसका निराकरण करते हैं। वामन की शैली सीधी और स्वच्छ है, उसमें घुमाव और उलझन नहीं है—वे कभी भटकते नहीं हैं, अपने प्रतिपाद्य विषय पर सीधा आघात करते हैं।

मूल्यांकन :—भारतीय वाङ्मय के इतिहास में वामन की गणना शास्त्रकारों में है। काव्य-शास्त्र में उनका नाम प्रवर्तक आचार्यों में है : उनके गौरव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनका रीति-सिद्धान्त एक स्फुट सिद्धांत न रहकर सम्प्रदाय बन गया। उनका घोर विरोध हुआ—उनका सिद्धांत अंत में अमान्य घोषित कर दिया गया, और तत्त्व दृष्टि से यह उचित ही हुआ। फिर भी उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है। इसके मूलतः दो आधार हैं : एक तो सबसे पहले वामन ने काव्य की आत्मा का अनुसंधान करने का प्रयत्न करते हुए काव्य के मूल और गौण तत्वों का पार्थक्य स्पष्ट किया, और इस प्रकार एक मूल आधार स्थिर कर काव्य-शास्त्र में निश्चित सिद्धान्त-व्यवस्था स्थापित की। भरत, भामह और दण्डी में इस प्रकार की नियमित व्यवस्था का अभाव है। दूसरा आधार यह है कि काव्य के बाह्याङ्ग को प्रमुखता देकर उन्होंने मान्य सिद्धान्त के विपक्ष को प्रबल शब्दों में उपस्थित किया और इस प्रकार जीवन के प्रति अनात्मवादी दृष्टिकोण का काव्य के क्षेत्र में आरोपण

किया। मेधा की प्रखरता और मौलिकता की दृष्टि से वामन का स्थान किसी से निम्नतर नहीं है: इस दृष्टि से उनका स्थान भरत, भामह, आनन्दवर्धन, कुन्तक और जगन्नाथ के समकक्ष है।

रीति सिद्धान्त

पूर्ववृत्त :—यद्यपि रीति सम्प्रदाय की स्थापना तो नवीं शताब्दी के मध्य में या उसके आसपास आचार्य वामन द्वारा हुई तथापि रीति का अस्तित्व उनसे पहले भी निश्चित रूप से विद्यमान था इसमें संदेह नहीं। भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय काव्य-शास्त्र का मूल-ग्रन्थ इसलिए भी है कि उसमें प्रायः काव्य के सभी प्रमुख अंगों के संकेत मिल जाते हैं। रीति का प्रत्यक्ष विवेचन भरत ने नहीं किया परन्तु उन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है : भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति—आवन्ती, दक्षिण भारत की प्रवृत्ति—दाक्षिणात्य, उड्र अर्थात् उड़ीसा तथा मगध, दूसरे शब्दों में पूर्व भारत की प्रवृत्ति उड्रमागधी, और पांचाल अर्थात् मध्यदेश की पाञ्चाली।

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी ॥

नाट्य शा० १४।३६

भरत के अनुसार 'जो पृथ्वी के नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार की वार्ता को व्यक्त करे उसका नाम प्रवृत्ति है—पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः,' उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि उनकी प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही न होकर देश तथा आचार आदि से भी है—अतः स्वभावतः ही उसकी परिधि रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अपने पारिभाषिक रूप में रीति का अर्थ है केवल भाषा-प्रयोग—अर्थात् बोलने और लिखने का ढंग—भरत की प्रवृत्ति का अर्थ है जीवन-चर्या—रहन-सहन का ढंग। फिर भी भरत

की व्याख्या से स्पष्ट है कि प्रदेश-भेद से आचार-व्यवहार और भाषा-प्रयोग आदि की सामान्य विशेषताएं उनके समय में, ऐसा प्रतीत होता है कि उनसे पहले भी, लोक में रूढ़ हो चुकी थीं और रीतियों के उद्भव और विकास में प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा ग्रहण की गई है—इसमें संदेह नहीं। वामन ने अपनी तीसरी रीति पाञ्चाली का संकेत शायद यहीं से ग्रहण किया है।

भरत के उपरान्त कादम्बरी के प्रसिद्ध रचयिता बाण भट्ट ने इस प्रसंग का उल्लेख किया है। बाण भट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में लिखा है :

श्लेष—प्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौड़ेष्वक्षरडम्बरः॥

उदीच्य—अर्थात् उत्तर भारत के लोग प्रायः श्लेष का प्रयोग करते हैं, प्रतीच्य—अर्थात् पश्चिम भारत के कवि वाणी-विलास की उपेक्षा कर केवल अर्थ-गौरव को ही महत्व देते हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा के प्रेमी हैं, और गौड़ या पूर्व भारत के कविजन अक्षराडम्बर पर मुग्ध हैं।—हर्षचरित प्रस्तावना, उच्छ्वास १, श्लोक ७।

जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'बाण के समय में (सातवीं शताब्दी में) भारतवर्ष की चार दिशाओं में चार प्रकार की शैलियां वर्तमान थीं। परन्तु बाण भट्ट की अपनी सम्मति यह है कि इन चारों शैलियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ होता है।'—

नवोऽर्थो, जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः
विकटाक्षरबन्धश्च, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

अर्थात् नवीन भाव-सौन्दर्य, अग्राम्या जाति (स्वभाव-वर्णन), अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट (जिसमें पद नृत्य सा करते हों) अक्षर-बन्ध : इन सबका एकत्र मिलना दुर्लभ है।—परन्तु काव्य की कसौटी भी यही है।

बाण के उल्लेखों से दो निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) भरत के प्रादेशिक विभाजन का आधार जहां व्यापक रूप से जीवनचर्या था—भाषा-प्रयोग उसका एक अंग मात्र था, वहां बाण काव्य-शैली को ही आधार मानते थे।

(२) बाण ने रीतियों का उल्लेख न कर उनके मूल तत्वों को विभाजक आधार माना है : ये विभाजक तत्व हैं गुण और अलंकार। इस प्रकार बाण के समय में रीतियों का नामकरण तो नहीं हुआ था—परन्तु रीति और गुणालंकार का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

(३) उस समय काव्य-शैली का आधार प्रादेशिक ही था—भारत के विभिन्न भागों के साथ विभिन्न काव्य-शैलियां सम्बद्ध थीं।

(४) बाण स्वयं इस प्रकार के वर्गीकरण को विशेष महत्व नहीं देते थे—वे उपर्युक्त सभी विशेषताओं को काव्य के लिए उपयोगी स्वीकार करते हुए यह मानने को तैयार नहीं थे कि ये किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं से बद्ध हैं। काव्यगुण सभी के लिए समान रूप से काम्य होने चाहिए।

बाण भट्ट के उपरान्त भामह ने स्पष्टतः सिद्धान्त रूप से रीतियों की चर्चा की है। उन्होंने वैदर्भ और गौड़ के लिए—अर्थात् रीति के अर्थ में, काव्य शब्द का प्रयोग किया है : काव्य के भेदों के अन्तर्गत ही वैदर्भ और गौड़ की चर्चा है। उनका विवेचन इस प्रकार है :—

दूसरे विद्वान मानते हैं कि वैदर्भ और है, वही सुन्दर अर्थ वाला और अच्छा होता है।

(परन्तु) वैदर्भ ही गौड़ीय है, इन्हें पृथक मानने की आवश्यकता नहीं। निर्बुद्धि लोगों की दृष्टि में गतानुगतिकतावश ये पृथक नाम हैं। पुष्ट अर्थ और वक्रोक्ति से ही हीन, प्रसन्न (प्रसाद-गुण-युक्त) सरल और कोमल (शुद्ध काव्य से) भिन्न वैदर्भी, गीत की भाँति केवल श्रुति-मधुर ही होतो है। अलङ्कारयुक्त, अग्राम्य, अर्थवान्, न्याय (लोक-शास्त्र) सम्मत, अनाकुल (जटिलता और निविड़तादि दोषों से मुक्त) गौड़ीय मार्ग भी श्रेष्ठ है—अन्यथा, अर्थात् इन गुणों से हीन, वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं है।

गुणों को उन्होंने स्वतन्त्र रूप से विवेचना की है—वैदर्भ और गौड़ीय काव्यों (रीतियों) से उनका कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं माना—वे तो सत्काव्य के ही गुण हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि—

(१) भामह के समय में केवल दो प्रमुख मार्ग प्रचलित थे : वैदर्भ और गौड़ जो भरत की दाक्षिणात्य और उड्रमागधी प्रवृत्तियों के—और बाण

की दाक्षिणात्य और गौड़ काव्य-शैलियों के समकक्ष थे। भरत की आवन्ती तथा पांचाली प्रवृत्तियाँ और उधर बाण के उदीच्य और प्रतीच्य मार्ग अब प्रसिद्ध नहीं रह गए थे।

(२) वैदर्भ और गौड़ीय में लोक-रूढ़ि वैदर्भ को श्रेष्ठ और गौड़ीय और निकृष्ट मानती थी।

(३) भामह इस तारतम्य को तो मानते ही नहीं—गौड़ीय और वैदर्भ के पार्थक्य को भी अनावश्य या अधिक से अधिक औपचारिक मानते हैं। वैदर्भ को अपने आप में श्रेष्ठ और गौड़ीय को अपने आप में निकृष्ट मानना अन्ध गतानुगतिकता है।

(४) प्रादेशिक आधार पर विदर्भ देश के वैदर्भों में प्रचलित काव्य-शैली को यदि औपचारिक रूप से पृथक माना जाय तो भी वह काव्य की आदर्श शैली नहीं है। जैसा कि भरत ने लिखा है दाक्षिणात्य विदर्भ लोग कला-रसिक और सुकुमार-स्वभाव होते हैं—निदान उनकी शैली में अर्थ-गौरव और विदग्ध अभिव्यञ्जना का सौन्दर्य नहीं होता—प्रसादगुण और श्रुतिमाधुर्य आदि संगीत कला के गुण ही होते हैं। अतएव वह काव्य के लिए कोई आदर्श शैली नहीं मानी जा सकती।

(५) भामह के अनुसार काव्य के सामान्य गुण हैं अलंकृति, अग्राम्यता, अर्थ सौन्दर्य, लोक-शास्त्र का आनुकूल्य, अनाकुलता अर्थात् निविड़ता और जटिलता का अभाव। इनका अभाव काव्य का दारिद्र्य और सद्भाव काव्य की समृद्धि है। वैदर्भ और गौड़ीय मार्ग अपने आप में सत्काव्य नहीं हैं : उपर्युक्त गुण समान रूप से दोनों को ही सुशोभित कर सकते हैं।

(६) उन्होंने गुण और रीति का कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं माना—माधुर्यादि विदर्भ या गौड़ीय के गुण न होकर सत्काव्य के गुण हैं। इस प्रकार भामह ने लोकरूढ़ि का तो तिरस्कार किया ही उसके साथ ही रीतियों की प्रादेशिकता और उनकी रूढ़ वस्तुपरकता पर भी पहला आघात किया।

भामह के उपरान्त रीति-विवेचन दण्डी ने किया। वास्तव में दण्डी ने संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में पहली बार रीति को गौरव दिया और उसका इतने मनोनिवेश के साथ विवेचन किया कि कतिपय विद्वान उन्हें रीतिवादी ही मानते हैं। दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग करते

हुए चार श्लोकों में उसका निरूपण किया है :[1] वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर अत्यंन्त सूक्ष्म भेद हैं। इनमें से वैदर्भ और गौड़ीय मार्गों का, जिनका पारस्परिक भेद अत्यन्त स्पष्ट है, अब वर्णन किया जाएगा। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दश गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। गौड़ मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है। + + + + इस प्रकार प्रत्येक का स्वरूप-निरूपण कर इन दोनों मार्गों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है। किन्तु जहां तक प्रत्येक कवि में स्थित (प्रत्येक कवि की अपनी प्रकृति के अनुसार) इनके भेदों का सम्बन्ध है, उनका वर्णन सम्भव नहीं है।

दण्डी का उपर्युक्त विवेचन संक्षिप्त होते हुए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनके मन्तव्य का सार इस प्रकार है :

(१) रीति का अस्तित्व सर्वथा वस्तुगत नहीं होता : प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होती है—कवि अनेक हैं अतएव रीतियों की संख्या भी अनेक हैं। इस प्रकार दण्डी ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में रीति में व्यक्ति-तत्त्व की सत्ता स्वीकार की है।

(२) सामान्यतः अपनी अत्यन्त पृथक विशेषताओं के कारण दो मार्ग या रीतियां—वैदर्भ और गौड़ीय दण्डी के समय तक कवियों और काव्य-रसिकों में प्रसिद्ध हो चुके थे। दण्डी ने उनका अस्तित्व तो लोक-परम्परा के अनुसार निश्चयरूप से स्वीकार किया है, परन्तु उनको निरपेक्ष नहीं माना है।

---

१ अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ ४० ॥
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥ ४१ ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौड़वर्त्मनि ॥ ४२ ॥
+ + + +
इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥ १०१ ॥
(प्र० परिच्छेद—काव्यादर्श)

(३) दण्डी ने सबसे प्रथम रीति और गुण का सम्बन्ध स्थापित किया है—बाण भट्ट ने जिसका संकेत मात्र किया था—दण्डी ने उसे नियम-बद्ध कर दिया।

(४) भरत ने श्लेष, प्रसाद आदि को काव्य-गुण माना है, परन्तु दण्डी ने उन्हें वैदर्भ मार्ग के गुण माना है। इसका अभिप्राय कदाचित् यह है कि वे वैदर्भ मार्ग को काव्य के लिए आदर्श मानते हैं—अथवा वैदर्भ काव्य और सत्काव्य को अभिन्न मानते हैं।

(५) गौड़ीय मार्ग में दण्डी के अनुसार उपर्युक्त गुणों का प्रायः विपर्यय रहता है। प्रायः का अभिप्राय यह है कि उनमें से (१) अर्थव्यक्ति—अर्थात् अर्थ की स्फुट प्रतीति कराने की शक्ति, (२) औदार्य—अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष का समावेश, और (३) समाधि—अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में सम्यक् रीति से आधान—लाक्षणिक और औपचारिक प्रयोग शक्ति—ये तीन गुण दोनों में समान हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन तीन गुणों को दण्डी काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं—क्योंकि अर्थ-व्यक्तिहीन काव्य हृदयंगम नहीं हो सकता, औदार्य-रहित होकर वह इतिवृत्त कथन रह जाता है और समाधि को तो दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में 'काव्य-सर्वस्व' माना ही है।—इन तीन गुणों के अतिरिक्त शेष सात गुणों का विपर्यय गौड़ीय मार्ग का आधार है।

संस्कृत के विद्वानों में दण्डी के 'एषां विपर्ययः—इनका विपर्यय' इन दो शब्दों को लेकर बड़ा विवाद चला है। कुछ विद्वान एषां (इनके) का अर्थ करते हैं दशगुणों का, और विपर्यय का अर्थ करते हैं वैपरीत्य। दूसरे विद्वान एषां का सम्बन्ध प्राणाः—मूलतत्त्व—से स्थापित करते हैं और विपर्यय का अर्थ करते हैं अन्यथात्व; इस प्रकार उनके अनुसार दण्डी का आशय है: श्लेषादि वैदर्भ मार्ग के मूल तत्व हैं; गौड़ीय मार्ग के मूलतत्त्व इनसे अन्यथा हैं। विद्वानों का एक तीसरा वर्ग इन दोनों से भिन्न अर्थ करता है—वे एषां को तो गुणों का ही वाचक मानते हैं, परन्तु विपर्यय का अर्थ अन्यथात्व करते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि गौड़ीय मार्ग में श्लेषादि दश गुणों का अन्यथा रूप मिलता है।

अब उपर्युक्त आख्यानों की परीक्षा कीजिए। पहले आख्यान के विरुद्ध यह आक्षेप है कि जब उपर्युक्त दश गुण सौन्दर्य-बोधक हैं तो इनके विपरीत

रूप कुरूपता-बोधक हुए अर्थात् दोष हुए। गौड़ीय मार्ग के मूलतत्त्व यदि कुरूपता-बोधक दोष हैं—तो फिर उसे काव्य-मार्ग कैसे माना जा सकता है ? और वास्तव में दण्डी ने गौड़ीय मार्ग के प्रसंग में जितने उदाहरण दिए हैं वे कुकाव्य के उदाहरण नहीं हैं। इस आक्षेप का उत्तर दिया जा सकता है : दण्डी ने गुण के विपर्यय को दोष नहीं माना है—व्युत्पन्नता, दीप्ति और अत्युक्ति तो दोष हैं ही नहीं—शैथिल्य और वैषम्य को भी निरपेक्ष रूप से दोष नहीं माना जा सकता। वामन ने तो बन्ध-शैथिल्य को शब्द-गुण माना ही है। उनके उपरान्त इसी सत्य का उद्घाटन आनन्दवर्धन ने और भी स्पष्ट शब्दों में किया है। पद-रचना का कोई रूप—समस्त अथवा असमस्त पद, गाढ़ अथवा स्फुट बन्ध अपने आप में न काव्य का अपकर्षक है न उत्कर्षक : विषय और भाव के अनुसार ये दोनों ही गुण हो सकते हैं, और दोनों ही दोष। इसलिए श्लेषादि गुणों के विपर्यय—जिनकी स्थिति गौड़ीय मार्ग में मानी गई है—दोष-वाचक नहीं हैं, श्लेषादि के तुल्य उत्कर्षवाचक चाहे न हों।

उपर्युक्त तर्क दूसरे आख्यान की क्लिष्ट कल्पना को अनावश्यक बना देता है। दण्डी ने निश्चय ही वैदर्भ मार्ग को श्रेष्ठ और गौड़ीय को निकृष्ट माना है। इसलिए श्लोक के उत्तरार्ध का यह अर्थ कि गौड़ मार्ग के मूल तत्व वैदर्भ के मूल तत्वों से केवल भिन्न होते हैं क्लिष्टान्वय होने के अतिरिक्त प्रसंग-विरुद्ध भी है।

तीसरा अख्यान भी हमारे उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में अनावश्यक हो जाता है : जब वैपरीत्य दोष नहीं है तो अन्यथात्व की कल्पना ही क्यों की जाए ? वैसे भी दण्डी के व्युत्पन्न आदि विपर्ययों में वैपरीत्य के साथ साथ चाहे अन्यथात्व भी भले ही हो, परन्तु शैथिल्य और वैषम्य के विषय में तो ऐसी कोई शंका नहीं हो सकती—वे तो निश्चय ही पूर्णतया विपरीत रूप हैं। इसलिए विपर्यय का अर्थ अन्यथात्व करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि दण्डी के पूर्वोद्धृत विपर्ययों में से किसी में भी वैपरीत्य का अभाव नहीं है :—व्युत्पन्न आदि में आंशिक वैपरीत्य है और शैथिल्य आदि में पूर्ण।

निष्कर्ष यह है कि 'एषां' से दण्डी का आशय दश गुणों का और 'विपर्यय' से वैपरीत्य का ही है। दण्डी ने गौड़ मार्ग को हीनतर मानते हुए भी

काव्य-मार्ग ही माना है, अतएव गुणों के विपर्ययों की कल्पना भी काव्य की परिधि के भीतर ही की है : उदाहरण के लिए प्रसाद का विपर्यय 'क्लिष्ट' कान्ति (स्वाभाविक वर्णन) का 'अस्वाभाविकता', और सौकुमार्य (कोमल और निष्ठुर वर्णों का रमणीय मिश्रण) का विपर्यय केवल 'स्त्रैण अथवा श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग' नहीं माना क्यों कि ये सभी विपर्यय काव्य की परिधि से बाहर पड़ जाते। इसके विपरीत उन्होंने काव्य की परिधि के भीतर ही क्रमशः व्युत्पन्न—अर्थात् शास्त्र-ज्ञान पर आश्रित, अत्युक्ति तथा दीप्ति को ही प्रसाद कान्ति और सौकुमार्य का विपर्यय माना है। इसी कारण अर्थव्यक्ति औदार्य और समाधि के विपर्यय दिये ही नहीं गए क्योंकि उनसे काव्य की हानि हो जाती—उन्हें वैदर्भ और गौड़ दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक मान लिया गया है।

दण्डी के उपरान्त तो वामन द्वारा रीति सम्प्रदाय की स्थापना हो ही जाती है। उनके विवेचन के फल-स्वरूप रीति का स्वरूप, आधार, क्षेत्र, प्रकार आदि का निर्धारण हो जाता है।

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति का अर्थ :— रीति शब्द का प्रयोग सबसे पहले वामन ने किया है। जैसा कि भोज ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है रीति शब्द रीङ् धातु से बना है—इसका व्युत्पत्ति-अर्थ है गति, मार्ग या प्रस्थान, और रूढ़ अर्थ है पद्धति, विधि आदि। वामन से पूर्व दण्डी ने और वामन के उपरान्त कुन्तक आदि ने रीति के लिए मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है।

परिभाषा :—वामन से पूर्व यद्यपि भामह और दण्डी ने रीति की चर्चा की है, परन्तु उन दोनों में से किसी ने भी रीति का लक्षण या परिभाषा नहीं की। यह कार्य भी सर्व प्रथम वामन ने ही किया। इस प्रकार रीति शब्द के प्रथम प्रयोक्ता, रीति के लक्षणकर्ता, और रीति-सम्प्रदाय के संस्थापक वामन ही हैं। अतएव रीति का स्वरूप समझने के लिए आधार रूप में उनकी ही शब्दावली का आश्रय लेना संगत होगा।

वामन के अनुसार रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना—विशिष्टा पद-रचना रीतिः। का० सू० १।२।७। विशिष्ट का अर्थ है गुण-सम्पन्न—विशेषो

गुणात्मा। १।।२।।८। गुण से तात्पर्य है काव्य-शोभा-कारक (शब्द और अर्थ के) धर्म का।। २।२।१।।

इस प्रकार वामन के अनुसार रीति की परिभाषा हुई :— काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना को रीति कहते हैं। यहां 'काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त' शब्दावली कुछ बिखरी हुई है। इसमें एक तो 'काव्य' शब्द अनावश्यक है क्योंकि यह तो समस्त प्रपंच ही काव्य का है। 'शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्म' का अर्थ हुआ— शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य— या शब्द-चमत्कार तथा अर्थ-चमत्कार। और वामनकृत परिभाषा का रूप हुआ : शब्द तथा अर्थ-गत चमत्कार से युक्त पद-रचना का नाम रीति है। इसको और भी संक्षिप्त किया जा सकता है : 'शब्द तथा अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त' के स्थान पर केवल 'सुन्दर' का प्रयोग किया जा सकता है। सुन्दर पदरचना या सम्यक् पदरचना का नाम रीति है।

अतएव वामन के अनुसार "शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त पद-रचना का नाम रीति है।" अथवा "सुन्दर पदरचना का नाम रीति है—यह सौन्दर्य शब्द-गत तथा अर्थगत होता है।"

वामन के उपरान्त अन्य आचार्यों ने भी रीति का लक्षण—अथवा स्वरूप-निरूपण किया है। आनन्दवर्धन ने उसको संघटना नाम दिया है। सम्यक् अर्थात् यथोचित घटना—पदरचना का नाम संघटना अथवा रीति है। आनन्दवर्धन ने वास्तव में वामन की परिभाषा को ही संक्षिप्त कर दिया है। वामन का पद-रचना और आनन्दवर्धन का घटना शब्द तो पर्याय ही हैं : दोनों के विशेषणों में भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वामन ने पदरचना को शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त (गुणात्मक) कहा है, आनन्दवर्धन ने उसके लिए सम्यक् (यथोचित) विशेषण का प्रयोग किया है। आनन्दवर्धन के सामने रस का मानदण्ड था—इसलिए उन्होंने तदनुकूल 'सम्यक्'—यथोचित् शब्द का ही प्रयोग किया क्योंकि रस को प्रमाण मानने के उपरान्त उसके अनुसार औचित्य-निर्धारण सहज हो जाता है। वामन के समक्ष इस प्रकार का मानदण्ड कोई नहीं था—उन्होंने शब्द-अर्थ को ही चरम मान स्वीकार करते हुये शब्द और अर्थगत सौन्दर्य को विशेषण माना है। अतएव आनन्दवर्धन और वामन की परिभाषाओं में मौलिक साम्य होते हुए भी विशेषणों में सूक्ष्म अंतर है। आनन्दवर्धन के सिद्धान्तानुसार रीति रसाश्रयी है, अतएव उन्होंने घटना—या

पदरचना के लिए 'सम्यक्—यथोचित्' विशेषण का प्रयोग किया है। वामन की रीति स्वतंत्र है—अतएव उनके मत से पदरचना का वैशिष्ट्य अपने शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से अभिन्न है।

आनन्दवर्धन की रीति रस-रूप सौन्दर्य की साधन है : "व्यनक्ति सा रसादीन्" (ध्व० ३,४),—वामन की रीति अपने आप में सिद्धि है।

आनन्द० ने अपने मत का व्याख्यान करते हुए आगे लिखा है : संघटना तीन प्रकार की कही गई है—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। ३, ४॥[1] वह माधुर्यादि गुणों के आश्रय से स्थित रसों को अभिव्यक्त करती है। ३, ६॥[2]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रीति के सम्बन्ध में तीन बातें कही हैं :—
(१) रीति या संघटना के स्वरूप का आधार केवल समास है : उसी का आकार अथवा सद्भाव-अभाव रीतियों के विभाजन का आधार है। अर्थात् मूर्तरूप में रीति का स्वरूप-निर्धारण समास की स्थिति अथवा आकार द्वारा होता है। (२) रीति की स्थिति गुणों के आश्रय से है—रीति गुणाश्रयी है। (३) वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है।

आनन्दवर्धन के उपरान्त राजशेखर ने रीति का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने रीति की परिभाषा की है : वचन-विन्यास-क्रमो रीतिः अर्थात् वचन-विन्यास का क्रम रीति है। यह परिभाषा वामन की परिभाषा से मूलतः भिन्न नहीं है—केवल शब्दों का अंतर है। वचन का अर्थ है शब्द या पद और विन्यास-क्रम का अर्थ है रचना। राजशेखर ने काव्यपुरुष के रूपक का प्रसंग होने के कारण वाणी से सम्बन्ध रखने वाले शब्द प्रयुक्त किये हैं—लेखन से सम्बद्ध शब्द नहीं। इसीलिए पद अथवा शब्द के स्थान पर वचन और रचना के स्थान पर विन्यास-क्रम का प्रयोग किया गया है।

कुन्तक ने रीति का नाम फिर मार्ग रख दिया और रीति-विषयक विवेचन में क्रान्ति उपस्थित करने का प्रयत्न किया। कुन्तक स्वतंत्र विचारवान् आचार्य थे—इन्होंने काव्य में कवि-स्वभाव को मुख्य मानते हुए उसी के

---

१ असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥३, ५॥

२ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्………॥३, ६॥

अनुसार मार्ग का निरूपण किया और रीतियों के प्रादेशिक वर्ग-विभाजन का उपहासपूर्वक तिरस्कार किया। कुन्तक ने तदनुसार रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु कहा है। अलंकार को हटा कर प्रस्थान-हेतु का सीधा अर्थ है विधि या शैली। कवि शब्द का प्रयोग कर कुन्तक ने इस बात पर बल दिया है कि कवि-प्रस्थान-हेतु—रीति का निर्णायक आधार कवि-स्वभाव ही है।

भोज ने रीति की व्युत्पत्ति-मूलक परिभाषा की है :—

वैदर्भादि कृताः पन्थाः काव्ये मार्गा इति स्मृताः।
रीङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥

अर्थात् वैदर्भादि पन्था (पथ) काव्य में मार्ग कहलाते हैं। गत्यर्थक रीङ् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है। इस प्रकार भोज ने मार्ग, पन्था या पथ, और रीति को व्युत्पत्ति-अर्थ में पर्याय सिद्ध करते हुए तीनों की अभिन्नता प्रतिपादित की है। उनके अनुसार रीति का अर्थ है कवि-गमन-मार्ग जिसे कुन्तक ने कवि-प्रस्थान-हेतु कहा है।

भोज के उपरान्त मम्मट ने रीति की स्वीकृत परिभाषा में थोड़ा संशोधन किया है। उन्होंने उपनागरिका, परुषा और कोमल वृत्तियों का ही विवेचन किया है, परन्तु अन्त में यह स्पष्ट कर दिया है कि इन्हें ही पूर्ववर्ती आचार्यों ने क्रमशः वैदर्भी गौड़ी और पांचाली रीति कहा है।

एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चालाख्या रीतय उच्यन्ते। का० प्र० ६। ४।

मम्मट के अनुसार नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही वृत्ति है :

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः (का० प्र० ६)

इस प्रकार मम्मट के अनुसार—(१) रीति (वृत्ति) नियतवर्णव्यापार है—अर्थात् रीति वर्ण-संगुफन का नाम है और ये वर्ण नियत होते हैं। मम्मट मूलतः समास को रीति का वाहक नहीं मानते, वर्ण-गुम्फ को ही मानते हैं।

(२) परन्तु मम्मट ने वर्ण-गुम्फ का गुण के साथ नियत सम्बन्ध माना है—प्रत्येक गुण के अनुसार ही वर्णों का संगुफन होता है, और उसी (गुण के) अनुसार रीति का स्वरूप भी निश्चित होता है। दूसरे शब्दों में गुण शब्द-गुम्फ और रीति दोनों के ही नियामक होते हैं, और अंत में उन्हीं के माध्यम

से रीति (वृत्ति) रस की अभिव्यंजना में सहायता देती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है।

विश्वनाथ ने मम्मट के वर्ण-व्यापार के साथ-साथ पद-संघटना-अर्थात् शब्द गुम्फ तथा समस्त पदावली का महत्व फिर स्थापित किया और आनन्द-वर्धन से प्रेरणा लेकर रीति का लक्षण इस प्रकार दिया—

पद-संघटना रीतिरंगसंस्था—विशेषवत्—उपकर्त्री रसादीनाम्। अर्थात् पदों की संघटना का नाम रीति है—वह अंगसंस्थान (शरीर-गठन) की भाँति है—और काव्य के आत्मरूप रसादि का उत्कर्ष-वर्धन करती है। जिस प्रकार शरीर की गठन बाह्य होती हुई भी मनुष्य के आंतरिक व्यक्तित्व—आत्मा—का उत्कर्ष-वर्धन करती है इसी प्रकार सम्यक् पद-संघटना बाह्य अवयव होती हुई भी काव्यात्मभूत रस का उपकार करती है।

अन्त में उपर्युक्त विवेचन से एक तथ्य स्पष्टरूप से हमारे सामने आता है: यद्यपि रीति के महत्व में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया—वह आत्म पद से भ्रष्ट होकर अंग-संस्थान मात्र रह गई, तथापि उसकी परिभाषा में कोई मौलिक अंतर नहीं हुआ। वामन की विशिष्ट पद-रचना ही रीति की सर्व-मान्य परिभाषा रही—यह विशिष्टता भी प्रायः शब्द और अर्थ के चमत्कार पर आश्रित मानी गई, और वामन के निर्देशानुसार गुणों के साथ भी रीति का नित्य सम्बन्ध रहा। अंतर केवल यह हुआ कि वामन ने जहां शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्धि माना, वहां आनन्दवर्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस के धर्म माना—और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम रूप में ही स्वीकार किया। उनके अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुंचाने में साधनरूप से सहायक होती है।

रीति के आधार

वैदर्भी आदि रीतियों के नामकरण विदर्भादि प्रदेशों के नाम पर किये गए हैं। तो क्या रीतियों की विशिष्टता का आधार प्रादेशिक है? क्या काव्य-

शैली किसी प्रदेश की सीमा में बद्ध हो सकती है ?—यह शंका वामन ने स्वयं उठाई है : "किन्तु क्या भिन्न भिन्न पदार्थों की भाँति काव्य के गुणों की भी उत्पत्ति पृथक् पृथक देशों से होती है जो उनका नामकरण देशों के आधार पर किया गया है ?" (का० सू०, २ अध्याय) ।

इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया है और वह बड़ा संगत उत्तर है : "नहीं, ऐसा नहीं है। वैदर्भी आदि रीतियों के नाम विदर्भादि देशों के नाम पर इसलिए रखे गये हैं कि इन देशों में (इन देशों के कवियों के काव्य में) उनका विशेष प्रयोग मिलता है।

विदर्भ, गौड़ और पांचाल देशों में वहां के कवियों ने क्रमशः वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली रीतियों का उनके वास्तविक रूपों में, मुख्यतः प्रयोग किया है। इसलिए इनके नाम विदर्भादि के नामों पर रखे गये हैं, इसलिए नहीं कि इन देशों का उपर्युक्त रीतियों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा है।" (का० सू०, २ अध्याय)

इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक प्रदेश की अपनी विशेषताएं होती हैं। रहन-सहन अर्थात् वेशभूषा तथा आचार-व्यवहार आदि में तो ये प्रादेशिक विशेषताएं प्रत्यक्ष लक्षित होती हैं, भाषा के क्षेत्र में भी उच्चारण पर इनका प्रभाव अत्यंत स्पष्ट रहता है। परन्तु प्रश्न इन बाह्य विशेषताओं का नहीं है—वेशभूषा, आचार-व्यवहार और उच्चारण आदि बहुत कुछ भौतिक एवं शारीरिक विशेषताएं हैं जो भौगोलिक प्रभावों द्वारा अनुप्रेरित रहती हैं। प्रश्न भाषा-शैली अथवा उससे भी सूक्ष्मतर काव्य-शैली का है।

वामन का उत्तर स्पष्ट है : (१) रीति अथवा काव्य-शैली द्रव्य के समान जलवायु विशेष की उपज नहीं है। अतएव उसपर देश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) वैदर्भी का नाम विदर्भ देश पर इसलिए रखा गया है कि इस प्रदेश के कवियों ने दश गुणों से अलंकृत इस रीति का उसके वास्तविक रूप में—अर्थात् सर्वांग-सम्पन्न रूप में—मुख्यतः प्रयोग किया है। गौड़ीया और पांचाली का नामकरण भी इसी प्रकार हुआ है।

वामन के मत से रीतियों की स्वतन्त्र सत्ता है—वे गुणात्मक अर्थात् शब्द और अर्थगत सौन्दर्य के आश्रित हैं। इनमें से एक रीति दशगुण-सम्पन्न

है—शेष दो का सौन्दर्य केवल दो दो गुणों पर आश्रित होने के कारण आंशिक है। एक में ओज और कान्ति का समावेश रहता है और दूसरी में माधुर्य और सौकुमार्य का। पहली अर्थात् समग्रगुणभूषिता रीति का प्रयोग : विदर्भ के कवियों में मुख्यतः मिलता था, इसलिए उसका नाम विदर्भ के नाम पर वैदर्भी रख दिया गया। ओज और कान्तिमती रीति का प्रयोग अपने वास्तविक रूप में मुख्यतया गौड़ देश के कवियों में मिलता था, इसलिए उसका नाम गौड़ीया कर दिया गया, और माधुर्य तथा सौकुमार्य से उपपन्न रीति का प्रचार प्रायः पांचाल देश के कवियों में था, अतएव उसका नामकरण पांचाली कर दिया गया। परन्तु यह संयोग मात्र ही समझना चाहिए—विदर्भ, गौड़ तथा पांचाल प्रदेशों की परम्पराएं ऐसी थीं। यह प्रदेश का प्रभाव नहीं है—ऐसा वामन का मत है। वामन के मत से तत्व रूप में रीतियों की सत्ता पहले थी—प्रदेशानुसार नामकरण बाद में हुआ।

इस प्रकार के निरूपण में दो प्रकार की प्रक्रियाओं से काम होता है—एक आगमन प्रक्रिया और दूसरी निगमन प्रक्रिया। प्रस्तुत प्रसंग में वामन के मतानुसार रीतियों का नामकरण निगमन प्रक्रिया से हुआ है। आगमन के अनुसार तो वैदर्भ कवियों की सामान्य काव्य-शैली के विश्लेषण द्वारा वैदर्भी के गुणों का निर्धारण होना चाहिए था। परन्तु यहां गुणों के आधार पर रीतियों का स्वरूप-निर्धारण पहले किया गया है—और देश विशेष के कवियों में उन विशेषताओं को देख कर उनका नामकरण बाद में।

वास्तव में यह वामन की अपनी धारणा है जो उन्होंने अपने सिद्धांत के अनुकूल बना ली है। भरत, बाण, भामह और दण्डी के संकेतों से स्पष्ट है कि आरम्भ में प्रवृत्तियों, रीतियों या मार्गों का वर्गविभाजन प्रदेशानुसार ही हुआ था, परन्तु यह भी ठीक ही है कि स्वतंत्रचेता विद्वान आरम्भ से ही इस प्रादेशिक विभाजन के प्रति संदेहशील थे—भरत, बाण और दण्डी ने अपनी शंका स्पष्ट रूप से व्यक्त की है और भामह ने तो प्रादेशिक विभाजन और तदाश्रित तारतम्य को अमान्य ही ठहरा दिया है। वामन के समय तक आते आते प्रादेशिक आधार कदाचित् काफ़ी हिल चुका था और इसीलिए उन्होंने तदाश्रित नामकरण को संयोगमात्र घोषित कर दिया। रीति-निरूपण के प्रसंग में इस प्रकार उचित दिशा में एक क़दम और उठाया गया।

अगला सफल पद-न्यास रसध्वनिवादियों ने किया जिन्होंने रीतियों के प्रादेशिक आधार को सर्वथा लुप्त कर विषय, वक्ता, तथा रस को नियामक

आधार माना। गौड़ीया का गौड़ से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, वह रौद्रादि रसों और युद्ध आदि के वर्णन के उपयुक्त मानी गयी। इसी प्रकार पांचाली का पांचाल देश के कवियों से कोई सम्बन्ध न रहा—वह शृङ्गार करुणादि रसों और प्रेम तथा शोकादि के प्रसंगों के योग्य ठहरायी गयी।

कुन्तक एक पग और आगे बढ़े। उन्होंने प्रादेशिक नामों का भी त्याग कर दिया। उनका मत है कि कवि-मार्ग अथवा रीति का आधार है कवि का स्वभाव—मातुलेया भगिनी के साथ विवाह-प्रथा की भाँति रीति कोई देश-धर्म नहीं है। + + + यदि किसी देश की जलवायु के साथ काव्य-शैली का सम्बन्ध होता तो उस देश के सभी निवासी उसका प्रयोग करने में समर्थ होते।

न च विशिष्ट-रीति-युक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेया-भगिनि-विवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। (व० जी० पृष्ठ ४५) + + + तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्। (व० जी० पृ० ४६)

इसीलिए उन्होंने सुकुमार, विचित्र और मध्यम कवि-स्वभाव के अनुसार मार्गों का नामकरण किया—देश के अनुसार नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि काव्य शैली का भौगोलिक आधार मानना संगत नहीं है—और न उसे देश-धर्म ही माना जा सकता है, इसमें भी संदेह नहीं कि प्रत्येक कवि की अपने स्वभाव (आज का आलोचक उसे व्यक्तित्व कहना पसन्द करेगा—) के अनुसार अपनी शैली होती है; परन्तु क्या स्थूल रूप से, काव्य-शैली के प्रादेशिक आधार पर वर्ग-भेद करना एकांत अनर्गल है? हमारे देश में अभी राष्ट्रभाषा का देशव्यापी प्रचार नहीं हुआ—इसलिए इस प्रश्न का सीधा व्यावहारिक उत्तर देना कठिन है। पर थोड़ा पीछे मुड़कर अंगरेज़ी की स्थिति पर विचार किया जा सकता है। क्या बंगाली, पंजाबी और दाक्षिणात्य भारतीय की अंगरेज़ी-शैली में—केवल उच्चारण आदि में ही नहीं—स्पष्ट अन्तर नहीं है? और यदि है तो इसे प्रादेशिक प्रभाव किसी न किसी रूप में मानना ही पड़ेगा। इंगलैंड जैसे छोटे देश में स्कॉच इंगलिश और वैल्श इंगलिश का प्रादेशिक अंतर आज भी मान्य है। व्यक्ति की दृष्टि से ही लीजिए, रवि बाबू, गांधी जी और डा० राधाकृष्णन की अंगरेज़ी शैलियों का अन्तर क्या केवल वैयक्तिक है: क्या रवीन्द्रनाथ की शैली पर बंगाली

भावोष्णता और गांधी जी की शैली पर गुजराती व्यावहारिक स्पष्टता का प्रभाव नहीं है ? देश के बाहर जाकर तुलना करें तो क्या रवीन्द्रनाथ ठाकुर और विलियम बटलर येट्स की रहस्यवादी कविताओं में शैलीगत अन्तर केवल व्यक्ति-स्वभाव मात्र का अन्तर है—क्या इन दोनों की शैलियों के बीच का अन्तर उतना और वैसा ही है जैसा येट्स और ब्रिजेज़ की शैलियों का अंतर है ? क्या रवीन्द्रनाथ की अंगरेज़ी शैली पर भारतीयता की गहरी छाप नहीं है ? इन प्रश्नों के उत्तर नकार में देना सम्भव नहीं हैं। और, यदि ऐसी स्थिति है तो शैली का प्रादेशिक आधार—चाहे वह कितना ही दूरस्थ और बाह्य-स्थूल क्यों न हो—एकदम अनर्गल नहीं माना जा सकता है। कुंतक की स्वभाव-सम्बन्धी स्थापना ठीक ही है—उसमें शंका नहीं की जा सकती—परन्तु स्वभाव अथवा व्यक्तित्व पर भी तो देश काल का अप्रत्यक्ष प्रभाव अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

यूरोप के साहित्य-शास्त्र में भी कुन्तक का ही मत मान्य है : वहां भी मधुर, उदात्त अथवा कोमल तथा परुष आदि रीतियां ही किसी न किसी रूप में स्वीकार्य हुईं जो कुन्तक के सुकुमार और विचित्र आदि मार्गों की ही समानधर्मा हैं। परन्तु वहां भी देश के आधार पर शैलियों का वर्ग-विभाजन हुआ है। ईसा की पहली शताब्दी के लगभग क्विन्टीलियन ने यूनानी-रोमी काव्य-शैली के तीन भेद किये थे : ऐटिक, एशियाटिक और रोडेशियन। ये शैलियां अपने प्रादेशिक आधार के कारण ही नहीं, वरन् स्वरूप में भी वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली के समक्ष थीं।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रादेशिक आधार की कल्पना सर्वथा निराधार नहीं है—उसके पीछे व्यावहारिक तर्क है। परन्तु इस प्रादेशिक आधार को अधिक महत्व नहीं देना चाहिये—मनुष्य का स्वभाव अथवा व्यक्तित्व प्रादेशिकता में आबद्ध नहीं है : कवि का व्यक्तित्व तो वैसे भी असाधारण प्रतिभावान और वैशिष्ट्य-सम्पन्न होता है, अतएव उसके लिए तो प्रादेशिकता का बन्धन और भी दुर्बल पड़ता है।

रीति के मूल तत्व

रीति का स्वरूप-निरूपण करने के लिए उसके मूल-तत्वों का निर्धारण कर लेना आवश्यक है।

दण्डी ने गुणों को ही रीति के मूल तत्व माना है। उनके गुण शब्द-सौंदर्य और अर्थ-सौंदर्य दोनों के ही प्रतीक हैं। उनके श्लेष, समता, सौकुमार्य और ओज पद-बन्ध अथवा शब्द-गुम्फ के आश्रित हैं, माधुर्य, उदारता, कान्ति, प्रसाद, अर्थव्यक्ति और समाधि अर्थ-सौंदर्य के। वामन ने भी रीति को पद-रचना मानते हुए गुणों को ही उसके मूलतत्व माना है—वामन ने शब्द और अर्थ के आधार-भेद से गुणों के दो वर्ग कर दिये हैं: शब्दगुण और अर्थगुण। उनके शब्दगुण प्रायः सभी वर्ण-योजना, पद-बन्ध या शब्द-गुम्फ के ही चमत्कार हैं और अर्थगुणों का आधार अर्थ-सौंदर्य है; उदारता, सौकुमार्य, समाधि और ओज के अनेक रूपों में लक्षणा-व्यंजना का चमत्कार है; अर्थ-व्यक्ति में स्वाभाविकता अथवा यथार्थता का सौंदर्य है; कान्ति में रस का; माधुर्य में वक्रता अथवा विदग्धता का; श्लेष में गोपन आदि के द्वारा क्रियाओं का चातुर्य के साथ वर्णन रहता है, और वास्तव में यह चमत्कार प्रायः अर्थश्लेष के अन्तर्गत आ जाता है। प्रसाद में आवश्यक के ग्रहण और अनावश्यक के त्याग द्वारा अर्थ-वैमल्य—या स्पष्टता की सिद्धि होती है। समता में बाह्य तथ्यों के क्रम का अभंग रहता है। परवर्ती आचार्यों ने प्रसाद, समता आदि को दोषाभाव मात्र माना है। उनका भी तर्क असंगत नहीं है, तथापि अर्थ-वैमल्य (ल्यूसिडिटी) आदि भी अपने आप में गुण हैं चाहे आप उन्हें अभावात्मक गुण ही मान लीजिये। (संस्कृत काव्यशास्त्र में भी रुद्रट आदि ने दोषाभाव को गुण ही माना है)। इस प्रकार वामन के अर्थगुणों के मूल में रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्द-शक्ति का भावात्मक सौंदर्य और दोषाभाव का अभावात्मक सौंदर्य विद्यमान रहता है—इनके अतिरिक्त परम्परा-मान्य तीनों गुणों प्रसाद, ओज और माधुर्य का अन्तर्भाव तो वामनीय गुणों में है ही। निष्कर्ष यह निकला कि केवल शब्द-गुम्फ ही नहीं—परम्परा-मान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्द-शक्ति और उधर दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्व हैं। और स्पष्ट शब्दों में, परवर्ती काव्यशास्त्र की शब्दावली में—वामन के मत में रीति के बहिरंग तत्व हैं शब्द-गुम्फ, और अंतरंग तत्व हैं गुण, रस, ध्वनि (यद्यपि उस समय तक ध्वनि का आविर्भाव नहीं हुआ था) अर्थालंकार और दोषाभाव।

वामन के उपरान्त रुद्रट ने इस प्रश्न पर विचार किया और समास को रीति का मूल तत्व माना। उन्होंने लघु, मध्यम और दीर्घ समासों के अनुसार पांचाली, लाटीया और गौड़ीया रीतियों का स्वरूप-निरूपण किया।

वैदर्भी असमासा होती है ।—आनन्दवर्धन ने रुद्रट की लाटीया रीति को तो स्वीकार नहीं किया, परन्तु समास को रीति के कलेवर का मुख्य तत्व अवश्य माना । उनकी परिभाषा है : रीति माधुर्यादि गुणों के आश्रय से स्थित रह कर रस को अभिव्यक्त करती है । इसका अर्थ यह हुआ कि माधुर्यादि गुणों को वे रीति का आश्रय—अथवा मूल आन्तरिक तत्व मानते हैं, और रीति को रस की अभिव्यक्ति का साधन मात्र समझते हैं । इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण रीति के मूल आन्तरिक तत्व हैं, और समास उसका बाह्य तत्व । अपने समग्र रूप में रीति रसाभिव्यक्ति की माध्यम है ।

ध्वन्यालोक के पश्चात तीन ग्रन्थों में इस प्रश्न को उठाया गया : राजशेखर की काव्यमीमांसा में, भोज के सरस्वती-कण्ठाभरण में और अग्नि-पुराण में । राजशेखर ने इस प्रसंग में कुछ नवीनता की उद्भावना की है । उन्होंने समास के साथ ही अनुप्रास को भी रीति का मूल तत्व माना है । वैदर्भी में समास का अभाव और स्थानानुप्रास होता है, पांचाली में समास और अनुप्रास का ईषद् सद्भाव रहता है, और गौड़ीया में समास और अनुप्रास प्रचुर रूप में वर्तमान रहते हैं । इनके अतिरिक्त उन्होंने तीनों रीतियों के तीन और नये आधार-तत्वों की कल्पना की : वैदर्भी—योगवृत्ति; पांचाली—उपचार; और गौड़ीया—योगवृत्तिपरम्परा ।

भोज ने भी प्रायः राजशेखर का ही अनुसरण किया—उन्होंने समास और गुण दोनों को ही रीति के मूल तत्व मानते हुए राजशेखर के योगवृत्ति आदि आधार-भेदों को और भी विस्तार दिया । अग्निपुराण में गुण और रीति का कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया—उनमें रीति के मूल तत्व तीन माने गये हैं : समास, उपचार (लाक्षणिक प्रयोग अथवा अलङ्कार), और मार्दव की मात्रा । पांचाली रीति मृद्वी, उपचार-युता और ह्रस्व-विग्रहा अर्थात् लघुसमासा होती है; गौड़ीया दीर्घ-विग्रहा और अनवस्थित-संदर्भा होती है—अर्थात् उसका संदर्भ एवं अर्थ सर्वथा व्यक्त नहीं होता; वैदर्भी को मुक्तविग्रहा माना गया है—अर्थात् उसमें समास का अभाव रहता है, वह नातिकोमल-संदर्भा होती है अर्थात् उसकी पद-रचना अतिकोमल नहीं होती, और उसमें औपचारिक—अथवा आलङ्कारिक (लाक्षणिक) प्रयोगों की बहुलता नहीं रहती ।

उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने विशेष रूप से प्रस्तुत प्रसंग पर प्रकाश डाला है। मम्मट ने वृत्ति या रीति को वर्णव्यापार ही माना है, और फिर वर्ण-संघटन या गुम्फ का गुण के साथ नियत सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने माधुर्य और ओज गुणों के लिए वर्ण-गुम्फ नियत कर दिए हैं, और फिर इन गुणों को ही वृत्तियों का प्राण-तत्व माना है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार गुण-व्यंजक वर्ण-गुम्फ ही रीति के मूलतत्व हैं—विश्वनाथ ने प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है—परन्तु उनकी रीतियों का आधार मम्मट की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उनका रीति-निरूपण इस प्रकार है :

वैदर्भी— माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।

(सा० द० पृ० ५२६)

अर्थात् वैदर्भी के तीन आधार तत्व हैं :—माधुर्य-व्यंजक वर्ण, ललित पद-रचना, समास का अभाव अथवा अल्प-समास।

गौड़ी— ओजः प्रकाशकैर्वर्णैः बन्ध-आडम्बरः पुनः
समास-बहुला गौड़ी .... ॥

अर्थात् गौड़ी के तत्व हैं ओज : प्रकाशक वर्ण, आडम्बर-पूर्ण बन्ध अथवा पद-रचना, और समास बाहुल्य।

विश्वनाथ ने वर्ण-संयोजना और शब्द-गुम्फ दोनों को ही रीति के तत्व माना है और उधर समास को भी ग्रहण किया है। उन्होंने भी गुण और वर्णयोजना का नियत सम्बन्ध माना है और गुण को रीति का आधार-तत्व स्वीकार किया है। और अन्त में, आनन्दवर्धन के समान विश्वनाथ ने भी रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन माना है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन का सारांश यह है कि पूर्व-ध्वनि काल के वामनादि आचार्य, जो अलंकार और अलङ्कार्य में भेद न कर समस्त शब्द तथा अर्थ-गत सौन्दर्य को अलङ्कार संज्ञा देते थे, शब्द और अर्थ के प्रायः सभी प्रकार के चमत्कारों को रीति के तत्व मानते थे। वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि वे पद-बंध को रीति का बहिरंग आधारतत्व और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण के अतिरिक्त रस, ध्वनि (यद्यपि यह नाम उस समय तक आविष्कृत नहीं हुआ था) शब्द-शक्ति, अलङ्कार तथा दोषाभाव को अन्तरंग

तत्व मानते थे। उत्तर-ध्वनि आचार्यों ने अलङ्कार और अलङ्कार्य—वस्तु और शैली अथवा प्राण और देह का अन्तर स्पष्ट किया और रस-ध्वनि को काव्य का प्राणतत्व तथा रीति को बाह्यांग माना—जिस प्रकार अंग-संस्थान आत्मा का उपकार करता है, इसी प्रकार रीति रस की उपकर्त्री है। उन्होंने रीति को काव्य का माध्यम मानते हुए वर्ण-संयोजन, तथा पद-रचना अर्थात् शब्द-गुम्फ तथा समास को उसके बहिरंग तत्व और गुण को अन्तरंग तत्व स्वीकार किया जिसके आश्रय से वह रस की अभिव्यक्ति करती है।

रीति के नियामक हेतु

वामन ने तो रीति की स्वतन्त्र तथा सर्वतन्त्र सत्ता मानी थी—अतएव उनके लिए तो रीति के नियमन तथा नियामक हेतुओं का प्रश्न ही नहीं उठता—परन्तु आगे चलकर स्थिति बदल गई। रीति को परतन्त्र होना पड़ा। आनन्दवर्धन ने रस को रीति का प्रमुख नियामक हेतु माना है। रीति पूर्णतया रस के नियन्त्रण में रहती है—उसी के अधीन कुछ और भी हेतु हैं जो उपचार से रीति का नियमन करते हैं। रस के अतिरिक्त ये हेतु तीन हैं वक्तृ-औचित्य, वाच्य-औचित्य और विषय-औचित्य।

तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥ ३।६ ॥

उस (संघटना) के नियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य का औचित्य ही है।

इसके अतिरिक्त—

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥ ३।७ ॥

अर्थात् विषयाश्रित औचित्य भी उसका (संघटना का) नियन्त्रण करता है। काव्य के भेदों के आश्रय से भी उसका भेद हो जाता है।

उपर्युक्त तीन नियामक हेतुओं की थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है। इनकी परिभाषा स्वयं आनन्दवर्धन ने की है।

''वक्ता कवि या कवि-निबद्ध (दो प्रकार का) हो सकता है। और कवि-निबद्ध (वक्ता) भी रसभाव (आदि) से रहित अथवा रसभावयुक्त (दो

प्रकार का) हो सकता है। रस भी कथानायक-निष्ठ और उसके विरोधी (प्रतिनायक)-निष्ठ (दो प्रकार का) हो सकता है। कथानायक भी धीरोदात्तादि भेद से विभिन्न मुख्य नायक अथवा उसके बाद का (उपनायक पीठमर्द) हो हो सकता है। इस प्रकार वक्ता के अनेक विकल्प हैं"। (हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० २४४)।

वास्तव में यह वक्ता के स्वभाव और मन: स्थिति की व्याख्या है— वक्ता के स्वभाव और मनःस्थिति के अनुकूल ही रीति का प्रयोग उचित है।

"इसी प्रकार वाच्य (अर्थ भी) ध्वनिरूप (प्रधान) रस का अंग (अभिव्यंजक) अथवा रसाभास का अंग (अभिव्यञ्जक), अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति में आश्रित, अथवा उससे भिन्न (मध्यम, अधम) प्रकृति में आश्रित—इस तरह नाना प्रकार का हो सकता है।" (हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २४४)

वाच्य से अभिप्राय यहां विषय—अथवा विषयवस्तु या वर्ण्य वस्तु का है जो निश्चय ही रीति का नियामक है क्योंकि रीति का प्रयोग निस्संदेह ही वर्ण्य विषय पर निर्भर रहता है। सुकुमार विषयों की वर्णन-शैली में मार्दव और परुष विषयों की शैली में परुषता स्वाभाविक ही है।

आनन्दवर्धन के अनुसार तीसरा नियामक हेतु है विषय। विषय का अर्थ, जैसा कि स्वयं लेखक ने ही स्पष्ट कर दिया है, विषय-वस्तु अथवा वर्ण्य विषय नहीं है: उसका उल्लेख तो वाच्य के द्वारा किया ही जा चुका है। विषय से यहां काव्य के रूप का अभिप्राय है। "मुक्तक, पर्यायबन्ध, परिकथा खण्डकथा, सकल कथा, सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (रूपक), आख्यायिका और कथा आदि (काव्य के) अनेक प्रकार हैं। इनके आश्रय से भी संघटना या रीति में भेद हो जाता है।" (हि० ध्व० पृ० २४५)। संस्कृत काव्य-शास्त्र में बाह्यांगों के आधार पर वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति कुछ अधिक बलवती रही है। उसमें प्रायः अनावश्यक भेद-विस्तार किया गया है इसीलिए उसके अनेक काव्य-भेद आगे चलकर मान्य नहीं हुए: विशेषकर शैली मात्र पर आश्रित काव्य-रूप प्रायः सभी लुप्त हो चुके हैं। फिर भी आनन्दवर्धन के उपर्युक्त मन्तव्य से असहमत होने के लिए कोई अवकाश नहीं है। महाकाव्य और नाटक सदृश काव्य-रूपों का प्रभाव तो रचना-रीति पर अत्यन्त प्रत्यक्ष ही रहता है—उनके अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म भेदों का प्रभाव भी सहज

हीं लक्षित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपन्यास और कहानी मुक्तक और गीत के रूप-भेद से उनकी शैली में भी निश्चय ही भेद रहता है।

उपर्युक्त विवेचन अत्यन्त सार्थक होने के अतिरिक्त सर्वथा आधुनिक भी है। यूरोप के काव्यशास्त्र में शास्त्रीय—अथवा छद्म शास्त्रीय परम्पराओं के बाह्य मूल्यों के विरुद्ध मनोविज्ञान-सम्मत आन्तरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त जो कार्य उन्नीसवीं शताब्दी में किया गया (यद्यपि वहां भी लोंजाइनस, दांते आदि अनेक प्राचीन आचार्य उसका संकेत सेंकड़ों-हज़ारों वर्ष पूर्व कर चुके थे), उसे हमारे यहां आनन्दवर्धन आठवीं-नवीं शताब्दी में विधिवत् सम्पादित कर चुके थे।

रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर

शास्त्र में रीति के सहधर्मी कुछ अन्य काव्यांगों का भी प्रयोग मिलता है—उनसे पार्थक्य किये बिना रीति का वास्तविक रूप उद्घाटित नहीं हो सकता।

(1) रीति और प्रवृत्ति — कालक्रमानुसार सबसे पहले तो प्रवृत्ति को लीजिए। प्रवृत्ति का विवेचन सर्व-प्रथम भरत में और फिर उनके अनुकरण पर राजशेखर, भोज और शिंगभूपाल आदि में मिलता है। जैसा कि मैंने आरम्भ में विवेचन किया है, भरत के अनुसार प्रवृत्ति उस विशेषता का नाम है जो नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार का ख्यापन करे।[1] इस प्रकार (a) प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही न होकर वेश तथा आचार से भी है—जबकि रीति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही है। (b) प्रवृत्ति पूरे रहन-सहन के ढंग से सम्बन्ध रखती है, और रीति केवल बोलने तथा लिखने के ढंग से। प्रवृत्ति के मूल तत्व प्रायः बाह्य तथा मूर्त हैं—रीति के आन्तरिक। (c) अतएव प्रवृत्ति का निश्चयात्मक आधार भौगोलिक है परन्तु रीति का आधार (d) कवि-स्वभावगत ही अधिक है। प्रवृत्ति व्यवहारात्मक है, इसीलिए राजशेखर (e) ने उसको केवल वेश-विन्यास-क्रम ही माना है, रीति एकान्त साहित्यिक।

---

१ पृथिव्यां नाना देशवेशभाषाचारवार्तां ख्यापयतीति प्रवृत्तिः

(नाट्यशास्त्र)

इसीलिए प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाटक से ही है—रीति का काव्य से (या नाटक के काव्यांग से)। परन्तु इस भेद के रहते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रीति की कल्पना के पीछे प्रवृत्ति की प्रेरणा निस्संदेह वर्तमान थी।

(ii) रीति और वृत्ति:—प्रवृत्ति का प्रचलन अत्यन्त सीमित ही रहा—अतएव उसके विषय में विशेष भ्रान्ति उत्पन्न नहीं हुई। परन्तु वृत्ति और रीति में अन्त तक भ्रान्ति के लिए अवकाश रहा।

वृत्ति के संस्कृत काव्य-शास्त्र में अनेक अर्थ हैं—किन्तु उन सबका प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्ध नहीं है। वृत्ति के केवल दो रूप ऐसे हैं जो रीति के समानधर्मी हैं—जिनसे उसका पार्थक्य आवश्यक है। ये दो रूप हैं (१) नाट्य वृत्तियां: भारतीय, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—जिन्हें आनन्दवर्धन और अभिनव ने अर्थवृत्तियां कहा है। (२) काव्य-वृत्तियां: उपनागरिका, परुषा और कोमला (ग्राम्या)—जिन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने शब्दवृत्तियां कहा है। इन्हें अनुप्रासजाति भी कहते हैं।

आनन्दवर्धन ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार की है: व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते—अर्थात् व्यवहार या व्यापार का नाम वृत्ति है। अभिनवगुप्त ने इसी की तात्विक व्याख्या करते हुए लिखा है: तस्माद् व्यापारः पुमर्थ-साधको वृत्तिः—पुरुषार्थ-साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है। और स्पष्ट शब्दों में, पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है। इस व्यापार का वर्णन काव्य में सर्वत्र होता है— कोई भी वर्णन व्यापार-शून्य नहीं होता, इसीलिए वृत्ति को काव्य की माता कहा गया है:

सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः। (भरत)

यहां वाचिक के साथ ही कायिक और मानसिक चेष्टाओं का भी अन्तर्भाव है—इसलिए वृत्ति का रूप शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार का होता है। आगे चलकर ये दोनों रूप पृथक् हो जाते हैं। आनन्दवर्धन के शब्दों में रसानुगुण अर्थ-व्यवहार भारती, सात्वती आदि वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है, और रसानुगुण शब्द-व्यवहार उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का जिनके उद्भावक हैं आचार्य उद्भट। उद्भट ने इन्हें अनुप्रासजाति ही माना है, अतएव उनके मत से ये वृत्तियां वर्ण-व्यवहार मात्र ही हैं—इनमें पद-संघटना का विचार नहीं है। इन वृत्तियों के स्वरूप के विषय में आचार्यों में

मतभेद रहा है। रुद्रट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है और समासयुक्त पद-संघटना को उसका आधार स्वीकार किया है :

नाम्नां वृत्तिर्द्वेधाभवति समासासमासभेदेन।

आनन्दवर्धन ने थोड़ा और व्यापक रूप देते हुए उसे शब्द-व्यवहाररूप माना है। परन्तु आगे चलकर मम्मट ने फिर उद्भट के अनुसरण पर उसे नियतवर्ण-व्यापार मात्र ही स्वीकार किया है। और बाद में चलकर तो वृत्ति का रीति में अंतर्भाव ही हो गया।

अर्थ-वृत्ति : उपर्युक्त दो प्रकार की वृत्तियों में पहली का रीति से निकट सम्बन्ध नहीं है : इनका प्रयोग प्रायः नाटक के प्रसंग में ही होता है—आज उपन्यास के क्षेत्र में भी इनकी सार्थकता हो सकती है। कायवाङ्मनसां चेष्टा (अभिनवगुप्त) होने के कारण इनकी परिधि अत्यंत व्यापक है। रीति का सम्बन्ध जहां वाणी से ही है वहां इनका सम्बन्ध शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों से भी है। अर्थ-वृत्ति का सम्बन्ध चरित्र-विधान तथा व्यक्तित्व-चित्रण से है : रीति वचन-रचना का प्रकार मात्र है। हां दोनों के मूल में रसानुकूल्य का आधार होने के कारण रस के सम्बन्ध से उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर किया जा सकता है। इस दृष्टि से कैशिकी पांचाली के समानान्तर है, सात्वती और आरभटी गौड़ीया के, और भारती वैदर्भी के—भरत ने यद्यपि केवल शब्द-वृत्ति मानते हुए उसका क्षेत्र अत्यंत सीमित कर दिया है फिर भी परवर्ती आचार्यों ने उसकी सत्ता सर्वत्र मानी है : वृत्तिः सर्वत्र भारती (शारदातनय)।

वर्ण-वृत्ति : दूसरी वृत्तियों का—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला का—रीतियों से इतना प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः उनके विषय में भ्रान्ति हो जाती है। इस विषय में आचार्यों के तीन मत हैं :

(१) वृत्ति की सत्ता रीति से स्वतंत्र है। उद्भट ने केवल वर्ण-व्यवहार रूप वृत्तियों का ही विवेचन किया है। रुद्रट ने भी समास को आधार मानते हुए वृत्ति का रीति से ईषत् पृथक उल्लेख किया है। उधर आनन्दवर्धन तथा अभिनव में भी दोनों का पृथक वर्णन है—यद्यपि आगे चलकर आनन्दवर्धन ने वृत्ति को शब्द-व्यवहार मानकर वृत्ति और रीति की एकता स्वीकार करली है।

इसीलिए प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाटक से ही है—रीति का काव्य से (या नाटक के काव्यांग से)। परन्तु इस भेद के रहते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रीति की कल्पना के पीछे प्रवृत्ति की प्रेरणा निस्संदेह वर्तमान थी।

(ii) रीति और वृत्ति :—प्रवृत्ति का प्रचलन अत्यन्त सीमित ही रहा—अतएव उसके विषय में विशेष भ्रान्ति उत्पन्न नहीं हुई। परन्तु वृत्ति और रीति में अन्त तक भ्रान्ति के लिए अवकाश रहा।

वृत्ति के संस्कृत काव्य-शास्त्र में अनेक अर्थ हैं—किन्तु उन सबका प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्ध नहीं है। वृत्ति के केवल दो रूप ऐसे हैं जो रीति के समानधर्मी हैं—जिनसे उसका पार्थक्य आवश्यक है। ये दो रूप हैं (१) नाट्य वृत्तियां : भारतीय, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—जिन्हें आनन्दवर्धन और अभिनव ने अर्थवृत्तियां कहा है। (२) काव्य-वृत्तियां : उपनागरिका, परुषा और कोमला (ग्राम्या)—जिन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने शब्दवृत्तियां कहा है। इन्हें अनुप्रासजाति भी कहते हैं।

आनन्दवर्धन ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार की है : व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते—अर्थात् व्यवहार या व्यापार का नाम वृत्ति है। अभिनवगुप्त ने इसी की तात्विक व्याख्या करते हुए लिखा है : तस्माद् व्यापारः पुमर्थ-साधको वृत्तिः—पुरुषार्थ-साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है। और स्पष्ट शब्दों में, पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है। इस व्यापार का वर्णन काव्य में सर्वत्र होता है— कोई भी वर्णन व्यापार-शून्य नहीं होता, इसीलिए वृत्ति को काव्य की माता कहा गया है :

सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः। (भरत)

यहां वाचिक के साथ ही कायिक और मानसिक चेष्टाओं का भी अन्तर्भाव है—इसलिए वृत्ति का रूप शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार का होता है। आगे चलकर ये दोनों रूप पृथक् हो जाते हैं। आनन्दवर्धन के शब्दों में रसानुगुण अर्थ-व्यवहार भारती, सात्वती आदि वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है, और रसानुगुण शब्द-व्यवहार उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का जिनके उद्भावक हैं आचार्य उद्भट। उद्भट ने इन्हें अनुप्रासजाति ही माना है, अतएव उनके मत से ये वृत्तियां वर्ण-व्यवहार मात्र ही हैं—इनमें पद-संघटना का विचार नहीं है। इन वृत्तियों के स्वरूप के विषय में आचार्यों में

मतभेद रहा है। रुद्रट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है और समासयुक्त पद-संघटना को उसका आधार स्वीकार किया है :

नाम्नां वृत्तिर्द्वेधाभवति समासासमासभेदेन।

आनन्दवर्धन ने थोड़ा और व्यापक रूप देते हुए उसे शब्द-व्यवहाररूप माना है। परन्तु आगे चलकर मम्मट ने फिर उद्भट के अनुसरण पर उसे नियतवर्ण-व्यापार मात्र ही स्वीकार किया है। और बाद में चलकर तो वृत्ति का रीति में अंतर्भाव ही हो गया।

अर्थ-वृत्ति : उपर्युक्त दो प्रकार की वृत्तियों में पहली का रीति से निकट सम्बन्ध नहीं है : इनका प्रयोग प्रायः नाटक के प्रसंग में ही होता है—आज उपन्यास के क्षेत्र में भी इनकी सार्थकता हो सकती है। कायवाङ्मनसां चेष्टा (अभिनवगुप्त) होने के कारण इनकी परिधि अत्यंत व्यापक है। रीति का सम्बन्ध जहां वाणी से ही है वहां इनका सम्बन्ध शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों से भी है। अर्थ-वृत्ति का सम्बन्ध चरित्र-विधान तथा व्यक्तित्व-चित्रण से है : रीति वचन-रचना का प्रकार मात्र है। हां दोनों के मूल में रसानुकूल्य का आधार होने के कारण रस के सम्बन्ध से उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर किया जा सकता है। इस दृष्टि से कैशिकी पांचाली के समानान्तर है, सात्वती और आरभटी गौड़ीया के, और भारती वैदर्भी के—भरत ने यद्यपि केवल शब्द-वृत्ति मानते हुए उसका क्षेत्र अत्यंत सीमित कर दिया है फिर भी परवर्ती आचार्यों ने उसकी सत्ता सर्वत्र मानी है : वृत्तिः सर्वत्र भारती (शारदातनय)।

वर्ण-वृत्ति : दूसरी वृत्तियों का—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला का—रीतियों से इतना प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः उनके विषय में भ्रान्ति हो जाती है। इस विषय में आचार्यों के तीन मत हैं :

(१) वृत्ति की सत्ता रीति से स्वतंत्र है। उद्भट ने केवल वर्ण-व्यवहार रूप वृत्तियों का ही विवेचन किया है। रुद्रट ने भी समास को आधार मानते हुए वृत्ति का रीति से ईषत् पृथक उल्लेख किया है। उधर आनन्दवर्धन तथा अभिनव में भी दोनों का पृथक वर्णन है—यद्यपि आगे चलकर आनन्दवर्धन ने वृत्ति को शब्द-व्यवहार मानकर वृत्ति और रीति की एकता स्वीकार करली है।

(२) मम्मट और उनके परवर्ती आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ आदि वृत्ति और रीति को एक ही मानते हैं। मम्मट ने तो उपनागरिका आदि वृत्तियों का विवेचन करने के उपरान्त स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन्हें ही वैदर्भी आदि रीतियों के नाम से अभिहित किया जाता है। जगन्नाथ ने रीति और वृत्ति दोनों शब्दों का ही वैदर्भी आदि के लिए प्रयोग किया है।

(३) कुछ आचार्य वृत्ति को रीति का अंग मानते हैं : वृत्ति से उनका तात्पर्य वर्ण-गुम्फ का है और वर्ण-गुम्फ रीति के अनेक तत्वों में से एक है—अतएव वह उसका अंग है। वामन ने वृत्ति का कैशिकी आदि के अर्थ में ही उल्लेख किया है, अनुप्रास जाति के अर्थ में वृत्ति का प्रयोग उद्भट का आविष्कार है जिसे वामन ने ग्रहण नहीं किया। परन्तु उनके रीति-विवेचन से स्पष्ट है कि अनुप्रासजाति को वे रीति का एक बाह्य आधार-तत्व मानते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से वे वृत्ति को रीति का अंग मानते हैं। विश्वनाथ ने रीति के तीन तत्व माने हैं : रचना (शब्द-गुम्फ), समास, तथा वर्ण-संयोजना। अतएव उनके मत में भी वर्ण-संयोजना रूप वृत्ति सम्भवतः ही रीति का अंग है।

उपर्युक्त अभिमतों के परीक्षण के उपरांत यह परिणाम निकलता है कि यदि उद्भट का मत मान्य है और तदनुसार वृत्ति केवल वर्ण-गुम्फ का नाम है तब तो वह रीति का एक बाह्य आधार तत्व है, परन्तु यदि आनन्दवर्धन के अनुसार उसे शब्द-व्यवहार माना जाए तो फिर वह रीति का पर्याय मात्र है : उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों का यही मत रहा है। हमारा अपना विनम्र मंतव्य यह है कि वृत्ति शब्द की इस अर्थ में उद्भावना और उसका अंत तक प्रयोग उसके पृथक अस्तित्व के प्रमाण हैं। वह वर्ण-व्यवहार—आधुनिक शब्दावली में वर्ण-संयोजना—रूप है, और रीति का एक बाह्य अंग है। रीति के दो बाह्य तत्व हैं : (१) संघटना (शब्द-योजना, समास आदि) और (२) वर्ण-योजना जिसका दूसरा नाम है वृत्ति।

रीति और शैली : रीति का समानधर्मा अब केवल एक शब्द रह जाता है : शैली। वैसे तो यह शब्द अत्यंत प्राचीन है और इसकी व्युत्पत्ति शील से हुई है। शील का अर्थ है स्वभाव जो कुन्तक के मत में रीति का नियामक आधार है। जिस प्रकार स्वभाव की अभिव्यक्ति का मार्ग रीति है, उसी प्रकार शील (स्वभाव) की अभिव्यक्ति-पद्धति शैली भी है और उसके

व्युत्पत्ति अर्थ में भी वैयक्तिक तत्व मूलतः वर्तमान है। परन्तु फिर भी भारतीय काव्यशास्त्र में इसका प्रयोग प्रस्तुत अर्थ में प्रायः नहीं हुआ। शास्त्र में यह शब्द व्याख्यान-पद्धति आदि के प्रसंग में ही प्रयुक्त हुआ है: यथा—'प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति। (कुल्लूक भट्ट की टीका—मनुस्मृति १।४। : बल्देव उपाध्याय—भारतीय सा० शा० से उद्धृत)। अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में शैली का प्रयोग आधुनिक ही है जो अंगरेज़ी के स्टाइल शब्द का पर्याय है।

रीति-शैली

विशिष्ट अर्थ में रीति और शैली में बहुत अंतर नहीं है। शैली की अनेक परिभाषाएं की गई हैं। शैली विचारों का परिधान है। शैली उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग है। अभिव्यक्ति की रीति का नाम शैली है। शैली भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग है। शैली ही व्यक्ति है, इत्यादि।

शैली के दो मूलतत्व हैं: एक व्यक्ति-तत्व, और दूसरा वस्तु-तत्व।

यूरोप के काव्य-शास्त्र में इन दोनों तत्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यूनानी आचार्यों के उपरांत रोम के, और उनके उपरांत फ्रांस, इंगलैंड आदि के अनेक काव्य-शास्त्रियों ने शैली के वस्तु-तत्व का सम्यक् विवेचन किया है। अब रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्व। वास्तव में शैली के व्यक्ति-तत्व और वस्तु-तत्व में व्यक्ति-तत्व ही प्रधान है: उसी के द्वारा शैलीकार शैली के बाह्य उपकरणों का समन्वय—अनेकता में एकता की स्थापना करता है। वैयक्तिक तत्व के दो रूप हैं: एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यंजना—अर्थात् शैली का आत्माभिव्यंजक रूप और दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। भारतीय रीति-विवेचन में पहला रूप विरल है। परन्तु इस प्रसंग में एक बात याद रखनी चाहिए: इसमें संदेह नहीं कि उसे वांछित महत्व नहीं दिया गया फिर भी उसकी स्वीकृति का सर्वथा अभाव नहीं है। दण्डी ने काव्य-मार्ग को प्रतिकविस्थित माना है और कुन्तक ने तो कवि-स्वभाव को ही शैली का मूल आधार माना है। उनके उपरान्त शारदातनय आदि ने भी 'पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती' कह कर व्यक्ति-तत्व को स्वीकृति दी है। वैयक्तिक तत्व के दूसरे रूप का विधान तो भारतीय काव्यशास्त्र में निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया किन्तु वामन से पूर्व भरत ने स्पष्ट निर्णय दिया है कि नाटक में भाषा

पात्र के शील-स्वभाव की अनुवर्तिनी होनी चाहिए। उधर आनन्दवर्धन ने तो वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य को रीतियों का नियामक ही माना है।

अब प्रश्न यह है कि क्या शैली और रीति पर्याय शब्द हैं। अथवा उनमें अन्तर है। डा० सुशीलकुमार डे ने उनको एक मानने के विरुद्ध चेतावनी दी है। उनका कहना है कि रीति में व्यक्ति-तत्व का अभाव है, और व्यक्ति-तत्त्व शैली का मूल आधार है अतएव दोनों को एक मानना भ्रान्ति है। हिन्दी के विद्वानों ने भी उनके आधार पर इन दोनों का भेद स्वीकार किया है। जहां तक शैली के वस्तु-रूप का सम्बन्ध है, वहां तक तो रीति से उसका पार्थक्य करना अनावश्यक है। जैसा मैंने रीतिकाव्य की भूमिका में स्पष्ट किया है यूरोप के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट शैली के तत्त्व नामान्तर से रीति के तत्वों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं—अथवा रीति के तत्वों का उपर्युक्त शैली-तत्वों में अन्तर्भाव हो जाता है। लय, स्वर-लालित्य आदि कला तत्त्व वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ के अन्तर्गत आ जाते हैं, बौद्धिक तत्त्वों का समावेश अर्थव्यक्ति प्रसादादि गुणों और कतिपय अर्थालङ्कारों के अन्तर्गत हो जाता है, और रागात्मक तत्व रस (कान्ति-गुण) माधुर्य और ओज गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वस्तु-तत्त्व शैली और रीति दोनों के सर्वथा समान हैं—केवल नाम-भेद है। व्यक्ति-तत्व के सम्बन्ध में भी दोनों में इतना भेद नहीं है जितना कि डा० डे ने माना है : रीति पर व्यक्तित्व का प्रभाव दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों तथा कुन्तक, शारदातनय आदि नवीन आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। कुन्तक का विवेचन तो सर्वथा आधुनिक ही प्रतीत होता है—वे तो यूरोप के रोमांटिक आलोचकों की भाँति ही स्वभाव पर बल देते हैं। यूरोप में भी पुनर्जागरण काल और विशेषरूप से रोमांटिक युग के बाद ही व्यक्तित्व को यह उभार मिला है। यूनान और रोम के—बाद में इटली और फ्रांस के आलोचकों ने तो प्रायः शैली के वस्तु-तत्त्व पर ही बल दिया है।

उपर्युक्त विवेचन के परिणाम इस प्रकार हैं :

(१) रीति और शैली का वस्तु-रूप एक ही है। आरम्भ में भारत और यूरोप दोनों के काव्य-शास्त्रों में प्रायः वस्तु-रूप का ही विवेचन हुआ है।

(२) भारतीय रीति में व्यक्ति-तत्त्व की सर्वथा अस्वीकृति नहीं है, जैसा कि डा० डे आदि ने माना है।

(३) फिर भी अपने वर्तमान रूप में शैली में व्यक्ति-तत्व का जितना महत्त्व है, उतना भारतीय रीति में कभी नहीं रहा। विधान रूप में उसमें वस्तु-तत्त्व का ही प्राधान्य रहा है। वामन की दृष्टि तो वस्तु-परक है ही आनन्दवर्धन जैसे सर्वमान्य आलोचकों ने भी—जिन्होंने व्यक्ति की सत्ता को उचित स्वीकृति दी है, रीति के स्वरूप में व्यक्ति-तत्व का प्रभाव अत्यन्त संयत मात्रा में ही माना है।

(४) इस प्रकार रीति और शैली के वर्तमान रूप में व्यक्ति-तत्त्व की मात्रा का अन्तर अवश्य हो गया है। कम से कम 'शैली ही व्यक्ति है' की भाँन्ति भारतीय रीति व्यक्ति से एकाकार नहीं हो पाई। इस सम्बन्ध में कुन्तक जैसे आचार्य की एक आध उक्ति को अपवाद ही मानना चाहिये।

गुण-विवेचन

गुण की परिभाषा : वामन से पूर्व भरत और दण्डी ने दश गुणों का सांगोपांग वर्णन तो किया है, परन्तु परिभाषा नहीं की।

भरत :—भरत ने गुणों को भावात्मक तत्व न मान कर अभावात्मक—अर्थात् दोषों का विपर्यय माना है : गुणा विपर्ययादू एषाम् माधुर्यौदार्यलक्षणाः। (नाट्यशास्त्र, काव्यमाला १६।६१)—अथवा एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः। (नाट्यशास्त्र-चौखम्बा—१७।६५०)। विपर्यय का वास्तविक अर्थ क्या है इस विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। इस शब्द के तीन अर्थ किये गये हैं : अभाव, अन्यथा भाव और वैपरीत्य। अभिनवगुप्त ने विघात या अभाव को ही ग्रहण किया है। उनके अनुसार भरत का मत है कि दोष का अभाव गुण है। उत्तरध्वनि काल के आचार्यों ने भी दोष के अभाव को गुण (सद्गुण) माना है : महान् निर्दोषता गुणः। परन्तु फिर भी भरत के गुण-विवेचन से यह सिद्ध नहीं होता कि उनके सभी गुणों की स्थिति अभावात्मक है। उनके लक्षणों से स्पष्ट है कि कुछ गुणों को छोड़कर शेष सभी की स्थिति निश्चय ही भावात्मक है। उदाहरण के लिए समता की स्थिति अवश्य ही अभावात्मक है, परन्तु उदारता, सौकुमार्य, ओजस् आदि गुण जिनमें दिव्यभाव, सुकुमार अर्थ, और शब्दार्थ-सम्पत्ति आदि का निश्चित रूप से सद्भाव रहता है अभावात्मक कैसे हो सकते हैं? अन्यथाभाव और वैपरीत्य की स्थिति विलोम रूप से भावात्मक हो जाती है—धन का सद्भाव भावात्मक स्थिति है, धन का अभाव अभावात्मक है, परन्तु ऋण का सद्भाव पुनः भावात्मक स्थिति है क्योंकि ऋण के अभाव-रूप में उसकी अभावात्मक स्थिति भी

होती है। इसलिए विपर्यय का अर्थ वैपरीत्य ही मानना संगत है—भरत ने दोषों का विवेचन पहले किया है अतएव उसी क्रम में दोषों के सम्बन्ध से—उनके विपर्यय रूप में—उन्होंने गुणों का भी विवेचन किया है। और, जैसा कि जैकोबी ने समाधान किया है, यह क्रम सामान्य व्यवहार-दृष्टि से रखा गया है जिसके अनुसार मनुष्य के दोष अधिक स्पष्ट रहते हैं—और गुणों की कल्पना हम प्रायः उन सहज-ग्राह्य दोषों के निषेध (अभाव अथवा विपर्यय) रूप में ही करते हैं।

अतएव हमारा निष्कर्ष यह है कि भरत ने गुण को दोष का वैपरीत्य ही माना है, परन्तु, (जैसा कि भिन्न मत रखते हुए भी एक स्थान पर डा० लाहिरी ने संकेत किया है,) निर्दिष्ट दश गुण पूर्व-विवेचित दश दोषों के ही क्रमशः विपरीत रूप नहीं हैं : यह तो उनके नामकरण से ही स्पष्ट है। अर्थात् यह वैपरीत्य सामान्य है, विशिष्ट नहीं है।

इसके अतिरिक्त भरत के अनुसार. लक्षण (काव्य-बन्ध) तथा अलंकार की भाँति गुण की भी सार्थकता यही है कि वह वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाता है। नाटक में जो वाचिक अभिनय है काव्य में वही काव्य भाषा या शैली है, इस प्रकार काव्य के प्रसंग में गुण का कार्य है काव्य-शैली को समृद्ध करना—प्रभावशाली बनाना।

भरत ने नाटक का और उपचार से काव्य का मूल तत्व रस माना है—वाचिकाभिनय रस का साधन है अतएव रस के अधीनस्थ है, और उपर्युक्त गुण आदि तत्व भी जो वाचिकाभिनय के चमत्कार के अंग हैं, परम्परा-सम्बन्ध से रस के अधीनस्थ हैं।

उपर्युक्त विवेचन के सार रूप हम भरत के अनुसार गुण का लक्षण इस प्रकार कर सकते हैं :

दोषों के विपर्यय (वैपरीत्य) रूप गुण काव्य-शैली को समृद्ध करने वाले तत्व हैं जो परम्परा-सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं।

दण्डी :— दण्डी ने भी दशगुणों का विवेचन तो विस्तार से किया है, किन्तु गुण का सामान्य लक्षण नहीं किया। तथापि उनके दो श्लोक ऐसे हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकालने में कठिनाई नहीं होती कि गुण के स्वरूप के विषय में उनकी धारणा क्या थी।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥२,१॥
काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥२,३॥

(काव्यादर्श)

काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी कल्पना अब भी बराबर हो रही है । उनका समग्र रूप में वर्णन कौन कर सकता है ?

(इससे) पूर्व भी मार्गों का विभाग करने के लिए कुछ अलंकारों[1] का वर्णन किया जा चुका है । (अब) साधारण अलंकारों का वर्णन किया जाता है ।

उपर्युक्त श्लोकों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :

काव्य के शोभा-विधायक सभी धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी संख्या नित्य वर्धमान है—वे असंख्य हो सकते हैं ।

उपमा रूपक आदि प्रसिद्ध अलंकारों को दण्डी ने 'साधारण अलंकार' कहा है ।

इन साधारण अलंकारों के अतिरिक्त अन्य सभी सौन्दर्य-विधायक तत्व भी अलंकार ही हैं ।

मार्ग-विभाजन के आधारभूत दश गुण भी अलंक्रिया अथवा अलंकार ही हैं ।

अतएव (१) दण्डी के अनुसार गुण भी एक प्रकार के अलंकार—अर्थात् काव्य-शोभा-विधायक धर्म हैं : शोभाकरत्वं हि अलंकारलक्षणं, तल्लक्षण-योगात् तेऽपि (श्लेषादयो दशगुणा अपि) अलंकाराः (तरुणवाचस्पति) ।

(२) ये काव्य के स्वतंत्र अंग हैं—रस के आश्रित नहीं हैं, अर्थात् इनके द्वारा काव्य का सीधा उपकार होता है रस के आश्रय से नहीं । दण्डी

१ दण्डी के टीकाकारों ने इनका अर्थ अनुप्रास आदि शब्दालंकार किया है—परन्तु डा० लाहरी इनसे गुणों का आशय ग्रहण करते हैं । हमको डा० लाहरी का ही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।

ने काव्य को इष्टार्थवाचक पदावली माना है—अतएव काव्य-शोभा का अर्थ हुआ शब्दार्थ की शोभा और उसके विधायक गुणों का सम्बन्ध सीधा शब्दार्थ से हुआ।

वामन :— गुण का लक्षण सबसे पहले वामन ने किया है : 'काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं। शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करते हैं गुण कहलाते हैं। वे हैं ओज, प्रसादादि—यमक उपमादि नहीं क्यों कि यमक उपमादि अलंकार, अकेले, काव्य-शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते। इसके विपरीत ओज प्रसादादि अकेले ही काव्य को शोभा-सम्पन्न कर सकते हैं। + + + +

गुण नित्य हैं—उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।

(काव्यालंकारसूत्र ३,१)

अर्थात्

(१) गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं।

(२) वे काव्य के मूल शोभाधायक तत्व हैं।

(३) वे काव्य के काव्यत्व के लिए अनिवार्य हैं। उनके बिना काव्य काव्य-पद का अधिकारी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त (४) भरत के प्रतिकूल तथा दण्डी के अनुकूल वामन गुणों को रस के धर्म न मानकर शब्दार्थ के ही धर्म मानते हुए काव्य में उनकी स्वतन्त्र तथा प्रमुख सत्ता मानते हैं।—गुण रस के आश्रित नहीं है वरन् कान्ति गुण का अंग होने के कारण रस ही गुण का अंग है :— दीप्तरसत्वं कांतिः।

ध्वनिकार तथा उनके अनुयायी : ध्वनिकार ने गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उन्हें रस के आश्रित माना है। उन्होंने गुण का लक्षण इस प्रकार किया है : "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।" अर्थात् जो प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहने वाले हैं उनको गुण कहते हैं। इस प्रकार ध्वनिकार ने उन्हें आत्मभूत रस के धर्म माना है शरीरभूत शब्दार्थ के नहीं।

ध्वनिकार के उपरान्त प्रायः उन्हीं का मत मान्य रहा। मम्मट ने उनके लक्षण को और स्पष्ट करते हुए लिखा है :

मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने उसे स्पष्ट शब्दों में चित्तवृत्ति रूप माना है : वर्णादि व्यंजक रूप में उसके आधार हैं। —जगन्नाथ ने, इससे भी अधिक, उन्हें प्रयोजन रूप माना है। रस-ध्वनिवादियों के अनुसार माधुर्यादि गुण द्रुति आदि चित्तवृत्तियों के तद्रूप ही हैं—उनका वास्तविक आधार रस ही है, परन्तु व्यंजक रूप में वर्ण-गुम्फ, समास तथा रचना आदि भी गुण के आधार हैं। जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है गुण रस और शब्दार्थ दोनों का ही धर्म है : रस का धर्म होने के नाते वह चित्तवृत्ति रूप है और शब्दार्थ का धर्म होने के नाते उसे वर्णगुम्फ और शब्द-गुम्फ पर आश्रित भी मानना पड़ेगा : गुण के स्वरूप निरुपण में वर्ण, समास आदि का अनिवार्य आधार इसका प्रमाण है। अतएव गुण अपने सूक्ष्म-रूप में चित्तवृत्ति रूप है और स्थूल अथवा मूर्तरूप में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-घटना रूप हैं, द्रुति, दीप्ति व्यापकत्व नामक चित्तवृत्ति उसका आंतर आधारतत्व है तथा वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ बाह्य।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति

उपर्युक्त व्याख्या से गुण का लक्षण तो निर्धारित हो जाता है, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का उद्घान पूर्णतः नहीं होता। उसके लिए गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति का स्पष्टीकरण आवश्यक है। आनन्दवर्धन ने तो केवल यही कहा है कि श्रृङ्गार, रौद्र आदि रसों में, जहां चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, माधुर्य, ओज आदि गुण बसते हैं, परन्तु आह्लादन (द्रुति) और दीप्ति से गुणों का क्या सम्बन्ध है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा ओज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न हैं अथवा उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध है? इस समस्या को अभिनव ने सुलझाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है। माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है। चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस-परिपाक के साथ ही घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रृङ्गार रस की अनुभूति से चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का संचार होता है वही माधुर्य है, वीर रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही ओज है, और सभी रसों के अनुभव से चित्त में जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है। इस प्रकार अभिनव

के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं और चूंकि ये अवस्थाएं रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं, अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य में अन्तर होना अनिवार्य है, इसलिए रस और चित्त-द्रुति आदि के अनुभव में भी अन्तर अवश्य मानना होगा कम-से-कम काल-क्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूंकि रस की पूर्ण स्थिति में दूसरे अनुभव के लिए स्थान नहीं रहता, अतएव चित्तद्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक अनुभव नहीं रह पाता। वह रस के अनुभव में ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्धन ने गुणों को रस के नित्य धर्म इसी दृष्टि से माना है।

अभिनव के उपरांत माधुर्य आदि गुणों को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्द्धक एवं अचल-स्थिति धर्म माना और उन्हें चित्त-द्रुति आदि का कारण माना। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था और गुण को चित्त-द्रुति आदि से अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त-द्रुति आदि का कारण मानते हैं। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय में मम्मट ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। मम्मट का प्रतिवाद विश्वनाथ ने किया। उन्होंने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की। अर्थात् चित्त के द्रुति दीप्तत्व-रूप आनन्द को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि 'द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है, जैसा कि अभिनव ने किसी अंश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।' इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है।

इन मान्यताओं को पण्डितराज जगन्नाथ ने चुनौती दी। सबसे पहले उन्होंने अभिनव गुप्त के तर्क का प्रतिवाद किया। अभिनव गुप्त के अनुसार एक ओर तो गुण रस के धर्म हैं और दूसरी ओर द्रुति आदि के तद्रूप होने के कारण रस के कार्य हैं—अतएव वे रस के धर्म और कार्य दोनों ही हैं। पण्डित-राज की तार्किक बुद्धि ने इस मन्तव्य को असिद्ध घोषित किया क्योंकि धर्म और कार्य की स्थिति अभिन्न नहीं होती : उष्णता अनल का धर्म है, दाह कार्य है—उष्णता की स्थिति दाह के बिना भी सिद्ध है अतएव दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में गुण रस का धर्म और कार्य कैसे हो सकता है? विश्वनाथ की स्थापना तो और भी असंगत है—यदि गुण रस से अभिन्न

है तो उसकी पृथक सत्ता क्यों मानी जाये ? पण्डितराज ने इन दोनों का खंडन करते हुए मम्मट के दृष्टिकोण को आंशिक रूप में स्वीकार किया। मम्मट ने गुण और चित्तवृत्ति को एक नहीं माना—उन्होंने गुण को कारण और चित्त-वृत्ति को कार्य माना है। जगन्नाथ इनमें प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध मानते हैं: गुण प्रयोजक है और चित्तवृत्ति प्रयोज्य—प्रयोजक और प्रयोज्य सम्बन्ध से दोनों को एक भी माना जा सकता है : प्रयोजकता सम्बन्धेन द्रुत्यादिक्रम एव वा माधुर्यादिकमस्तु। रसगंगाधर पृ० ५९। यह विवेचन भी निर्भ्रान्त नहीं है। एक ओर तो पण्डितराज गुण को वस्तु रूप में ही रस और शब्दार्थ दोनों का धर्म मानते हैं और दूसरी ओर प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध से उसे चित्तवृत्ति रूप भी मानते हैं। रसधर्म होने के नाते तो गुण चित्तवृत्ति रूप अवश्य हो सकता है। परन्तु शब्दार्थ का धर्म होने के नाते यह सम्भव नहीं है—क्योंकि द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की आह्लादरूप रस में तो स्थिति सम्भव है, परन्तु शब्द और अर्थ में उनकी अवस्थिति कैसे मानी जा सकती है ?

वास्तव में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। काव्य में उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करने में भी यत्किंचित संदेह अंत तक बना रहता है। फिर भी उसकी सत्ता निरपवाद रूप से मानी ही गई है और उसका एक साथ निषेध करना अधिक संगत न होगा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मनःस्थितियां हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत हैं)। रस वह आनन्द रूपी मनःस्थिति है, जिसमें हमारी सभी वृत्तियां अन्वित हो जाती हैं और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियां द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कहीं परिव्याप्त। यहां तक तो कोई कठिनाई नहीं है। यह भी ठीक है कि विशेष भावों में और विशेष शब्दों में भी चित्त-वृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए मधुर वर्णों को सुनकर और प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं। और महाप्राण वर्णों को सुनकर एवं वीर और रौद्र आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। परन्तु इन विकारों को पूर्णतः आह्लाद रूप नहीं कह सकते। यहां काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार करके भोजकत्व की ओर बढ़

रहा है। अभी उसमें वस्तु-तत्व निःशेष नहीं हुआ, और स्पष्ट शब्दों में हमारी चित्त-वृत्तियां उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही हैं। अभी इनमें पूर्ण अन्विति की स्थापना नहीं हुई, क्योंकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्ट नायक ने एक जगह संकेत किया है, यह काव्य के भोजकत्व की एक प्रारम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मान कर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियां पिघलकर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।

भाविते च रसे तस्य भोगः। योऽनुभाव-स्मरण-प्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुति-विस्तार-विकासनामा रजस-तमो-वैचित्र्यानुविद्ध-सत्वमयनिज-चित्-स्वभाव-निवृत्ति-द्रुति-विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसचिवः ॥

(लोचन के पृ० ६८ पर उद्धृत)

गुणों की संख्या :— भरत ने गुणों की संख्या दस मानी है और उनका वर्णन इस क्रम से किया है :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।

दण्डी ने भी ये ही दश गुण माने हैं—उनका क्रम थोड़ा भिन्न है :

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥

परन्तु इन क्रमों के पीछे कदाचित् छंद का ही आग्रह है—इसके अतिरिक्त सापेक्षिक महत्वादि का आधार मानना संगत नहीं होगा। दण्डी की अनेक परिभाषाएं भरत से भिन्न हैं—उनके समाधि, कान्ति आदि गुणों का तो भरत के समाधि, कान्ति आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वामन ने भी इन दश गुणों को ही ग्रहण किया है : परन्तु उन्होंने प्रत्येक गुण के शब्द-गुण और अर्थ-गुण—दो भेद माने हैं। इस प्रकार वामन की गुणसंख्या बीस

है तो उसकी पृथक सत्ता क्यों मानी जाये ? पण्डितराज ने इन दोनों का खंडन करते हुए मम्मट के दृष्टिकोण को आंशिक रूप में स्वीकार किया। मम्मट ने गुण और चित्तवृत्ति को एक नहीं माना—उन्होंने गुण को कारण और चित्त-वृत्ति को कार्य माना है। जगन्नाथ इनमें प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध मानते हैं : गुण प्रयोजक हैं और चित्तवृत्ति प्रयोज्य—प्रयोजक और प्रयोज्य सम्बन्ध से दोनों को एक भी माना जा सकता है : प्रयोजकता सम्बन्धेन द्रुत्यादिक्रम एव वा माधुर्यादिकमस्तु। रसगंगाधर पृ० ५५। यह विवेचन भी निर्भ्रान्त नहीं है। एक ओर तो पण्डितराज गुण को वस्तु रूप में ही रस और शब्दार्थ दोनों का धर्म मानते हैं और दूसरी ओर प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध से उसे चित्तवृत्ति रूप भी मानते हैं। रसधर्म होने के नाते तो गुण चित्तवृत्ति रूप अवश्य हो सकता है। परन्तु शब्दार्थ का धर्म होने के नाते यह सम्भव नहीं है—क्योंकि द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की आह्लादरूप रस में तो स्थिति सम्भव है, परन्तु शब्द और अर्थ में उनकी अवस्थिति कैसे मानी जा सकती है ?

वास्तव में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। काव्य में उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करने में भी यत्किंचित संदेह अंत तक बना रहता है। फिर भी उसकी सत्ता निरपवाद रूप से मानी ही गई है और उसका एक साथ निषेध करना अधिक संगत न होगा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मनःस्थितियां हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत हैं)। रस वह आनन्द रूपी मनःस्थिति है, जिसमें हमारी सभी वृत्तियां अन्वित हो जाती हैं और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियां द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कहीं परिव्याप्त। यहां तक तो कोई कठिनाई नहीं है। यह भी ठीक है कि विशेष भावों में और विशेष शब्दों में भी चित्त-वृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए मधुर वर्णों को सुनकर और प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं। और महाप्राण वर्णों को सुनकर एवं वीर और रौद्र आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। परन्तु इन विकारों को पूर्णत: आह्लाद रूप नहीं कह सकते। यहां काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार करके भोजकत्व की ओर बढ़

रहा है। अभी उसमें वस्तु-तत्व नि:शेष नहीं हुआ, और स्पष्ट शब्दों में हमारी चित्त-वृत्तियां उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही हैं। अभी इनमें पूर्ण अन्विति की स्थापना नहीं हुई, क्योंकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्ट नायक ने एक जगह संकेत किया है, यह काव्य के भोजकत्व की एक प्रारम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मान कर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियां पिघलकर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।

भाविते च रसे तस्य भोगः। योऽनुभाव-स्मरण-प्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुति-विस्तार-विकासनामा रजस-तमो-वैचित्र्यानतुविद्ध-सत्वमयनिज-चित्-स्वभाव-निवृत्ति-द्रुति-विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसचिवः ॥

(लोचन के पृ० ६८ पर उद्धृत)

गुणों की संख्या :— भरत ने गुणों की संख्या दस मानी है और उनका वर्णन इस क्रम से किया है :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।

दण्डी ने भी ये ही दश गुण माने हैं—उनका क्रम थोड़ा भिन्न है :

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥

परन्तु इन क्रमों के पीछे कदाचित् छंद का ही आग्रह है—इसके अतिरिक्त सापेक्षिक महत्वादि का आधार मानना संगत नहीं होगा। दण्डी की अनेक परिभाषाएं भरत से भिन्न हैं—उनके समाधि, कान्ति आदि गुणों का तो भरत के समाधि, कान्ति आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वामन ने भी इन दश गुणों को ही ग्रहण किया है : परन्तु उन्होंने प्रत्येक गुण के शब्द-गुण और अर्थ-गुण—दो भेद माने हैं। इस प्रकार वामन की गुणसंख्या बीस

हो जाती है : दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुण। यह प्रेरणा उन्हें भरत से ही मिली है क्योंकि भरत ने दश गुण मानते हुए भी उनमें से अनेक के दो दो लक्षण दिये हैं—जो प्रायः, जैसा कि अभिनवगुप्त ने माना है, शब्द-गुण और अर्थ-गुण का ही संकेत करते हैं। वामन के पश्चात भोज ने गुण-संख्या में और वृद्धि की है—और २४ गुणों का वर्णन किया है। उन्होंने तीन प्रकार के गुण माने हैं : बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। इनमें से बाह्य गुण शब्द-गुण के ही नामान्तर हैं, आभ्यन्तर गुण अर्थगुण हैं, वैशेषिक गुण भावात्मक नहीं है—वे सामान्य रूप से दोष हैं—परन्तु विशेष संदर्भ में गुण बन जाते हैं। भोज ने उपर्युक्त प्रत्येक वर्ग में भी २४ गुण माने हैं—इस प्रकार उनके अनुसार पूर्ण योग ७२ हो जाता है। भोज ने भरत, दण्डी तथा वामन के दश गुण तो थोड़े-बहुत लक्षण-भेद के साथ प्रायः यथावत् स्वीकार कर लिये हैं—परन्तु साथ ही लगभग इन्हीं के भेद-रूप चौदह नवीन गुणों की उद्भावना कर डाली है।

नवीन शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण (बाह्य तथा आभ्यन्तर) :—

उदात्तता, और्जीत्य, प्रेयस्, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गांभीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति तथा प्रौढ़ि। (१४)

वैशेषिक गुण :—असाधु (अनुकरण में), अप्रयुक्त (अनुकरण में), कष्ट (दुर्वाचनादि में), अनर्थक (यमकादि अलंकारों में), अन्यार्थ (प्रहेलिका आदि में), अपुष्टार्थ (छन्द-पूर्ति में), असमर्थ (कामशास्त्र आदि में), अप्रतीत (विशिष्ट विद्या-विशारदों के सम्भाषणादि में), क्लिष्ट (व्याख्यानादि में—जहां गूढ़ार्थ का स्पष्ट संकेत होता है), नेयार्थ (प्रहेलिका आदि में), संदिग्ध (प्रसंग आदि के कारण आशय स्पष्ट हो जाने पर), विरुद्ध (इच्छापूर्वक प्रयुक्त किये जाने पर, जहां विपरीत—प्रकल्पना ही अभीष्ट हो), अप्रयोजक (अप्रयोजक विशेषण के अपने आप में सुन्दर होने के कारण), देश्य (महाकवियों द्वारा प्रयुक्त होने पर), ग्राम्य (घृणावत्, अश्लील तथा अमंगल रूप ग्राम्य दोष क्रमशः संवित अर्थात्—सहज भाव से स्वीकृत, गुप्त और लक्षित होने पर गुण बन जाता है)।—ये गुण १६ हैं, परन्तु भोज ने ग्राम्य के घृणावत्, अश्लील तथा अमंगल रूपों के तीन तीन भेद और किये हैं।—इस प्रकार वैशेषिक गुणों का सर्वयोग भी २४ हो जाता है। इनके अतिरिक्त वाक्य और वाक्यार्थ दोषों पर आश्रित चौबीस चौबीस वैशेषिक गुण और भी हैं।

अग्निपुराण में गुणों की संख्या २४ से घटकर १८ रह गई। उसमें गुणों के तीन वर्गों का उल्लेख है: शब्द-गुण, अर्थ-गुण और उभय गुण। शब्द-गुण ६ हैं—श्लेष, लालित्य, गांभीर्य सुकुमारता, औदार्य, तथा ओजस्। अर्थ-गुण भी ६ हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि तथा सामयिकता। ६ उभय गुण इस प्रकार हैं: प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक, और राग।

गुणों की संख्या में एक ओर जहां वृद्धि हो रही थी—वहां दूसरी ओर गंभीर रुचि के आचार्यों की ओर से उन्हें वैज्ञानिक आधार पर नियमित करने का सत्प्रयत्न भी किया जा रहा था। काव्य-शास्त्र के आरम्भिक युग में ही भामह ने केवल तीन गुणों का अस्तित्व स्वीकार किया था—बाद में जब ध्वनि-रसवादियों ने काव्य के सभी अंगों का पुनराख्यान किया तो भामह के ये तीन गुण ही मान्य हुए। गुणों को जब रस-धर्म मान लिया गया तो उनका रूप बाह्य तथा मूर्त न रह कर आन्तरिक हो गया—वे चित्तवृत्ति रूप माने गये। काव्यास्वादन की स्थिति में चित्त की तीन अवस्थाएं होती हैं: द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व—गुण भी तदनुसार तीन ही हुए माधुर्य, ओज और प्रसाद। भामह और उनके उपरान्त आनन्दवर्धन, अभिनव तथा मम्मट आदि ने इन्हीं को ग्रहण किया है।

कुन्तक ने परम्परा से कुछ हटकर गुण-विवेचन किया है। उन्होंने कवि-स्वभाव को प्रमाण मानते हुए सुकुमार, विचित्र और मध्यम तीन काव्य-मार्ग और उनमें से प्रत्येक के चार विशेष और दो सामन्य गुणों का निरूपण किया है। सामान्य गुण काव्य के अनिवार्य गुण हैं—उनके अभाव में काव्य काव्य नहीं रहता अतएव तीनों मार्गों में उनकी स्थिति समान रूप से रहती है। सामान्य गुण हैं: औचित्य और सौभाग्य—औचित्य का अर्थ है यथोचित विधान और सौभाग्य का अर्थ है चेतना को चमत्कृत करने का गुण जिसका मूल आधार है प्रतिभा। इनके अतिरिक्त चार विशिष्ट गुण हैं जिनके स्वरूप प्रत्येक गुण में भिन्न भिन्न रहते हैं—ये हैं: माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार गुणों की संख्या ६ है।

विवेचन :— भेद-प्रभेदों का प्रस्तार अपने आप में कोई मौलिक उद्भावना नहीं है। भोज ने गुण-क्षेत्र में संख्या-वृद्धि कर कोई विशेष सिद्धि प्राप्त नहीं की। उन्होंने गुण-विवेचन को अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक बनाने

के स्थान पर और भी उलझा दिया। और तथ्य यह है कि काव्य-शास्त्र की परम्परा में उनके गुण-विस्तार को विशेष महत्व कभी नहीं मिला। परवर्ती विद्वानों ने या तो भामह तथा आनन्दवर्धन आदि के अनुसरण पर केवल तीन गुणों की ही सत्ता स्वीकार की -- या फिर अधिक से अधिक भरत, दण्डी तथा वामन के दश-गुणों को मान्यता दी। वास्तव में भोज और अग्निपुराण का गुण-विवेचन अत्यन्त अपुष्ट तथा बहुत कुछ अनर्गल-सा है। उनके अनेक गुण तो मान्य भेदों के प्रभेद मात्र हैं, कुछ केवल अलंकार ही हैं। कुछ-एक में ध्वनि का संकेत है, प्रेयस् और ऊर्जस्वि पूर्व-ध्वनि काल के आचार्यों के अनुसार अलंकार और उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों के अनुसार रस भाव हैं। भोज ने प्रायः दण्डी और वामन के गुण-विवेचन के आधार पर तथाकथित नवीन उद्भावनाएं कर डाली हैं—कभी वे एक से लक्षण और दूसरे से नाम ग्रहण कर लेते हैं—और कभी किसी एक गुण के वैकल्पिक रूपों को नये नाम दे देते हैं जैसे वामन की अर्थ-प्रौढ़ि के तीन रूपों को उन्होंने तीन स्वतन्त्र गुणों का रूप दे दिया है। इसके अतिरिक्त उनकी उद्भावनाओं के पीछे कोई तर्क अथवा संगति भी नहीं है। भोज के शब्द-गुण गांभीर्य, प्रौढ़ि, ऊर्जस्वि तथा प्रेयस् स्पष्टतः ही अर्थ के चमत्कार हैं, इसी प्रकार कतिपय गुण ऐसे हैं जिनका सौन्दर्य शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है, परन्तु उन्हें भोज ने मनमाने ढंग से शब्द-गुण या अर्थ-गुण की श्रेणी में डाल दिया है। वास्तव में शब्द और अर्थ का स्पष्ट पार्थक्य बहुत दूर तक निभाना कठिन होता है। वामन दश गुणों में ही बुरी तरह असफल रहे हैं, फिर भोज चौबीस गुणों में उसका निर्वाह किस प्रकार करते? इस पार्थक्य का आधार है आश्रय-आश्रयी-भाव परन्तु वह स्वयं असिद्ध रहता है—और भोज ने तो यह आधार भी विधिवत् ग्रहण नहीं किया। अतएव उनका विवेचन अत्यन्त असंगत एवं अनर्गल हो गया है। अग्निपुराण के भेद-प्रभेदों के विषय में भी यही कहा जा सकता है, उसका विवेचन और भी अस्पष्ट है। पहले तो शब्द-गुण अर्थ-गुण तथा उभय गुण के वर्ग ही प्रामाणिक नहीं हैं: शब्द और अर्थ के चमत्कार प्रायः एक दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर बैठते हैं, और फिर उभय गुणों का पृथक वर्ग तो अपनी स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ ही है। पुराणकार ने दण्डी, वामन और भोज के विवेचन को केवल उलझा कर रख दिया है।

सारांश यह है कि भोज के चौबीस या बहत्तर और अग्निपुराण के अठारह गुण काव्य-मर्मज्ञों का ध्यान आकृष्ट करने में असमर्थ ही रहे। वास्तविक विवाद रहा वामन के दशगुणों और आनन्दवर्धन के तीन गुणों के बीच। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है वामन और आनन्दवर्धन का विवाद संख्या के विषय में मूलतः नहीं है—यह विवाद गुण के स्वरूप, अथवा उसके भी आगे काव्य के स्वरूप से सम्बद्ध है। वामन के गुण शब्द-अर्थ के धर्म होने के नाते रीति-चमत्कार हैं. आनन्दवर्धन के गुण रस के धर्म होने के नाते चित्तवृत्ति-रूप हैं। अतएव स्वभावतः वामन के गुणों का आधार मूर्त और संकीर्ण है, आनन्दवर्धन के गुणों का आधार सूक्ष्म और व्यापक है जिसके परिणामस्वरूप वामनीय गुणों की संख्या भी अधिक है। ध्वनिवादियों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद—केवल ये तीन गुण ही माने हैं। उनका तर्क है कि रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की तीन अवस्थाएं होती हैं—द्रुति, दीप्ति तथा व्यापकत्व : शृङ्गार, करुण आदि के आस्वादन में चित्त द्रवीभूत तथा वीर रौद्रादि के अनुभव में दीप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त सभी रसों की अनुभूति के समय चित्त की एक और अवस्था होती है जिसे समर्पकत्व या व्यापकत्व कहा जा सकता है, जो रसप्रतीति का सहज परिणाम होती है। इन्हीं चित्तवृत्तियों के तद्रूप होने के कारण, गुण भी केवल तीन ही होते हैं—द्रुति का प्रतीक माधुर्य, दीप्ति का ओज और व्यापकत्व का प्रसाद। रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की केवल ये ही तीन अवस्थाएं होती हैं अतएव तीन से अधिक गुणों की कल्पना निराधार है। मम्मट ने सिद्ध किया है कि वामन की दश-गुण-कल्पना भी वास्तव में किसी पुष्ट आधार पर स्थित नहीं है, अतिरिक्त गुण या तो इन्हीं तीनों में अन्तभूर्त हो जाते हैं, या वे दोषाभाव मात्र हैं, अथवा अलंकार हैं या फिर उक्ति-वैचित्र्य मात्र।

वामन के शब्द गुण ओज, श्लेष, समाधि, उदारता, तथा प्रसाद प्रसिद्ध ओज गुण में अन्तभूर्त हो जाते हैं, माधुर्य माधुर्य में और अर्थव्यक्ति प्रसाद में। ओज का लक्षण है गाढ़-बन्धत्व, श्लेष में अनेक पद एक पद जैसे प्रतीत होते हैं, प्रसाद में पद-रचना ओज मिश्रित शैथिल्य-युक्त होती है, समाधि में आरोह-अवरोह-क्रम रहता है, उदारता में भी बन्ध-विकटत्व रहता है—उसमें पद नृत्य-सा करते हैं। स्पष्टतः ये सभी विशेषताएं प्रसिद्ध ओज गुण के लक्षण

के अन्तर्गत आजाती हैं—ओजोदीप्त वाणी में गाढ़बन्धत्व, विकटबन्धत्व, आरोह-अवरोह आदि विशेषताओं का समावेश स्वभाव से ही हो जाता है—अतएव उसी के विभिन्न रूप होने के कारण ये सभी ओज के अंतर्गत आ जाते हैं। वामन के शब्द-गुण माधुर्य का स्वरूप है पृथक्-पदत्व जो प्रसिद्ध माधुर्य का भी बाह्य तत्व है। अर्थव्यक्ति, जिसमें पद तुरंत ही अपने अर्थ के प्रति समर्पण कर देते हैं, प्रसाद का प्रसिद्ध लक्षण है। समता में एक ही मार्ग अथवा पद-रचना-शैली का आरम्भ से अंत तक अवलम्बन रहता है, परन्तु यह गुण तो एकरसता के कारण विरस भाव उत्पन्न करता हुआ दोष बन जाता है। अपरुष-बन्ध-रूप सौकुमार्य कष्टत्व अथवा श्रुतिकटु दोष का अभावरूप है और पद-औज्ज्वल्य-रूप कांति ग्राम्यत्व दोष का निषेध मात्र है। वामन के अर्थ-गुणों की भी यही स्थिति है। अर्थ-प्रौढ़ि रूप ओज जिसमें एक शब्द के लिए सम्पूर्ण वाक्य का प्रयोग, सम्पूर्ण वाक्य के लिए एक शब्द का प्रयोग, व्यास, समास, तथा साभिप्राय-विशेषण प्रयोग होता है कथन का प्रकार अथवा उक्ति-वैचित्र्य मात्र है। इसी प्रकार अनेक विचारों का संघटन रूप अर्थ-गुण श्लेष भी कथन का ही वैचित्र्य है, गुण नहीं है। ये दोनों भावात्मक गुण नहीं हैं। वामन के पाँच अर्थ-गुण प्रसाद, माधुर्य, उदारता, सौकुमार्य और समता केवल दोषाभाव है। अर्थ-वैमल्य-रूप प्रसाद—जहां आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग रहता है—अधिकपदत्व दोष का निषेधमात्र है। अर्थ-गुण माधुर्य उक्ति-वैचित्र्य का नाम है—परन्तु उक्ति-वैचित्र्य तो काव्य-शैली का अनिवार्य लक्षण है, उसके अभाव में रचना अनवीकृत दोष से दूषित रहती है। ऐसी स्थिति में उसे भावात्मक गुण नहीं माना जा सकता—वह अनवीकृत दोष का निषेध मात्र है। उदारता का तो लक्षण ही ग्राम्यत्व का अभाव है—इसलिए उसे ग्राम्यत्व नामक दोष का अभाव ही मानना संगत है। सौकुमार्य भी पारुष्य का अभाव रूप है—पारुष्य का अर्थ है अप्रिय अथवा अमंगल—यहां अमंगल-वाचक शब्दों के परिहार द्वारा अमंगल तथ्य के पारुष्य का परिहार किया जाता है। अतएव यह भी अमंगलरूप अश्लील दोष का अभाव ही सिद्ध होता है। अर्थ के अवैषम्य अथवा क्रम के अभंग को अर्थ-गुण समता कहते हैं जो प्रक्रम-भंग दोष का अभाव है। अर्थव्यक्ति जहां वस्तुओं के स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है—स्वभावोक्ति अलंकार से अभिन्न है। रस से दीप्त कान्तिगण

होता है अर्थात् चित्त के एकाग्र होने से वास्तविक अर्थ प्रकट हो जाता है। परन्तु यह तो काव्य के रसास्वादन की पहली शर्त है, अर्थ-दर्शन के बिना तो न रस है, न गुण, न रीति। वैसे भी अर्थ-दर्शन गुण कैसे हो सकता है?

मम्मट ने वामन के दश-गुण-विवेचन का लगभग इसी प्रकार खण्डन करते हुए, केवल तीन गुणों का ही अस्तित्व सिद्ध किया है। मम्मट का यह व्याख्यान प्रायः युक्तियुक्त ही है—इससे असहमत होने का कोई विशेष कारण नहीं है।

वास्तव में भेद-प्रस्तार का तो कोई अंत ही नहीं हो सकता। वर्गीकरण अथवा वर्ग-विभाजन सर्वथा निर्दोष प्रक्रिया नहीं है—फिर भी उसका एक मूल सिद्धान्त यह है कि समान गुणशील इकाइयों का वर्ग में अन्तर्भाव होते रहना चाहिए। वर्ग जाति का प्रतिरूप है व्यक्ति को जाति से तभी पृथक नाम-रूप देना चाहिए जब उसका स्वरूप इतना व्यापक और महत्वपूर्ण हो जाए कि वह अपने आप में एक जाति या उपजाति का ही वाचक बन जाए। भारतीय काव्यशास्त्र में, भेद-प्रस्तार करते समय अनेक हल्की रुचि के आचार्यों ने इस मूल सिद्धांत की प्रायः उपेक्षा कर दी है—जिससे उनकी उद्भावनाएं अनावश्यक और असंगत हो गई हैं। गंभीर आचार्यों को इसीलिए, समय समय पर इस प्रस्तार प्रवृत्ति को नियंत्रित करने का प्रयत्न करना पड़ा है। भामह, आनन्द-वर्धन, अभिनव, मम्मट आदि गहनचेता विचारकों का सबसे महत्वपूर्ण योग यही रहा है कि उन्होंने विस्तार-प्रस्तार की अपेक्षा नियमन तथा समंजन का प्रयत्न ही अधिक किया है।

अतएव, अन्त में पूर्व-ध्वनि काल के दशगुणों और उत्तरध्वनिकाल के तीन गुणों में—ये पिछले तीन गुण ही मान्य हुए: माधुर्य, ओज और प्रसाद—जो क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के तद्रूप हैं। इनमें प्रसाद तो चित्त की निर्मलता की—समरसता की स्थिति है जो सभी रसों के आस्वादन के लिए अनिवार्य है। हमारा मन जब तक निर्मल अथवा समरस नहीं होगा तब तक रसानुभूति सम्भव नहीं है—कामातुर व्यक्ति शृङ्गार रस का आस्वादन नहीं कर सकता, भयभीत व्यक्ति भयानक रस की प्रतीति करने में असमर्थ रहेगा, क्रुद्ध अथवा शोकविह्वल नर-नारी रौद्र या करुण का आनन्द नहीं ले सकते। चित्त की इसी निर्मलता को आनन्दवर्धन ने समर्पकत्व अथवा व्यापकत्व कहा है और इसी के आधार पर प्रसाद गुण को

शब्द और अर्थ की स्वच्छता रूप माना है : प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। यह स्वच्छता—बाह्य रूप में शब्द और अर्थ की, और आन्तर रूप में चित्त की स्वच्छता—सर्व-रस-साधारण क्रिया है, इसके बिना रसानुभूति सम्भव नहीं है।

> समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
> स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥

अर्थात् (शुष्केन्धन में अग्नि के समान, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान) काव्य का समस्त रसों के प्रति जो समर्पकत्व (बोद्धा के हृदय में झटिति व्यापन-कर्तृत्व) है, उसे समस्त रसों में और रचनाओं में (सर्वसाधारणी क्रिया वृत्तिः स्थितिः यस्य सः) रहने वाला प्रसाद गुण समझना चाहिए।

(हिन्दी ध्वन्यालोक २,१० पृ० १३८)

इस प्रकार प्रसाद तो सामान्य अथवा साधारण गुण है। अब शेष रह जाते हैं माधुर्य और ओज। मानव-स्वभाव की सामान्यतः दो मूल प्रवृत्तियां ही लक्षित होती हैं—कोमल और परुष, अथवा मधुर और ऊर्जस्वित् इन्हीं दोनों को विभिन्न मात्राओं के मिश्रण से मानव-मन के असीम वैचित्र्य का निर्माण होता है : मौलिक प्रवृत्तियां ये ही दो रहती हैं। कुन्तक ने इसी आधार पर कवि-स्वभाव दो प्रकार के माने हैं : सुकुमार और विचित्र जो इन्हीं दो के भिन्न नाम हैं। माधुर्य और ओज इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। इन दो प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियों की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि वे सभी प्रवृत्तियां इन्हीं दो के मिश्रण से ही निर्मित है—रति तथा शोक कोमल वृत्तियां हैं, हास्य भी अपने सहज रूप में कोमल वृत्ति ही है—उत्साह और क्रोध परुष हैं—भय आश्रय की दृष्टि से कोमल और आलम्बन की दृष्टि से परुष है जुगुप्सा और अद्भुत में दोनों का मिश्रण (अद्भुत में कुछ आचार्य केवल दीप्ति—भी मानते हैं) शान्त में दोनों का संतुलन या सामरस्य है।

गुण के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए कतिपय समानधर्मी तत्वों से उसका पार्थक्य-प्रदर्शन उपयोगी होगा।

गुण और रीति :— सबसे पूर्व गुण और रीति को ही लीजिए। गुण और रीति के परस्पर-सम्बन्ध का विवेचन किया जा चुका है। दण्डी

ने गुण को रीति का मूल तत्व माना है। वामन ने इस सम्बन्ध को और भी दृढ़ करते हुए लिखा है: विशिष्टा पद-रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। १,२,७-८। अर्थात् रीति का वैशिष्ट्य गुणात्मक है। इस सूत्र का आगे चल कर आनन्दवर्धन ने व्याख्यान किया है। उन्होंने तीन विकल्प उपस्थित किये हैं:

गुणों का और संघटना (रीति) का ऐक्य है अथवा व्यतिरेक अर्थात् अभेद है अथवा भेद। व्यतिरेक में भी दो मार्ग हैं: गुणाश्रित संघटना (है) अथवा संघटनाश्रित गुण (हैं)[1]।

अर्थात् १. क्या रीति और गुण अभिन्न हैं?

२. क्या रीति गुणाश्रित है?

३. क्या गुण रीति-आश्रित हैं?

यों तो आनन्दवर्धन से पूर्व भी इस विषय का विवेचन हो चुका था। वामन ने रीति और गुण को अभिन्न माना था—और उद्भट ने गुण को रीति-आश्रित। परन्तु ये अभिमत आनन्दवर्धन को मान्य नहीं हुए उन्होंने अपने ढंग से इन विकल्पों का उत्तर दिया। "यदि गुण और संघटना (रीति) एक तत्व हैं, अथवा संघटना (रीति) के आश्रित गुण रहते हैं तो संघटना के समान गुणों का भी अनियत-विषयत्व हो जाएगा। गुणों का तो विषय-नियम निश्चित है। जैसे, करुण और विप्रलम्भ श्रृङ्गार में ही माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष (होता) है, ओज रौद्र और अद्भुत विषय में (ही प्रधानतः रहता है)। माधुर्य और प्रसाद रस, भाव और तदाभास विषयक ही होते हैं। इस प्रकार (गुणों का) विषय नियम बना हुआ है। (परन्तु) संघटना में वह बिगड़ जाता है। क्योंकि श्रृङ्गार में भी दीर्घसमासा (रचना-संघटना) पाई जाती है और रौद्रादि रसों में भी समास-रहित (रचना पाई जाती है)। + + + इसलिए गुण न तो संघटना-रूप हैं और न संघटनाश्रित हैं।

इस प्रकार पहले दोनों विकल्पों का आनन्दवर्धन खण्डन कर देते हैं।—रीति और गुण एक नहीं है, इसमें तो कोई विशेष आपत्ति नहीं है: रीति (पद) रचना है और गुण उसको अनुप्राणित करने वाला तत्व, अतएव इन दोनों का अभेद सम्भव नहीं है। परन्तु गुण किसी रूप में भी रीति के आश्रित नहीं है—यह प्रश्न विचारणीय है। आनन्दवर्धन का तर्क निस्संदेह

१ हिन्दी ध्वन्यालोक—पृ० २३३

ही संगत है—रीति के आश्रित होने से गुण भी अनियत-विषय हो जाएगा जबकि गुण का विषय नियत है, रीति का अनियत। श्रृङ्गार रस में गुण तो माधुर्य ही हो सकता है—ओज नहीं हो सकता, परन्तु रीति दीर्घसमासा भी हो सकती है : इसी प्रकार रौद्र में केवल ओज गुण ही होगा, परन्तु रीति असमासा या लघुसमासा भी हो सकती है। यह युक्ति आंशिक रूप में ही सत्य है क्योंकि एक तो संघटना या रीति केवल समासाश्रित ही नहीं है, वर्णाश्रित भी है—इसका स्पष्टीकरण मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-रसवादियों ने आगे चलकर किया है। समास की अपेक्षा वर्णों को अनियत विषय मानना थोड़ा कठिन है। परन्तु यहां भी कोई अकाट्य नियम नहीं है—कथित कठोर वर्णों का प्रयोग होने पर भी भाव की तीव्रता के द्वारा श्रृङ्गारादि रसों का परिपाक सम्भव है, अनुभव-गम्य है। फिर भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि दीर्घसमास और कठोर वर्ण श्रृङ्गारादि रसों के और असमास रचना तथा कोमल वर्ण रौद्रादि-रसों के परिपाक में बाधक होते हैं। कठोर वर्ण और दीर्घ समास श्रृङ्गार रस की द्रुति में विघ्नकारी होते हैं, समासहीन पृथक पद तथा कोमल वर्णों से रौद्र की दीप्ति का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, यह मनोविज्ञान का तथ्य सहृदय के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। स्वयं आनन्द ने भी इसको मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

तीसरा विकल्प है : क्या रीति गुण के आश्रित है? इसका उत्तर आनन्दवर्धन स्वीकारात्मक देते हैं। उनकी संघटना की परिभाषा में ही वह निहित है : गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्। आनन्दवर्धन का पक्ष सर्वथा ग्राह्य है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। रीति गुण के आश्रित है,—शब्द-गुम्फ, वर्ण-गुम्फ—रूपिणी पद-रचना का स्वरूप माधुर्य, ओज आदि के द्वारा ही निर्धारित होता है। रीति का मुख्य कार्य है रस की अभिव्यक्ति करना, और रस की अभिव्यक्ति वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकती गुण के आश्रय से ही कर सकती है। वह माधुर्य, ओज और प्रसाद के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में सहायक होती है। अतएव आनन्दवर्धन के पक्ष को स्वीकार करने में तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। रीति गुण के आश्रित है—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु गुण भी रीति-निरपेक्ष नहीं है। उपचार से तो आनन्द भी यह मान लेते हैं।

निष्कर्ष यह है कि रीति और गुण एक नहीं है—परन्तु उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों में गुण का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है—

मूलतः रीति उसी के आश्रित रहती है। परन्तु गुण भी रीति से अप्रभावित नहीं रहता : रीति के वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति के निश्चय ही साधक अथवा बाधक हो सकते हैं।

गुण और अलंकार :— आरम्भ में गुण और अलंकार के विषय में भ्रान्ति रही। वामन से पूर्व इनका पृथक निर्देश तो भरत, दण्डी तथा भामह आदि सभी आचार्यों ने किया है, परन्तु इन दोनों का तात्विक भेद किसी ने स्पष्ट नहीं किया।

वामन ने पहली बार इस मर्म का स्पर्श किया। उन्होंने अपने सिद्धान्त के अनुसार निर्भ्रान्त रूप में दोनों का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया।
"गुण : काव्य-शोभा के कारक (विधायक) धर्म गुण हैं।"

काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।

अलंकार : काव्य-शोभा के अतिशयहेतु (वृद्धिकारक धर्म) अलंकार हैं :

तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

अपने मत को वृत्ति द्वारा और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है : शब्दार्थ के जो धर्म काव्य-शोभा (की सृष्टि) करते हैं वे गुण हैं। ये गुण हैं ओज प्रसादादि, यमक-उपमादि नहीं। क्योंकि यमक-उपमादि अकेले ही काव्य-शोभा का सृजन नहीं कर सकते—इसके विपरीत ओज प्रसादादि अकेले ही काव्य को शोभा-सम्पन्न कर सकते हैं।

+ + + +

इस प्रसंग में दो श्लोक हैं :

शुद्ध गुण काव्य युवती के सहज रूप के समान आकर्षक लगता है, और अलंकार-सज्जा से वह और भी बढ़ जाता है।

(किन्तु) यदि वाणी गुणों से रहित है तो उसकी स्थिति यौवनविहीना स्त्री के समान है जो सुन्दर अलंकार धारण कर और भी अपकर्षक हो जाती है।

गुण नित्य हैं। उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।

अतएव वामन के अनुसार गुण और अलंकार की पारस्परिक स्थिति इस प्रकार है :

साम्य

१. गुण और अलंकार दोनों ही शब्द अर्थ के धर्म हैं।

२. दोनों का कर्म भी प्रायः समान है—अर्थात् दोनों काव्य का उत्कर्ष-साधन करते हैं।

वैषम्य

परन्तु १. गुण शब्द-अर्थ के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य।

२. गुण काव्य-शोभा का सृजन करते हैं अलंकार केवल उसकी श्रीवृद्धि।

३. गुण के अभाव में काव्य-सौन्दर्य का अस्तित्व ही नहीं होता, परन्तु अलंकार के अभाव में गुण का सद्भाव होने पर काव्य-शोभा बनी रहती है।

४. गुण के अभाव में अलंकार का सद्भाव काव्य का उल्टा अपकर्ष करता है।

वामन का यह पार्थक्य-प्रदर्शन उनके अपने सिद्धान्त के अनुसार सर्वथा स्पष्ट और निर्भ्रान्त है। परन्तु सिद्धान्त-भेद हो जाने से ध्वनिवादियों ने इसे केवल आंशिक रूप में ही स्वीकार किया—मूलतः उन्होंने इसे अपूर्ण ही माना। गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य—यह तो उन्हें स्वीकार्य है।—गुण काव्य में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहते हैं अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं है, यह तो ठीक है। परन्तु इसके आगे गुणों को भी शब्द-अर्थ के ही धर्म मानना रस-ध्वनिवादियों को ग्राह्य नहीं है। आनन्द-वर्धन के शब्दों में गुण-अलंकार का भेद इस प्रकार है :

"जो उस प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहने वाले (माधुर्यादि) हैं, उनको गुण कहते हैं और जो (उसके) अंग (शब्द तथा अर्थ) में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटकादि के समान अलंकार कहते हैं।" (हिं० ध्वन्यालोक, २,६)। अर्थात् गुण और अलंकार का मूलभेद यह है कि गुण प्राणभूत रस के धर्म हैं, और अलंकार शरीरभूत शब्द-अर्थ के। अलंकारों की स्थिति कटक और आदि आभूषणों की सी है जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध देह से है।

मम्मट ने इसी को स्पष्ट करते हुए लिखा है :

आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति जो अंगभूत रस के उत्कर्षवर्धक अचल-स्थिति धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं।

इसके विपरीत अलंकार शब्द अर्थ के धर्म हैं और वे अचल-स्थिति नहीं है : सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —काव्य के लिए सगुणता अनिवार्य है, परन्तु अलंकृति कभी नहीं भी होती।

विश्वनाथ ने अलंकार की परिभाषा में ही यह भेद निहित कर दिया— "शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः—अलंकार शब्द-अर्थ के शोभातिशायी अस्थिर धर्म हैं।" गुण के समान उनकी स्थिति आवश्यक नहीं है : अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः (सा० दर्पण)।

अतएव रस-ध्वनिवादियों के अनुसार गुण और अलंकार का भेद इस प्रकार है :

(१) गुण प्राणभूत रस के धर्म हैं, अलंकार अंगभूत शब्द-अर्थ के।

(२) स्वभावतः गुण काव्य के आंतरिक तत्व हैं—वे द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्तियों के तद्रूप हैं, अलंकार बाह्य तत्व हैं।

(३) रसानुभूति की प्रक्रिया में गुणों का योग प्रत्यक्ष रहता है। अलंकारों का अप्रत्यक्ष, वे वाच्य-वाचक का उपकार करते हुए व्यंग्य रस के परिपाक में योग देते हैं।

(४) अतएव गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य।

(५) रसादि अंततत्वों की भांति गुण व्यंग्य रहते हैं, अलंकार वाच्य।

साधारणतः रस-ध्वनिवादियों का यह विवेचन ही मान्य रहा और वास्तव में यही संगत भी है यद्यपि इसमें थोड़ा अतिवाद अवश्य है। वह अतिवाद यह है कि इन्होंने गुण को सिद्धान्त में एकान्त रसधर्म मान लिया है। परन्तु जैसा कि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है, और व्यवहार में रस-ध्वनिवादियों ने भी माना है, गुण शब्द और अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार अलंकार भी मूलतः वाचक शब्द और वाच्य अर्थ के धर्म होते हये भी व्यंग्य

प्रसाधन हैं अर्थात् अभिव्यंजना को प्रभावशाली बनाने के उपकरण हैं। परन्तु मूलतः चित्तवृत्ति रूप होने पर भी जिस प्रकार गुण गौण रूप में शब्द और अर्थ : वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ, से भी सम्बन्ध रखते हैं इसी प्रकार मुख्य रूप में शब्द और अर्थ के धर्म—अभिव्यंजना के चमत्कार—होते हुए भी अलंकार गौण रूप में चित्त को भी चमत्कृत करते हैं। आंतरिक और बाह्य तत्व की यही सापेक्षिक प्रमुखता गुण और अलंकार का मुख्य अंतर है—गुण मूलतः काव्य के आंतरिक तत्व हैं, और अलंकार बाह्य।

दोष-दर्शन

दोषों का वर्णन संस्कृत साहित्य-शास्त्र में आरम्भ से ही मिलता है और आचार्यों ने प्रायः दोष-विवेचन पहले किया है, गुण-अलंकार-वर्णन बाद में ; यह मानव-स्वभाव की सहज प्रवृत्ति का ही परिणाम है, इसीलिए आदि वैदिक ऋषि ने अपनी प्रार्थना में दुरित के परिहार की वांछा पहले की है और भद्र की कामना बाद में—विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव—यद्भद्रं तन्न आसुव। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी दोष-वर्णन इतने आग्रह के साथ इसीलिए किया गया है क्योंकि दोष-परिहार को काव्य की पहली शर्त माना गया है। दण्डी ने प्रबल शब्दों में घोषणा की है कि काव्य में रंचमात्र दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि एक छोटा सा भी कुष्ट का दाग़ सुन्दर से सुन्दर शरीर को कुरूप कर सकता है। (काव्यादर्श, १,७)। प्राचीन आचार्यों ने ही नहीं, उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों ने भी निर्दोषता को काव्य-लक्षण का अनिवार्य अंग माना है। पूर्व-ध्वनिकाल से वामन और उत्तर-ध्वनिकाल से मम्मट का काव्य-लक्षण उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। निर्दोषता को अपने आप में एक महान गुण माना गया है : महान् निर्दोषता गुणः। काव्य के लिए निर्दोषता की अपेक्षा अधिक है अथवा रसवत्ता की ? दोनों में से कौनसा काव्य के लिए अनिवार्य है ? या मनुष्य अथवा काव्य में निर्दोषता कहां तक सम्भव है ? ये विवादास्पद प्रश्न हैं जिनका समाधान अन्यत्र किया जाएगा। परन्तु दोष का विवेचन काव्यशास्त्र का—विशेष कर रीति-सिद्धांत का—अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है, इसमें संदेह नहीं। काव्य के सौंदर्य-असौंदर्य अथवा प्रभाव का विश्लेषण करने के लिये दोष-दर्शन सर्वथा अनिवार्य है।

दोष की परिभाषा : प्राचीनतर आचार्यों ने—भरत, भामह और दण्डी—तीनों ने दोष का लक्षण नहीं किया। भरत ने केवल इतना ही निर्देश किया है कि दोष की स्थिति भावात्मक है, गुण उसका विपर्यय है : एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः। (नाट्यशास्त्र ७,६४)। भामह ने भी दोषों के वर्ग—सामान्य दोष, वाणी के दोष-भेद, तथा दोष के गुणत्व-साधन आदि का विवेचन तो किया है, परन्तु सामान्य लक्षण नहीं दिया—केवल यह कह दिया है कि काव्य में सत्कवि इसका प्रयोग नहीं करते : कवयो न प्रयुंजते। दण्डी ने विशेष दोष-वर्णन विस्तारपूर्वक किया है, किन्तु दोष की परिभाषा नहीं की। उन्होंने सामान्य दोष के स्वरूप के विषय में केवल दो बातें कही हैं:

(१) दोषा विपत्तये तत्र + + + ।

(२) इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः।

(१) दोष काव्य में विफलता के कारण होते हैं + + ।

(२) विद्वानों को काव्य में इनका परिहार करना चाहिए।

गुण की भाँति दोष का लक्षण भी सबसे पहले वामन ने ही किया है : गुणविपर्ययात्मनो दोषाः अर्थात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है। यहां भी प्रश्न उठ सकता है कि विपर्यय का क्या अर्थ है : वैपरीत्य या अभाव या अन्यथाभाव ? वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि विपर्यय से उनका अभिप्राय वैपरीत्य का ही है—उनके दोष काव्य-सौंदर्य (गुण) के अभाव के द्योतक नहीं हैं, वे काव्य-सौंदर्य के घातक हैं। उनके अधिकांश गुण सौंदर्य-शास्त्र तथा लोक-औचित्य आदि के निषेध अथवा उल्लंघन द्वारा काव्य-सौंदर्य की हानि करते हैं : अतएव उनकी स्थिति विलोम रूप से भावात्मक ही है। इस प्रकार वामन के अनुसार दोष उन तत्वों को कहते हैं जो काव्य-सौंदर्य की हानि करते हैं। वामन की दृष्टि में सौंदर्य वस्तुगत है, इसलिए दोष भी वस्तुगत ही हैं—वे बाह्य रूप की विकृतियां मात्र हैं, आंतरिक चित्तवृत्ति के उद्वेग नहीं हैं।

ध्वनि की स्थापना के उपरान्त चित्र बदल गया। काव्य का सौंदर्य रूपगत न रहकर आत्मगत हो गया—अतएव दोषों की स्थिति भी बदल गई : वे भी मूलतः आत्मगत (रस से सम्बद्ध) और उसके आश्रय से ही गौण रूप में शब्द और अर्थ-गत माने गए। आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने इस तथ्य का संकेत किया, और मम्मट ने उसे स्पष्ट रूप में प्रस्तुत कर दिया :

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदश्रयाद्वाच्यः। —अर्थात् दोष वह है जिससे मुख्य अर्थ की हानि हो। यह मुख्य अर्थ है रस और उसके आश्रय से गौण रूप में वाच्य भी। विश्वनाथ ने इसी बात को और भी सीधे ढंग से कह दिया :

दोषास्तस्यापकर्षकाः—उसके (रसके) अपकर्षक दोष कहलाते हैं।

इस प्रकार जो रस का अपकर्षण अथवा हानि करे वह दोष है। रस के अपकर्षण अथवा हानि का अर्थ क्या है? रस की हानि तीन प्रकार से सम्भव है : रस-प्रतीति में (१) विलम्ब द्वारा, (२) अवरोध द्वारा, और (३) रस-प्रतीति के पूर्ण विनाश या विघात द्वारा। रस आनन्द की अवस्था है, अतएव उसका विलम्बन, अवरोधन अथवा विघात निश्चय ही उद्वेग-जनक होगा—इसीलिए अग्निपुराण ने प्रभाव को आधार मानकर ही दोष का लक्षण किया है : उद्वेगजनको दोषः—काव्यास्वाद में तत्पर चित्त में जो उद्वेग उत्पन्न करे वह दोष है। यह दोष आंतरिक उद्वेग रूप है। इस प्रकार पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनि काल की दोष-विषयक धारणाओं में भी मौलिक अंतर मिलता है, पूर्व-ध्वनिकाल में दोष के बाह्य वस्तुगत अर्थात् शब्द-अर्थ-गत रूप पर बल दिया गया, और उत्तर-ध्वनि काल में आंतरिक आत्मगत अर्थात् रसगत रूप पर। किन्तु यह केवल दोष-विषयक धारणा का भेद नहीं है—यह तो मूलतः काव्य-विषयक धारणा का भेद है। जब काव्य का रूप बाह्य तथा वस्तुगत माना जाता था, दोष वस्तुगत ही थे, किन्तु जब काव्य का रूप आत्मगत मान लिया गया तो दोष भी आत्मगत हो गए : काव्य के सम्बन्ध में उनकी स्थिति वही रही—पहले भी वे काव्य के अपकारक थे और बाद में भी वही रहे। अतएव दोष का सामान्य लक्षण यही संगत है : काव्य के अपकारक तत्वों का नाम दोष है। काव्य के दो अंग हैं प्राणभूत रस और देहभूत शब्द-अर्थ। अतएव काव्य के अपकारक का अर्थ हुआ रस तथा शब्द और अर्थ के अपकारक—और दोष की स्पष्ट परिभाषा हुई : मूलरूप में रस और गौण रूप में शब्द और अर्थ के अपकर्ष द्वारा काव्य का अपकार करने वाले तत्व दोष कहलाते हैं।

दोष की मनोवैज्ञानिक स्थिति : अभी हमने स्पष्ट किया है कि दोष का अर्थ है काव्य का अपकार करने वाला और काव्य के अपकार का अर्थ है मूलतः रस का ही अपकार क्योंकि शब्द और अर्थ का अपकार अप्रत्यक्ष रूप से रस का ही अपकार है : जहां ऐसा नहीं होता वहां फिर वह दोष नहीं

रहता। इस प्रकार तत्व रूप में सभी दोषों का रसापकर्ष से सम्बन्ध है, और जैसा विश्वनाथ आदि ने कहा है, वे (१) या तो रस की प्रतीति को रोक देते हैं या (२) रस की उत्कृष्टता की विघातक किसी वस्तु को बीच में खड़ा कर देते हैं या (३) रसास्वाद में विलम्ब कर देते हैं। और गहरे में जाएं तो हम देखते हैं कि समस्त दोषों का मूल औचित्य का व्यतिक्रम है। औचित्य का अर्थ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था। उसका उत्कर्ष गुण है, अपकर्ष दोष है। साहित्य में यह औचित्य कई प्रकार का होता है, एक पद-विषयक औचित्य जो शब्द और अर्थ के सामंजस्य पर निर्भर रहता है, दूसरा व्याकरण-विषयक औचित्य जो पदों की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है, तीसरा बौद्धिक औचित्य जो हमारी ज्ञान-वृत्तियों के समन्वय का परिणाम होता है, चौथा भावना-विषयक औचित्य जिसका हमारी भाव-वृत्तियों की अन्विति से सम्बन्ध है। यह औचित्य जहां कहीं खण्डित हो जाता है वहीं दोष का आविर्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए पद-विषयक औचित्य की हानि से श्रुति-कटुत्वादि पद-दोषों का जन्म होता है, व्याकरण-विषयक औचित्य की हानि से न्यूनपद, समाप्त-पुनरात्त आदि प्रायः सभी वाक्य-दोष उत्पन्न हो जाते हैं। बौद्धिक औचित्य का त्याग प्रसिद्धि-त्याग, भग्न-प्रक्रम, अपुष्ट, कष्टार्थ आदि दोषों की सृष्टि करता है और भावना-विषयक औचित्य खण्डित होकर सीधा रस-दोषों की अथवा अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि की सृष्टि करता है। इनमें पहले प्रकार के दोष तो प्रायः ऐन्द्रिय (कर्णगोचर) संवेदन और मानसिक संवेदन में असामंजस्य उत्पन्न करते हुए, दूसरे और तीसरे प्रकार के दोष अर्थ-ग्रहण में बाधक होकर बौद्धिक संवेदनों को विशृङ्खल करते हुए, तथा अन्तिम प्रकार के दोष प्रत्यक्ष रूप में ही हमारी चित्तवृत्तियों की अन्विति में बाधक होते हुये रस का अपकर्ष करते हैं। श्रुति-कटुत्वादि में विरोधी ऐन्द्रिय चित्र का मानसिक चित्र पर आरोप होने से गड़बड़ हो जाती है, न्यूनपद, कष्टार्थ आदि में मानसिक चित्र अत्यंत धुँधला और और अस्पष्ट उतरता है, और रस दोषों में दो परस्पर विरोधी मानसिक चित्रों का एक दूसरे पर आरोप होने से भाव-चित्र पूरा नहीं हो पाता।

दोष—भेद

भरत ने दोषों की संख्या दस मानी है—

१. गूढ़ार्थ—जहां किसी क्लिष्ट-कल्पित विशेषण का (अनावश्यक) प्रयोग हो,

२. अर्थान्तर—जहां अवर्ण्य का वर्णन हो—अर्थात् अनावश्यक कथन हो, ३. अर्थहीन—जहां असम्बद्ध अर्थात् असंगत (परस्पर-विरोधी) कथन हो, अथवा जहां आशय अपूर्ण रह जाए, ४. भिन्नार्थ—जहां अर्थ छिन्न-भिन्न हो जाए—अर्थात् (अ) जहां असभ्य अथवा ग्राम्य अर्थ का वाचन हो, अथवा जहां (आ) अभीष्ट अर्थ की दूसरे अर्थ में परिणति हो जाए। ५. एकार्थ—एक अर्थ के लिए अनेक (अनावश्यक) शब्दों का प्रयोग, ६. अभिप्लुतार्थ—जहाँ प्रत्येक चरण में अर्थ पूरा हो जाए और विभिन्न अर्थों में कोई अन्विति न हो। ७. न्यायादपेत—अर्थात् प्रमाण (तर्क) से रहित, ८. विषम—जहाँ छंदोभंग हो, ९. विसन्धि—जहां सन्धि-योग्य शब्दों में सन्धि न की जाए, १० शब्दहीन—जहां अशब्द (व्याकरण-अशुद्ध शब्द) का प्रयोग हो।[1]

भरत के उपरांत भामह ने तीन प्रकार के दोष माने हैं:—

सामान्य दोष—१. नेयार्थ, २. क्लिष्ट, ३. अन्यार्थ, ४. अवाचक, ५. अयुक्तिमत् और ६. गूढ़-शब्द।

वाणी के दोष—१. श्रुतिदुष्ट, २. अर्थदुष्ट, ३. कल्पना-दुष्ट, ४. श्रुति-कष्ट।

अन्य दोष—१. अपार्थ २. व्यर्थ ३. एकार्थ ४. ससंशय ५. अपक्रम ६. शब्दहीन ७. यतिभ्रष्ट ८. भिन्नवृत्त ९. विसन्धि, १०. देशकालकला-लोकन्यायागम-विरोधी, ११. प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त-हीन।

भामह के इन तीन दोष-वर्गों का पार्थक्यकारी आधार अधिक स्पष्ट नहीं है। उनके विवेचन से न तो यह स्पष्ट है कि वाणी के दोषों से उनका अभिप्राय क्या है और न यह कि सामान्य तथा अन्य दोषों का आधारभूत अन्तर क्या है। वाणी के दोष यदि शब्द-दोष हैं तब श्रुतिकष्ट तो ठीक है—श्रुति-दुष्ट भी खींचखाँच कर मान लिया जाए परन्तु अर्थ-दुष्ट और कल्पना-दुष्ट शब्द-दोष कैसे हो सकते हैं? ये तीनों क्रमशः वामन के पदार्थ-दोष अश्लील के घृणा, व्रीड़ा तथा अमंगल-वाचक रूपों के ही पर्याय हैं।

भामह को इस प्रकार के वर्गीकरण की प्रेरणा कहां से प्राप्त हुई यह कहना भी कठिन है। उनके अन्य दोष तो बहुत-कुछ भरत से प्रेरित हैं,

---

१ निगूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिलुप्तार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धिशब्दच्युतं वै दश काव्य दोषा:॥
नाट्य शास्त्र (१७,८८)

परन्तु सामान्य तथा वाणी-दोषों का उद्गम-स्थान अज्ञात है । ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में पण्डित-समाज में काव्य-दोषों की तीन पृथक रूपों में चर्चा थी, और भामह ने उन तीनों को ही अपने ग्रंथ में सन्निविष्ट कर लिया। प्रत्येक शास्त्र की आरम्भिक अवस्था में प्रायः आगमन शैली का ही प्रयोग होता है—प्रस्तुत विशिष्ट सामग्री के विवेचन-विश्लेषण द्वारा निगमन शैली से सामान्य सिद्धान्तों अथवा रूपों का ग्रहण किया जाता है। भामह के समय में भारतीय साहित्य-शास्त्र अपनी आरम्भिक अवस्था में था—उस समय प्राप्त काव्य का विश्लेषण करते हुए विशेष से सामान्य की उपलब्धि की जा रही थी। गुण, अलंकार, दोष आदि का विवेचन इसी रूप में हो रहा था। कुछ आचार्यों ने अपने ढंग से प्रथम वर्ग के छः दोषों की उद्भावना की होगी—कुछ ने द्वितीय वर्ग के चार दोषों की और कतिपय अन्य आचार्यों ने—भरत आदि ने—अथवा उनसे भी पूर्व अन्य आचार्यों ने—तृतीय वर्ग के ग्यारह दोषों की। भामह ने अपने विवेचन में इन तीनों का ही समावेश कर लिया है।

दण्डी ने भामह के 'अन्य दोष' अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ आदि यथावत् अपना लिए हैं : इनमें से केवल अन्तिम दोष 'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन' उन्हें ग्राह्य नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है।

'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त की हानि दोष है या नहीं यह एक कर्कश विचार है अर्थात् जटिल समस्या है, उसके साथ उलझने से क्या लाभ ? (काव्यादर्श, ३,१२७)।

इस प्रकार दण्डी ने दश दोष माने हैं:—

१. अपार्थ—जहां समग्र रूप में कोई अर्थ ही न निकलता हो, २. व्यर्थ—जहां एक वाक्य अथवा प्रबन्ध में पूर्वापरविरोध हो, ३. एकार्थ—जहां पूर्व-कथन की, बिना किसी वैचित्र्य के, शब्द अथवा अर्थ में आवृत्ति हो, ४. ससंशय—जहां अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त वचन संशय उत्पन्न करते हों, ५. अपक्रम—जहां क्रम से वर्णित वस्तुओं का आगे उसी क्रम से वर्णन न हो, ६. शब्दहीन—जहां व्याकरण-अशुद्ध तथा शिष्ट जन द्वारा अस्वीकृत शब्द का प्रयोग हो, ७. यतिभ्रष्ट—जहां यति-भंग हो, ८. भिन्नवृत्त—जहां न्यूनाधिक वर्णों का प्रयोग हो, अथवा गुरु-लघु की व्यवस्था का भंग हो, ९. विसन्धि—जहां सन्धि-नियम का उल्लंघन हो,

१०. देश-काल-कला-लोकन्यायागम-विरोधी—जहां देश, काल, लोक, न्याय, आगम का विरोध हो।

भामह और दण्डी का यह दश-दोष-वर्णन भरत के दोषवर्णन से स्पष्टतः प्रभावित है। उनके १. एकार्थ तथा २. विसन्धि तो नाम और स्वरूप दोनों में एक हैं ही—३. विषम और भिन्नवृत्त में केवल नाम का भेद है—दोनों में छंदोभंग का ही वर्णन है। इनके अतिरिक्त भरत का ४. अर्थहीन और भामह-दण्डी का व्यर्थ, भरत का ५. न्यायादपेत तथा भामह-दण्डी का देशकालकलालोकन्यायागमविरोधी, भरत का ६. शब्दच्युत तथा भामह-दण्डी का शब्दहीन भी प्रायः अभिन्न ही हैं। भरत के ७. भिन्नार्थ के दो रूप हैं (अ) ग्राम्य तथा (आ) संदिग्ध—इनमें से दूसरा रूप भामह-दण्डी का ससंशय दोष है। उधर भरत का ८. अभिप्लुतार्थ और भामह-दण्डी का अपार्थ भी प्रायः समान ही हैं। इस प्रकार भरत तथा भामह-दण्डी के आठ दोष लगभग समान ही हैं। भरत के दो दोष गूढ़ार्थ और अर्थान्तर इन परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण नहीं किये। इनमें से वास्तव में अर्थान्तर का अन्तर्भाव तो एकार्थ में हो जाता है, केवल एक दोष रह जाता है गूढ़ार्थ। इनके अतिरिक्त भामह-दण्डी ने दो नवीन दोषों का उल्लेख किया है—अपक्रम और यतिभ्रष्ट। पर इन दो दोषों में से भी यतिभ्रष्ट का अन्तर्भाव भिन्नवृत्त में माना जा सकता है—अतः केवल अपक्रम ही एक ऐसा दोष रह जाता है जो भरत के प्रभाव से मुक्त है।

वामन ने गुण की भाँति दोष के भी शब्दगत और अर्थगत भेद किये हैं: वामन-कृत भेद तो चार हैं—पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष—परन्तु उनका आधार मूलतः शब्द और अर्थ ही है। वामन के अनुसार भेदों की संख्या २० है।

पाँच पद-दोष :— १. असाधु अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध, २. कष्ट अर्थात् श्रुति-विरस (कर्णकटु) ३. ग्राम्य, ४. अप्रतीत अर्थात् अप्रचलित पारिभाषिक शब्द आदि का प्रयोग, ५. अनर्थक अर्थात् निरर्थक जहां केवल पाद-पूर्ति के लिए भर्ती के शब्द 'तु' 'खलु' आदि रख दिये जाते हैं।

पाँच पदार्थ-दोष :— १. अन्यार्थ—जहां शब्द का रूढ़िच्युत अर्थ में प्रयोग हो यथा प्रस्मरण=विस्मरण=का स्मरण के अर्थ में प्रयोग।

२. नेयार्थ अर्थात् कल्पितार्थ, 'जिसका अर्थ कल्पना से लगाना पड़ता हो, यथा दशरथ के लिए पंक्तिविहंगमनामभृत् विशेषण का प्रयोग (पंक्ति = दश + विहंगम नाम = चक्र + भृत् = धारण करने वाला = रथ) ३. गूढ़ार्थ = अप्रसिद्धार्थ ४. अश्लील ५. क्लिष्ट—जहां अर्थ अत्यन्त दूरारूढ़ हो।

तीन वाक्य-दोष :— १. भिन्नवृत्ति २. यतिभ्रष्ट ३. विसंधि।

सात वाक्यार्थ दोष :— १. व्यर्थ = पूर्वापर विरोधी, २ एकार्थ—जिसमें उक्तार्थ पद की निष्प्रयोजन आवृत्ति हो ३. संदिग्ध ४. अप्रयुक्त—जहां सर्वथा काल्पनिक अथवा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ का आरोप हो—इसके उदाहरण प्रायः दुर्लभ हैं, ५. अपक्रम—जहां अर्थ में क्रम न हो ६. अलोक जिसका अर्थ देश, काल और प्रवृत्ति के विरुद्ध हो, ७. विद्या-विरुद्ध जिसका अर्थ कला और शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध हो।

वामन अपने इस दोष-विस्तार के लिए भरत, भामह तथा दण्डी तीनों के ही ऋणी हैं। उनके नौ वाक्यार्थ दोष भामह और दण्डी के आठ दोषों से अभिन्न हैं, भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट, विसंधि, व्यर्थ, एकार्थ, संदिग्ध, अपक्रम, अलोक तथा विद्या-विरुद्ध यथावत् भामह और दण्डी से ही ग्रहण कर लिए गये हैं : केवल एक साधारण-सा अन्तर यह है कि वामन ने अलोक और विद्या-विरुद्ध को दो पृथक दोष माना है, परन्तु भामह दण्डी ने उन्हें एक ही माना है। वामन का पद-दोष असाधु भरत का शब्द-च्युत और भामह दण्डी का शब्द-हीन है। उनका पद-दोष अनर्थक, पदार्थदोष नेयार्थ, अन्यार्थ तथा क्लिष्ट थोड़े बहुत अन्तर से भामह के 'सामान्य दोषों' के अन्तर्गत आ जाते हैं। वामन का कष्ट अथवा श्रुति-विरस भामह का श्रुतिकष्ट नामक वाणीदोष ही है। इस प्रकार पन्द्रह दोषों का हिसाब लग जाता है—शेष रह जाते हैं पाँच :—दो पद-दोष—ग्राम्य तथा अप्रतीत, दो पदार्थ-दोष—गूढ़ार्थ तथा अश्लील, एक वाक्यार्थ दोष—अप्रयुक्त। इनमें अश्लील के घृणा, व्रीड़ा तथा अमंगल-वाचक तीनों रूप भामह के श्रुति-दुष्ट, अर्थ-दुष्ट तथा कल्पना दुष्ट के ही विकसित रूप हैं। ग्राम्यदोष भी अश्लील से मूलतः भिन्न नहीं है—यहां ग्राम्यता शब्द में है अर्थ में नहीं है।

गूढ़ार्थ नामक दोष भरत ने भी माना है परन्तु लक्षण को देखते हुए उनका यह दोष नेयार्थ तथा क्लिष्ट के निकट पड़ता है। भामह का भी एक सामान्य दोष' गूढ़ाभिधान नाम का है। वामन का यह दोष इनमें ही खप

जाता है । इसी प्रकार अप्रतीत का अन्तर्भाव भी गूढ़ार्थ आदि में हो सकता है । अप्रयुक्त को स्वयं वामन ने अत्यंत विरल माना है और उसका उदाहरण भी नहीं दिया ।

वामन के दोषों में एक-दूसरे का संक्रमण करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है : क्लिष्ट, नेयार्थ तथा गूढ़ार्थ आदि की सीमाएं मिली-जुली हैं । अप्रतीत भी इनसे दूर नहीं है । अप्रयुक्त का स्पष्ट निर्देशन ही वामन ने नहीं किया है अतएव वह क्लिष्ट, गूढ़ार्थ आदि से कितना भिन्न है यह कहना कठिन है । वामन का सबसे बड़ा योग-दान यह है कि उन्होंने शब्द और अर्थ के आधार-भेद से दोषों का विभाजन किया है । अपनी दृष्टि से वामन ने शब्द, शब्दार्थ, वाक्य तथा वाक्यार्थ के पार्थक्य का निर्वाह अत्यन्त स्वच्छता से किया है, इसमें संदेह नहीं । परन्तु यह कार्य थोड़ी जोखिम का है । शब्द और उसके अर्थ में इतना स्पष्ट भेद करना या पदार्थ तथा वाक्यार्थ में बहुत दूर तक पार्थक्य निभाना कठिन ही है ।

पूर्व-ध्वनि काल में दोष-विवेचन की यही स्थिति रही । काव्य के अन्य अंगों की भाँति दोषों का विवेचन भी वस्तुगत ही रहा : दोष मूलतः केवल दो प्रकार के माने गये : शब्दगत और अर्थगत । वैसे इनके भी अवान्तर भेद किए गए ।

शब्द-दोष के तीन भेद : पदगत, पदांशगत और वाक्यगत; और अर्थ-दोष के दो भेद : पदार्थगत तथा वाक्यार्थगत । परन्तु वास्तविक आधार शब्द और अर्थ ही रहे ।

उत्तर-ध्वनि काल में रसध्वनि की काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठा हो जाने पर रसौचित्य को काव्य की मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण-दोष का विवेचन तदनुसार ही किया गया । इस प्रकार रसदोषों का भी आविर्भाव हुआ ।

भोज ने वाक्य-दोषों के अन्तर्गत एक और वर्ग माना है अरीतिमत् जिन्हें उन्होंने विपर्यय-दोष भी कहा है । ये दोष समाधि को छोड़ अन्य नौ गुणों के वैपरीत्य है । अतएव जहां गुणों के विपर्यय प्रयुक्त हों वहां अरीतिमत् अर्थात् रीति-विरोधी दोष होते हैं । समाधि को कदाचित् इसलिए छोड़ दिया गया है कि दण्डी ने उसे काव्य के लिए प्रायः अनिवार्य ही माना है । वामन

ने भी दोषों को गुणों के विपर्यय माना है परन्तु वे अपने लक्षणों में इस वैपरीत्य का निर्वाह नहीं कर सके—उनका दोष-वर्णन स्वतन्त्र सा हो गया है; भोज के दोष वास्तव में ही गुणों के विपर्यय रूप हैं।

उत्तरध्वनिकालीन दोष-दर्शन का सार मम्मट के काव्यप्रकाश में संगृहीत है। उसमें सत्तर दोषों का वर्णन है : सैंतीस शब्ददोष, तेईस अर्थ दोष तथा दस रस दोष। ये दोष रसौचित्य के आधार पर दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य। वे दोष जो सभी अवस्थाओं में काव्य की आत्मा का अपकार करते हैं नित्य दोष हैं। अन्य दोष जिनका सम्बन्ध रूप-आकार से है अनित्य दोष हैं—वे सर्वत्र ही रसौचित्य की हानि नहीं करते : उदाहरण के लिए श्रुतिकटुत्व आदि शृंगारादि के अपकारक हैं परन्तु रौद्रादि के उपकारक, अतएव वे अनित्य दोष हैं अर्थात् रस के दोष नित्य हैं और शब्द तथा अर्थ के दोष अनित्य हैं। इसी स्थापना को आधार मानकर भोज ने वैशेषिक गुणों की कल्पना कर डाली है। ये वैशेषिक गुण, जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, अनित्य दोष ही हैं जो अनुकूल परिस्थिति में गुण बन जाते हैं।

दोषों के मुख्य वर्ग और भेद ये ही हैं—इसमें संदेह नहीं कि भरत अथवा भामह-दण्डी-कृत दोष-भेदों में काव्य के समस्त अपकारक तत्वों का समावेश नहीं होता, अतएव दोषों की संख्या निश्चय ही दश से अधिक माननी पड़ेगी। फिर भी मम्मटादि के सत्तर दोषों का विश्लेषण करने पर यह धारणा अवश्य होती है कि वहां कुछ अधिक भेद-विस्तार किया गया गया है। मम्मट के अनेक भेद एक दूसरे की सीमा में संक्रमण कर जाते हैं। इस क्षेत्र में भी अन्य क्षेत्रों की भाँति वर्गीकरण तथा वर्ग-विभाजन के मूल सिद्धांत की प्रायः उपेक्षा कर दी गयी है।

संस्कृत काव्य-शास्त्रियों में मम्मट इस दृष्टि से अत्यन्त सतर्क आचार्य हैं : हमारा काव्य-शास्त्र नियमन तथा व्यवस्था के लिए उनका चिर-ऋणी रहेगा। फिर भी शाखा-विस्तार की प्रवृत्ति का वे पूर्णतः संवरण नहीं कर सके। अलंकारों की भांति दोषों के क्षेत्र में भी और अधिक नियमन तथा व्यवस्था की अपेक्षा है।

दोषों के वर्गों का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है। पहला वर्ग शब्द और अर्थ को आधार मान कर चलता है। काव्य जैसी अर्थ-गंभीर

वस्तु में शब्द और अर्थ का पार्थक्य करना सहज नहीं है क्योंकि अर्थ से भिन्न शब्द का अस्तित्व वहां प्रायः नहीं ही रहता। फिर भी सापेक्षिक महत्व के आधार पर दोनों का भेद माना जा सकता है और माना जाता है। जहां दोष शब्द के ही आश्रित हो अर्थात् शब्द के परिवर्तन से—पर्याय के द्वारा, दोष का परिहार हो सके वहां शब्द-दोष होता है और जहां शब्द-परिवर्तन के उपरांत भी—पर्याय देने पर भी दोष बना रहे वहां अर्थ-दोष होता है। यह प्रमाण सर्वथा अकाट्य तो नहीं है फिर भी इसे बहुत कुछ विश्वसनीय माना जा सकता है। मम्मट आदि का दोष-विवेचन इसी पर आधृत है जो निर्दोष न होते हुए भी अधिक असंगत नहीं है।

रस-दोषों का आधार और भी पुष्ट है। इसमें नित्य और अनित्य की प्रकल्पना गंभीर काव्य-मर्मज्ञता की द्योतक है। इसका वैज्ञानिक विवेचन तो आनन्दवर्धन तथा अन्य ध्वनिवादियों ने ही किया है, परन्तु यह उनकी अपनी उद्भावना नहीं है। उनसे पूर्व भामह और दण्डी दोनों ने ही दोष के गुणत्व-साधन पर प्रकाश डाला है:

"विशेष स्थिति में कुत्सित कथन भी शोभित हो जाता है जिस प्रकार माला के मध्य में गुंथा हुआ नील पलाश।" (काव्यालंकार १,५४)

"इस प्रकार का (दोषयुक्त) सभी विरोध कभी कभी कवि-कौशल से दोषों की सूची से निकाल कर गुणों की परिधि में पहुंच जाता है।" (काव्यादर्श, ३,१७६)।

इससे यह स्पष्ट है कि पूर्व-ध्वनि काल के आचार्य भी काव्य के मर्म से अनभिज्ञ नहीं थे—उनकी अपनी दृष्टि-सीमा अवश्य थी, परन्तु काव्य के मर्म का ज्ञान उन्हें निस्संदेह था।

इसी से सम्बद्ध दोषों के वर्ग विभाजन का एक अन्य प्रकार भी है जिसका मूल आधार भी रस ही है। इसका आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि काव्य की चरम सिद्धि रस है और सभी प्रकार के दोषों का सम्बन्ध अन्ततः उसी के साथ रहता है। ये दोष तीन प्रकार से रस का अपकर्ष करते हैं: रस की प्रतीति को अवरुद्ध कर, उसके मार्ग में व्यवधान खड़ा कर, और उसमें विलम्ब उपस्थित कर। इसी आधार पर दोषों के तीन वर्ग माने हैं: १ रस

प्रतीति को अवरुद्ध करने वाले, २ रस-प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करने वाले और ३ रस-प्रतीति में विलम्ब उपस्थित करने वाले। यह वर्ग-विभाजन निस्संदेह ही तात्त्विक है और काव्य-दोष के मनोवैज्ञानिक विवेचन से सम्बन्ध रखता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इस आधार का स्पष्ट विवेचन किया गया है, परन्तु उसके अनुसार दोषों का वर्गीकरण नहीं किया गया—कदाचित् इसलिए कि सूक्ष्म आधार की अपेक्षा किसी मूर्त आधार पर वर्गीकरण करना सहज होता है। हमारी धारणा है कि उपर्युक्त आधार पर काव्य-दोषों का पुनराख्यान होना चाहिए : वह अधिक तात्त्विक होगा और काव्य के आंतरिक विश्लेषण में उससे अधिक सहायता मिलेगी।

रीति के प्रकार

भामह ने कदाचित् काव्य नाम से और दण्डी ने मार्ग नाम से रीति के दो प्रकार माने हैं : वैदर्भ और गौड़ीय। भामह ने इन दोनों के पार्थक्य को तो स्वीकार किया है : वैदर्भ मार्ग में पेशलता, ऋजुता आदि गुण रहते हैं, और गौड़ीय में अलंकार आदि। परन्तु वे यह मानने का तैयार नहीं हैं कि वैदर्भ सत्काव्य का और गौड़ीय असत्काव्य का पर्याय है। काव्य के मूलभूत गुणों के संयोग से, और अपने अपने गुणों के संयत प्रयोग से दोनों ही सत्काव्य हो सकते हैं : केवल नाम के आधार पर ही एक को उत्कृष्ट और अपर को निकृष्ट कह देना गतानुगतिकता है। दण्डी ने, इसके विपरीत, यह माना है कि वैदर्भ दशगुणों से अलंकृत होता है और गौड़ीय में इनके विपर्यय मिलते हैं। किन्तु दण्डी ने गुण-विपर्यय को दोष नहीं माना हैं। क्योंकि उस स्थिति में तो गौड़ीय मार्ग काव्य संज्ञा का अधिकारी ही नहीं रहेगा। उन्होंने, जैसा कि आगे चल भोज ने अपने ढंग से स्पष्ट किया है, स्वाभावोक्ति और रसोक्ति को वैदर्भ के मूल गुण, और वक्रोक्ति को अर्थात् वैचित्र्य तथा अलंकार आदि को गौड़ीय की मूल विशेषता स्वीकार किया है। हां यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि दण्डी गौड़ी की अपेक्षा वैदर्भी को उत्कृष्ट काव्य मानते थे।

वामन ने रीति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग करते हुए तीन रीतियां मानीं १ वैदर्भी, २ गौड़ीया और ३ पांचाली। १ 'समस्त गुणों से भूषित वैदर्भी कहलाती हैं। दोष के लेशमात्र से भी अस्पृष्ट, समस्त गुण-गुम्फित, वीणा के स्वर सी मधुर वैदर्भी कहलाती है।' २ 'ओज और कान्ति से विभूषित गौड़ीया रीति होती है। + + इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है, समासों का बाहुल्य होता है और पदावली कठोर होती है।' ३ 'माधुर्य और सौकुमार्य से उपपन्न रीति का नाम है पांचाली। + + ओज और कांति के अभाव में इसकी पदावली अकठोर होती है और यह रीति कुछ निष्प्राण (श्रीहीन) सी होती है। कवियों ने उस रीति को पांचाली संज्ञा दी है जो श्लथ-बंध, पुराण शैली की अनुवर्तिनी, मधुर तथा सुकुमार होती है।' (काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति)।

वामन के उपरांत रुद्रट ने रीतियों की संख्या चार कर दी। उन्होंने लाटीया नामक एक चौथी रीति की उद्भावना और की। रुद्रट ने रीतियों के दो वर्ग कर दिए : एक वर्ग में वैदर्भी और पांचाली आती हैं और दूसरे में गौड़ी और लाटीया। उन्होंने समास को रीति भेद का आधार माना : वैदर्भी में समास का अभाव रहता है। पांचाली में लघु समास अर्थात् दो-तीन समास, लाटीया में मध्यम समास अर्थात् पांच-सात और गौड़ीया में दीर्घ समास का प्रयोग होता है। रुद्रट ने रीति और रस का स्पष्ट सम्बन्ध स्वीकार किया है : वैदर्भी तथा पांचाली, शृङ्गार, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों के, और गौड़ी तथा लाटीया रौद्र के अनुकूल रहती है।[1] शेष चार रसों के लिए रीति का नियम नहीं है। यह रीति-रस-सम्बन्ध भरत से अनुप्रेरित है—भरत ने रीतियों की समानधर्मा वृत्तियों का रस के साथ सहज सम्बन्ध माना है।

शिंगभूपाल ने केवल तीन ही रीतियों का अस्तित्व माना : कोमला, कठिना तथा मिश्रा जो क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली की पर्याय मात्र हैं। राजशेखर ने भी सामान्यः वामन की इन्हीं तीन रीतियों को ग्रहण किया है। काव्यमीमांसा के काव्यपुरुष प्रसंग में इन्हीं तीन का उल्लेख है। उधर कर्पूर-मंजरी के मंगल-श्लोक में भी नामभेद से तीन ही रीतियों का स्मरण किया

१ वैदर्भी-पांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौड़ीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्॥
(काव्यलंकार-१५।२०)

गया है : वच्छोमी, मागधी तथा पांचाली। इनमें वच्छोमी वत्सगुल्मी का प्राकृत रूप है जो विदर्भ की राजधानी वत्सगुल्म के नाम पर आधृत होने के कारण वैदर्भी की ही पर्याय है। इसी प्रकार पूर्व से सम्बद्ध गौड़ी और मागधी भी कदाचित् एक ही हैं। यह तो हुई तीन रीतियों की बात। परन्तु राजशेखर ने बालरामायण में एक चौथी रीति मैथिली का भी उल्लेख किया है जिसके गुण इस प्रकार हैं: १ अर्थातिशय (अर्थ-चमत्कार) होने पर भी जगन्मर्यादा का अनतिक्रमण—अर्थात् कोरी अत्युक्तियों का परिहार—इसे दण्डी ने कांति गुण माना है।

२ समास का ईषत् प्रयोग।

३ योगपरम्परा।

मैथिली का राजशेखर के पूर्व किसी ने वर्णन नहीं किया—उनके उपरांत भी केवल श्रीपाद् नामक एक विद्वान ने उसका उल्लेख किया और उन्होंने भी उसे मागधी का पर्याय ही माना है। विस्तार-प्रिय भोज ने रीति-क्षेत्र में भी अपनी प्रवृत्ति का परिचय दिया। उन्होंने सब मिलाकर छः रीतियां मानी वैदर्भी, पांचाली, लाटीया, गौड़ीया, अवन्तिका और मागधी। इनमें से वैदर्भी-गौड़ीया भामह-दण्डी की अथवा उनसे भी पूर्व की रीतियाँ हैं, पांचाली वामन की तथा लाटीया रुद्रट की उद्भावना है, मागधी का उल्लेख राजशेखर और श्रीपाद् में मिलता है। अवन्तिका अवन्ती के राजा भोज की नवीन कल्पना है जो कदाचित् स्वदेश-प्रेम आदि व्यक्तिगत कारणों से प्रेरित है। इस नवीन उद्भावना का कोई संगत आधार नहीं है—भोजराज ने इसे वैदर्भी और पांचाली की अंतरालवर्तिनी माना है जिसमें तीन-चार समास होते हैं। लाटीया के विफल होने पर खण्डरीति मागधी होती है। यह रीति विस्तार प्राय: भोज पर ही समाप्त हो जाता है—केवल एक अप्रसिद्ध लेखक ने, जिसका नाम था सिंहदेवगणि, भोज की अवन्तिका का त्याग करते हुए वच्छोमी को स्वतंत्र रीति माना है और अपनी षट्-रीतियों का रस के साथ कुछ मनमाने ढंग से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है: लाटी = हास्य, पांचाली = करुण और भयानक, मागधी = शांत, गौड़ी = वीर और रौद्र, वच्छोमी = वीभत्स और अद्भुत, वैदर्भी = श्रृङ्गार।[1]

---

१ देखिए डा० राघवन के 'रीति' नामक निबन्ध की पादटिप्पणी।

रस-ध्वनिवादियों ने विस्तार को महत्व न देकर सदा व्यवस्था को ही महत्त्व दिया है अतएव उन्होंने रीति-विस्तार का भी नियमन ही किया है। आनन्दवर्धन तथा मम्मट आदि ने, प्रायः, वामन की तीन रीतियों को ही स्वीकार्य माना है : उप-नागरिका, परुषा और कोमला—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। कवि-स्वभाव को आधार मानते हुए प्रायः इसी प्रकार के तीन मार्ग कुन्तक ने माने हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम।

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है : कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रायः वामन की तीन रीतियां ही मान्य हुईं। रस-ध्वनिवादी तथा अन्य गंभीर-चेता आचार्यों ने उन्हें ही मान्यता दी है। और वास्तव में यह उचित भी है। यदि रीति के आन्तरिक आधार गुण को प्रमाण माना जाय तब भी तीन गुणों के अनुसार उपर्युक्त तीन रीतियां ही मान्य हो सकती हैं। मनो-विज्ञान के अनुसार भी कोमल और परुष ये स्वभाव के दो स्पष्ट भेद हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त एक तीसरा भेद भी इतना ही स्पष्ट है—प्रसन्न जिसमें इन दोनों का संतुलित मिश्रण रहता है। इसे ही चित्त की निर्मलता अथवा प्रसाद कहा गया है। अतएव इन तीन प्रकार के स्वभावों की माध्यम तीन रीतियों का अस्तित्व ही मान्य है। वैसे मानव-स्वभाव अनन्त रूप है—उसका कोई पार नहीं पाया जा सकता। परन्तु उसकी मूल प्रवृत्तियां प्रायः ये ही हैं। इसी प्रकार (जैसा कि दण्डी ने कहा है और कुन्तक ने पुष्ट किया है) वाणी की रीतियां भी अनेक हैं। परन्तु उनके मूल भेद दो-तीन से अधिक नहीं हो सकते।

बाह्य आधार : समास, वर्ण-गुम्फ आदि को प्रमाण मान कर भी स्थिति यही रहती है। समास की दृष्टि से रचना असमासा या लघुसमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा तीन की प्रकार हो सकती है : अब इनके बीच में समासों की गणना से और भी भेद प्रस्तार करना विशेष तर्क-संगत नहीं है। रुद्रट की लाटीया तथा भोजराज की अवन्तिका आदि का आधार इसलिए पुष्ट नहीं है। इसी प्रकार वर्ण भी मूलतः तीन प्रकार के ही हो सकते हैं—कोमल और परुष और इनके अतिरिक्त शेष अन्य वर्ण जो न एकांत कोमल होते हैं और न सर्वथा परुष। कहने का तात्पर्य यह है कि रुद्रट की लाटीया और भोज की अतिरिक्त रीतियां अनावश्यक हैं।

यहां एक प्रश्न उठ सकता है—मेरे मन में भी उठा है। वैदर्भी और गौड़ी ही अलं क्यों नहीं है—क्या पांचाली की कल्पना भी अनावश्यक नहीं है? इसका उत्तर यह है कि वैदर्भी में पांचाली का यदि अंतर्भाव मान लिया जाता है तो फिर गौड़ी भी उसकी परिधि से बाहर नहीं पड़ती क्यों कि समग्रगुणसम्पदा से अलंकृत वैदर्भी में जिस प्रकार माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है, उसी प्रकार ओज और कांति का भी। अतएव वैदर्भी गौड़ी की विपरीत रीति नहीं है—गौड़ी की विपरीत रीति पांचाली ही है। जिस प्रकार मानव-स्वभाव के दो छोर हैं नारीत्व और पुरुषत्व, इसी प्रकार अभिव्यंजना के भी दो छोर हैं स्त्रैण पांचाली और परुषा गौड़ी। नारीत्व की अभिव्यंजक पांचाली, और पुरुषत्व की अभिव्यंजक गौड़ी—इनके अतिरिक्त इन दोनों के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की माध्यम वैदर्भी। इस प्रकार वामन ने पांचाली की उद्भावना द्वारा वास्तव में एक अभाव अथवा असंगति का ही निराकरण किया है, अनावश्यक नवीनता का प्रदर्शन नहीं।

मम्मट के आधार पर भी यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो भी रीतियों या वृत्तियों की संख्या तीन ही ठीक बैठती है: माधुर्यगुण-विशिष्ट उपनागरिका और ओजोमयी परुषा क्रमशः द्रवणशील मधुर स्वभाव और दीप्तिमय ओजस्वी स्वभाव की प्रतीक हैं। मधुर और ओजस्वी के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का भी स्वभाव होता है जिसमें न माधुर्य का अतिरेक होता है और न ओज का—वरन् इन दोनों का संतुलन रहता है। इसको सामान्य (नार्मल) या स्वस्थ-प्रसन्न (विशद) स्वभाव कह सकते हैं। मानव-स्वभाव का यह भेद भी इतना ही स्पष्ट है जितने कि मधुर और ओजस्वी। अतएव इसकी अभिव्यंजक कोमला रीति या वृत्ति का अस्तित्व भी मानना उचित ही है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति

भारतीय काव्यशास्त्र तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विचित्र साम्य है और यह साम्य केवल मूल सिद्धान्तों में ही नहीं है, रूप-भेदों में भी है। भारतीय रीति और पाश्चात्य शैली-विवेचन की पारस्परिक समानता तो वास्तव में आश्चर्यजनक है। यूरोप में शैली का प्रारम्भिक विवेचन और विकास बहुत कुछ उसी पद्धति पर हुआ है जिस पर भारतीय रीति का— अथवा कालक्रमानुसार यह कहना संगत होगा कि भारतीय रीति-निरूपण प्रायः उसी पद्धति पर हुआ है जिस पर यूरोप में यूनानी और रोमी आचार्यों का शैली-विवेचन, क्योंकि यूनानी तथा कतिपय रोमी आचार्य भारत के काव्याचार्यों के पूर्ववर्ती हैं इसमें संदेह नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साम्य पारस्परिक सम्पर्क अथवा प्रभाव का द्योतक नहीं है—मानव-चिंतन की मूलभूत एकता का द्योतक यह साम्य बहुत कुछ आकस्मिक ही था।

यूरोपीय आलोचना के उदय-युग के तीन चरण हैं :

१. यूनानी व्यंग्य नाटकों में प्राप्त सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक आलोचना—इस दृष्टि से ऐरिस्टोफ़ेनीस का नाटक 'फ्राग्स' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। २. यूनानी दार्शनिकों का सौन्दर्य-विवेचन। ३. यूनानी-रोमी रीति-शास्त्रियों का रीति-विवेचन।

एरिस्टोफ़ेनीस ने 'फ्राग्स' नामक व्यंग्य-नाटक में अपने युग के नाट्यकारों तथा उनकी शैली आदि का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उन्होंने यूरिपाइडीज़ और ऐसकाइलस नामक प्रसिद्ध नाट्यकारों के विवाद द्वारा अपने युग में प्रचलित दो विरोधी काव्य-शैलियों का अत्यन्त स्पष्ट

निर्देश किया है। यूरिपाइडीज सरल और सहज शैली का समर्थक है। वह एक ओर सहज मानवीय[1] भाषा और वाणी की स्वाभाविक[2] स्वतंत्रता का प्रबल पक्षपाती है, दूसरी ओर कृत्रिम गर्जन[3]-तर्जन तथा शब्दाडम्बर का घोर विरोधी। इसके विपरीत ऐसकाइलस उदात्त शैली को महत्व देता है—वह इस कथित सहजता को निस्सार मानता है। उसकी मान्यता है कि विषय-वस्तु[4] तथा भाव के गौरव के साथ भाषा भी अनिवार्यतः गौरव-सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यूरोपीय साहित्य-शास्त्र के आदिम काल में ही इन दो परस्पर-विरोधी शैलियों का अन्तर स्पष्ट हो गया था: वहां भी भारतीय वैदर्भी और गौड़ी के समान दो काव्य-रीतियाँ आरम्भ से ही प्रचलित तथा स्वीकृत थीं।

प्लेटो

व्यंग्य-नाटकों के उपरान्त यवन दार्शनिकों के ग्रंथों में प्रसंगानुसार काव्यालोचन की झाँकियां मिलती हैं। प्लेटो तथा अरस्तू आदि ने शैली को तत्व रूप में प्रायः हेय ही माना है, परन्तु व्यवहार रूप में उन्होंने भी प्रस्तुत विषय पर अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं—अरस्तू ने तो रीतिशास्त्र (रहैटरिक) नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा है। प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ गणराज्य (रिपब्लिक) में काव्यभाषा (शैली) का विवेचन इस प्रकार किया है: 'काव्य-भाषा (शैली) के ये दो भेद हैं। + + + इनमें से पहली में कोई बड़ा उतार-चढ़ाव नहीं होता। भाषा के अनुकूल संगीत तथा लय का माध्यम प्राप्त हो जाने पर वह समगति से चलती रहती है।

तो फिर दूसरी का क्या स्वरूप है? क्या उसे सर्वथा विपरीत माध्यम की अपेक्षा नहीं होती? सभी राग और सभी लयें उसके लिए अपेक्षित होती हैं—क्यों कि उसमें अत्यधिक परिवर्तन होते रहते हैं। + + +

---

१ Oh let us atleast use the language of men! (यूरिपाइडीज)
२ Next I taught all the town to talk with freedom. ('')
३ I never crashed and lightened. ('')
४ When the subject is great and the sentiment, then, of necessity, great grows the word. (ऐसकाइलस)

सभी कवि और लेखक इनमें से एक काव्य-शैली का अथवा इन दोनों के मिश्रण से निर्मित मिश्र शैली का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार तीन शैलियां हैं—१. सहज-सरल २. विचित्र और ३. मिश्र। इनमें से प्लेटो मिश्र शैली को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं: सरल के विषय में भी उनकी सम्मति अच्छी है, परन्तु विचित्र को वे निकृष्ट मानते हैं जो बालकों, भृत्यों तथा ग्रामीणों को प्रिय होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये तीनों मार्ग कुन्तक के सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्गों से अभिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त एक स्थान पर प्लेटो ने काव्य-शैली के कतिपय भौगोलिक भेदों की ओर भी संकेत किया है। वास्तव में ये भेद संगीत के हैं किन्तु ये काव्य के माध्यम भी हैं।

"करुण राग कौन से हैं? + + +
मिश्रित लिडियन और हाईपर (आत्यंतिक) लिडियन।

+ + + +

कोमल तथा प्रसन्न राग कौन से हैं?
ये हैं आयोनियन और लिडियन।
किन्तु क्या, इनका प्रयोग हम योद्धाओं के लिए भी कर सकते हैं?
नहीं—कदापि नहीं। इनके लिए डोरियन और फ्रिजियन शेष हैं।[१]

उपर्युक्त नामों का आधार आरम्भ में निस्संदेह ही भौगोलिक रहा होगा—तदुपरान्त वे विशेष गुणों के वाचक हो गये। वैदर्भ और गौड़ आदि के विषय में भी यही हुआ।

अरस्तू

प्लेटो के उपरान्त अरस्तू ने काव्य-शैली का विस्तार-पूर्वक विवेचन-विश्लेषण किया है। वैसे तो उन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यशास्त्र[२] में भी इस

१ ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म (डेनिस्टन, पृ० ६३)
२ पोयटिक्स

प्रसंग का निर्देश किया है, परन्तु उनके दूसरे ग्रन्थ रीतिशास्त्र[1] का तो एक मात्र विषय ही यही है।

अपने समय के दार्शनिकों की भाँति अरस्तू ने भी एक स्थान पर शैली को एक ग्राम्य (स्थूल तथा अनुदात्त[2]) विषय माना है। परन्तु अन्यत्र विवेचन के समय उन्होंने शैली के महत्व को असंदिग्ध शब्दों में स्वीकार किया है : 'अब हम शैली का विवेचन करते हैं क्योंकि केवल वर्ण्य विषय पर अधिकार होना पर्याप्त नहीं है किन्तु यह आवश्यक है कि हम उसको उचित रीति से प्रस्तुत करें, और इससे वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होता है।

+ + + जहां तक विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता का प्रश्न है अपने मन्तव्य को एक प्रकार से अथवा दूसरे प्रकार से अभिव्यक्त करने से बड़ा अन्तर पड़ जाता है[3]।'

अरस्तू गद्य और पद्य की शैली में स्पष्ट भेद करते हैं : कविता तथा गद्य-साहित्य की शैलियां भिन्न हैं।

शैली के गुण

अरस्तू के अनुसार शैली के दो मूल गुण हैं : स्पष्टता (प्रसाद) और औचित्य। शैली का गुण यह है कि वह स्पष्ट हो (इसका एक प्रमाण यह कि जब तक शैली भाव को स्पष्ट नहीं करती तब तक वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होती), और उसका स्तर न तो निम्न हो और न विषय की गरिमा से ऊंचा ही हो—वरन् सर्वथा विषयोचित हो।

(1) प्रसाद :—स्पष्टता का समावेश ऐसी संज्ञाओं और क्रियाओं के प्रयोग पर निर्भर है जो सामान्य प्रयोग में आती है[4]।'

एक और प्रसंग में अरस्तू ने चार बातों को शैली की स्पष्टता का आधार माना है १—पढ़ने और समझने में सौकर्य २—यति, विराम आदि

---

१ र्हैटरिक्स

२ देखिए सेन्ट्सबरी का संग्रह-ग्रंथ लोसाइ क्रिटीकी पृ० २३.

३ वही पृ० २२, २४

४ „ २५

की असंदिग्ध स्थिति तथा अनावश्यक पर्यायोक्तियों का अभाव, ३—मिश्र तथा द्वि-अर्थक अभिव्यंजना का अभाव ४—अवान्तर वाक्य-खण्डों का अनधिक प्रयोग ।[1]

(ग) गरिमा (औदार्य) तथा औचित्य : सामान्य प्रयोगों से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है क्यों कि शैली से भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियों से अथवा नागरिकों से। इसलिए आप अपनी पद-रचना को विदेशी रंग दीजिए क्यों कि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है। + + +

निम्नलिखित तत्व शैली को गरिमा प्रदान करते हैं : नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग, यदि विषय-वर्णन में किसी प्रकार का संकोच हो तो लक्षण में संकोच का कारण होने पर नाम का प्रयोग और नाम के संकोच-जनक होने पर लक्षण का प्रयोग, अलंकार (रूपक) तथा विशेषण का प्रयोग, एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग ।[2]

उपर्युक्त विवेचन भारतीय रीति-सिद्धांत के अत्यन्त निकट है। असाधारण शब्द-प्रयोग भारतीय रीतिकारों का शब्दगुण कांति है, वामन के शब्द गुण कांति में साधारण शब्दों का परिहार रहता है और उनके स्थान पर उज्जवल, कांतिमय शब्दों का प्रयोग रहता है। इसी प्रकार संकोच-निवारण के लिए नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग अथवा लक्षण के स्थान नाम का प्रयोग वामन के अर्थगुण ओजस् तथा सौकुमार्य की ओर संकेत करता है : अर्थगुण ओजस् में पद के स्थान पर वाक्य-रचना और वाक्य के स्थान पर पद का प्रयोग तथा समासगुण के लिए साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया जाता है और अर्थगुण सौकुमार्य में अशुभ अर्थ का परिहार करने के लिए पदार्थों से काम लिया जाता है।

किन्तु अरस्तू गरिमा के स्वेच्छाचारी प्रयोग के पक्षपाती नहीं हैं, उस पर वे सुरुचि तथा औचित्य का नियंत्रण अनिवार्य मानते हैं : 'किन्तु (गद्य के

---

१ हाब्स डाइजेस्ट आफ़ एरिस्टोटिल्स र्‌हैटरिक पृ० १५३ और लोसाइ क्रिटिकी पृ० २८।

२ लोसाई क्रिटिकी पृ० २६, २८-२९

क्षेत्र में भी काव्य की भाँति) सुरुचि का सिद्धान्त यही है कि विषय के अनुकूल ही भाषा शैली का स्तर नीचा या ऊंचा रहना चाहिए। इसलिए हमारा यह (विदेशी रंग देने का) प्रयत्न लक्षित नहीं होना चाहिए, यह आभास नहीं मिलना चाहिए कि हम सचेष्ट होकर वाणी का प्रयोग कर रहे हैं—वरन् यही प्रतीत होना चाहिए कि हमारी वाणी अथवा शैली सर्वथा स्वाभाविक है। + +'

'दूसरा गुण है औचित्य। शैली में इस गुण का समावेश उस समय मानना चाहिए जब वह (वक्ता के) भाव तथा व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करे और विषय वस्तु के अनुकूल हो[1]।'

रीति के प्रसंग में औचित्य का विवेचन हमारे यहां दो रूपों हुआ है : एक तो आनन्दवर्धन-प्रतिपादित वक्तृ-औचित्य तथा वस्तु-औचित्य के रूप में, और दूसरे कुंतक के 'औचित्य' गुण के रूप में। इन दोनों रूपों में ही भारतीय तथा यवन आचार्यों का विवेचन सर्वथा समान है। दोनों ने वक्ता और विषय के औचित्य तथा सुरुचि को शैली का नियामक माना है।

शैली के दोष

शैली के अरस्तू ने चार मुख्य दोष माने हैं : (१) समासों का अधिक प्रयोग (२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग (३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग, (४) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।

ये चारों दोष वास्तव में गौड़ी के असंयत रूप के दोष हैं—इनसे रचना में शब्दाडम्बर का समावेश हो जाता है। इनमें अप्रचलित शब्दों का प्रयोग और दीर्घ तथा अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग वामन के अन्यार्थ (मम्मटादि के अप्रयुक्त) तथा नेयार्थ सदृश पदार्थ-दोषों में आ जाते हैं।

दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग भी वामन के संदिग्ध, अप्रयुक्त जैसे वाक्यार्थ दोषों अथवा मम्मटादि के कष्टार्थ आदि दोषों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अधिक समास-प्रयोग गौड़ी की विशेषता है जिसका अतिचार निश्चय ही दोष है।

---

१ वही पृ० २६,२६

शैली के भेद

अरस्तू ने भी शैली के भेद किये हैं। उन्होंने पहले तो दो मुख्य भेद माने हैं : १. साहित्य-शैली[1] २. विवाद-शैली[2] । फिर विवाद-शैली के दो उपभेद किए हैं—(क) संसदीय शैली तथा (ख) न्यायालय की शैली। संसदीय शैली बृहत् भीति-चित्र-शैली के समान होती है : दोनों में सूक्ष्म-अंकन के लिए स्थान नहीं है, वास्तव में सूक्ष्म-अंकन से उसकी हानि ही होती है। न्यायालय-शैली आलंकारिक प्रसाधनों पर कम से कम निर्भर रहती है : इसमें सम्बद्ध तथा असम्बद्ध का भेद अत्यन्त स्पष्ट रहता है और आडम्बर का सर्वथा अभाव होता है।

इनके अतिरिक्त शैली के मधुर तथा उदात्त आदि भेद करना अनावश्यक है क्योंकि फिर तो संयत और उदार आदि अनेक भेद और भी हो सकते हैं[3]।

भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि से उपर्युक्त विवेचन में एक ओर कोमला तथा परुषा वृत्तियों की ओर संकेत है, दूसरी ओर माधुर्य, ओज आदि गुणों पर आश्रित भेदों को अनावश्यक विस्तार माना गया है।

सिसरो तथा अन्य रोमी रीतिकार

काल-चक्र के प्रभाववश संस्कृति का केन्द्र यूनान से हटकर रोम में स्थानान्तरित हो गया। अरस्तू की परम्परा टेरेन्स, सिसरो, होरेस तथा क्विन्टीलियन आदि रोमी तथा डायोनीसियस और डेमेट्रियस प्रभृति यूनानी रीति-शास्त्रियों के ग्रन्थों में विकसित हुई। कालक्रमानुसार पहले सिसरो (प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व) के रीति-विवेचन को लीजिए। सिसरो का विवेचन स्पष्ट, पुष्ट तथा उनके व्यक्तित्व के तेज से दीप्त है।

व्यक्ति-तत्व :— उन्होंने शैली के व्यक्ति-तत्व तथा वस्तु-तत्व दोनों को सम्यक् महत्व दिया है। उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति की शैली निरन्तर

---

१ लिटरेरी स्टाइल।

२ ऐगोनिस्टिक स्टाइल।

३ देखिए ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म(डैनिस्टन) -पृ० १४१ और १४३।

परिवर्तनशील मानव-प्रकृति और रुचि के अनुसार बदलती रहती है—इस प्रकार सिसरो शैली को व्यक्तित्व की अभिव्यंजना मानते हैं। भारतीय आचार्यों ने भी इस प्रसंग में यही अभिमत व्यक्त किया है—उनकी शब्दावली भी प्रायः समान है:

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्

\+ + + +

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥

(दण्डी—काव्यादर्श प्र० प०)

अर्थात् वाणी की अनेक शैलियां हैं जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं। प्रत्येक कवि की अपनी भिन्न शैली होती है—इस प्रकार शैली के भेदों का वर्णन अशक्य है।

औचित्य :— व्यक्ति-तत्व के अतिरिक्त सिसरो के अनुसार शैली के दो नियामक तत्व और भी हैं: परिस्थिति (प्रसंग—अथवा विषय) तथा प्रयोजन। इनका भी प्रकारान्तर से भारतीय रीति-शास्त्र में आनन्दवर्धन तथा मम्मटादि उल्लेख कर चुके हैं: सिसरो के ये दोनों तत्व आनन्दवर्धन के वस्तु-औचित्य तथा रसौचित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। और, आगे चलकर सिसरो ने औचित्य[1] को शैली का मूल तत्व माना भी है: 'औचित्य का विचार कला का मूल तत्व है परन्तु फिर भी यही एक ऐसा तत्व है जिसका शिक्षण कला द्वारा सम्भव नहीं है।'

शैली के आधार-तत्व :— सिसरो ने शैली के तीन तत्व माने हैं: १. उपयुक्त शब्द-चयन—साधारणतः प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग श्रेयस्कर है, किन्तु शैली को उदात्त एवं रंजक रूप देने के लिए असामान्य शब्दों का प्रयोग भी उचित है—पर ये शब्द ग्राम्य, प्रादेशिक अथवा क्षुद्र न हो।

२. स्पष्टता: भाषा स्पष्ट, मुहावरेदार और चलती होनी चाहिए।

३. पद-रचना (बन्ध): चुने हुए शब्दों की रचना सामञ्जस्यपूर्ण होनी चाहिए।

---

१ डैकोरम

४. वर्ण-गुम्फ : स्वर और व्यंजनों की योजना श्रुतिकटु तथा कर्कश नहीं होनी चाहिए।

उपर्युक्त चारों तत्वों का आख्यान भारतीय रीति शास्त्र में अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है। जैसा कि मैंने आरम्भ में स्पष्ट किया है वर्ण-गुम्फ तथा पद-रचना भारतीय शैली के बाह्य तत्व हैं। स्पष्टता तथा शब्द-वैचित्र्य का अन्तर्भाव हमारे दश गुणों में—अर्थव्यक्ति तथा शब्द-गुण कांति आदि में—हो जाता है।

शैली के भेद :— सिसरो के समय दो भिन्न शैलियों में प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गई थी—ये शैलियां थी ऐटिक और एशियाटिक। ऐटिक शैली सहज, सरल, स्वच्छ, यथातथ्य वस्तु-निरूपिणी तथा अनलंकृत होती थी। इसके गुण थे परिष्कृति तथा संयम, आडम्बर का अभाव। यह कांति तथा समास गुण से विभूषित थी।

इसके विपरीत एशियाटिक शैली अतिशय अलंकृत तथा चमत्कारपूर्ण होती थी।

इन दोनों में ऐटिक शैली का आदर अधिक था—सिसरो ने भी उसी को श्रेष्ठ माना है। परन्तु उन्होंने शुद्धतावादियों का विरोध करते हुए लिखा है कि ऐटिक शैली के लिए कठोर संयम की आवश्यकता नहीं है—अन्यथा वह विरस और निष्प्राण हो जाती है। अतएव उसे नाद और लय की समृद्धि तथा रचना-सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने एक ओर एशियाटिक शैली के सुरुचिहीन अतिचारों और दूसरी ओर ऐटिक शैली की संकीर्णता का तिरस्कार कर ऐटिक शैली के उदार रूप की प्रतिष्ठा की।

उपर्युक्त विवेचन प्रकारान्तर से वैदर्भी और गौड़ी रीतियों का ही विवेचन है। जिस प्रकार वैदर्भी और गौड़ी का आधार आरम्भ में भौगोलिक था किन्तु बाद में ये दोनों नाम गुण-वाचक बन गये, इसी प्रकार ऐटिक और एशियाटिक भी आरम्भ में क्रमशः एथेन्स नगर और एशियाई यवन-प्रदेशों से सम्बद्ध थे, परन्तु बाद में विशेष गुणों के प्रतीक बन गये। इसके अतिरिक्त दोनों में पूर्ण रूप-साम्य भी है : ऐटिक वैदर्भी का और एशियाटिक गौड़ी का पाश्चात्य रूपान्तर मात्र है।

होरेस

रोम के प्रसिद्ध रीतिशास्त्रकार होरेस का ग्रन्थ 'आर्स पोयटिका' वास्तव में रीतिशास्त्र का ग्रन्थ न होकर काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है। फिर भी उन्होंने उसमें शैली तथा काव्य-भाषा के प्रश्न पर प्रकाश डाला है। उनका मत है कि काव्य-शैली के विषय में पहली बात तो यह है कि उसमें विवेक से काम लेना चाहिए। अन्यत्र उन्होंने शब्द-चयन, शब्द-योजना तथा अपनी समकालीन काव्य-शैलियों का विश्लेषण किया है। शब्द-चयन के विषय में उनका कथन है कि आडम्बरपूर्ण शब्दों को काट छाँट देना चाहिए, कठोर शब्दों को मसृण कर देना चाहिए, और शक्ति तथा गरिमा से शून्य शब्दों का एकान्त बहिष्कार कर देना चाहिए। किन्तु इस तीसरी श्रेणी में वे घिसे-पिटे और निष्प्राण शब्दों का ही तिरस्कार करते हैं, नित्यप्रति के प्रयोग के सामान्य शब्दों का नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने समृद्ध शब्दावली के आदान पर बल दिया है जिसके लिए कवि को यह अधिकार है कि वह प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर सकता है तथा लैटिन धातुओं से यूनानी व्युत्पत्ति के आधार पर नवीन शब्दों का निर्माण कर सकता है। व्युत्पन्न कवि प्रचलित शब्दों को विचित्र रंग देकर उन्हें काव्योपयोगी बना सकता है। काव्य-शैली का दूसरा प्रमुख गुण है बंध—शब्द योजना : होरेस ने उसे शैली का प्रमुख तत्व माना है। और, तीसरा गुण है स्पष्टता। कहने की आवश्यकता नहीं कि होरेस द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त शैली तत्व भारतीय गुणों में सहज ही अन्तर्भूत हो जाते हैं : विवेक औचित्य का ही दूसरा नाम है। समृद्ध, वैचित्र्य-पूर्ण तथा मसृण शब्दावली का वामन के शब्द-गुण कान्ति सौकुमार्य आदि में अन्तर्भाव हो जाता है। गरिमा तथा शक्ति से शून्य निष्प्राण शब्दों का बहिष्कार ग्राम्य आदि शब्द-दोषों का अभाव है। इसी प्रकार बंध का महत्व भारतीय रीतिकारों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

अन्य रीतिकारों की भाँति होरेस ने भी अपने युग के उस विवाद की चर्चा की है जो ऐटिक और एशियाटिक (नवीन) शैलियों को लेकर चला था। उन्होंने भी सिसरो की तरह—और भारत में भामह की तरह, यही माना है कि निरपेक्ष रूप से इनमें से एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट कहना उचित नहीं है—शैली के विषय में कोई निश्चित, बंधे हुए नियम नहीं हैं : अन्तिम प्रमाण विवेक अथवा औचित्य ही है।

(३) डायोनीसियस (३०—ईसा-पूर्व)

पाश्चात्य रीतिशास्त्र की विकास-परम्परा में डायोनिसियस का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। होरेस की प्रवृत्ति काव्यशास्त्र की ओर अधिक थी, परन्तु इस यूनानी आचार्य का मुख्य प्रतिपाद्य रीति-सिद्धांत ही था। इनके ग्रन्थ का नाम ही 'पद-रचना' (या 'रीति') है।

पद-रचना :—

डायोनिसियस ने शब्द-चयन की अपेक्षा शब्द-योजना पर अधिक बल दिया है : उनका कथन है कि काव्याभिव्यंजना में सौन्दर्य का आधार शब्दावली नहीं है वरन् शब्द-गुम्फ या पद-रचना ही है। सुन्दर शब्दों का अभीष्ट प्रभाव तभी पड़ता है जब उनकी योजना भी सुन्दर हो। यही कलात्मक पद-रचना काव्य-शैली का मूल तत्व है। इस प्रकार डायोनीसियस और वामन का सिद्धान्त सर्वथा समान है। कलात्मक पद-रचना ही वामन की विशिष्ट पद-रचना अथवा रीति है : और उसकी प्रमुखता की घोषणा 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की ही घोषणा है।

रीति में व्यक्ति-तत्व : प्लेटो और सिसरो की भाँति डायोनीसियस भी शैली को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं। पद-रचना या रीति कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है : उसमें व्यक्तिगत वैशिष्ट्य सदैव रहता है। इसके अतिरिक्त शैली के नियामक तत्व और भी हैं : भाव तथा विषयवस्तु।— शैली अर्थ अथवा मूल संवेद्य की अनुवर्तिनी होती है। इस प्रकार डायोनीसियस व्यक्तित्व, भाव (रस) तथा वस्तु का नियमन स्वीकार करते हुए शैली के व्यक्ति-तत्व, और अवयवों का वस्तुगत विश्लेषण कर उसके वस्तु-तत्व— दोनों को ही महत्व देते हैं।

शैली के तत्व : डायोनिसियस के अनुसार शैली के मुख्य तत्व हैं : शुद्धता, स्पष्टता और समासगुण। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी हैं जो गौण हैं जैसे सजीवता, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, शोभा, आदि—और विशेष रूप से औचित्य जिसे वे काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुण मानते हैं। भारतीय रीति-शास्त्र में उपर्युक्त प्रायः सभी गुणों का दण्डी, वामनादि ने दश गुणों में अंतर्भाव कर लिया है। स्पष्टता प्रसाद, अर्थव्यक्ति आदि में अंतर्भूत है, समासगुण श्लेष में, उदात्तता, गरिमा, शक्ति सजीवता आदि ओज तथा

औदार्य में, और शोभा माधुर्य तथा सौकुमार्य में। आगे चलकर डायोनीसियस ने शैली के वर्ण-गुम्फ आदि बाह्य तत्वों का विवेचन किया है। उनका निष्कर्ष है कि शब्द का सौन्दर्य वर्णों के सौन्दर्य पर आश्रित है। उन्होंने स्वरों और व्यंजनों के संगीत का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। दीर्घ स्वर अधिक संगीतमय होते हैं और ह्रस्व स्वरों में संगीत तत्व कम होता है। व्यंजनों में वे ल, म, न, र आदि में संगीत की मात्रा स्वीकार करते हैं—शेष व्यंजनों को वे निश्चय ही अमधुर मानते हैं। कुशल कलाकार स्वरों और व्यंजनों की संयोजनाओं द्वारा अपनी शैली में वर्ण-संगीत का समावेश करता है। किन्तु वर्ण-संगीत से तात्पर्य केवल कोमल वर्ण-योजना से नहीं है—वर्ण-संगीत का सम्बन्ध तो प्रेरक भाव या रस से है। होमर प्रायः कठोर वर्णों के साथ मधुर-कोमल वर्णों को गुम्फित कर रसानुकूल कलात्मक सामंजस्य की सृष्टि कर लेता है। हमारे वर्ण-विवेचन और डायोनीसियस के इस वर्ण-विवेचन में कितना साम्य है! हमारे यहां भी स्वरों को व्यंजनों की अपेक्षा अधिक सुकुमार और संगीतमय माना गया है—इसीलिए तो वर्णानुप्रास गौड़ीया रीति का गुण है। व्यंजनों में, भारतीय रीतिशास्त्र में भी, ल, म, न आदि का माधुर्य सर्व-स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त केवल कोमल वर्ण-योजना को हमारे रीतिशास्त्र में भी अधिक स्पृहणीय नहीं माना गया—अति-सौकुमार्य पांचाली का गुण है जो स्त्रैण रीति मानी गयी है। डायोनीसियस ने होमर के जिस कलात्मक संगुफन की प्रशंसा की है, वामन के शब्द-गुण प्रसाद में भी कुछ वैसा ही संकेत है—डायोनीसियस कठोर और कोमल वर्णों के सुरुचिपूर्ण समंजन को श्लाघ्य मानते हैं, वामन ने गाढ़ और शिथिल पद-बंधों के सामंजस्य को प्रसादगुण का मूल आधार माना है।

शैली के भेद :— डायोनीसियस भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति शैली के तीन भेद मानते हैं। थ्योफ्रास्टस के समान वे भी यह मानते हैं कि काव्य-भाषा तीन प्रकार की होती है : उदात्त और अलंकृत, प्रसादमय (सरल), तथा मिश्र—और तदनुसार रचना के भी तीन भेद हैं—कठिनोदात्त[1], मसृण या सज्जित[2], मिश्र अथवा समंजित[3]।

१. कठिनोदात्त शैली के मूल तत्व हैं गरिमा, तीव्रता, अनगढ़ शक्ति आदि। इसमें प्रभावोत्पादक तथा असाधारण शब्दों का प्रयोग होता

१ ऑस्टीयर   २ स्मूथ या फ्लोरिड   ३ मिक्स्ड

है और कृत्रिम मसृणता, ऋजुता आदि का नियमित रूप से बहिष्कार रहता है। इसी शैली में अनियमित पद-रचना तथा कर्कश-ध्वनियों से उत्पन्न काठिन्य होता है। इस प्रकार यह शैली एक अनगढ़ तथा अनलंकृत शैली है।

डायोनीसियस के शब्दों में—

"कठिनोदात्त शैली के विशिष्ट गुण इस प्रकार हैं : इसमें शब्द स्तम्भों की भाँति दृढ़ता से नियोजित रहते हैं। यह कर्कश ध्वनियों के प्रयोग से तनिक भी नहीं घबराती—(वरन् उनका उसी प्रकार उपयोग करती है) जैसे भवन-निर्माण में अनगढ़ प्रस्तर-खण्डों का होता है। इसकी प्रवृत्ति दीर्घ (समस्त) शब्दावली के माध्यम से विस्तार की ओर रहती है। विशेष स्थितियों को छोड़ इसमें लघु वर्णों का प्रयोग चिन्त्य समझा जाता है। इसकी वाक्य-रचना में उदात्त लयों का प्रयोग होता है, वाक्यांशों की रचना किसी समानुपात अथवा कठोर नियंत्रण के अधीन नहीं होती—वह भव्य, उज्जवल और स्वच्छन्द होती है। + + +
इसमें लज्जा के लिये अवकाश नहीं है : इसमें एक प्रकार का आभिजात्य तथा प्रकृत मुखरता होती है—और किसी प्रकार की पालिश नहीं होती।"

२. मसृण या सज्जित शैली का मूल गुण है सहज सौकुमार्य—इसमें न तो प्राचीन शब्दावली का प्रयोग होता है और न काव्य-रूढ़ शब्दावली का। इसमें साधारण शब्द अपने साधारण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं—और उनके प्रयोग में सरलता तथा अनेकरूपता रहती है जिसकी एक अपनी नवीनता होती है।

"मसृण या सज्जित शैली के गुण निम्नलिखित हैं : + + +
इसकी भाषा में स्वच्छन्द प्रवाह होता है—इसके शब्द एक दूसरे के पश्चात सहज-सम्बद्ध रूप से चिरप्रवाहित धारा के समान निरंतर आगे बढ़ते हैं। इस दृष्टि से यह शैली बारीक बुने वस्त्रों के समान अथवा उन चित्रों के सदृश है जिनमें प्रकाश और छाया अनायास ही एक दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। इसकी शब्दावली संगीतमय, मसृण तथा किशोरी के मुख के समान कोमल होती है। इसमें कर्कश तथा कर्णकटु वर्णों का अभाव रहता है, और, जोखिम के, असंतुलित प्रयोगों का सायास बहिष्कार किया जाता है। + + +
जहां तक अलंकारों का सम्बन्ध है, इसमें प्रचलित तथा रूढ़ अलंकारों—अथवा गरिमा-गाम्भीर्य आदि के व्यंजक अलंकारों का प्रयोग नहीं होता, वरन् प्रायः

ऐसे अलंकारों का प्रयोग होता है जो मधुर और रम्य हों—जिनमें ललित कल्पना की छलना हो। सामान्य रूप से इस शैली के प्रमुख एवं मूल तत्व कठिनोदात्त शैली के तत्वों के सर्वथा विपरीत हैं।" सैफ़ो आदि गीति-कवि इसके प्रतिनिधि हैं।

३. मिश्र अथवा समंजित शैली का नाम मध्यमा भी है। इसमें ऐसे साधारण शब्दों का चयन होता है जिनकी प्रवृत्ति तो अलंकृति की ओर होती है, परन्तु वे प्राचीन, अप्रचलित तथा काव्य-रूढ़ नहीं होते। इस मध्यमा अथवा समंजित शैली में एक ओर सुख-सरल मसृणता, समानुपात आदि सरल शैली के गुण और दूसरी ओर गरिमा आदि कठिनोदात्त शैली के गुण भी वर्तमान रहते हैं।

"तीसरी शैली उपर्युक्त दोनों शैलियों की मध्यवर्तिनी है। अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में मैं इसे समंजित शैली कहूँगा। इसका अपना कोई विशिष्ट रूप तो नहीं होता परन्तु इसमें अन्य दोनों शैलियों के सर्वोत्कृष्ट गुण रहते हैं। मुझे लगता है यही सबसे उत्तम शैली है क्योंकि इसमें मध्यम मार्ग ग्रहण किया गया है, और अरस्तू तथा उनके अनुयायी दार्शनिकों के अनुसार जीवन, व्यवहार तथा कला की श्रेष्ठता मध्यम मार्ग में ही निहित रहती हैं। + + + । इस शैली का सर्वश्रेष्ठ प्रयोक्ता होमर है—जिसके काव्य में मसृण-कोमल तथा कठिनोदात्त रूपों के कुशल समन्वय द्वारा इस शैली का चरम विकास मिलता है।[1]

उपर्युक्त भेद सर्वथा मौलिक नहीं है। यूनानी रीतिशास्त्र में इनका उल्लेख आरम्भ से ही मिलता है और प्लेटो और सिसरो ने प्रायः इसी रूप में इनका वर्णन किया है। उधर थ्योफ्रास्टस का ऋण तो स्वयं डायोनीसियस ने ही माना है। भारत में भी वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली इन्हीं के प्रकारान्तर हैं—पांचाली मसृण या सज्जित शैली के निकट है और गौड़ी कठिनोदात्त के, वैदर्भी प्रायः मध्यमा अथवा समंजित शैली की समानान्तर है। उधर कुन्तक के तीन मार्ग-भेद इनके और भी अधिक निकट हैं—वहां नाम साम्य भी है : सुकुमार और मसृण-कोमल एक हैं और मध्यम तो दोनों में समान

१ (ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म में उद्धृत डब्ल्यू० ए० रोबर्ट्स का अनुवाद)

ही है। इस प्रकार भारतीय तथा यूनानी-रोमी रीतिशास्त्रों में शैलियों के वर्गीकरण का आधार ही नहीं वरन् उनके तत्वों का विश्लेषण भी बहुत कुछ समान है।

(४) डिमैट्रियस

अरस्तू, सिसरो तथा डायोनीसियस की रीति-परम्परा को डिमैट्रियस तथा क्विन्टीलियन ने और आगे बढ़ाया। डिमैट्रियस ने शैली पर एक स्वतन्त्र रीति-ग्रन्थ ही लिखा है। उन्होंने शैली की कोई औपचारिक परि-भाषा नहीं की। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति वे भी शैली को लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और व्यक्ति-तत्व को शैली की आत्मा मानते हैं, परन्तु इसके साथ ही वे कुछ ऐसे निर्देशक सिद्धान्तों तथा नियमों का अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं जो कलात्मक रचना (रीति) में सहायक होते हैं। इसी प्रकार वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वस्तु-विषय शैली का प्रमुख नियामक तत्व है—किन्तु साथ ही उसको प्रस्तुत करने के ढंग पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।

डिमैट्रियस ने शैली के चार प्रकार माने हैं :

उदात्त[१], मधुर या मसृण[२], प्रसादमय[३] और ओजस्वी[४]। इनमें पहले तीन तो सिसरो तथा डायोनासियस द्वारा प्रतिपादित शैली-भेद ही हैं—ओजस्वी इन्होंने अपनी ओर से और जोड़ दिया है। परन्तु वह भी इनकी अपनी उद्भावना नहीं है—इनसे पूर्व फ़िलोडैमस उपर्युक्त तीन भेदों के अतिरिक्त एक चौथे भेद 'प्रबल[५]' का उल्लेख कर चुके थे।

डेमैट्रियस के अनुसार उदात्त शैली का मूल तत्व है असामान्यता क्योंकि उनका मत है कि 'प्रत्येक सामान्य वस्तु प्रभावहीन होती है।' उदात्त शैली के तत्व इस प्रकार हैं : विशिष्ट तथा विचित्र शब्दावली, समास, अलंकार, काव्य-रूढ़ भाषा का बहुधा प्रयोग। उसकी पदावली उल्बण होती है, मसृण और कोमल के लिए उसमें अधिक अवकाश नहीं होता।

---

१ ऐलीवेटेड २ एलीगेन्ट (माक्सन ने इसे पालिश्ड कहा है।) ३ प्लेन
४ फोर्सीबल ५ वेहैमैंट

उसकी वर्ण-योजना प्रगाढ़ होती है जिसके आरम्भ में तथा अंत में गुरु वर्णों का प्रयोग रहता है क्यों कि इस प्रकार प्रयुक्त गुरु वर्णों में प्रायः विस्फोट का प्रभाव होता है। इस शैली की पद-रचना में क्रमिक आरोह रहता है और रूपक, पर्यायोक्ति तथा [1]अन्योक्ति-रूपक आदि अलंकारों का सयत्न प्रयोग होता है : रूपकों से शैली में गरिमा और रमणीयता का समावेश होता है, अन्योक्ति—रूपक के प्रयोग से शैली उदात्त बनती है—क्यों कि अन्योक्ति-रूपक रात्रि और अंधकार का व्यंजक है। इसी प्रकार वक्रतामूलक अलंकार तथा समास-गुणयुक्त पदावली का भी यही उपयोग है।

मधुर अथवा मसृण शैली शोभा और कान्तियुक्त होती है। इसके विषय हैं परियों के उपवन, विवाह-उत्सव-गीत, प्रेम-कथाएं आदि—इस प्रकार की विषय-वस्तु में ही एक प्रकार की उज्ज्वलता एवं कांति होती है। इस शैली के उपादान हैं मधुर शब्द, मसृण गुम्फ, छन्द-लय की अन्तर्धारा, आदि। मधुर शब्दों से अभिप्राय ऐसे शब्दों का है जो किसी मधुर चित्र की व्यंजना करते हों अथवा जिनकी ध्वनि मधुर हो : उदाहरण के लिए 'गुलाब-रंजित' शब्द की चित्र-व्यंजना रमणीक है, और 'ल' 'न' आदि वर्णों की ध्वनि मधुर है। मसृण गुम्फ का अर्थ यह है कि वर्ण और शब्द एक दूसरे में घुलते चले जाएं। इस प्रकार रचना में एक मधुर तारल्य आ जाता है—इसे ही डिमैट्रियस ने संगीत की अंतर्धारा कहा है। वे छन्द को नहीं छन्द की व्यंजना को शैली का गुण मानते हैं।

तीसरी शैली है प्रसादमयी (प्रसन्न) शैली जिसका मूल लक्ष्य है स्पष्टता और सरलता। अतएव इसमें नित्य प्रति की भाषा का प्रयोग रहता है जिससे सभी असामान्य तत्वों, जैसे रूपक, समास, नव-रचित शब्द आदि का बहिष्कार कर दिया जाता है। दीर्घ स्वर-व्यंजन-योजना, विचित्र अलंकार, अत्यधिक समासगुण (श्लेष) आदि समस्त अलंकरण-प्रसाधन इस शैली के लिए त्याज्य हैं। वास्तव में इसका प्राण तत्व है अर्थ-वैमल्य—और अर्थ-वैमल्य के प्रमुख उपादान हैं १. सामान्य शब्दावली २. सामान्य पद-रचना ३. लघु वाक्य ४. लघु वर्ण-योजना ५. आनुगुणत्व (एक्यूरेसी)—अर्थात् 'अन्यून-अनतिरिक्त' शब्द-प्रयोग। ये ही प्रसन्न शैली के भी आधारभूत गुण हैं। डैमेट्रियस की चौथी शैली है ओजस्वी। इस शैली के तत्व हैं १. उल्बण

---

१ एलिगरी

पदावली, २. समास, ३. सार, ४. सुकुमारोक्ति[1] आदि अलंकारों का प्रयोग ४. शब्द-बाहुल्य एवं व्यासगुण का अभाव और ५. सरलता तथा मसृणता का अभाव। उल्बण पदावली से शक्ति और ओज का संचार होता है—कठोर ध्वनियां ओजगुण की व्यंजक हैं और ये प्रायः विषम शब्द-योजना के आश्रित रहती हैं। समास से गाढ़बन्धत्व और उससे रचना में बल आता है। व्यास-गुण से शक्ति की हानि होती है—संक्षिप्त सार-गर्भित उक्ति प्रभुता की द्योतक है और विस्तृत व्याख्या से विनय अथवा प्रार्थना का आभास मिलता है। सार आदि अलंकारों में शब्दार्थ का तारतम्यिक आरोह रहता है—इससे शैली प्राणवान बनती है। पाश्चात्य रीतिशास्त्र का एक अलंकार है सुकुमा-रोक्ति जिसमें अमंगल अथवा अशुभ अर्थ को मांगलिक शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। हमारे यहां वक्रतामूलक अलंकार—पर्यायोक्त—में इसका अन्तर्भाव हो सकता है। परन्तु वामन का अर्थगुण सौकुमार्य ठीक इसी अर्थ की व्यंजना करता है : जहां परुष (अप्रिय या अशुभ) अर्थ में अपरुष (प्रिय-अथवा शुभ) का प्रयोग हो वहां अर्थगुण सौकुमार्य होता है—यथा मृत के लिए 'यशः शेष' शब्द का प्रयोग।'

(काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३,२,१२)

डिमैट्रियस 'सुकुमारोक्ति' को भी ओजस्वी शैली का गुण मानते है क्यों कि इससे रचना में गरिमा और गंभीरता का समावेश होता है। उपर्युक्त तत्वों का सद्भाव सरलता और मसृणता के अभाव का द्योतक है : यह स्पष्ट है कि इन गुणों के साथ सरल-कोमल शब्दावली की संगति नहीं बैठती।

उपर्युक्त शैली-विवेचन तथा भारतीय रीति-निरूपण में स्पष्टतया अत्यधिक साम्य है। डिमैट्रियस ने एक स्थान पर लिखा है कि कुछ लोग इन चार शैलियों का दो वर्गों में अंतर्भाव कर केवल दो ही मूल शैलियां मानते हैं परन्तु यह प्रयास बेतुका है। यद्यपि डिमैट्रियस अपनी चारों शैलियों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर इतना अधिक बल देते हैं, फिर भी—जैसा कि पं० बल्देव उपाध्याय के निर्दिष्ट किया है—इनको दो वर्गों में रखना असंगत नहीं है : प्रसादमयी तथा मसृण शैलियों को एक वर्ग में, और उदात्त तथा ओजस्वी को दूसरे वर्ग में। वास्तव में उदात्त और ओजस्वी का अंतर सूक्ष्म है—उनमें आधार का अन्तर नहीं है सूक्ष्म अवयव का भेद है; अतएव उनको

---

१ यूफ़्यूमिज़्म

पृथक शैलियां मानना वर्गीकरण सिद्धान्त के प्रतिकूल है। वर्ग-विस्तार का मोह भारतीय रीतिकारों को भी रहा है, और उन्होंने इस प्रकार की त्रुटियां प्रायः की हैं। इस प्रकार डिमैट्रियस की अंतिम दो शैलियों को एक ही मानना उचित है, उदात्त के लिए ओज और ओज के लिए उदात्त गुण अनिवार्य है। भारतीय गौड़ी शैली इनके समानान्तर है। वैदर्भी की कल्पना प्रसादमयी तथा मसृण शैलियों से अधिक व्यापक है। प्रसाद वैदर्भी का प्रधान गुण है—अर्थ-वैमल्य उसकी मूल विशेषता है, परन्तु माधुर्य और सौकुमार्य का वैभव भी उसमें रहता है। डिमैट्रियस की मसृण शैली वामन की पांचाली की पर्याय है : माधुर्य-सौकुमार्योपपन्ना पांचाली (का० सू० वृ० १।२।१३)। किन्तु प्रसन्न शैली वैदर्भी की पर्याय नहीं है क्यों कि अकेला प्रसाद गुण वैदर्भी की समृद्धि का वहन नहीं कर सकता। वास्तव में वैदर्भी डायोनीसियस की समंजित शैली और प्लेटो की मध्यमा शैली के ही निकट है जिसमें उदात्त तथा मसृण दोनों शैलियों के श्रेष्ठगुणों का समन्वय रहता है। 'समग्रगुणा वैदर्भी' का भी यही गौरव है, इसीलिए प्लेटो तथा डायोनीसियस ने समंजित शैली को और दण्डी वामनादि भारतीय आचार्यों ने वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ माना है। डिमैट्रियस की ये शैलियां मम्मट आदि की उपनागरिका और कोमला के अधिक निकट हैं : मम्मट के टीकाकारों के अनुसार कोमला प्रसादगुण-विशिष्ट है। इस प्रकार प्रसन्न शैली कोमला की पर्याय है, और मसृण शैली माधुर्य-विशिष्ट उपनागरिका की। संस्कृत काव्यशास्त्र में उपनागरिका को वामन की वैदर्भी का पर्याय माना गया है—परन्तु यह सर्वथा संगत नहीं है।

विकृत शैलियां : ये तो इन शैलियों के वास्तविक रूप हुए। अनधिकारी के हाथ में पड़कर इनके रूप विकृत भी हो जाते हैं। विकृत रूपों में उपर्युक्त गुणों के विपर्यय मिलते हैं : उदात्त शैली का विपरीत रूप है—आडम्बरपूर्ण[1] शैली। इसमें अनावश्यक रूप से क्षुद्र विषयों के लिए अत्युक्तिमयी भाषा का प्रयोग रहता है। अत्युक्ति अलंकार सबसे अधिक आडम्बरपूर्ण अलंकार होता है। इस शैली में एक प्रकार की निष्प्रभाव वाचालता रहती है। मधुर या मसृण शैली का विपर्यय है कृत्रिम[2] शैली—इस प्रकार की शैली में बनावट और कुछ स्त्रैणता-सी रहती है। प्रसन्न शैली का विकृत

---

१ फ्रिजिड २ अफ़ैक्टैड

रूप है—शुष्क[1] या नीरस शैली जिसमें सजीव विषयों का भी वर्णन निर्जीव होता है। चौथी है ओजस्वी जिसका विपरीत रूप है अप्रिय[2] शैली—यह शिथिल-आडम्बरपूर्ण शैली से बहुत कुछ मिलती जुलती है—इसके बन्ध शिथिल और भाषा उखड़ी हुई होती है।

इस प्रकार का विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में भी है। वामन ने दोषों को गुणों का विपर्यय माना है। दण्डी ने भी प्रत्येक गुण का एक विपर्यय माना है जो कहीं गुण के वैपरीत्य का और कहीं भिन्नता मात्र का द्योतक है। दण्डी के श्लेष—गाढ़बन्धत्व—का विपर्यय है शैथिल्य। डिमैट्रियस के अनुसार गाढ़बन्धत्व उदात्त शैली की मूल विशेषता है और शैथिल्य उसकी विपरीत शिथिल-आडम्बरपूर्ण शैली की। डिमैट्रियस की यह शिथिल-आडम्बरपूर्ण शैली भारतीय गौड़ी के विकृत रूप की समानार्थक है। यही डिमैट्रियस की 'अप्रिय शैली' के विषय में कहा जा सकता है—जहां भाषा उखड़ी हुई और शब्द खोखले हों। इसका संकेत वामन के 'वैषम्य' में भी मिल जाता है जो उनके शब्दगुण समता का विपर्यय है। शैली की विषमता का अर्थ यही कि उसमें पद-रचना उखड़ी हुई होती है। नीरस शैली की ओर हमारे यहां अनवीकृत दोष के लक्षण में संकेत है—जहाँ उक्ति में किसी प्रकार की नवीनता एवं वैचित्र्य न हो वहां अनवीकृत दोष होता है। नीरस शैली इसी दोष से दूषित रहती है। इसी प्रकार कृत्रिम शैली की ओर भी भामह ने संकेत किया है: उनका कहना है कि पुष्ट अर्थ तथा वक्रता के अभाव में केवल 'श्रुतिपेशल' शैली वांछनीय नहीं है। डिमैट्रियस ने कृत्रिम शैली के विषय में यही कहा है कि उसमें अर्थ-सौन्दर्य तथा चमत्कार नहीं होता केवल एक प्रकार की बनावट और स्त्रैणता—कृत्रिम कोमलता अथवा श्रुतिपेशलता मात्र रहती है।

(२) लॉन्जाइनस

यूनानी-रोमी काव्य-शास्त्र में लॉन्जाइनस का नाम चिर-उज्वलंत है। परन्तु उनका विषय मूलतः काव्यशास्त्र ही है, रीतिशास्त्र नहीं है। काव्य

३ एरिड   ४ डिसैग्रिएब्लि।

के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन ही उन्हें अभीष्ट रहा है—उन्हीं के प्रसंग में लॉन्जाइनस ने शैली पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं।

लॉन्जाइनस का अभिमत है कि महान शैली "आत्मा की महत्ता की प्रतिध्वनि है।" और, इसी दृष्टि से उन्होंने शैली का विवेचन-विश्लेषण भी किया है। उन्होंने शैली के पाँच उद्गम माने हैं : धारणा की भव्यता[1] भावना की तीव्रता[2], अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग[3], भाषागत आभिजात्य[4] तथा पदरचना की गरिमा और औदार्य।[5]

भारतीय रीतिशास्त्र में भाषागत आभिजात्य का उल्लेख कुन्तक के आभिजात्य गुण-वर्णन में और पद-रचना की गरिमा और औदार्य का विवेचन औदार्य, कान्ति तथा श्लेष आदि गुणों के विवेचन में किया गया है।

वास्तव में लॉन्जाइनस का विवेचन सर्वथा भावगत है—उन्होंने शैली के मनोविज्ञान का ही विवेचन किया है तत्वों का वस्तुगत विश्लेषण नहीं। अलंकार-प्रयोग में भी उन्होंने अलंकारों के स्वरूप तथा भेद आदि का वर्णन न कर उनकी रागात्मक शक्ति का ही विश्लेषण किया है। पद-रचना के विषय में उन्होंने पद-रचना-सौष्ठव के प्रभाव का सामान्य विवेचन मात्र किया है। इस प्रकार रीति के वस्तुगत विवेचन में लॉन्जाइनस का योग-दान अधिक नहीं है—वास्तव में यह मेधावी आचार्य रीतिवाद से बहुत दूर था। उसका उदात्त सिद्धान्त रस-ध्वनिवाद के अन्तर्गत ही आता है।

(७) क्विन्टीलियन

लॉन्जाइनस के परवर्ती रोमी आचार्य क्विन्टीलियन वास्तव में रीतिकार थे।

क्विन्टीलियन के अनुसार शैली का मुख्य आधार है शब्द—शब्द पृथक रूप में और संयोजित रूप में। शैली के उन्होंने तीन तत्व माने हैं। १. शब्द-चयन २. अलंकरण ३. (कलात्मक) पद-रचना।

---

१ ग्रेन्जर आफ़ कन्सैप्शन   २ इन्टेन्सिटी आफ़ इमोशन

३ एप्रोप्रियेट यूस आफ़ फ़िगर्स   ४ नोबिलिटी आफ़ डिक्शन

५ डिगनिटी एण्ड ऐलीवेशन आफ़ वर्ड-आर्डर।

(क) शब्द-चयन :— क्विन्टीलियन चार प्रकार के शब्दों को काव्य के लिए विशेष उपयोगी मानते हैं। कुछ शब्द अपने औज्ज्वल्य और श्रुति-माधुर्य के कारण अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक रुचिकर होते हैं। कुछ शब्दों में साहचर्य अथवा सम्पर्क-जन्य महिमा होती है—महान काव्य में तथा श्रेष्ठ कवियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने से उनमें एक विशेष गरिमा आ जाती है। कहीं कहीं सामान्य शब्दों का भी अत्यन्त स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। उधर प्राचीन काव्य-रूढ़ शब्दावली का भी अपना गौरव होता है।—इनमें पहले वर्ग के (उज्ज्वल और श्रुतिमधुर) शब्द वामन के शब्दगुण सौकुमार्य और कान्ति आदि में आ जाते हैं। महाकवियों के प्रयोग से गौरवान्वित प्राचीन काव्य-रूढ़ शब्दों का महत्व भारतीय काव्य-शास्त्र में आप्त वचनों के रूप में मान्य रहा है। महाकवियों का प्रयोग हमारे यहां असाधु आदि अनेक दोषों का परिहार करने में समर्थ माना गया है।

(ख) पद-रचना :— क्विन्टीलियन के अनुसार शैली का दूसरा तत्व है पद-रचना। पद-रचना के लिए पहला गुण है स्पष्टता, स्वच्छ पद-रचना अर्थ-वैमल्य की जननी है। अर्थ-वैमल्य के लिए यह आवश्यक है कि शब्दों का प्रयोग नपा तुला हो—न कम हो न अधिक। यही वामन का भी मत है : अर्थ की विमलता से अभिप्राय है आवश्यक मात्र का ग्रहण 'प्रयोजकमात्रपदपरिग्रह।' क्विन्टीलियन ने पद-रचना के इस गुण को अत्यधिक महत्व दिया है। इसके विषय में उनका एक वाक्य अत्यन्त अर्थ-गर्भित है : रचना का उद्देश्य केवल यह नहीं होना चाहिए कि उससे पाठक अथवा श्रोता को समझने में सरलता हो—वरन यह होना चाहिए कि उसके लिए न समझना असम्भव हो जाए। किन्तु यह तो पदरचना का एक पक्ष हुआ—दूसरा पक्ष है सज्जा पक्ष। पद-रचना कलात्मक भी होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं है कि शब्दों की सहज योजना ही सर्वश्रेष्ठ योजना हो—उसको सुन्दर रूप देने के लिए पुनर्योजना प्रायः आवश्यक हो जाती है। इस पुनर्योजना में वाक्य-योजना, पद-योजना और वर्ण-योजना तीनों का ही समावेश है—क्विन्टीलियन वर्ण-संगीत को भी रचना का विशिष्ट गुण मानते हैं। वामन के शब्दगुण श्लेष तथा औदार्य आदि में भी वाक्य-योजना तथा पद-योजना के सौन्दर्य का संकेत है। शब्दगुण श्लेष का आधार है मसृणत्व जिसमें बहुत से पद भी एक जैसे प्रतीत होते हैं—"यस्मिन् सति बहून्यपि पदानि एकवद् भासन्ते।" औदार्य का आधार है विकटता—जिसमें पद नृत्य-सा करते प्रतीत होते हैं

"यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानि।" ये दोनों बन्ध अर्थात् पद-रचना के ही गुण हैं। वर्णगुम्फ का सौन्दर्य मम्मट आदि के माधुर्य गुण में निहित है जहां ट, ठ, ड, ढ, से रहित क कार से लेकर मकार तक वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पंचम वर्ण पहले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ और णकार ह्रस्व स्वर से अन्तरित होते हैं।—
(काव्यप्रकाश ८।७४)

(ग) अलंकरण :— क्विन्टीलियन की शैली का तीसरा तत्त्व है अलंकरण। वे उन अलंकारों को महत्त्व देते हैं जो कल्पना के आश्रित हैं—जिनमें मूर्ति-विधान की क्षमता है क्योंकि अलंकार का मुख्य उद्देश्य है सजीव चित्रण और वही उसकी सिद्धि है।

गुणों का वर्णन करते हुए इस रीतिकार ने शैली के कुछ दोषों का भी उल्लेख किया है : ये दोष हैं १. अनुपयुक्त शब्द २. अधिक शब्द ३. आडम्बरपूर्ण तथा अत्यधिक श्रुतिपेशल शब्द और ४. विषम शब्द-योजना। इन दोषों का भारतीय रीतिशास्त्र में प्रायः यथावत् उल्लेख मिलता है। हमारे असमर्थ तथा अधिक पद दोष क्विन्टीलियन के क्रमशः अनुपयुक्त तथा अधिक शब्द दोषों के पर्याय हैं। तीसरे दोष को भारतीय रीतिकारों ने अक्षराडम्बर कहा है जिसके लिए गौड़जन कुख्यात थे : गौड़ेष्वक्षरडम्बरः (बाण, हर्षचरित)। विषम शब्दयोजना की भर्त्सना वामन ने शब्दगुण समता के प्रसंग में की है : समता में पद-रचना समंजित रहती है—इसका विपर्यय है विषमता जहां रचना में अनेक रीतियों का अनमेल मिश्रण रहता है।

शैली के भेद :— क्विन्टीलियन के पूर्व से ही शैली के तीन भेद परम्परा से चले आ रहे थे : प्रसन्न (सरल), उदात्त तथा मध्यम अथवा सज्जित। क्विन्टीलियन सामान्य रूप से इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। उनका मत है कि इन तीनों शैलियों के तीन पृथक उद्देश्य हैं : प्रसन्न (सरल) शैली शिक्षा के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, उदात्त शैली का लक्ष्य है भावों को उद्बुद्ध करना, और सज्जित शैली का उद्देश्य है मनःप्रसादन। किन्तु क्विन्टीलियन इस विभाजन को सर्वथा निर्दोष तथा पूर्ण नहीं मानते—उनका स्पष्ट मत है कि इस प्रकार का विभाजन स्थूल है : सभी शैलियों को इन तीन वर्गों में परिसीमित नहीं किया जा सकता—'शैली के अनेक मार्ग हैं'।

इन तीन भेदों के अतिरिक्त क्विन्टीलियन ने तीन भौगोलिक भेदों का भी उल्लेख किया है—"प्राचीन काल से लेखकों के दो प्रसिद्ध वर्ग मान्य रहे हैं—ऐटिक और एशियाटिक। पहले वर्ग के कवियों की शैली समासगुणयुक्त और सजीव मानी गयी है और दूसरे वर्ग के कवियों की शैली वाचाल और निस्सार। सन्त्रा आदि कुछ विद्वानों का मत है कि जब यूनानी भाषा धीरे धीरे समीपस्थ एशियाई देशों में फैलने लगी तो वहां के निवासी जो भाषा में व्युत्पन्न तो नहीं थे किन्तु जिन्हें उसमें भाषणादि देने की आकांक्षा थी सीधी सादी बात को आंडम्बरपूर्ण शब्दावली में व्यक्त करने लगे, और वही शैली स्वीकार कर ली गयी। किन्तु मेरा विचार है कि वक्ताओं का स्वभाव-वैचित्र्य और श्रोता-समाज की विभिन्नता ही शैली-भिन्नता का कारण है। एथेन्स के निवासियों का रहन-सहन संस्कृत और विचार-धारा स्पष्ट थी—अतएव उन्हें निस्सार शब्दाडम्बर असह्य था। एशिया के लोग लम्बी-चौड़ी हाँकने के अभ्यस्त थे, अतएव उनकी शैली में आडम्बर होता था। इनके अतिरिक्त एक तीसरी शैली का भी उदय हुआ : इसका नाम था र्‌होडियन। यह शैली दोनों की मध्यवर्ती थी। उसमें न तो ऐटिक शैली का अत्यधिक संयम था और न एशियाटिक शैली की मुखरता। + + + इसकी समता न तो निर्मल फव्वारों से की जा सकती थी और न संकुल जल-प्रपातों से, यह तो शान्त गति से बहते हुए सरोवर के समान थी।"

भारतीय रीतिशास्त्र में वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली का वर्ग-विभाजन उपर्युक्त विभाजन के बहुत निकट है। दोनों का आधार आरम्भ में भौगोलिक था, फिर क्रमशः विशेषता का वाचक हो गया : परन्तु प्रादेशिक छाप उसकी मिटी नहीं। ऐटिक शैली वैदर्भी से दूर नहीं है—जिस प्रकार अपने यहां विदर्भ लोगों की रुचि संस्कृत तथा कलात्मक थी, इसी प्रकार प्राचीन यूरोप में ऐटिक लोगों की भी थी। इसीलिए उनकी शैली परिष्कृत, सज्जित तथा कलात्मक थी। ऐशियाटिक शैली गौड़ी की पर्याय है। आरम्भ में एशिया निवासियों की भाँति गौड़ों को भी शब्दाडम्बर और वाचालता के प्रति आकर्षण था—धीरे धीरे दोनों की भौगोलिकता नष्ट हो गई। तीसरी शैली र्‌होडियन दोनों की मध्यवर्तिनी है।—पं० बल्देव उपाध्याय ने इसे पांचाली के समकक्ष माना है, परन्तु यह संगत नहीं है क्यों कि र्‌होडियन दोनों की मध्यवर्तिनी है और पांचाली मध्यवर्तिनी नहीं है। पांचाली में

माधुर्य और सौकुमार्य—ये दो कोमल गुण ही होते हैं, कोमल और परुष का समन्वय नहीं मिलता। अतएव र्होडियन शैली पांचाली नहीं है।

क्विन्टीलियन के बाद यूरोप के काव्य-शास्त्र में एक प्रकार का अन्धकार-युग-सा आ जाता है। रोम के पतन से लेकर पुनर्जागरण काल तक का समय यूरोप के इतिहास का मध्ययुग कहलाता है। जैसा कि सेन्ट्सबरी ने लिखा है, मध्ययुग वास्तव में आलोचना का युग नहीं था—वह अबाध सृजन का युग था। काव्य, नाटक, इतिहास, गति सभी क्षेत्रों में मौलिक सर्जना दुर्दाम वेग से चल रही थी जिसमें आलोचना के लिए अवकाश नहीं था। इतिहासकारों ने मध्ययुग के तीन भाग किये हैं। आरम्भिक मध्ययुग में तीन रीतिशास्त्रियों के नाम हमारे सामने आते हैं: बीड, इसीडोर और ऐलकुइन। इनका मुख्य विषय अलंकार था और दृष्टिकोण परम्परावादी था। केवल एलकुइन ने शैली पर कुछ विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार शैली का प्रथम गुण है व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता, और स्वच्छ शब्द-योजना। शब्दों के चयन में कांतिमय शब्दों को महत्व दिया जाना चाहिए। रूपक के द्वारा शैली का अलंकरण होता है। पद-रचना के विषय में एलकुइन ने केवल यही कहा है कि समान वर्णों का संगुफन अरुचिकर होता है। उपर्युक्त विवेचन में कोई नवीनता नहीं है—वह अरस्तू आदि के विचारों की ही प्रतिध्वनि मात्र है। मध्ययुग का मध्य और भी अनुर्वर है—उसमें रीतिशास्त्र ने किसी प्रकार प्रगति नहीं की। वास्तव में मध्यु युग के इन दोनों भागों में रीतिशास्त्र के नाम पर व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकार, चित्रकाव्य आदि का ही रूढ़िबद्ध वाख्यान-विवेचन होता रहा, काव्य अथवा रीति का मौलिक एवं तात्विक विवेचन नहीं हुआ।

(७) दान्ते

मध्ययुग के अन्तिम चरण में दान्ते का आविर्भाव हुआ। दान्ते ने उत्कृष्ट काव्य-सर्जना के अतिरिक्त प्रौढ़ शास्त्र-विवेचन भी किया है। उन्होंने अत्यन्त प्रबल शब्दों में युग की आवश्यकता के अनुकूल लैटिन के विरुद्ध इटालियन भाषा की गौरव-प्रतिष्ठा की। दान्ते ने काव्यभाषा और काव्य-शैली पर बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने शैली अथवा रचना के चार भेद

किये हैं : १. निर्जीव अथवा रुचिविहीन २. केवल सुरुचिपूर्ण ३. सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर ४. सुरुचिपूर्ण, सुन्दर तथा उदात्त। इनमें अन्तिम शैली ही सर्वोत्तम है।

शैली-भेदों के अतिरिक्त दान्ते का शब्द-विवेचन भी अत्यन्त मनोरंजक है : कुछ शब्द बच्चों की तरह तुतलाते हैं, कुछ शब्दों में स्त्रियोचित लोच-लचक रहती है, और कुछ शब्दों में पौरुष मिलता है। अंतिम वर्ग के शब्दों में कुछ ग्राम्य होते हैं और कुछ नागर—नागर शब्दों में भी कुछ मसृण[1] और चिक्कण[2] होते हैं, और कुछ प्रकृत[3] और अनगढ़[4]।

"इन शब्दों में से मसृण तथा प्रकृत को ही हम उदात्त शब्दावली कहते हैं, चिक्कण और अनगढ़ शब्दों में आडम्बर मात्र रहता है। + + उदात्त शैली में 'तुतले' शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि वे अति-परिचित शब्द होते हैं, स्त्रैण शब्द अपनी स्त्रैणता के कारण और ग्राम्य शब्द अपने काठिन्य के कारण त्याज्य हैं। नागर शब्दावली के चिक्कण और अनगढ़ शब्द भी ग्राह्य नहीं हैं। इस प्रकार केवल मसृण और प्रकृत शब्द रह जाते हैं और ये ही शब्द भव्य हैं"।

दान्ते के वर्गीकरण में कोई नवीनता नहीं है—उसमें भी उसी परम्परा की स्वीकृति है जो सिसरो, डायोनीसियस, डिमेट्रियस आदि में मिलती है। दान्ते की चार शैलियों में पहली अर्थात् निर्जीव या सुरुचिहीन शैली तो वास्तव में साहित्य की शैली ही नहीं है—वह तो शैली का विकृत रूप है जो डिमेट्रियस द्वारा निर्दिष्ट शुष्क (एरिड) नामक विकृत शैली से बहुत कुछ मिलती जुलती है। 'केवल सुरुचिपूर्ण' परम्परागत प्रसन्न शैली के और, 'सुरुचिपूर्ण एवं सुन्दर' सुन्दर (मधुर) शैली के समकक्ष है। 'सुरुचिपूर्ण सुन्दर तथा उदात्त' यूनानी-रोमी परम्परा के किसी रूप के अन्तर्गत नहीं आती—उदात्त में सुन्दर के लिए अधिक अवकाश नहीं है। यह वास्तव में हमारी वैदर्भी की ही पर्याय है जो प्रसाद, माधुर्य तथा ओज तीनों से सम्पन्न होती है। भारतीय रीतिशास्त्र में वैदर्भी की सभी प्रशस्तियों में उसकी सकल-गुण-सम्पदा का उल्लेख है। दान्ते भी अपनी चतुर्थ शैली को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं क्योंकि वही सर्वगुण सम्पन्न है।

---

१ कूम्बड २ स्लिपरी ३ शैगी ४ रम्पिल्ड।

इस दृष्टि से दान्ते का शब्द-विवेचन अपेक्षाकृत अधिक मौलिक है। भारतीय रीतिशास्त्र में उनके स्त्रैण शब्दों का विवेचन वामन के शब्दगुण माधुर्य तथा सौकुमार्य में और मसृण शब्दों का विवेचन शब्दगुण कान्ति में मिल जाता है। अनगढ़ शब्द हमारे यहां भी श्रुतिकटु दोष के कारण माने गये हैं।

मध्य युग के उपरान्त यूरोप में उस स्वर्णयुग का आरम्भ हुआ जो इतिहास में पुनर्जागरण काल के नाम से प्रसिद्ध है। यह युग अगाध श्रद्धा और अदम्य विद्रोह का युग था—इन्हीं दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का अद्भुत समन्वय इस युग की अन्तःप्रेरणा का मूल आधार था। वास्तव में व्यक्ति की भाँति, युग की भी महत्ता उसकी अन्तर्विरोधों की समंजन-शक्ति में ही निहित रहती है। अन्तर्विरोध जितने प्रबल और तीव्र होते हैं, उनके समंजन के लिए उतनी ही शक्ति की आवश्यकता होती है। पुनर्जागरण काल में एक ओर पुरातन साहित्य के प्रति असीम श्रद्धा थी, दूसरी ओर नवीन जीवन-चेतना को अभिव्यक्त करने की दुर्दम्य स्फूर्ति। यूरोप में इस आन्दोलन का सबसे प्रबल रूप इंगलैंड में व्यक्त हुआ। वहां उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियां अत्यन्त स्पष्ट रूप में सामने आईं—बैन जॉनसन पहली प्रवृत्ति के प्रतीक हैं, शेक्सपियर दूसरी के। बैन जॉन्सन ने यूनानी और रोम की शास्त्रीय परम्पराओं को अवतरित किया—और शेक्सपियर ने आत्मा के उन्मुक्त विक्षेप[1] को।

(८) बैन जॉन्सन

बैन जॉन्सन ने शैली पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार शैली का मुख्य गुण है प्रसाद—शैली का प्रमुख दोष यह है कि उसके लिए व्याख्याता की आवश्यकता पड़े। प्राचीन शब्दों के प्रयोग से शैली में एक प्रकार की गरिमा का समावेश होता है, और प्रायः उनका अपना एक विशेष चमत्कार होता है। "किन्तु फिर भी नवीन शब्दों में से प्राचीनतम और प्राचीन शब्दों में से नवीनतम शब्दों का चयन ही अधिक श्रेयस्कर है। + + + कुछ शब्दों का चयन अलंकार के लिए किया जाता है—जैसे कि

---

१ फ्रैन्ज़ी

भवनों को सजाने के लिए या मालाएं गूंथने के लिए फूलों का चयन किया जाता है। किन्तु ये भी शैली के सहज अंग रूप में ही अधिक खिलते हैं— जैसे कि फूल शाद्वल में ही अधिक सुन्दर लगते हैं।"

बैन जॉन्सन ने शैली के चार भेद माने हैं: [1]संक्षिप्त शैली, [2]समस्त शैली, [3]व्यस्त शैली, [4]समंजित शैली। ये भेद प्राचीनों के शैली-भेदों से भिन्न हैं। परन्तु आगे चलकर बैन जॉन्सन ने परम्परागत भेदों की ओर भी संकेत किया है। उन्होंने मानव-शरीर का रूपक बाँधते हुए भाषा-शैली के अनेक अंग माने हैं। आकार, स्वरूप, परिधान (त्वचा), रक्त-मांस आदि। आकार की दृष्टि से शैली के तीन भेद होते हैं: उदात्त, क्षुद्र और मध्यम। उदात्त शैली में शब्द चुने हुए होते हैं, उनका नाद-गुण गंभीर होता है, पद-रचना प्रचुर और प्रबल होती है। क्षुद्र शैली में शब्द निःसत्व और जड़ होते हैं—वाक्य-रचना में समंजन और शक्ति का अभाव रहता है। मध्यम शैली में भाषा प्रसन्न होती है—उसमें ऋजुता, संगठन, शोभा और आनु-गुणत्व रहता है। ये तीनों शैलियां विषय के आश्रित रहती हैं—विषयवस्तु में विपर्यय हो जाने से इनका स्वरूप भी विकृत हो जाता है। स्वरूप के अंतर्गत वाक्य-संघटना आती है। वाक्य संघटना भी कई प्रकार की हो सकती है: ऋजु-सरल, दृढ़-स्फीत आदि। उधर परिधान (त्वचा तथा वस्त्र) के अंतर्गत बैन जॉन्सन ने रचना को ग्रहण किया है। इसी प्रकार कुछ अन्य शैलियां भी हैं—जैसे मांसल तथा पुष्ट। मांसल में वागाडम्बर रहता है— पुष्ट शैली रस और रक्त से परिपुष्ट कही गयी है।

वास्तव में बैन जॉन्सन का विवेचन अधिक वैज्ञानिक नहीं है—उनकी व्यस्त शैली शैली न होकर शैली-दोष मात्र है। संक्षिप्त और समस्त शैलियों में कोई मौलिक प्रकार-भेद नहीं है। उदात्त शैली का उल्लेख यूरोप के प्राचीन आचार्य पहले ही कर चुके हैं। क्षुद्र शैली भी काव्य की शैली नहीं है—उसकी विशेषताएं काव्य-दोषों के अंतर्गत आती हैं। मध्यम शैली प्राचीनों की प्रसन्न शैली का ही दूसरा नाम है। मांसल शैली भारतीय गौड़ी का विकृत रूप है, और पुष्ट शैली का रस हमारे माधुर्य गुण का तथा रक्त ओज गुण का पर्याय है।—बैन जॉन्सन के विवेचन में कोई व्यवस्था नहीं है।

---

१ ब्रीफ़, २ कन्साइज़ ३ एब्रप्ट ४ कान्प्युएंट एंड हारमोनियस।

पुनर्जागरण काल में रीति-शास्त्र ने कोई प्रगति नहीं की। वह सर्जना का युग था समीक्षा का नहीं। रीतिशास्त्र का सम्बन्ध शास्त्रीय परम्परा से ही है, आत्मा के विक्षेप के साथ उसकी संगति नहीं बैठती। पुनर्जागरण काल का वह विक्षेप वास्तव में रीतिशास्त्र के लिए घातक ही था।

सत्रहवीं-अठारहवीं शती—नव्यशास्त्रवाद

सर्जन-क्रिया की इस दौड़-धूप के बाद सत्रहवीं शताब्दी में विचार और विवेचन के लिए विश्राम मिला। इन शताब्दियों में विवेक और वितर्क का प्राधान्य रहा। फ्रांस में सत्रहवीं शताब्दी इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण थी। बोइलो ने पुरातन की वाणी को आप्त वाणी घोषित किया। उन्होंने विवेक और सुरुचि को काव्य की आत्मा माना और यूनान तथा रोम के कवियों तथा आचार्यों को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया। बोइलो के अनुसार काव्य-कला का आधार प्रचीनों की श्रेष्ठ कृतियों में ढूंढ़ना चाहिये। और हमको अपना ध्यान उन्हीं पर केन्द्रित करना चाहिए। काव्य-कला के सफल व्यवहार तथा सिद्धान्त-प्रतिपादन का श्रेय उन्हीं को है और सभी ने उनका स्तवन किया है। उनका अनुकरण ही विवेक और सुरुचि की स्वीकृति है—उनका अनुकरण करके ही सभी प्रकार के आडम्बर से मुक्ति सम्भव है। बोइलो कहते हैं कि इन नकली हीरों (काव्याडम्बर) की झूठी चमक-दमक इटली को ही मुबारक रहे। सत्काव्य के प्रत्येक अंग का नियामक विवेक ही होना चाहिए। आगे चलकर वे स्पष्ट करते हैं कि विवेक ही प्रकृति है। इस प्रकार फ्रांस में जिस नव्यशास्त्रवाद का जन्म हुआ उसका मूल सूत्र था :

प्रकृति=विवेक (सुरुचि)=प्राचीन (शास्त्रीय) साहित्य।

प्रकृति विवेक का पर्याय किस प्रकार है यह समझने में आज कठिनाई हो सकती है। परन्तु नव्य-शास्त्रवादी इस विषय में स्पष्ट थे : प्रकृति से अभिप्राय उनका स्वच्छन्द अनगढ़ प्रकृति से नहीं था—वरन् व्यवस्थित (रीतिबद्ध) प्रकृति[1] से था। 'नियतिकृतनियमरहिता' प्रकृति को वे मान्यता नहीं देते थे। नव्यशास्त्र-

---

१ नेचर मेथोडाइज्ड

वाद के प्रभाववश रीतिशास्त्र की परम्परा में फिर बल आ गया—परन्तु इस युग का विवेचन यूनानी-रोमी रीति-सिद्धांतों की पुनरावृत्ति होने के कारण सर्वथा अमौलिक ही था। इस दृष्टि से इंगलैंड में ड्राइडन का योग-दान कहीं अधिक स्तुत्य था। शास्त्र के प्रति ड्राइडन की श्रद्धा भी अखण्ड थी, परन्तु फिर भी उन्होंने जीवन को शास्त्र से अधिक प्रबल माना और निर्भीक घोषणा की : "अरस्तू ने ऐसा कहा है वह काफी नहीं है क्यों कि अरस्तू के दुखान्तकी- सिद्धान्त सोफ़क्लीज़ और यूरिपाइडीज़ के नाटकों पर आधृत थे—और यदि वे हमारे नाटक देखते तो अपना मन्तव्य बदल देते।" उस युग में यह बड़े साहस का काम था। शैली के विषय में ड्राइडन ने यत्रतत्र कुछ स्फुट विचार मात्र प्रकट किये हैं। उन्होंने शैली में वक्तृ-और वस्तु-औचित्य को प्रमाण माना है :—

"मैं दु:खान्तकी में उदात्त शैली को बुरा नहीं मानता क्यों कि दु:खान्त (का वातावरण) तो स्वभाव से वैभवपूर्ण एवं गरिमावरिष्ठ होता है। किन्तु उदात्त की स्थिति औचित्य के अभाव में सम्भव नहीं है। + + + + + जब मनुष्य किसी ऐसे गुण का अनुकरण करते हैं जो उनकी क्षमता से परे हो तो प्राय: उस गुण से मिलता-जुलता कोई दोष उनके पल्ले पड़ जाता है। इस प्रकार उदात्त काव्य-रचना का महत्वाकांक्षी अविवेकी कवि आडम्बरपूर्ण वाचाल शैली को ग्रहण कर बैठता है क्यों कि आडम्बर और वाचालता में गरिमा की भ्रांति हो जाती है। + + +

काव्य का स्तर जहां उदात्त हो वहां काव्य के उपकरणों को शक्ति परिस्थिति, विषयवस्तु और व्यक्तियों के अनुरूप ही होनी चाहिए।" ड्राइडन के विचार में—क्षुद्र विचार के लिए महान शब्दावली, पुनरावृत्ति, शिथिल पदावली, घोर अत्युक्ति, अनावश्यक वाग्विस्तार आदि अक्षम्य काव्य-दोष हैं।

ड्राइडन के कुछ ही बाद एडिसन, पोप और डा० जॉन्सन का समय आता है। इनमें एडिसन और जॉन्सन तो व्यवसाय से आलोचक थे—उन्होंने नियमित रूप से व्यवहारिक एवं सैद्धान्तिक समीक्षा की है। मिल्टन के महाकाव्य की आलोचना करते हुए एडिसन ने भाषा के प्रसंग में उदात्त शैली का विवेचन किया है। महाकाव्य की उदात्त शैली में प्रसाद और गरिमा

दोनों गुण अनिवार्यतः होने चाहिए। प्रसाद के विषय में एक बात स्मरण रखनी चाहिए : अनेक शब्द सर्वसाधारण के प्रयोग के कारण क्षुद्र बन जाते हैं:—'अतिपरिचयात् अवज्ञा।' अतएव प्रसाद को अतिप्रचलित शब्दों तथा मुहावरों की क्षुद्रता से मुक्त रखना चाहिए। किन्तु उदात्त शैली के लिए प्रसाद पर्याप्त नहीं है—गरिमा भी उतनी ही अनिवार्य है। गरिमा का समावेश करने के लिए अरस्तू ने अनेक-उपकरणों का निर्देश किया है—एडिसन उन्हीं को उद्धृत कर देते हैं। वास्तव में एडिसन अरस्तू की भाषा ही बोलते है—इस प्रसंग में उन्हें अपना कुछ नहीं कहना है।

(१) पोप

पोप में नव्यशास्त्रवाद का प्रतिनिधि रूप मिलता है। उन्होंने भी बोइलो के स्वर में स्वर मिलाते हुए प्रकृति की गौरव-प्रतिष्ठा की—उनकी प्रकृति भी वही रीतिबद्ध प्रकृति है जो शास्त्र का पर्याय है। नव्यशास्त्रवादियों के सिद्धान्त और व्यवहार में एक विचित्र विरोध दृष्टिगत होता है : उनके सिद्धान्तों में जहां काव्य के मौलिक तत्वों की प्रतिष्ठा है, वहां व्यवहार में काव्य की अनेक कृत्रिमताओं का नियमित रूप से समावेश रहता है। उदाहरण के लिए उन्होंने काव्य में शब्द की अपेक्षा अर्थ को ही महत्व दिया है, परन्तु उनके अपने काव्य का प्रधान गुण है भाषा की मसृणता तथा प्रसन्नता। उन्होंने भाषा को निखारने के लिए भाव की प्रायः बलि दे दी है। वास्तव में यही युग यूरोप में रीतिवाद का युग है। पोप ने अपने आलोचना-विषयक छन्दोबद्ध निबन्ध में शैली के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं : शैली (अभिव्यंजना) विचार का परिधान है और वह जितना संगत होगा उतना ही सुन्दर लगेगा। किसी क्षुद्र कल्पना को यदि चमक-दमक वाली शब्दावली में अभिव्यक्त किया जाए तो वह ऐसी लगेगी मानों विदूषक को राजसी परिधान पहना दिये हों; क्यों कि जैसा विषय हो वैसी ही शैली होनी चाहिए जिस तरह कि ग्राम, नगर और राजदरबार की पोशाक अलग अलग होती है। +

+ + +

देखिए—पोप का 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म।

अशुद्ध शैली और शुद्ध शैली :— मिथ्या वाग्मिता ही अशुद्ध शैली है। उसकी स्थिति एक ऐसे शीशे के समान है जो चारों ओर अपने भड़कीले रंगों को बिखेर देता है जिससे हम पदार्थों के सहज स्वरूप को नहीं देख पाते। सभी में एक जैसी चमक-दमक उत्पन्न हो जाती है—किसी में कोई भेद नहीं रहता। परन्तु शुद्ध शैली का यह गुण है कि वह सूर्य के प्रकाश के समान प्रत्येक पदार्थ को व्यक्त कर देती है। उसके रूप को भी चमका देती है। वह सभी को स्वर्णिम आभा से दीप्त कर देती है किन्तु किसी के स्वरूप को नहीं बदलती।

आगे चलकर पोप वर्ण-योजना की चर्चा करते हैं। केवल श्रुतिपेशल वर्ण-गुम्फ अपने आप में स्तुत्य नहीं है—केवल संगीत के लिए काव्य का अनुशीलन करना असंगत है। परिवर्तनहीन स्वान-ध्वनियों की झंकार एक प्रकार की अरुचिकर एकस्वरता को जन्म देती है। किसी गतिहीन पंक्ति में रेंगते हुए निर्जीव शब्द काव्य का उत्कर्ष नहीं कर सकते। शब्द में अर्थ की गूंज रहनी चाहिए। काव्य के पारखी प्रसन्न ऊर्जस्विता का ही आदर करते हैं—जहां ओज और माधुर्य का समन्य रहता है[1]।

पोप के इन विचारों में भारतीय रीति-सिद्धान्त के अनेक तत्व वर्तमान हैं। पोप ने एक ओर वस्तु-औचित्य की अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिष्ठा की है, दूसरी ओर प्रसाद, ओज और माधुर्य तीनों गुणों के समन्वय पर बल दिया है। उनकी आदर्श शैली वैदर्भी की भाँति ही प्रसादमयी, ओजस्वी और माधुर्य-संवलित है। 'केवल श्रुतिपेशल' के विरुद्ध उनका अभिमत भामह की निम्न-लिखित उक्ति का स्मरण दिलाता है :

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नगेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥[2]
भामह—१।३४।

---

१ देखिए—'एसे ऑन क्रिटिसिज़्म'

२ तुलना कीजिए :

हू हान्ट पारनेसस बट टू प्लीज़ दिअर ईअर
नाट मेन्ड दिअर माइन्ड्स, —पोप

वैदर्भी में यदि पुष्ट अर्थ तथा वक्रोक्ति का अभाव, और केवल ऋजु-प्रसन्न कोमल शब्दावली मात्र हो तो वह गीत की भाँति केवल श्रुतिपेशल हो सकती है—अर्थात् वह हमारे कानों को प्रिय लग सकती है परन्तु उससे हमारी चेतना का परिष्कार नहीं हो सकता है—जो काव्य का चरम उद्देश्य है।

व्यवहार में इस युग के काव्य-सिद्धान्त रीति-सिद्धान्त के और भी अधिक निकट हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से तो इस युग में अर्थ-गौरव तथा भाव-सौन्दर्य पर ही बल दिया गया परन्तु वास्तविक व्यवहार में इन कवियों का ध्यान मूलतः भाषा-शैली पर ही केन्द्रित रहा। भाषा-शैली को सँवार और सजाकर इन्होंने काव्य-भाषा को एक पृथक रूप ही दे दिया—सिद्धान्त में अर्थ को गौरव देते हुए व्यवहार में इन्होंने शैली या रीति को ही काव्य की आत्मा माना। रीतिवाद और नव्यशास्त्रवाद में निम्नलिखित समानताएं अत्यन्त स्पष्ट हैं:

१. काव्य में भाव (रस) की अपेक्षा रीति का महत्व।

२. काव्य के प्रति वस्तु-परक दृष्टिकोण।

३. काव्य के बाह्य रूप के उत्कर्षकारी तथा उत्कर्षवर्धक तत्वों (गुण तथा अलंकार) का यत्नपूर्वक ग्रहण और अपकर्षकारी तत्वों (दोष) का त्याग।

स्वच्छन्दतावाद

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते पहुँचते अनेक आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक कारणों से काव्य-दर्शन में भी मौलिक परिवर्तन आरम्भ हो गया। कान्ट, फ़िक्टे, शैलिंग आदि जर्मन दार्शनिकों ने दृष्टि को वस्तु से हटाकर आत्माभिमुख कर दिया। कान्ट ने स्पष्ट लिखा—"अब तक यह विश्वास रहा है कि हमारा समस्त ज्ञान वस्तु के अनुकूल होना चाहिए परन्तु अब इस बात पर विचार करने का समय आ गया है कि क्या मानव उन्नति के लिए (इसके विपरीत) यह धारणा अधिक श्रेयस्कर नहीं है कि वस्तु को हमारे ज्ञान के अनुकूल होना चाहिए।" इन दार्शनिकों के प्रभाव से काव्य में विवेक और रीति के स्थान पर अन्तर्प्रेरणा, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्प्रकाश, कल्पना,

आनन्दातिरेक आदि का प्राबल्य घोषित हुआ। बाह्य रूप-आकार का वस्तुगत सौन्दर्य केवल छाया-सौन्दर्य रह गया। इस प्रकार इस युग में रीति-सिद्धान्त पर सबसे घातक प्रहार हुआ। आत्मा के इस अग्निद्रव में कविता के बाह्य अलंकरण-शृङ्गार अनायास ही भस्म हो गये। परन्तु इस युग की कविता अनलंकृत है—यह बात नहीं है। जर्मनी में गेटे, और इंगलैंड में कॉलरिज, कीट्स आदि की काव्य-शैली अनुपम है, परन्तु वह साधन मात्र ही है सिद्धि नहीं है। शैली की निम्नलिखित पंक्तियों में काव्य-रचना के प्रति रोमानी दृष्टिकोण का सार अन्तर्निहित है—"+ + किन्तु जब रचना आरम्भ होती है तो अन्तर्प्रेरणा का ह्रास उससे पूर्व ही आरम्भ हो जाता है, विश्व में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ कविता कवि की मूल कल्पना की हलकी छाया मात्र है।"—रीति-सिद्धान्त का इससे स्पष्ट निषेध और क्या हो सकता है? वास्तव में रोमानी काव्यशास्त्र में जहां 'अकेला शब्द भी चिरदीप्त विचार का स्फुलिंग माना गया हो'—जहां 'कविता के शब्दों में विद्युत-शक्ति के वास की कल्पना की गई हो, विशिष्ट पद-रचना के वस्तुगत सौन्दर्य के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस युग में रीति-सिद्धान्त की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण कॉलरिज और वर्ड्सवर्थ का काव्य-शैली-विषयक विवाद है। वर्ड्सवर्थ ने अठारहवीं शताब्दी की काव्य-भाषा का उग्र विरोध किया—उन्होंने उस चमक-दमक-वाली कृत्रिम तथा निष्प्राण भाषा को काव्य के अनुपयुक्त माना। काव्य की भाषा के विषय में उनके मूल सिद्धान्त दो हैं: (१) सहज मानव-भाषा ही काव्य की भाषा होनी चाहिए। मानव-भाषा का सहज रूप ग्राम्यजन की भाषा में मिलता है क्योंकि इन व्यक्तियों का ऐसी वस्तुओं से निरन्तर सम्पर्क रहता है जो भाषा के सर्वोत्कृष्ट अंगों के मूल उद्गम हैं। अतएव भाषा का सच्चा रूप यही है—कवि इसी को अपनी कल्पना के रंगों से रँग कर काव्य-भाषा का रूप दे देता है।

(२) यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि गद्य और पद्य की भाषा में कोई अन्तर न है और न हो सकता है।

रीतिशास्त्र के क्षेत्र में वर्ड्सवर्थ की यह घोषणा वास्तव में घोर विप्लव की घोषणा थी। इसका विरोध स्वाभाविक था—सबसे प्रथम तो वर्ड्सवर्थ के अभिन्न मित्र कॉलरिज ने ही इसके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण किया।

रोमान्टिक युग के बाद ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भाँति आलोचना पर भी विज्ञान का समाघात हुआ। टेन ने आलोचना के लिए इतिहास को और सेंट बिवुए ने व्यक्ति को प्रमाण माना। इस प्रकार यहां से आलोचना विज्ञान का रूप धारण करने लगी और क्रमशः समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत होने लगी। रूप-सम्बन्धी[1] आलोचना समय से पिछड़ गयी।

मैथ्यू आर्नल्ड ने एक बार फिर गंभीर काव्य-गत मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया : उन्होंने प्राचीन काव्य को काव्य का आदर्श मानते हुए विषय की गुरुता को काव्य-सर्वस्व घोषित किया। उन्होंने काव्य के लिए तीन तथ्यों पर बल दिया—'विषय-निर्वाचन का सर्वाधिक महत्व, यथातथ्य वस्तु-विधान की आवश्यकता और अभिव्यंजना अथवा शैली की विषयाधीनता[2]।' आर्नल्ड प्राचीनों की उदात्त शैली के प्रशंसक थे—परन्तु उस शैली की महत्ता का रहस्य भी वे यही मानते थे कि उसको कभी आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं दिया गया—वह अत्यन्त सरल तथा सर्वथा विषयाधीन है, और वह अपनी शक्ति सीधे विषय के अर्थ-गौरव से ही प्राप्त करती है[3]। इस प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड ने एक दूसरे मार्ग से रीतिवाद पर प्रहार किया—रीतीवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वही है जो हमारे काव्य-शास्त्र में रस-ध्वनिवादियों का है।

बीसवीं शताब्दी में यूरोप के आलोचना-शास्त्र की दो प्रवृत्तियों ने ज़ोर पकड़ा : एक ओर तो आर्नल्ड आदि द्वारा प्रतिपादित विषय की गंभीरता के विरोध में एक बार फिर कला में शैली अथवा अभिव्यंजना की महत्व-प्रतिष्ठा के लिए आंदोलन चला। दूसरी ओर मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र को आधार मानकर काव्य के तत्वों की व्यवस्था की गयी। इस शती की इन दो प्रमुख प्रवृत्तियों को हम सौन्दर्य-शास्त्रीय आलोचना और मनोवैज्ञानिक आलोचना कह सकते हैं।

सौन्दर्य-शास्त्रीय आलोचना का मूल सिद्धान्त है अभिव्यंजनावाद। अभिव्यंजना का महत्व तो अपने आप में कोई नवीन उद्भावना नहीं है—

१ फ़ॉर्मल २ प्रिफ़ेस टू पोइम्स

३ प्रिफ़ेस टू पोइम्स

यूनानी-रोमी आलोचकों के ग्रन्थों में इस विषय में अनेक संकेत मिलते हैं। परवर्ती काव्य-शास्त्र में आर्नल्ड से पहले ही विक्टर ह्यूगो इस तथ्य की घोषणा कर चुके थे : 'काव्य में अच्छे बुरे विषय नहीं होते—अच्छे बुरे कवि ही होते है। + + + + यह देखिए कि रचना किस प्रकार की गयी है—यह नहीं कि किस विषय पर या क्यों ? इस सूत्र को बाद में स्विनबर्न, पेटर, आस्कर वाइल्ड, आदि ने पकड़ लिया और क्रोचे ने इसे दार्शनिक आधार देकर शास्त्र का रूप दे दिया।

पेटर की स्थिति अपेक्षाकृत मध्यवर्ती है। वे केवल अभिव्यंजना को महत्व नहीं देते—वास्तव में वे विषय-वस्तु को ही अधिक महत्व देते हैं। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'शैली' के अंत में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि महान् कला रूप पर निर्भर नहीं है तत्व पर निर्भर है। परन्तु उनके निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य यह नहीं है, उसका मूल प्रतिपाद्य है शैली और विषयवस्तु का अनिवार्य सहभाव—साहित्य, जिसे उन्होंने 'अपने अर्थ के प्रति निष्ठा' 'शब्द का अर्थ के साथ पूर्ण सामंजस्य' आदि वाक्यांशों द्वारा अभिव्यक्त किया है। फ़्लॉबर्ट की भाँति वे भी शैलियों में विश्वास नहीं करते—उनका तो केवल एक शैली में विश्वास है।' "अनेक शब्दों के समूह में से एक तथ्य, एक विचार के लिए केवल एक शब्द जो यथेष्ट हो : शैली की समस्या वहां यह थी (फ़्लाबर्ट के सामने) कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द,वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध, या गीत—कुछ भी हो उसका मन की छवि या मन के चित्र के साथ पूर्ण तादात्म्य हो।" इसीलिए अलंकार, शाब्दिक चमत्कार, तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यंजना के अभिन्न अंग नहीं हैं—जिनका पृथक अस्तित्व है, शैली का वास्तव में उपकार नहीं करते। वे उसकी मूलभूत एकता को नष्ट कर देते हैं। "शब्द का औचित्य वहीं सिद्ध होता है जहां वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।"

हमारे काव्य-शास्त्र में पेटर का सम्पूर्ण विवेचन अकेले 'साहित्य' शब्द में निहित है : 'साहित्य' में शब्द और अर्थ का अनिवार्य सहभाव रहता है। कुन्तक आदि ने इसकी व्याख्या में प्रायः वही शब्दावली प्रयुक्त की है जो पेटर ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने में। "न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते, सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात् साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्।" अर्थात् काव्य में शास्त्रादि की भाँति

केवल अर्थ प्रतीति के लिए शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता—साहित्य की रचना तो तब होती है जब शब्द और अर्थ एक दूसरे के तुल्यकक्ष होकर, परस्पर स्पर्धा करते हुए (परस्परस्पर्धाधिरोहः), अन्यून और अनतिरिक्त रूप से पूर्ण सहभाव के साथ प्रयुक्त किये जाएं। उधर वामन ने अपने अर्थ-गुण प्रसाद में भी इसी विशेषता पर बल दिया है—अर्थ-गुण प्रसाद का अर्थ है अर्थ-वैमल्य जिसके लिए प्रयोजक मात्र का प्रयोग अनिवार्य है और प्रयोजक मात्र के प्रयोग का अभिप्राय भी अन्यून-अनतिरिक्त ही है।

पेटर ने शैली के दो मूल तत्व माने हैं: मस्तिष्क और आत्मा। "मस्तिष्क के द्वारा कलाकार रूप-विधान के उन स्थिर तथा वस्तुगत संकेतों द्वारा हमारे मन तक पहुँचता है जो सभी के लिए सुस्पष्ट रहते हैं। आत्मा द्वारा वह अस्थिर सहानुभूति के माध्यम से, एक प्रकार का सद्यःसम्पर्क स्थापित करता हुआ कुछ विचित्र मनमाने-से ढंग से हम तक पहुँचता है।" मस्तिष्क के द्वारा रूप-विधान की अन्विति, और आत्मा के द्वारा वातावरण की अन्विति घटित होती है—मस्तिष्क रूप देता है और आत्मा रंग। "मस्तिष्क के अंतर्गत विवेक-सम्मत संघटना और आत्मा के अंतर्गत रंग तथा रहस्यमयी गंध का अन्तर्भाव है।"—स्पष्ट शब्दों में मस्तिष्क का अर्थ है शैली का वस्तु-तत्व और आत्मा का अर्थ है व्यक्ति-तत्व। वस्तु-तत्व बाह्य रूप से सम्बद्ध—अतएव एवं मूर्त है, व्यक्ति-तत्व अमूर्त अतएव अनिर्वचनीय है।

भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में शैली का मस्तिष्क अथवा बुद्धि-पक्ष रीति है, और आत्मा ध्वनि है। वामन-प्रतिपादित वस्तु-परक पद-रचना-रूपिणी रीति को ही पेटर ने रूप-विधान आदि शब्दों से अभिहित करते हुए 'मस्तिष्क' संज्ञा दी है। आत्मा वह सूक्ष्म आभासमान तत्व है जो रंग अथवा गंध के समान अनुभूत तो होता है, परन्तु शब्द-बद्ध नहीं किया जा सकता, जो 'विभाति लावण्यमिवांगनासु'—यही ध्वनि है। वामन शैली के मस्तिष्क तक ही पहुँच पाये इसीलिए उनका विवेचन अपूर्ण रहा: आनन्दवर्धन ने उसकी आत्मा को खोज निकाला और उनका विवेचन पूर्ण हो गया। पेटर शैली के मस्तिष्क के साथ आत्मा का संयोग कर, अज्ञातरूप से, मानो

देखिए—एप्रिसियेशन्स—स्टाइल

रीतिवाद की त्रुटि का परिहार करते हुए आनन्दवर्धन के मत को पुष्ट कर रहे हैं।

वाणी और अर्थ की अभिन्नता के आधार पर ही अंगरेज़ी में वाल्टर रैले ने शैली पर अपनी लोकप्रिय पुस्तिका लिखी। उन्होंने विषयवस्तु और रूप-विधान के पार्थक्य को दुष्कर माना : उनके अनुसार साहित्य का कार्य द्विविध है—अर्थ के लिए शब्द ढूंढना और शब्द के लिए अर्थ ढूंढना* । इन दोनों का सामंजस्य ही साहित्य है। उन्होंने शैली के दो प्रकार के तत्व मान माने हैं जिसमें कुछ आंतरिक हैं और कुछ बाह्य। आंतरिक तत्व हैं निश्छलता, संयमन, आत्म-निषेध आदि, और बाह्य तत्व हैं इनके व्यक्त परिणाम—प्रसाद तथा शक्ति आदि। बाह्य तत्वों में सबसे प्रमुख है शब्द जिसके तीन गुण हैं : नाद-गुण, चित्र-गुण तथा अर्थ-गुण। नादगुण के अंतर्गत वर्ण-संगीत आदि आते हैं, चित्र-गुण के अंतर्गत शब्द की मूर्तिविधायिनी शक्ति आती है, और अर्थ से अभिप्राय है अर्थगौरव का : चित्र में ऐन्द्रिय पक्ष है, अर्थ में बौद्धिक पक्ष। आगे चलकर रैले ने काव्य के अलंकारों[1] तथा प्रसाधनों[2] का विवेचन किया है। अलंकार को वे उक्ति से अभिन्न मानते हैं, प्रसाधन उक्ति से पृथक किया जा सकता है। अलंकृत शैली अपने परम उदात्त रूप में अत्यन्त गंभीर और अत्यन्त शुद्ध-प्रसन्न भी हो सकती । किन्तु अलंकार का प्रसाधन के रूप में भी प्रयोग होता है, ऐसी स्थिति में वह विषय और शैली को अनेक प्रकार की विषयेतर कल्पना- सामग्री से समृद्ध करता हुआ अपनी उपादेयता सिद्ध करता है।[3]

रैले का शैली-विवेचन पेटर के निबन्ध से बहुत प्रभावित है—यहां तक कि शैली के बुद्धि-पक्ष और आत्म-पक्ष का प्रायः पेटर के शब्दों में ही विवेचन करते हुए अपने वे निबंध का उपसंहार करते हैं। रैले द्वारा निर्दिष्ट आंतरिक तत्व—निश्छलता तथा संयम शैली के वैयक्तिक तत्व हैं जिनका भारतीय रीतिशास्त्र में विवेचन नहीं है। रीति में व्यक्ति-तत्व की सत्ता स्वीकार करते हुए भी भारतीय रीतिशास्त्र ने उसका विश्लेषण नहीं किया, केवल वस्तु-तत्व का ही किया है। अतएव निश्चछलता जैसे अत्यन्त वैयक्तिक तत्व का विवेचन हमारे यहां नहीं है—रसौचित्य के प्रसंग में भी

---

* देखिए : स्टाइल पृ० ६३ टू फ़ाइन्ड वर्ड्स फ़ॉर ए मीनिंग एन्ड टू फ़ाइन्ड ए मीनिंग फ़ॉर वार्ड्स। १ फ़िगर आफ़ स्टाइल २ डैकोरेशन ३ देखिए स्टाइल पृ० १००

नहीं है क्यों कि वहां भी औचित्य कवि-निबद्ध पात्रों के रस का ही है, कवि के वैयक्तिक रस का नहीं। हां संयम तत्व की ओर वामन के दो अर्थ-गुणों में—प्रसाद तथा ओज में संकेत मिलता है। अर्थ-गुण प्रसाद में प्रयोजक मात्र के प्रयोग का अर्थ संयम ही है। इसी प्रकार अर्थ-गुण ओज में अर्थप्रौढ़ि का 'समास' रूप भी संयम का ही द्योतक। बाह्य तत्वों में नादगुण का विवेचन हमारी वर्ण-योजना के अंतर्गत मिलता है—मम्मट आदि ने माधुर्य और ओज के प्रसंग में शब्दों के नादगुण का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। चित्रगुण का संकेत वामन के सौकुमार्य, कांति आदि शब्द-गुणों मिल जाता है। सौकुमार्य का अर्थ है अपारुष्य और कांति का अर्थ है औज्ज्वल्य। अपारुष्य और औज्ज्वल्य दोनों ऐन्द्रिय संवेदना के विषय हैं—अपरुष शब्दावली सुकुमार तथा कोमल चित्र प्रस्तुत करती है और उज्ज्वल शब्दावली भास्वर—रंग और प्रकाश के—चित्र मन में जगाती है। इसी प्रकार रैले का अर्थ-गुण (मीनिंग) वामन के अर्थ-गुण समाधि से बहुत दूर नहीं पड़ता जिसका आधार है अर्थदृष्टि—अर्थात् अर्थ को स्पष्ट रूप से ग्रहण करने के लिए चित्त का अवधान। किन्तु यह शब्द के अर्थगुण का केवल एक रूप है—उसके अन्य रूप भी होते हैं। रैले द्वारा निर्दिष्ट अलंकार तथा प्रसाधन का भेद भारतीय काव्य-शास्त्र में वामनकृत गुणालंकार-भेद का स्मरण दिलाता है। वामन के अनुसार गुण और अलंकार दोनों सौंदर्य के अंग हैं—गुण नित्य अंग है, अलंकार अनित्य। गुण काव्य-उत्कर्ष के साधक हैं, अलंकार उत्कर्ष के वर्धक मात्र हैं—अर्थात् गुण काव्य के आंतरिक एवं अविच्छेद्य अंग हैं, अलंकार बाह्य तथा विच्छेद्य। यही बात रैले अलंकार तथा प्रसाधन के सम्बन्ध में कहते हैं। वास्तव में रैले का अलंकार हमारे काव्य-शास्त्र की 'वक्रता' के और भी अधिक निकट है—उक्ति-वक्रता को ही रैले ने अलंकार-संज्ञा दी है और अप्रस्तुत-विधान को प्रसाधन की।

इस विचारधारा का दार्शनिक रूप क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में मिलता है। अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त के अनुसार कला अथवा काव्य अभिव्यंजना मात्र है। रूप से भिन्न सौंदर्य का कोई अस्तित्व नहीं है। क्रोचे के इस सिद्धान्त-वाक्य को सुनकर रीतिरात्मा काव्यस्य की ओर ध्यान जा सकता है: परन्तु अभिव्यंजनावाद और रीतिवाद में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक

है। दोनों उक्ति को महत्व देते हैं इसमें संदेह नहीं।—अभिव्यंजनावाद उक्ति के अतिरिक्त अर्थ का अस्तित्व ही नहीं मानता—दूसरे शब्दों में, वह उक्ति को ही सर्व-महत्व-सम्पन्न मानता है। उधर रीतिवाद रीति को ही काव्य का प्राणतत्व मानता है और रीति भी मूलतः उक्ति ही है। अतएव दोनों में उक्ति की महत्व-स्वीकृति है। परन्तु इस आधारभूत साम्य के अतिरिक्त वैषम्य भी दोनों पर्याप्त है। पहला भेद तो यह है कि रीति केवल उक्ति नहीं है वह विशिष्ट पदरचना है—विशिष्ट पदरचना भी उक्ति ही है यह ठीक है, परन्तु रीति में उसकी विशिष्टता और रचना पर ही बल अधिक है। इसके विपरीत अभिव्यंजनावाद के अनुसार तो अभिव्यंजना या उक्ति में विशेष और सामान्य का भेद ही नहीं है—उसका तो एक ही रूप है। वह सफल असफल का भेद ही नहीं मानता क्यों कि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं है। उधर रीति का आधार रचना की विशिष्टता ही है और विशिष्टता का अर्थ यहां अद्वितीयता नहीं है असाधारणता मात्र है जो गुण तथा अलंकार के आदान और दोष के त्याग पर आश्रित है। अभिव्यंजनावाद गुण, अलंकार, दोष आदि को सर्वथा अप्रासंगिक तथा मिथ्या कल्पना मात्र मानता है। अभिव्यंजना अखण्ड है और गुण, अलंकार आदि में उसे खण्डित नहीं किया जा सकता। अपना सौंदर्य वह स्वयं अपने आप है—अलंकार आदि में उसे खण्डरूप में नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार रीति के समस्त तत्व अभिव्यंजनावाद के अनुसार व्यर्थ हो जाते हैं। और, रीतिवाद तथा अभिव्यंजनावाद का यह वैषम्य उनके साम्य से कम मौलिक नहीं है। वास्तव में इस वैषम्य का आधार और भी गहरा है: इन दोनों के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न हैं—रीतिवाद वस्तुपरक सिद्धान्त है अभिव्यंजनावाद शुद्ध आत्म-परक सिद्धांत है। दोनों कुछ क्षण के लिए एक स्थान पर पहुँच कर उक्ति के महत्व की घोषणा अवश्य कर देते हैं परन्तु मार्ग दोनों के सर्वथा भिन्न हैं।

यूरोप में आधुनिक काव्य-शास्त्र की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति का विकास मनोवैज्ञानिक आलोचना में हो रहा है। इस प्रवृत्ति में रीतिवाद का पूर्ण निषेध मिलता है। इस पद्धति के अनुसार कला अथवा काव्य का सर्वस्व है अर्थ जो मुख्यतः संवेदनात्मक तथा गौणतः धारणात्मक होता है, और, प्रत्येक संवेदना अथवा धारणा चेतन या अवचेतन मन की प्रक्रिया का परिणाम है। मन की यही प्रक्रिया इस पद्धति के लिए अन्तिम सत्य है शैली अथवा रीति की यहां कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। रीति के शब्द, अलंकार, वर्ण-गुम्फ आदि

सभी तत्व प्रतीक मात्र हैं—वे अपने में कुछ नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना शैली अथवा उसके उपकरणों के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करती।—नहीं, यहाँ भी भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, लय-आदि की विस्तार से चर्चा रहती है, परन्तु इनको स्वतन्त्र वस्तु रूप में ग्रहण न कर मानसिक प्रक्रिया के मूर्त प्रतीक रूप में ही माना जाता है। इंगलैंड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स के कतिपय उद्धरण इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं:

"वास्तव में शब्द या ध्वनि का प्रभाव जैसी कोई वस्तु नहीं होती। उसका अपना कोई एक प्रभाव नहीं होता। शब्दों के अपने कोई साहित्यिक गुण नहीं होते। कोई शब्द न कुरूप होते हैं और न सुन्दर—न अपने आप में अरुचिकर होते हैं और न रुचिकर। वरन् इसके विपरीत प्रत्येक शब्द के कतिपय सम्भाव्य प्रभाव होते हैं—और ये प्रभाव उन परिस्थितियों के अनुसार, जिनमें कोई शब्द ग्रहण किया जाता है, बदलते रहते हैं। + +

शब्द-ध्वनि अपना विशेष गुण उस मानसिक प्रक्रिया से प्राप्त करती है जो पहले से ही आरम्भ हो जाती है। यह पूर्ववर्ती मानसिक उद्वेलन कतिपय सम्भाव्य गुणों में से ऐसे विशेष गुण को चुन लेता है जो उसके सबसे अधिक अनुकूल पड़ता है। कोई स्वर अथवा वर्ण न विषण्ण होते हैं और प्रसन्न—और किन्हीं अवतरणों के प्रभाव का स्वर-व्यंजन-मैत्री द्वारा विश्लेषण करने वाले अनेक आलोचक केवल खिलवाड़ करते रहते हैं। किसी शब्द-ध्वनि के ग्रहण किये जाने की विधि पहले से ही उद्‌बुद्ध भाव के अनुसार बदलती रहती है[1]।"

"चित्र, मूर्ति, वास्तु और काव्य-कला सभी में ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहना चाहिए जो यह मानते हैं कि रूप-विधान अपने आप में कतिपय विशिष्ट एवं रहस्यमय गुणों से सम्पन्न होता है। प्रत्येक स्थिति में उसका प्रभाव उसके अन्तर्तत्वों से उद्‌बुद्ध प्रभावों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर ही (योग पर नहीं) आधृत रहता है[2]।"

देखिए—आई० ए० रिचर्ड्स का ग्रंथ प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म

१ पृ० १३६-३७ २ पृ० १३८

इसी प्रकार लय को रिचर्ड्स वर्ण-मैत्री का परिणाम न मानकर 'आशा, परितोष, निराशा तथा कुतूहल की प्रतिक्रियाओं की संयोजना मात्र मानते हैं[1]।'—वामन के रीतिवाद का यह आमूल निषेध है।

यूरोपीय काव्यशास्त्र में रीति-सिद्धान्त का यही संक्षिप्त इतिहास है।

यूरोप में, सार रूप में, शैली का तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है: व्यक्ति-वैशिष्ट्य[2] के रूप में, अभिव्यंजना-रीति[3] के रूप में, निरपेक्ष[4] रूप में—अर्थात् कला के पूर्ण उत्कर्ष के रूप में। व्यक्ति-वैशिष्ट्य के रूप में वह लेखक के व्यक्तित्व की ऐकान्तिक अभिव्यक्ति है—उसके रूप-विधान पर लेखक की छाप इतनी स्पष्ट रहती है कि कोई भी विज्ञ पाठक उसके विषय में भ्रान्ति नहीं कर सकता। शैली जैसे शैलीकार के नाम को पुकार कर कह देती है। इस अर्थ में शैली सर्वथा शुभाशंसा का ही विषय नहीं होती—शैलीकार के व्यक्तित्व के अनुरूप ही वह स्तुति और निन्दा दोनों का ही विषय हो सकती है। भारतीय रीतिशास्त्र में इस रूप को दण्डी आदि ने स्पष्ट शब्दों में मान्यता तो दी है, परन्तु उसका विवेचन नहीं किया। वास्तव में शैली का यह रूप इतना अधिक वैयक्तिक है कि इसकी वस्तु-परक विवेचना सम्भव ही नहीं है। इसकी केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है जो उस युग में भारतीय शास्त्रकार के लिए सम्भव नहीं थी। अभिव्यंजना की रीति के रूप में प्रायः वह भारतीय रीति का ही पर्याय है। उसके अन्तर्गत रचना-कौशल के सभी तत्त्व आ जाते हैं। इस अर्थ में रीति की स्थिति वस्तुगत है—और उसका शिक्षण तथा अभ्यास संभव है। यूनानी-रोमी रीतिशास्त्र में इसी का विवेचन है। तीसरा रूप शैली का निरपेक्ष रूप है—इस अर्थ में शैली विशेष और साधारण—वैयक्तिक और सार्वजनिक तत्त्वों का पूर्णतया समंजित रूप है। शैली का यही आदर्शरूप है। इसमें व्यक्ति-परक तथा वस्तु-परक दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय है। वामन के गुण-विवेचन में ऐसे अनेक संकेत हैं, जो इस बात का निर्देश करते हैं कि 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की स्थापना करते

---

१ पृ० १३८

देखिए— मिडिलटन मरी का निबन्ध : शैली की समस्या (दी प्रॉबलम ऑफ़ स्टाइल)।
२. पर्सनल इडियोसिनक्रेसी ३. टेक्नीक ऑफ़ एक्सप्रेशन ४. एबसोल्यूट।

समय वामन के मन में अव्यक्त रूप से यही धारणा वर्तमान थी : उनकी प्रतिभा को इसका आभास तो था, किन्तु युग की परिसीमाओं में आबद्ध अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण वे उसे सम्यक् रूप से व्यक्त नहीं कर पाये।

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त का विकास

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं हुआ। वास्तव में रीतिवाद को हिन्दी साहित्य में कभी मान्यता नहीं मिली। यह एक विषमता ही है कि स्वयं रीतिकाल का ही दृष्टिकोण सिद्धान्त रूप में रीतिवादी नहीं रहा—व्यवहार की बात हम नहीं करते। हिन्दी में कोई भी ऐसा कवि अथवा आचार्य नहीं हुआ जिसने रीति को काव्य की आत्मा माना हो। फिर भी रीति और उसके विभिन्न तत्वों—गुण, रचना (—अर्थात् वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-गुम्फ या समास), और अभावात्मक रूप में दोष आदि की उपेक्षा न काव्य में सम्भव है और न काव्यशास्त्र में, अतएव उनके प्रति हिन्दी साहित्य के भिन्न भिन्न युगों में कवियों तथा आचार्यों का अपना कोई न कोई निश्चित दृष्टिकोण रहा ही है और उनका यथाप्रसंग विवेचन भी किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम उसी की ऐतिहासिक समीक्षा करेंगे।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में एक ओर स्वयंभू आदि प्राचीन हिन्दी के कवियों की और दूसरी ओर चन्द आदि पिंगल के कवियों की कतिपय काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी पंक्तियां मिल जाती हैं। उनके आधार पर किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करना चाहे कठिन हो, किन्तु समग्र काव्य के अध्ययन के साथ साथ तो उनकी सहायता से उनके रचयिताओं के काव्यगत दृष्टिकोण के विषय में धारणा बनाई ही जा सकती है। उदाहरण के लिए स्वयंभू की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियां लीजिए :

अक्खर-वास जलोह मणोहर। सुयलंकार-छंद मच्छोहर।
दीह-समास-पवाहा वंकिय। सक्कय पायय-पुलिणालंकिय।

देसी-भाषा उभय तडुज्जल। कवि-दुक्कर घण-सद्द सिलायल।
अत्थ-बहल कल्लोला णिट्ठिय। आसा-सय-सम ऊह परिट्ठिय।

अर्थात् रामकथा-रूपी सरिता में अक्षर ही मनोहर जलौक हैं, सुन्दर अलंकार तथा छन्द मीन हैं, दीर्घ समास बंकिम प्रवाह हैं। संस्कृत-प्राकृत के पुलिन हैं—देशी भाषाएं दो उज्ज्वल तट हैं। कवियों के लिए दुष्कर सघन शब्दों के शिलातल हैं। अर्थ-बहुला कल्लोलें हैं शतशत आशाओं के समान तरंगे उठती हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में स्वयंभू ने स्वभावतः उन उपकरणों का उल्लेख किया है जिन्हे वे सत्काव्य के लिए आवश्यक समझते हैं: अक्षर-गुम्फ, अलंकार, छन्द, दीर्घ समास, संस्कृत-प्राकृत के शब्द, सघन शब्द-बंध, अर्थ-बाहुल्य आदि। इनमें से अक्षर-गुम्फ, दीर्घ समास, सघन शब्द-बंध आदि स्पष्टतः रीति के तत्व हैं। महाकाव्य की शैली स्वभाव से ही ओज-प्रधान होती है—अतएव उसके लिए गौड़ीया रीति के तत्व प्रायः अनुकूल पड़ते हैं। इस प्रकार स्वयंभू रीति को काव्य का आवश्यक अंग मानते हैं। परन्तु वैसे उनका दृष्टिकोण निस्संदेह रसवादी ही है—वे तुलसीदास के साहित्यिक पूर्वज हैं।

चन्द आदि कवि भी रसवादी ही थे।—शास्त्रविद् होने के कारण काव्य के शास्त्रीय तत्वों—का रीति, गुण, अलंकार, आदि का—उनके काव्य में यथावत् सन्निवेश है, परन्तु रीतिवाद से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। विद्यापति में रसवाद अपनी चरम सीमा पर है—परतु उनको अपनी काव्य-भाषा पर भी कम अभिमान नहीं था: बालचन्द के समान उनकी भाषा में नागर-मन को मुग्ध करने की अद्भुत शक्ति थी। इसी प्रसंग में उन्होंने काव्य-भाषा के विषय में एक बार फिर अपने विचार का संकेत दिया है:

सक्कय बांणी बुहयन भावई, पाउअ रस को मम्म न पावई।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैंसन जम्पओं अवहट्ठा।
(कीर्तिलता)

संस्कृत केवल विद्वानों को ही रुचिकर हो सकती है, प्राकृत रस का मर्म नहीं पाती। देशी वाणी सभी को मीठी लगती है, इसलिए मैं अवहट्ठ भाषा में

काव्य रचना करता हूँ। अतएव विद्यापति के मत से काव्य-भाषा के दो मूल गुण हैं नागरता (अग्राम्यत्व) और माधुर्य। ये दोनों पांचाली के आधार-भूत गुण हैं। इस प्रकार विद्यापति अपने संदेह रस के अनुसार पांचाली रीति का स्तवन करते हैं।

निर्गुण भक्ति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कबीर आदि ज्ञानमार्गी कवियों का तो रीति से कोई सम्बन्ध ही नहीं था—उनके काव्य में विशिष्ट पदरचना के लिए अवकाश ही नहीं था। इन कवियों की अपेक्षा प्रेममार्गी कवियों का लगाव काव्यांगों से थोड़ा अधिक था यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में उनकी भी कोई विशेष गति नहीं थी। स्वभावतः उनके काव्य में भी सैद्धान्तिक विवेचन कहीं नहीं मिलता—परन्तु उनके अध्ययन से इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि वे सब रस-ध्वनिवाद के अन्तर्गत ही आते हैं—रहस्यवाद जिसमें व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त या अर्धव्यक्त के प्रति प्रणय-निवेदन है—जिसके रहस्य संकेतों के लिए सांकेतिक भाषा का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है—शास्त्रीय शब्दावली में में रसध्वनि के अन्तर्गत ही आता है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रेममार्गी काव्यों में रीति, गुण, अलंकार आदि की उपेक्षा नहीं हुई—जायसी, उसमान आदि की पद-रचना में गुणसम्पदा यथास्थान वर्तमान है, परन्तु उनका रीतिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था। रीति का प्रयोग अनायास ही रस के आग्रह से हो गया है—उसे महत्व नहीं दिया गया।

सगुण भक्तों में कृष्णकाव्य के रचयिताओं ने काव्य के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों पक्षों को समुचित महत्व दिया है। सूर की कला-समृद्धि और नन्ददास की पद-रचना का जड़ाव हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध है। मूलतः रसवादी होते हुए भी ये कवि पद-रचना के सौदर्न्य के प्रति अत्यन्त सचेष्ट थे—नन्ददास को जड़िया की उपाधि देकर हिन्दी साहित्य की परम्परा उनके पद-रचना-वैशिष्ट्य का ही गुण-गान करती रही है, और इसमें संदेह नहीं कि नन्ददास हितहरिवंश आदि कवियों में रीति की जितनी प्रभूत गुण-सम्पदा मिलती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। फिर भी ये कवि रीतिवादी नहीं थे।—यही बात तुलसी आदि रामभक्त कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। तुलसी का शास्त्र से घनिष्ठ परिचय था। स्वान्तः सुखाय भक्ति-साधन-रूप होते हुए भी तुलसी का काव्य शास्त्रीय काव्य है। नन्ददास, हितहरिवंश आदि की भाँति तुलसीदास भी अपने रचना-कौशल के प्रति सचेष्ट हैं।

तुलसी के काव्य में, व्यवहार-रूप में तो, रीति तथा उसके तत्वों का सम्यक् सन्निवेश है ही—एकाध स्थान पर सैद्धान्तिक उल्लेख भी है :

कवित-रीति नहिं जानौं, कवि न कहावौं।

यहां रीति शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में हुआ है—मार्ग, अथवा कवि-प्रस्थान-हेतु के रूप में अथवा और भी व्यापक अर्थ में—जैसा कि हिन्दी काव्यशास्त्र में हुआ है। इस प्रकार यहां कवित-रीति का अर्थ काव्य-कला का ही है : विशिष्ट पद-रचना का नहीं है। रामचरितमानस की भूमिका में 'सकल कला, सब विद्या हीनू' कह कर तुलसीदास ने इसी अर्थ की पुष्टि की है। काव्य-कला के उपकरण हैं :

आखर अरथ अलंकृत नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना।
भाव-भेद रस-भेद अपारा। कवित-दोष-गुन विविध प्रकारा॥

अर्थात् वर्ण, अर्थ, अलंकार, छंद, प्रबन्ध-विधान (वस्तु-विधान) रस, भाव तथा गुण, और भावात्मक रूप से दोष। इनमें से गुण तथा वर्ण-योजना रीति के तत्व हैं। पद-रचना अथवा शब्द-गुम्फ के महत्व की ओर भी तुलसी ने इसी प्रसंग में एक स्थान पर संकेत किया है : जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग—यहां पोहना अथवा पिरोना शब्द का प्रयोग गुम्फन-कला—पदरचना की ओर सूक्ष्म संकेत करता है। इस प्रकार तुलसीदास रीति और उसके तत्वों के महत्व को निस्संदेह ही स्वीकार करते हैं, परन्तु फिर भी उन्हें राम (रस) के अधीनस्थ ही मानते हैं, स्वतंत्र नहीं। काव्य का सम्पूर्ण चमत्कार राम-रस के बिना व्यर्थ है :

भनिति विचित्र सुकवि-कृत जोऊ। राम-नाम बिनु सोह न सोऊ।

और, आगे चलकर तो तुलसी ने काव्य-तत्वों के पारस्परिक महत्व को प्रायः स्पष्ट ही कर दिया है :

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।
धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर से बहु भाँति।

अर्थ, भाव, आदि को उन्होंने जहां पराग और मकरंद के सदृश माना है वहाँ ध्वनि, वक्रता गुण आदि को मीन कहा है। यद्यपि इस प्रकार के उल्लेख केवल संकेत मात्र हैं और उनमें यथातथ्य सिद्धान्त-निरूपण ढूंढ़ना उचित नहीं होगा, तथापि उनसे कवि के दृष्टिकोण का आभास अवश्य मिल जाता है।

तुलसी के उपरांत तो एक प्रकार से रीतिकाव्य का ही आरम्भ हो जाता है—जिसमें काव्य के अंग-उपांगों का विवेचन सिद्धान्त रूप से किया गया है । जैसा कि मैंने आरम्भ में संकेत किया है रीतिकाल में भी रसवाद का ही बोल बाला रहा । रीतिवाद की पुनर्प्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही नहीं उठा—रीति तथा उसके तत्वों का विवेचन भी प्रायः उपेक्षित ही रहा क्योंकि केवल छः-सात आचार्यों को छोड़ कर अन्य रीति कवियों ने इस प्रसंग का स्पर्श ही नहीं किया ।

१. केशवदास

केशवदास रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य हैं । उन्हें पूर्व-ध्वनि अलंकारवादी परम्परा और उत्तर-ध्वनि शृंगारवादी परम्परा—दोनों को—हिन्दी में अवतरित करने का श्रेय प्राप्त है । उन्होंने कविप्रिया में अलंकार और दोष तथा रसिकाप्रिया में मूलतः रस का वर्णन किया है । रीति का वर्णन तो उन्होंने नहीं किया—किन्तु रीति की सहधर्मा रसवृत्तियों का उल्लेख रसिकप्रिया के अंत में अवश्य मिलता है ।

बाँधहु वृत्ति कवित्त की, कहि केशव विधि चारि ।

१४।४२

ये चार वृत्तियां हैं—कैशिकी, भारती, आरभटी और सात्वती ।

अथ कैशकी लक्षण—

कहिये केशवदास जहँ, करुण हास शृंगार ।
सरल वरण शुभ भाव जहँ, सो कैशिकी विचार ।

अथ भारती लक्षण—

वरणे जामैं वीर रस, अरु अद्भुत रस हास ।
कहि केशव शुभ अर्थ जहँ, सो भारती प्रकास ।।

आरभटी—

केशव जामैं रुद्र रस, भय बीभत्सक जान ।
आरभटी आरम्भ यह, पद पद जमक बखान ।

सात्वती—

> अद्भुत वीर शृंगार रस, सम रस वरणि समान।
> सुनतहि समुझत भाव जिहिं, सो सात्विकी सुजान।

वास्तव में उपर्युक्त वृत्तियां मूलतः नाट्य वृत्तियां ही हैं काव्य में इनका प्रयोग सामान्यतः नहीं होता। इनका सम्बन्ध वाणी के अतिरिक्त कायिक और मानसिक चेष्टाओं से भी है : कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण-वृत्तयः॥ (अभिनव)

केशव ने भरत के आधार पर रस के प्रसंग में वृत्तियों का भी वर्णन चलते चलते कर दिया है। परन्तु केशव के वृत्ति-वर्णन में शास्त्रीय वर्णन से कुछ भिन्नता है—वास्तव में आरभटी को छोड़ शेष सभी के लक्षण भरत से भिन्न हैं। कैशिकी में भरत केवल शृंगार और हास्य का विधान मानते हैं, किन्तु केशव ने उसमें करुण भी जोड़ दिया है। भारती में भरत ने करुण और अद्भुत का विधान किया है, किन्तु केशव ने करुण के स्थान पर वीर और हास्य को भी भारती के आश्रयभूत रसों में मान लिया है। सात्वती जहां सत्व से उद्भूत 'वीररौद्राद्भुताश्रया' है, वहां केशव की सात्वती (सात्विकी ?) में रौद्र के स्थान पर शृंगार का विधान है और उसमें समरसता का गुण माना गया है। किन्तु टीकाकार सरदार कवि ने 'अद्भुत रुद्रोवीर रस' पाठ का भी उल्लेख किया है जो भरत के मतानुकूल है। केशव के सात्वती लक्षण में एक और भी विशेषता का उल्लेख है : सुनतहि समुझत भाव जिहिं—अर्थात् प्रसाद गुण। केशव का विवेचन अधिक शास्त्र-सम्मत नहीं है—रसिकप्रिया में नाट्यवृत्तियों का वर्णन करने की संगति भी कुछ नहीं बैठती। वास्तव में केशव की वृत्ति, जैसा कि डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है, रस-वर्णन शैली जान पड़ती है, और कैशिकी तथा सात्वती के लक्षणों में 'सरल वरण' 'पद पद जमक बखान', और 'सुनतहि समुझत भाव जिहिं'—जैसे वाक्यांशों से इस मत की पुष्टि हो जाती है।

इस प्रकार केशव की वृत्तियां नाट्यवृत्तियों की अपेक्षा रीतियों के ही अधिक निकट हैं। उनमें अर्थ-गुण और शब्द-गुण दोनों का सामंजस्य है। सरलवर्णा तथा शृंगारकरुणहासाश्रया कैशिकी पांचाली के समकक्ष है, यमकादि के प्राचुर्य से गाढ़बन्धा तथा रौद्रभयानकवीभत्स रसों की आश्रिता आर-

भटी गौड़ीया के, और यदि रसिकप्रिया का स्वीकृत पाठ ही शुद्ध है (?) तो, समरस सात्वती सर्वरस-साधारण वैदर्भी के समकक्ष है।

सेनापति के लक्षणग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु उनके कवित्तरत्नाकर में कुछ पंक्तियां ऐसी मिल जाती हैं जो उनकी रीति-सम्बन्धी धारणा की ओर थोड़ा-सा संकेत करती हैं :

१. दोष सो मलीन गुनहीन कबिताई है तो,
 कीने अरबीन परबीन कोई सुनि है।
२. राम अरचतु सेनापति चरचतु दोऊ,
 कवित रचतु याते पद चुनि चुनि है।
३. अच्छर हैं विसद करत ऊखैं आपुस में,
 जाते जगती की जड़ताऊ बिनसति है।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सेनापति (१) दोष से मलिन तथा गुणहीन काव्य को सर्वथा निरर्थक प्रयास मानते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि सत्काव्य के लिए दोष का त्याग और गुण का ग्रहण अनिवार्य है। वामन ने रीति की परिभाषा में यही कहा है। (२) चुनचुन कर पद-रचना करना जिसमें (३) अक्षर आपस में स्पर्द्धा करते हों—विशिष्टा पदरचना की ही व्याख्या है। इस प्रकार सेनापति निश्चय ही रीति का महत्व स्वीकार करते हैं।

२. चिंतामणि

सेनापति के उपरांत तो चिंतामणि के आविर्भाव के साथ-साथ रीतिकाव्य की अखण्ड धारा प्रवाहित हो जाती है। चिंतामणि ने अपने कविकुलकल्पतरु में रीति और उसके तत्वों का विवेचन किया है। उन्होंने काव्य-पुरुष का रूपक बाँधते हुए विभिन्न काव्यांगों का स्थान निर्धारित किया है।

सबद अर्थ तनु जानिये, जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि ते उपमादिक मन आनि॥
श्लेषादिक गुन सूरतादिक से मानो चित्त।
बरनौ रीति सुभाव ज्यों, वृत्ति वृत्ति-सी मित्त॥

अर्थात् चिंतामणि के अनुसार शब्द अर्थ काव्य का शरीर है रस प्राण है, अलंकार आभूषण हैं, गुण शौर्यादि गुणों के समान हैं, रीति काव्य का स्वभाव है, और वृत्ति काव्य-पुरुष की वृत्ति के समान है।—इस प्रकार :

(१) वे रीति को काव्य का स्वभाव मानते हैं।

(२) और, रीति तथा वृत्ति में कदाचित् अंतर मानते हैं—यद्यपि यह अंतर अत्यन्त सूक्ष्म है जितना कि मनुष्य के स्वभाव और उसकी वृत्ति में।

इस स्थल पर कुछ प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं। रीति को काव्य का स्वभाव मानने का क्या अर्थ है? भारतीय काव्यशास्त्र का अध्येता इस पर चौंक सकता है क्योंकि शास्त्र में रीति को आत्मा, अंग-संस्थान आदि तो माना गया है परन्तु स्वभाव प्रायः कहीं नहीं माना गया। स्वभाव का प्रयोग चिंतामणि ने किसके आधार पर किया है? इससे उनका अभिप्राय क्या है? और, स्वभाव तथा वृत्ति में क्या अन्तर है?

संस्कृत काव्यशास्त्र में केवल विद्यानाथ तथा अर्कसूरि ने रीति को काव्य का स्वभाव माना है। विद्यानाथ ने उसे काव्य का आत्मोत्कर्षावहस्वभाव कहा है और अर्कसूरि का अभिमत है :—स्वभावैरिव रीतिभिः।

चिंतामणि ने प्रचलित काव्य-ग्रन्थों को छोड़ विद्यानाथ का प्रतापरुद्र-यशोभूषण तथा अर्कसूरि की अप्रकाशित कृति साहित्य-कौमुदी का अध्ययन किया था या नहीं और यदि किया भी था तो मान्य मतों को छोड़ इस अप्रचलित मत का ग्रहण क्यों किया, यह विचारणीय है। चिंतामणि अधीत कवि थे, इसमें सन्देह नहीं है। उनके कविकुलकल्पतरु से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यादर्श, आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों का भी यथावत् अध्ययन किया था। यह किसी प्रकार भी असम्भाव्य नहीं है कि प्रतापरुद्रयशोभूषण भी उन्होंने देखा हो और उसके मत को अपनी धारणा के अनुकूल पाकर उद्धृत कर लिया हो। परन्तु मूल प्रश्न तो अब भी रह जाता है : स्वभाव से क्या तात्पर्य है? कुंतक ने मार्ग अथवा रीति का कवि-स्वभाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध माना है 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।' स्वभाव तीन प्रकार के होते हैं सुकुमार, विचित्र और मध्यम—अतएव काव्य-मार्ग भी इन्हीं के अनुसार तीन ही हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम। जैसा कवि का स्वभाव होगा, वैसी ही उसकी रीति होगी। हमारा अनुमान है कि चिंतामणि ने कुन्तक का आधार ही अधिक ग्रहण किया है और

उन्हीं के अनुसरण पर रीति को काव्य का स्वभाव मान लिया है : जिस प्रकार स्वभाव आत्मा की अभिव्यक्ति का प्रकार है, इसी प्रकार रीति भी रस की अभिव्यक्ति का प्रकार है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चिंतामणि रीति को अंग-संस्थान की भाँति बाह्य तत्व न मानकर काव्य का आंतरिक तत्व मानते हैं—उनके मत से रीति का काव्य के साथ आंतरिक सम्बन्ध है।

अब दूसरा प्रश्न रह जाता है : स्वभाव और वृत्ति के भेद से चिंतामणि रीति और वृत्ति में क्या भेद मानते हैं? स्वभाव और वृत्ति का भेद वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म है—स्वभाव अपेक्षाकृत व्यापक है वृत्ति स्वभाव का एक रूप है : स्वभाव का अर्थ है प्रकृति, वृत्ति का अर्थ है व्यवहार : व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। व्यक्ति के सहज मौलिक गुणों का समन्वित रूप है प्रकृति या स्वभाव और उसके व्यवहार या प्रवर्तन का ढंग है वृत्ति या प्रवृत्ति। इस प्रकार दोनों में सूक्ष्म भेद यह है कि स्वभाव अधिक मूलगत और व्यापक है, वृत्ति अपेक्षाकृत बाह्य है और उसकी परिधि भी संकुचित है। यही अन्तर रीति और वृत्ति में भी है—रीति अधिक व्यापक है, उसमें अर्थ और शब्द दोनों का सामरस्य रहता है, वृत्ति का आधार मूलतः वर्ण-ध्वनि है। दोनों ही रस की अभिव्यक्ति करती हैं परन्तु रीति का सम्बन्ध रस के साथ अधिक घनिष्ठ और आन्तरिक है, वृत्ति का अपेक्षाकृत बाह्य है। और, यह मत प्रायः ठीक ही है।

परन्तु इस अन्तर का निर्वाह नहीं हो पाया। चिंतामणि ने मम्मट के अनुसार वृत्तियों का वर्णन वृत्यनुप्रास के भेदों के रूप में किया है :

> माधुर्यो विंजक वरन उपनागरिका होइ।
> मिलि प्रसाद पुनि कोमला परुषा वोज समोइ॥

यहीं मम्मट के ही अनुसरण पर चिंतामणि यह भी मान लेते हैं कि इन वृत्तियों को कुछ आचार्य (वामन आदि) वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली रीतियों के नाम से अभिहित करते हैं। यह मत पूर्वोक्त भेद-प्रदर्शन के प्रतिकूल प्रतीत होता है और मन में एक बार फिर यह प्रश्न उठता है कि चिंतामणि रीति और वृत्ति में भेद मानते भी थे या नहीं। चिंतामणि का विवेचन मम्मट पर अत्यधिक आश्रित है और प्रायः यही धारणा होती है कि इस प्रसंग में भी मम्मट का अनुसरण करते हुए उन्होंने वामनीया रीतियों को वृत्तियों का ही नामान्तर माना है। परन्तु फिर उपर्युक्त दोहे में रीति को काव्य का स्वभाव

और वृत्ति को काव्य की वृत्ति मानने से क्या अभिप्राय है? इस द्विविधा का निराकरण यही हो सकता है कि चिंतामणि मूलतः तो काव्य के इन दो रूपों का पृथक अस्तित्व मान कर चले हैं, परन्तु दोनों में अन्तर इतना सूक्ष्म है और मम्मट का प्रभाव उन पर इतना गहरा है कि अन्त में इन्हें यदि कोई एक भी मानता है तो उन्हें विशेष आपत्ति नहीं होती। वास्तव में कविकुल-कल्पतरु के प्रारम्भिक सिद्धान्त-विवेचन में चिंतामणि का अपना अभिमत अधिक व्यक्त हुआ है—उन्होंने अपने मत से काव्य के सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण वहीं किया है।

यहां आधुनिक काव्य-शास्त्र के अध्येता के मन में दो शंकाएं उठ सकती हैं: (१) कोमला को प्रसादगुण-विशिष्ट मानना कहां तक उचित है? (२) उपनागरिका, परुषा और कोमला को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली का पर्याय मानने में क्या संगति है? परन्तु इन शंकाओं का सम्बन्ध चिंतामणि के विवेचन से न होकर उसके आधार-ग्रंथ काव्य-प्रकाश से ही है। मम्मट ने उपनागरिका में माधुर्यव्यंजक शब्दों की स्थिति मानते हुए माधुर्य-गुण और उपनागरिका का नित्य सम्बन्ध माना है। इसी प्रकार परुषा में ओजोव्यंजक वर्णों का आधार मान कर परुषा और ओज का मौलिक सम्बन्ध माना गया है। कोमला के विषय में मम्मट का सूत्र है "कोमला परैः"। 'पर' का अर्थ है माधुर्य और ओजोव्यंजक वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्ण। मम्मट केवल इतना ही कहते हैं—किन्तु उनके टीकाकार गोविन्द ठक्कुर और वामनाचार्य आदि स्पष्ट ही 'परैः' का अर्थ कर देते हैं "ओजोमाधुर्यव्यंजकातिरिक्तैः प्रसादवद्भिरपरैः (काव्यप्रदीप)—अर्थात् प्रसादव्यंजक वर्णों के द्वारा।" और इस प्रकार कोमला का प्रसाद के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। क्या मम्मट का आशय यही था—यह कहना कठिन है, परन्तु उनके टीकाकार सभी दिग्गज विद्वान थे, अतएव यह मानना भी उतना ही कठिन है कि इन्होंने ही भूल की है। फिर भी प्रश्न औचित्य का है। क्या प्रसाद को कतिपय वर्णों और किसी एक वृत्ति में परिसीमित किया जा सकता है? स्वयं मम्मट का स्पष्ट कथन है:

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥

(का० प्र० ८।७६)

अतएव प्रसाद को तो वास्तव में 'सर्व-गुण-साधारण', 'सर्व-संघटना-साधारण' ही माना गया है—उसे न तो किसी विशिष्ट रस, न किसी विशिष्ट वर्ण-योजना और न किसी विशिष्ट संघटना या वृत्ति तक परिसीमित माना गया है।

मम्मट कहते हैं : + + + प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।
+ + सर्वत्रेति। सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च ।
(काव्यप्रकाश ८।७१)

उपर्युक्त उक्तियों की 'कोमला और प्रसाद के नित्य सम्बन्ध से' किस प्रकार संगति बैठती है, यह विचारणीय है।

मम्मट इस शंका का समाधान कैसे करते यह कहना आज कठिन है। इसका एक समाधान हमारी समझ में यही आता है कि मम्मट प्रसाद को सर्व-वृत्ति-साधारण गुण मानते हैं जो उपनागरिका तथा गौड़ी दोनों में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहता है। इन दोनों वृत्तियों में इस सामान्य गुण के साथ साथ एक विशिष्ट गुण और भी होता है—यही इनकी विशेषता है। किन्तु कोमला में विशिष्ट गुण कोई नहीं रहता—केवल साधारण गुण प्रसाद ही रहता है। इस प्रकार वह पाश्चात्य रीतिशास्त्र की सरल (प्रसन्न) शैली की पर्याय प्रतीत होती है। प्रसाद गुण उसमें परिसीमित नहीं है—वरन् वह ही प्रसाद गुण तक परिसीमित है।—यह हमने अपने मन की शंका का समाधान किया है, मम्मट का रहस्य मम्मट के विशेषज्ञ जानें।

दूसरी शंका इसी से सम्बद्ध यह है कि वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली को उपनागरिका, परुषा और कोमला का पर्याय मम्मट ने किस तरह मान लिया है। जब उपनागरिका केवल माधुर्य के आश्रित है तो वह समग्रगुण-भूषिता वैदर्भी की पर्याय कैसे हो सकती है? इसी प्रकार सौकुमार्य और माधुर्य पर आश्रित पांचाली की समतुल्य प्रसादगुण विशिष्ट कोमला को कैसे माना जा सकता है? वास्तव में यदि संगति ही बैठानी है तो यह क्रम इस प्रकार होना चाहिए :

वैदर्भी रीति —	समग्र गुण	— उपनागरिका (प्रौढ़ा = रुद्रट) वृत्ति
गौड़ी रीति —	ओज गुण	— परुषा वृत्ति
पांचाली रीति—	माधुर्य गुण	— कोमला वृत्ति

परन्तु यह चिंतामणि का दोष नहीं है—वे तो अनुवादक मात्र हैं : अनुवादको न दुष्यते । वास्तव में उपर्युक्त असंगति संस्कृत काव्यशास्त्र में मम्मट के भी पहले से चली आ रही है, और उसका कारण कदाचित् यह है कि लक्षणों में वैदर्भी को समग्रगुण-सम्पन्न मानते हुए भी आरम्भिक प्रायः सभी आचार्यों ने व्यवहार में उसके माधुर्य आदि गुणों का ही यशोगान अधिक किया है।

कविकुलकल्पतरु में गुण की विस्तार के साथ चर्चा है । चिंतामणि मम्मट आदि के अनुसार केवल तीन गुणों की ही सत्ता मानते हैं—शेष गुण उन्हीं में अंतर्भूत हो जाते हैं ।

प्रथम कहत माधुर्य, पुनि ओज प्रसाद बखानि।
त्रिविधै गुन तिनमैं सबै सुकवि लेत मनमानि ॥

इनमें माधुर्य चित्त की द्रुति, और ओज दीप्ति का कारण है । प्रसाद गुण वहां होता है जहां अक्षरों में अर्थ इस प्रकार व्यक्त रहता है जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि, या स्वच्छ जल में जल का गुण तरलता । माधुर्य गुण संयोग शृंगार, विप्रलंभ, करुण और शान्त में रहता है : संयोग की अपेक्षा विप्रलंभ, करुण और शांत में उसका उत्कर्ष और भी अधिक होता है । इसी माधुर्य को चिंतामणि कवित्व का मूल तत्व मानते हैं :

सो माधुर्य बखानिये यहई तत्व कवित्त ।

मूल गुण ये ही तीन हैं । (दण्डी, वामन आदि) प्राचीनों ने दश गुण माने हैं जो वैदर्भी रीति के प्राण हैं । परन्तु चिंतामणि मम्मट के आधार पर यही मानते हैं कि शेष सात गुणों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है :

चिंतामणि ने इस प्रसंग में वामन के आधार पर प्रायः उन्हीं के लक्षण और कहीं कहीं उनके उदाहरण भी देकर दश शब्द-गुणों और दश अर्थ-गुणों का सविस्तार वर्णन करते हुए अंत में मम्मट की युक्तियों के द्वारा उन्हें कहीं दोषाभाव, कहीं अलंकार कहीं दोष और कहीं अन्य गुणों के रूपान्तर मात्र सिद्ध किया है । वास्तव में हिन्दी रीतिशास्त्र में गुण का इतना सांगोपांग-वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता—चिंतामणि ने वामन और मम्मट दोनों के गुण-विवेचन का हिन्दी में सम्यक् अवतरण करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है ।

हमारी धारणा है कि उनके अतिरिक्त वामन के गुण-विवेचन का प्रभाव हिन्दी के कदाचित् एकाध ही रीतिकार ने ग्रहण किया है।

उपर्युक्त विवेचन मौलिक नहीं है, इसे मम्मट के काव्यप्रकाश से प्रायः अनूदित ही समझना चाहिए। इसमें केवल एक नवीनता दृष्टिगत होती हैं: वह यह कि चिंतामणि ने माधुर्य को कविता का प्राण-तत्व माना है। मम्मट आदि का ऐसा मत नहीं है। इस अभिमत के लिए तो शृंगार आदि मधुर रसों के प्रति चिंतामणि का सहज आग्रह ही उत्तरदायी है।

४-कुलपति

चिंतामणि के उपरांत दूसरे प्रसिद्ध आचार्य हुए कुलपति मिश्र—उन्होंने रीति का स्वतन्त्र विवेचन न कर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रस-रहस्य के छठे वृत्तान्त में रीति के मूल तत्व गुण का वर्णन किया है और सातवें में रीति की पर्याय वृत्तियों का। चिंतामणि की भाँति इनका आधार भी काव्यप्रकाश ही है, अपने गुण-लक्षण में कुलपति ने मम्मट का अक्षरशः अनुवाद मात्र करके रख दिया है:

जो प्रधान रस धर्म को, निपट बड़ाई हेत।
सो गुन कहिये अचल छित, सुख कौ परम निकेत॥

(रस रहस्य)

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादया इवात्मना।
उत्कर्ष-हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

(का० प्र०)

बीस गुणों में से इन्होंने भी तीन की ही सत्ता मानी हैं:—

तीन गुणन ही बीस गुण, मधुररु ओज प्रसाद।
अधिक सुखद लखिये नहीं, बरनैं कौन सवाद॥

कुछ का इन तीनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, कुछ दोषाभाव मात्र हैं और कुछ दोषरूप ही हैं:

कछूक इनहीं करि गहै, कछूक दोष बियोग।
कछुक दोष ताको भजत, यों गुण बीस न जोग॥

प्राचीन कवि बीस गुणन को कहते हैं, वे इनसे न्यारे नहीं हैं ।

(र० र०)

अतएव कुलपति ने केवल तीन गुणों के ही लक्षण किये हैं। इन गुणों के माध्यम हैं वर्ण, समास और रचना। सामान्यत: ये गुणों पर ही आश्रित हैं, किन्तु इन पर वक्ता, अर्थ (वाच्य) और प्रबन्ध का भी नियंत्रण रहता है : वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के विपर्यय से इनका रूप उलटा हो जाता है :

यद्यपि गुन सब हैं तऊ रचना बरन समास ।
वक्ता अर्थ प्रबन्ध वश, उलटे होंहि विलास ॥

इसके आगे गुण और अलंकार का भेद है :

होय बड़ाई दुहुन तें, विरस करैं नहिं कोय ।
अलंकार अरु गुनन तें, भेद कौन विधि होय ?
रसहि बढ़ावै, होय जहँ कबहुँक अंग निवास ।
अनुप्रास उपमादि दै, अलंकार सुप्रकाश ॥

दोनों रस के उपकारक हैं—तब दोनों में भेद क्या है? भेद यह है कि अनुप्रास उपमादि अलंकार अंग में निवास करते हुए ही (अंगद्वारेण—मम्मट) रस का कभी कभी उत्कर्ष करते हैं। अर्थात् अलंकार शब्द-अर्थ का पहले उत्कर्ष करता हुआ फिर रस का उत्कर्ष करता है—और वह भी कभी कभी । किन्तु गुण सदा ही रस का उत्कर्ष करता है । और स्पष्ट शब्दों में गुण का रस के साथ नित्य सम्बन्ध है, अलंकार का अनित्य । कुलपति का आशय यही है—पर वे उसे पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पाये। उनका उपर्युक्त दोहा मम्मट का असमर्थ अनुवाद मात्र होकर रह गया है।

कुलपति ने वृत्तियों का वर्णन भी मम्मट और चिंतामणि की भाँति वृत्यनुप्रास के अंतर्गत ही किया है :

उपनागरिका मधुर गुन-व्यंजक वरनन होय ।
ओज-प्रकाशक वरन तैं, परुष कहिये सोय ॥
वरन प्रकाश प्रसाद को, करैं कोमला सोय ।
तीन वृत्ति गुण भेद तें, कहैं बड़े कवि लोय ॥

यहां भी चिंतामणि की भाँति कोमला और प्रसाद गुण का सम्बन्ध माना गया है, और अंत में इन तीनों वृत्तियों को रीतियों के साथ एकरूप कर दिया गया है :

वैदर्भी गौड़ी कहत, पुनि पांचाली जानि।
इनहीं सों कोऊ कवी, बरनत रीति बखानि ॥

५· देव

देव का रीति-गुण-वर्णन सम्मट की परम्परा से बहुत कुछ भिन्न है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों का आधार अधिक लिया है। रीति-गुण का विवेचन देव ने काव्यरसायन में किया है। रीतियों को उन्होंने काव्य का द्वार मानते हुए, रस से उनका अभिन्न सम्बन्ध माना है—

तातें पहिले बनिए काव्य-द्वार रस-रीति।

काव्य-पुरुष के रूपक में रीति की समता अंग-संस्थान से की गई है। देव का द्वार से तात्पर्य है माध्यम। इस प्रकार इस विषय में देव का मत रस-ध्वनिवादी आचार्यों के मत से लगभग मिल ही जाता है क्योंकि शरीर भी तो आत्मा की बाह्य अभिव्यक्ति का माध्यम ही है। परन्तु एक बात बड़ी विचित्र मिलती है : वह यह कि उन्होंने रीति और गुण को एक कर दिया है—या यों कहिए कि रीति शब्द का सर्वत्र गुण के स्थान पर प्रयोग किया है। संस्कृत और हिन्दी के भी—आचार्यों ने वैदर्भी, गौड़ी, आदि को रीति कहा है, और प्रसाद, ओज, आदि को गुण। यह ठीक है कि गुण रीति की आत्मा है और रीतियों का वर्गीकरण गुणों के ही आधार पर हुआ है—परन्तु इन दोनों का एकीकरण किसी ने नहीं किया। देव ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली का उल्लेख तक न कर प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि का ही रीति नाम से वर्णन किया है। यह मानना तो निरर्थक होगा कि देव को इन दोनों के विषय में कोई भ्रांति थी। वास्तविकता यही है कि उन्होंने जानबूझ कर ऐसा किया है। परन्तु कारण कुछ भी हो यह एकीकरण संगत किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि रीति गुण की अपेक्षा अधिक व्यापक है—एक रीति के अन्तर्गत अनेक गुणों का समावेश हो जाता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में, जैसा कि मैंने आरम्भ में स्पष्ट किया है, रीति और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तीन मत हैं: आनन्दवर्धन आदि आचार्य रीति को गुणाश्रित मानते हैं, उद्भट आदि गुण को रीति-आश्रित मानते हैं, और वामन इन दोनों को प्रायः अभिन्न ही मानते हैं। वामन का मत है कि विशिष्ट पदरचना का नाम रीति है और यह विशिष्टता गुणात्मक है। इस प्रकार रीति का स्वरूप गुणात्मक है। परन्तु तत्व रूप में दोनों का ऐकात्म्य मानते हुए भी वामन ने व्यवहार रूप में दोनों की पृथक सत्ता मानी है: वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली रीतियाँ है—श्लेष, प्रसाद, समता, आदि गुण हैं। गुण इन रीतियों के प्राण हैं—इनका वैशिष्ट्य सर्वथा गुणात्मक है, किन्तु फिर भी दोनों की सत्ता अलग ही है।

भरत ने दश गुण माने हैं:—१. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. सौकुमार्य, ८. अर्थव्यक्ति, ९. उदारता, १०. कांति। भरत के उपरान्त दण्डी और वामन दोनों ने लक्षणों में परिवर्तन-परिशोधन करते हुए इनको ही स्वीकार किया है—दण्डी और वामन ही एक प्रकार से रीति-गुण सम्प्रदाय के अधिनायक हैं। परन्तु आगे चलकर ध्वनिकार ने गुणों की संख्या दस से घटाकर तीन करदी—उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद में ही शेष सात गुणों का अंतर्भाव कर दिया।—मम्मट आदि ने भी इन्हीं को स्वीकृति दी और तब से प्रायः ये तीन गुण ही प्रचलित रहे हैं। परन्तु देव ने इस विषय में पूर्व-ध्वनि परम्परा का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त दस गुणों (रीतियों) को ग्रहण किया है—वरन् उन्होंने तो अनुप्रास और यमक को भी गुणों (रीतियों) के अन्तर्गत मानते हुए उनकी संख्या बारह तक पहुंचा दी है। यमक और अनुप्रास को रीति (गुण) मानना साधारतः असंगत है क्योंकि गुण काव्य की आत्मा का धर्म है, दूसरे शब्दों में काव्य का स्थायी धर्म है, इसके विपरीत यमक और अनुप्रास रस के आंतरिक तत्व न होने से काव्य के अस्थायी धर्म ही रहेंगे। परन्तु देव की इस स्थापना से एक महत्वपूर्ण संकेत अवश्य मिलता है: वह यह कि पण्डितराज जगन्नाथ की भाँति वे गुणों की स्थिति अर्थ के साथ-साथ वर्णों में भी मानते हैं। उपर्युक्त दस गुणों के विवेचन में उन्होंने भरत और वामन की अपेक्षा प्रायः दण्डी का ही अनुसरण किया।—क्रम भी बहुत कुछ दण्डी से ही मिलता है, लक्षण तो कहीं कहीं काव्यादर्श से अनूदित ही कर दिए गए हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति और ओज के

लक्षण प्रायः दण्डी के ही अनुसार हैं। केवल दो-तीन गुण ही ऐसे रह जाते हैं जिनके लक्षण भरत, दण्डी और वामन तीनों से भिन्न हैं। कांति गुण में, देव के अनुसार, सुरुचिपूर्ण चारु वचनावली होनी चाहिये जिसमें लोकमर्यादा की अपेक्षा कुछ विशेषता हो और जो अपने इसगुण के कारण लोगोंको सुखकर हो :

> अधिक लोकमर्जाद ते, सुनत परम सुख जाहि।
> चारु वचन ये कांति रुचि, कांति बखानत ताहि॥

(शब्द-रसायन)

इस लक्षण का शेष भाग तो दण्डी से मिल जाता है, परन्तु दण्डी जहां लोक-मर्यादा के अनुसरण को (लौकिकार्थनातिक्रमात्) अनिवार्य मानते हैं वहां देव में उसके अतिक्रमण का स्पष्ट उल्लेख है। दण्डी के अनुसार तो अप्राकृतिकता अथवा अस्वाभाविकता का बहिष्कार करते हुए लौकिक मर्यादा के अनुकूल स्वाभाविक वर्णन करना ही कांति गुण का मुख्य तत्व है। वामन ने समृद्धि अर्थात् औज्ज्वल्य और रस-दीप्ति को कांति गुण का सार-तत्व माना है—जिसके लिए साधारण प्रचलित शब्दावली का बहिष्कार अनिवार्य है। देव ने या तो दण्डी का अभिप्राय नहीं समझा—या फिर कुछ पाठ की गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त एक सम्भावना यह हो सकती है कि 'अधिक लोक मर्जाद ते' से देव का अभिप्राय कदाचित् वामन द्वारा निर्दिष्ट साधारण वचनावली के बहिष्कार का ही हो—परन्तु यह कुछ क्लिष्ट कल्पना ही लगती है। इसी प्रकार उदारता के लक्षण में भी 'यस्मिन् उक्ते (जाहि सुनत ही)', तथा 'उत्कर्ष' आदि शब्द देव ने दण्डी से ही लिए हैं, परन्तु दण्डी जहां उत्कर्ष की भावना को उदारता का प्राण मानते हैं, वहां देव का कहना है

> जाहि सुनत ही ओज को दूर होत उत्कर्ष।

(शब्द-रसायन)

ओज का उत्कर्ष दूर होने से उनका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। प्रयत्न करने पर यही अर्थ निकाला जा सकता है कि उदारता में एक प्रकार का उत्कर्ष होता है, जो ओज के उत्कर्ष से भिन्न होता है—या फिर यहां भी प्रतिलिपिकार की कृपा से पाठ की कुछ उलट फेर है। इसी प्रकार समाधि के लक्षण देव और दण्डी के यों तो समान हैं—किन्तु दण्डी के यहां "लोकसीमानुरोधिना (लोक मर्यादा के भीतर) के स्थान पर देव ने न जाने

क्यों "लोक सींव उलँघै अरथ" लिख दिया है! यहां भी या तो पाठ की गड़बड़ है या अर्थ समझने में भ्रांति हुई है।

इस प्रसंग में भी देव ने एक नवीन उद्भावना कर डाली है—वह यह है कि आपने प्रत्येक रीति (गुण) के दो भेद माने हैं—नागर और ग्राम्य। इन दोनों में यह अन्तर है कि नागर रीति में सुरुचि का प्राधान्य होता है, ग्राम्य में रस का आधिक्य होते हुए भी सुरुचि का अभाव रहता है।

नागर गुन आगर, दुतिय रस-सागर रुचि-हीन।

(शब्द-रसायन)

वैसे दोनों की अपनी अपनी विशेषता है—एक को उत्कृष्ट और दूसरी को निकृष्ट कहना अरसिकता का परिचय देना होगा।—देव की अन्य उद्-भावनाओं की भाँति यह भी महत्वहीन ही है और एक प्रकार से असंगत भी क्योंकि पहले तो मानव-स्वभाव में नागर और ग्रामीण का मूलगत भेद मानना ही युक्तिसंगत नहीं है (देव अपने उदाहरणों द्वारा यह अन्तर स्पष्ट करने में प्रायः असफल रहे हैं), फिर यदि इस स्थूल भेद को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो कांति, उदारता आदि कतिपय गुण ऐसे हैं जिनके लिए अग्राम्यत्व अनिवार्य है। ऐसी दशा में इनके भी नागर और ग्रामीण भेद करना इनकी आत्मा का ही निषेध करना है।

शब्द-शक्ति, रीति, गुण आदि के अतिरिक्त देव ने कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्तियों का वर्णन भी किया है जो कि श्रव्यकाव्य का अंग न होकर दृश्यकाव्य का ही अंग मानी जाती हैं। शृङ्गार, हास्य और करुण में कैशिकी (कौशिकी); रौद्र, भयानक और वीभत्स में आरभटी; वीर, रौद्र, अद्भुत और शांत में सात्वती; तथा वीर, हास्य और अद्भुत में भारती वृति का प्रयोग होता है। संस्कृत में नाट्य-शास्त्र, दशरूपक, साहित्य-दर्पण आदि में भी रसों के अनुक्रम से ही इनका विवेचन है—परन्तु देव का आधार यहां उपर्युक्त ग्रन्थ न होकर केशवदास की रसिक-प्रिया ही है। रसिक-प्रिया में ठीक इसी क्रम से इनका रसों के साथ सम्बन्ध बैठाया गया है, एक थोड़ा सा अन्तर यह है कि सात्वती के अन्तर्गत शृङ्गार के स्थान पर देव ने भरत के आधार पर रौद्र को माना है, बस; परन्तु केशव में भी शायद यह लिपि-दोष है।

देव के उपरान्त दास तक प्रायः किसी भी कवि ने रीति अथवा रीति-तत्वों का विशेष विवेचन नहीं किया। इनके प्रसंग में दो बातें उल्लेख योग्य

हैं : एक तो सूरति मिश्र ने अपने लक्षण में रीति का समावेश करते हुए उसको काव्य का आवश्यक अंग माना है :

> बरनन मन-रंजन जहां रीति अलौकिक होइ।
> निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ ॥

जहां तक मुझे स्मरण है संस्कृत-हिन्दी के किसी कवि ने रीति का काव्य-लक्षण में समावेश नहीं किया—गुण का ही प्रायः किया है। दूसरी विशेष बात यह है कि श्रीपति ने अपने श्रीपति-सरोज में अर्थ-गुणों का अलग वर्णन किया है। हिन्दी में अर्थ और शब्द के आधार पर गुणभेद प्रायः नहीं किये गये। एक चिंतामणि ही अपवाद हैं। संस्कृत में भी वामन या भोजराज आदि दो एक आचार्य को छोड़ किसी ने इस भेद को स्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से श्रीपति का अर्थ-गुण-वर्णन एक उल्लेखनीय विशेषता है। सोमनाथ ने अपने रसपीयूषनिधि में गुण का काव्य-लक्षण में उल्लेख किया है—मम्मट के आधार पर उनका लक्षण इस प्रकार है :

> सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरुद्ध।
> भूषणजुत कवि-कर्म जो सो कवित्त कहि बुद्ध ॥

परन्तु इन आचार्यों का गुण-लक्षण वामन से थोड़ा भिन्न है। ये गुण को रस का धर्म मानते हैं जबकि वामन उसे शब्द-अर्थ का ही धर्म मानते हैं—फिर भी व्यवहार रूप में दोनों के गुण-वर्णन में बहुत कुछ सादृश्य भी है, इसीलिए गुण का रीति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है।

८ दास

दास का गुण-वर्णन रीतिकाल के प्रायः अन्य सभी आचार्यों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। उन्होंने इस प्रसंग का वर्णन अधिक मनोयोग-पूर्वक और साथ ही स्वतन्त्र रीति से भी किया है।

> दस बिधि के गुन कहत हैं, पहिले सुकवि सुजान।
> पुनि तीनै गुन गनि रचौ, सब तिनके दरम्यान ॥
> ज्यों सतजन हिय ते नहीं सूरतादि गुन जाय।
> त्यों विदग्ध हिय में रहैं, दस गुन सहज स्वभाय।

अर्थात् जिस प्रकार सज्जन के हृदय में शौर्य आदि का वास रहता है, इसी प्रकार विदग्ध सहृदय के हृदय में स्वभाव से ही दश गुण निवास करते हैं। दास की यह स्थापना परम्परा से कुछ भिन्न है। परम्परा के अनुसार स्थायी भावों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे वासना रूप में सहृदय के हृदय में वर्तमान रहते हैं। दास गुणों की भी यही स्थिति मानते हैं: उनका तर्क कदाचित् यह है कि रस के धर्म होने के कारण गुणों का भी वासना से सहज सम्बन्ध है, और शौर्य आदि गुणों की भाँति वे भी आत्मा में ही निवास करते हैं।

मम्मट आदि रस-ध्वनिवादी भी गुणों को चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा व्याप्ति (समर्पकत्व) रूप मानते हुए इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं—और इसी कारण वे गुणों की संख्या दश न मान कर केवल तीन मानते हैं। दास का भी यही मत है: प्राचीन आचार्यों के अनुसार दश गुणों का वर्णन करने के उपरांत वे मूल गुणों की संख्या केवल तीन मानते हैं।

दश गुणों के वर्गीकरण में दास ने फिर परम्परा से भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया है। उन्होंने गुणों के चार वर्ग किये हैं: (१) अक्षर-गुण—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद (२) दोषाभाव-रूप गुण—समता, कान्ति और उदारता (३) अर्थ-गुण—अर्थव्यक्ति और समाधि (४) वाक्य-गुण—श्लेष तथा पुनरुक्तिप्रकाश।

> अच्छर गुन माधुर्य अरु, ओज प्रसाद विचारि।
> समता कान्ति उदारता, दूषन-हरन निहारि॥
> अर्थव्यक्ति समाधिये अर्थहि करैं प्रकास।
> वाक्यन के गुन श्लेष अरु, पुनरुक्ती-परकास॥

यहां पहली बात तो यही विचारणीय है कि दास ने पुनरुक्तिप्रकाश नामक एक नये गुण की कल्पना की है और वामनादि के सौकुमार्य गुण को छोड़ दिया है।

> एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ।
> पुनरुक्तीपरकाश गुन, बरनै बुद्धि समर्थ॥

दास ने सौकुमार्य के स्थान पर इस नवीन गुण की कल्पना क्यों की यह कहना कठिन है, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि सौकुमार्य की

कदाचित् वे माधुर्य से पृथक सत्ता स्वीकार नहीं कर सके, अतएव उसे छोड़ कर उन्होंने एक अन्य प्रकार के पदरचना-चमत्कार को जिसका ब्रजभाषा में यथेष्ट प्रचार था, दशगुणों में समाविष्ट कर लिया। वामन ने शब्द-गुण सौकुमार्य का अर्थ किया है शब्द-गत अपारुष्य—इस दृष्टि से पुनरुक्तिप्रकाश की रुचिर पदावृत्ति को सौकुमार्य का एक साधन भी माना जा सकता है। सौकुमार्य का यह रूप अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट था, अतएव दास ने कदाचित् इसका स्वतन्त्र अस्तित्व मानना प्रचलित काव्य-भाषा के अधिक स्वरूपानुकूल समझा।

शेष नौ गुणों में से माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, कान्ति, और अर्थ-व्यक्ति के लक्षण तो दास ने प्रायः दण्डी अथवा वामन के अनुसार ही दिये हैं—परन्तु समता, औदार्य और समाधि में परम्परा से वैचित्र्य है।

समता— प्राचीनन की रीतिसों, भिन्न रीति ठहराइ।
समता गुन ताको कहैं, पै दूषनन्ह बराइ॥

अर्थात् दास के अनुसार समता गुण वहां होता है जहां परिपाटी-मुक्त रीति का परित्याग कर नवीन रीति का अवलम्बन किया जाये—किन्तु परिपाटी से मुक्ति दुष्ट प्रयोगों की छूट नहीं देती। यह लक्षण कुछ-कुछ वामन के अर्थ-गुण माधुर्य से मिलता है। दण्डी और वामन के अनुसार समता का अर्थ है रीति का अवैषम्य।

उदारता—

जो अन्वय बल पठित ह्वै, समुझि परै चतुरैन।
औरन को लागे कठिन, गन उदारता ऐन॥

अर्थात् जहाँ अन्वय बल-पूर्वक लगाया जा सके—जो केवल विदग्ध जन की ही समझ में आये और दूसरों को कठिन प्रतीत हो वहाँ उदारता गुण होता है। प्रस्तुत लक्षण दास ने कहां से लिया है यह कहना कठिन है। भरत, दण्डी, तथा वामनादि किसी ने भी इसका संकेत नहीं किया।

तीसरा गुण समाधि है जिसमें दास ने कुछ वैचित्र्य प्रदर्शित किया है। जहां रुचिर क्रम से आरोह-अवरोह हो वहां समाधि गुण होता है:

जुहै रोह-अवरोह गति रुचिर भाँति क्रम पाय।

इसके आगे दास ने समाधि का जो उदाहरण दिया है वह बहुत कुछ सार अलंकार से मिल जाता है। वामन ने भी क्रमिक आरोह-अवरोह को समाधि का लक्षण माना है, परन्तु वह आरोह-अवरोह अक्षर-गुम्फ का है, अर्थ का नहीं। अतएव यह वैचित्र्य बहुत कुछ भ्रान्ति-जन्य है।

दास का गुण-वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। माधुर्य, ओज और प्रसाद को अक्षरगुण मानने का कारण यह है कि मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने तत्वरूप में गुण को रस का धर्म मानते हुए भी उसको वर्ण के आश्रित भी प्रकारान्तर से माना ही है—और पण्डितराज जगन्नाथ ने तो स्पष्ट ही यह मान लिया है कि गुण वर्ण के भी आश्रित हैं। वास्तव में गुण की स्थिति थोड़ी अस्पष्ट-सी रही है। सिद्धान्त में गुण के रस-धर्मत्व की चर्चा करते हुए व्यवहार में प्रायः सभी आचार्य वर्णों के आश्रय से ही उसका स्वरूप-निरूपण करते रहे हैं। दास ने इसीलिए गुणों के मूर्त आधार को प्रमाण मानते हुए माधुर्य, ओज, प्रसाद को वर्ण-गुण मान लिया। इसी प्रकार श्लेष और पुनरुक्तिप्रकाश को वाक्य-गुण मानने में भी मूर्त-आधार को ही प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि ये गुण वाक्य में ही सम्भव हैं—पृथक पदों में अथवा वर्ण-योजना में इनकी स्थिति सम्भव नहीं है। अर्थ-व्यक्ति और समाधि को दास ने अर्थ-गुण माना है—पहले में अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति और दूसरे में अर्थ का क्रमिक आरोह-अवरोह होने के कारण। कांति, समता और उदारता को दास ने दूषण-हरण माना है—अर्थात् ये गुण दोषों का सम्मार्जन करते हुए काव्य का उत्कर्ष करते हैं। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में जहां दश गुणों का माधुर्य, ओज, प्रसाद में अन्तर्भाव सिद्ध किया है, वहां कान्ति (शब्द-गुण), समता (अर्थ-गुण) तथा उदारता (अर्थ-गुण) को क्रमशः अग्राम्यत्व, प्रक्रमभंग और अग्राम्यत्व दोष का अभाव मात्र माना है। इस प्रकार मम्मटादि के अनुसार उपर्युक्त तीनों गुण किसी न किसी रूप में दोषाभाव—दास के शब्दों में दूषण-हरण—माने जा सकते हैं। परन्तु दास-कृत समता तथा उदारता के लक्षण तो वामन के लक्षणों से भिन्न हैं—उनका समता गुण परिपाटीभुक्त रीति के परित्याग तथा नवीन रीति के अवलम्बन में सन्निहित रहता है, और उदारता में पद-रचना इस प्रकार की जाती है कि विदग्ध जन ही उसे समझ सकते हैं, अन्य अर्थात् जन-साधारण की बुद्धि वहां तक नहीं पहुँच सकती। ये लक्षण यद्यपि वामन के लक्षणों से भिन्न हैं तथापि

इन रूपों में भी उपर्युक्त दोनों गुण दोषाभाव हो सकते हैं। समता गुण की परिभाषा बहुत कुछ वामन के अर्थ-गुण माधुर्य से मिल जाती है, और इस प्रकार वह अनवीकृत दोष का अभाव रूप हो जाता है, इसी तरह उदारता के लक्षण की भी ध्वनि यही है कि उसकी अभिव्यंजना में वैदग्ध्य रहता है, सस्तापन नहीं होता : 'सस्तेपन' को ही ग्राम्यत्व भी कहा जा सकता है। अतएव प्रकारान्तर से दास के लक्षण को वामन के लक्षण से सम्बद्ध करते हुए इसको भी ग्राम्यत्व दोष का अभाव रूप मानना असंगत नहीं होगा। निष्कर्ष यह है कि लक्षण-भेद होते हुए भी दास के ये तीन गुण दूषण-हरण माने जा सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से दास के गुण-वर्गीकरण के विषय में कुछ संकेत मिल जाते हैं। हमारा अनुमान है कि दास के दो वर्ग (१) अक्षर गुण और (२) दूषण-हरण तो मम्मट के गुण-विवेचन पर आश्रित हैं। दूषण-हरण अर्थात् दोषाभाव वर्ग के लिए एक और संकेत दास को कदाचित् ध्वनिवादियों की इस स्थापना से भी प्राप्त हुआ हो : 'महान् निर्दोषता गुणः।'

अर्थ-गुण का आधार दण्डी और विशेष रूप से वामन का गुण-विवेचन है, और वाक्य-गुण वर्ग की उद्भावना दास ने स्वतन्त्र रीति से कर ली है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त चारों वर्गों की कल्पना के पीछे दोष-वर्गीकरण की प्रेरणा रही हो क्योंकि दोषों का वर्गीकरण भी तो कुछ अंशों में अक्षर-योजना, अर्थ, वाक्य आदि के आधार पर हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी वर्ग विशेष तात्विक नहीं हैं—इनका आधार प्रायः बाह्य रचना ही है। स्वयं दास ने आगे चलकर प्रकारान्तर से इस तथ्य को अपनी एक अन्य स्थापना में स्वीकार किया है :

> रस के भूषित करन ते, गुन बरने सुख दानि।
> गुन भूषन अनुमानि कै, अनुप्रास उर आनि॥

अर्थात् उपर्युक्त गुण तभी तक गुण हैं जब तक वे रस का उत्कर्ष करते हैं। जहां वे ऐसा नहीं कर पाते वहां वे अनुप्रास मात्र रह जाते हैं। इस स्थापना से दास मानों उपर्युक्त वर्गीकरण का निषेध कर देते हैं क्यों कि यदि गुण का रस के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है, तो उनका वर्गीकरण रस के आधार पर ही होना चाहिए, रचना के बाह्य तत्वों—अक्षर-बन्ध, वाक्य आदि के आधार पर

नहीं। यदि गुण रस का उत्कर्ष करने पर ही अपनी गुणता सिद्ध करते हैं तो माधुर्य, ओज और प्रसाद को अक्षर-गुण कहना उनकी गुणता का निषेध करना है : वैसी दशा में तो वे अनुप्रास मात्र ही रह जाते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि गुण की वास्तविक स्थिति की समस्या दास के सामने भी आयी है, और उनकी व्यावहारिक दृष्टि ने उसे अपने ढंग से हल करने का प्रयत्न किया है। तत्व दृष्टि से तो उन्होंने गुण का रस के साथ ही नित्य सम्बन्ध माना है, परन्तु व्यवहारिक रूप में उनके बाह्य स्वरूप को स्पष्ट करने का जहां प्रश्न आया है, वहां उन्होंने मूर्त आधार को ही प्रमाण मानकर गुणों का वर्णन तथा वर्गीकरण आदि कर दिया है। संस्कृत के भी अनेक आचार्यों ने इस समस्या को कुछ इसी प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया है, परन्तु दास का वर्णन आवश्यकता से अधिक निश्चयात्मक हो गया है। उससे कहीं गुण की मौलिक स्थिति के विषय में भ्रम उत्पन्न न हो जाए, इसलिए आगे चलकर दास को उतने ही निश्चयात्मक शब्दों में एक अन्य स्थापना करने की आवश्यकता पड़ी है। यह स्थापना परम्परा[1] से भिन्न होते हुए भी सत्य से दूर नहीं है क्यों कि रस से हीन वर्णयोजना अनुप्रास के अतिरिक्त और क्या है? इस प्रकार दास के गुण-विवेचन में अंतर्विरोध नहीं है—वास्तव में गुण की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए वे भी उसी भँवर में पड़ गये हैं जिसमें कि संस्कृत के अधिकांश आचार्य फँस गये थे। सामान्यत: गुण, गुण और रस का सम्बन्ध, तथा काव्य में गुण का स्थान, आदि मूल विषयों के सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त अपने आप में स्पष्ट है। एतद्विषयक सिद्धान्तों का सार दास ने इस प्रकार दिया है :

ज्यों जीवात्मा में रहै, धर्म सूरता आदि।
त्यों रस ही में होत गुन, बरनै गनै सवादि।
रस ही के उत्कर्ष को, अचल स्थिति गुन होय।
अंगी धरम सुरूपता, अंग धरम नहिं कोय।
कहुँ लखि लघु कादर कहै, सूर बड़ो लखि अंग।
रसहिं लाज त्यों गुन बिना, अरि सो सुभग न संग॥

---

१ और परम्परा से भी यह बहुत भिन्न नहीं है प्राचीन आचार्यों ने—भामह, उद्भट आदि ने—वृत्तियों को तो अनुप्रासजाति माना ही है।

अर्थात् जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार गुण रस के धर्म हैं। गुणों का कार्य है रस का उत्कर्ष करना, अतएव वे रस के ही अचल-स्थिति धर्म हैं शब्द-अर्थ के धर्म नहीं हैं, क्यों कि सौन्दर्य आदि अन्ततः अंगी आत्मा के ही गुण ठहरते हैं अंगभूत शरीर के नहीं। कहीं कहीं व्यवहार में लघुकाय व्यक्ति को कायर और महाकाय को शूर कह देते हैं, परन्तु वह केवल व्यावहारिक प्रयोग है, तात्विक नहीं। इसी प्रकार शब्द-अर्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध तात्विक नहीं है, उपचार रूप में ही है। इसके विपरीत उपमा, अनुप्रास आदि शब्दार्थालंकार काव्य के बाह्य अलंकार हैं, जिस प्रकार हार आदि आभूषण प्रथमतः शरीर को अलंकृत करते हैं, इसी प्रकार उपमादि अलंकार शब्द-अर्थ के ही धर्म हैं—वे पहले शब्द-अर्थ का ही उत्कर्ष करते हैं। अतएव अलंकार की स्थिति रस के बिना और रस की स्थिति अलंकार के बिना भी सम्भव है:

अलंकार बिनु रसहु है, रसहु अलंकृति छंडि।

परन्तु गुण की सत्ता रस के लिए अनिवार्य है—गुण के अभाव में रस का परिपाक नहीं हो सकता:—'रसहि लाज त्यों गुन बिना।'

इसके उपरांत उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का वर्णन है। मम्मट के अनुकरण पर दास ने भी वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों का वर्णन न कर उपनागरिका आदि वृत्तियों का ही वर्णन किया है। दास का यह वृत्ति-विवेचन भी उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों से थोड़ा भिन्न पूर्णतया मम्मट के विवेचन पर आश्रित है। उन्होंने भी उपनागरिका में माधुर्य-व्यंजक वर्णों की, परुषा में ओजोव्यंजक वर्णों की और कोमला में प्रसादव्यंजक वर्णों की स्थिति मानी है:

मिले बरन माधुर्य के, उपनागरिका निन्ति।
परुषा ओज, प्रसाद के मिले कोमला, वृत्ति।,
(काव्यनिर्णय पृ० १६६)

अन्य रीतिकार

दास के उपरांत उत्तर-रीति काल के कवियों ने इस प्रसंग के विवेचन में कोई विशेष योग नहीं दिया। रूपसाहि ने चार नाट्य वृत्तियों का वर्णन किया

है जो प्रायः केशव के आधार पर है। केवल एक ही ग्रन्थ ऐसा है जिसका उल्लेख करना यहां आवश्यक है—और वह है जगतसिंह का साहित्य-सुधानिधि (संवत् १८८४ वि०)। इस ग्रन्थ की नवीं तरंग में रीति-वर्णन है।

पंच, षष्ट, नग-वसु करि जहाँ समास।
पांचाली, लाटी, क्रम गौड़ी भास॥
बिन समास जहँ कीजै पद-निर्वाह।
वैदर्भी सो जानो कविन सराह॥

अर्थात् जहां पाँच, छः, सात-आठ समासों का प्रयोग हो वहां क्रमशः पांचाली, लाटी और गौड़ी रीति होती है। और स्पष्ट शब्दों में पांचाली में पांच समास, लाटीया में छः और गौड़ीया में सात-आठ समास होते हैं। वैदर्भी में सर्वथा असमस्त पद-रचना होती है। यह रीति-वर्णन मान्य परम्परा से थोड़ा-सा भिन्न रुद्रट से प्रेरित है। संस्कृत में केवल समास-संख्या के आधार पर रुद्रट ने रीति-विभाजन किया हैं:

द्वित्रिपदा पांचाली लाटीया पंच-सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौड़ीया॥

(रुद्रट-काव्यालंकार २।४-५)

इस प्रकार रुद्रट और जगतसिंह के रीति-वर्णन में केवल संख्या का भेद है। रुद्रट पांचाली में दो-तीन समासों की स्थिति मानते हैं परन्तु जगतसिंह पाँच की, लाटीया में रुद्रट के अनुसार पांच-सात समास होते हैं किन्तु जगतसिंह के अनुसार छः, गौड़ीया में रुद्रट के अनुसार यथाशक्ति समस्त पदों का ही प्रयोग रहता है, पर जगतसिंह ने उसके लिए भी सात-आठ समासों की संख्या निश्चित कर दी है। यह अन्तर विशेष महत्वपूर्ण नहीं है और न इसका कोई उचित आधार ही समझ में आता है। समास संख्या के आधार पर रीति-भेद करना भी बहुत न्याय्य नहीं है—संस्कृत में स्वयं रुद्रट की भी आलोचना हुई है। फिर लघुसमासा पांचाली में दो-तीन के स्थान पर पाँच-सात समास मानने में तो और भी कोई तुक नहीं दिखाई देती। मध्यमसमासा लाटीया में रुद्रट और जगतसिंह के वर्णन में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है—रुद्रट पाँच-सात समास मानते हैं, जगतसिंह छः। गौड़ीया में जगतसिंह ने कदाचित् जानबूझ कर अंतर किया है क्योंकि संस्कृत में तो 'यथाशक्ति समस्तपदों का ही प्रयोग'

सम्भव हो सकता है। किन्तु हिन्दी की प्रकृति इसे सहन नहीं कर सकती, अतएव जगतसिंह को यहां भी समास-संख्या निश्चित करनी पड़ी है। वैदर्भी के विषय में रुद्रट और जगतसिंह एकमत हैं—उसमें समास का अभाव रहता है। वैदर्भी की कवि-समाज में बड़ी प्रशंसा है—जगतसिंह का यह कथन सर्वथा सत्य ही है। संस्कृत में श्रीहर्ष, पद्मगुप्त, बिल्हण; नीलकंठ आदि कवियों ने इसका कीर्तन किया है; दण्डी तथा कालिदास जैसे कलाकारों ने इसका मनोयोग-पूर्वक व्यवहार किया है और वामन, राजशेखर, भोजराज प्रभृति आचार्यों ने इसे मूर्धन्य पर स्थान दिया है।

यह स्पष्ट ही है कि जगतसिंह के रीतिवर्णन में कोई मौलिकता नहीं है—उनका आधार रुद्रट का काव्यलंकार है। परन्तु हिन्दी में वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों का वर्णन इतना विरल है कि जगतसिंह का इस प्रसंग में आभार मानना ही होगा। हिन्दी में वर्ण-वृत्तियों का वर्णन मम्मट के अनुसरण पर कई आचार्यों ने किया है, नाट्य वृत्तियों का भी वर्णन हुआ है, किन्तु वामनीया रीति का वर्णन प्रायः दुर्लभ ही रहा है। जगतसिंह के उपरान्त रीतिकाल के चौथे चरण में—अर्थात् उन्नीसवीं विक्रम शती के उत्तरार्ध में महाराज रामसिंह, पद्माकर, प्रतापसाहि आदि प्रमुख कवि-आचार्य हुए, किंतु इनमें से प्रायः किसी ने भी रीति के प्रसंग को नहीं उठाया।

काल-विभाजन की दृष्टि से तो रीतियुग संवत् १९०० के आसपास समाप्त हो जाता है, किन्तु रीति-परम्परा बीसवीं शताब्दी में भी लुप्त नहीं हुई और 'आधुनिक युग' में भी अनेक उच्चकोटि के रीतिग्रन्थों की रचना हुई: ग्वाल कवि का रस-रंग, लछिराम का रावणेश्वर-कल्पतरु, कविराज मुरारिदान का जसवंत-भूषण तथा अयोध्या-नरेश महाराजा प्रतापनारायणसिंह का रस-कुसुमाकर आदि इसी परम्परा के महत्वपूर्ण ग्रन्थ है—किन्तु रीति-गुण का वर्णन इनमें से जसवन्त-भूषण जैसे एकाध ग्रन्थ में ही है, और यह भी अत्यन्त संक्षिप्त है।

आधुनिक रीतिकार

वर्तमान युग में काव्य-शास्त्र की दिशा बदल गई है, आज के हिन्दी काव्यशास्त्र पर यूरोप के आलोचना-सिद्धान्तों तथा मनोविज्ञान का गहरा

प्रभाव है—रीतिशास्त्र की अपेक्षा आज काव्यशास्त्र पर अधिक बल है। फिर भी हिन्दी की प्राचीन रीति-परम्परा सर्वथा निश्शेष नहीं हुई : सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की रस-मंजरी, तथा अलंकार-मंजरी, अर्जुनदास केडिया का भारती-भूषण, मिश्रबन्धुओं का साहित्य-पारिजात और हरिऔध का रसकलस आदि प्राचीन परिपाटी के मान्य ग्रन्थ हैं। इनमें से रसकलस रस और नायिकाभेद का ग्रन्थ है। शेष सभी में रीति-गुण-वृत्ति का थोड़ा बहुत विवेचन किया गया है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के विवेचन का आधार मम्मट का काव्यप्रकाश है। उन्होंने यों तो अन्य आचार्यों के मतों का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है, किन्तु प्रमाण माना है मम्मट को ही : इस प्रकार इस ग्रन्थ में मौलिकता का सर्वथा अभाव है—इसका प्रमुख गुण इसकी स्पष्टता है। मम्मट के अनुसार पोद्दार जी ने भी रीति का वर्णन न कर केवल वृत्ति का ही वर्णन शब्दालंकार प्रसंग में अनुप्रास के अन्तर्गत किया है। उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का यह वर्णन मम्मट के वृत्ति-वर्णन का अनुवाद मात्र है—पोद्दार जी ने केवल स्पष्ट हिन्दी गद्य में उसका रूपान्तर कर दिया है। गुण का विवेचन रसमंजरी के षष्ठ स्तबक में किया गया है। इस स्तबक में गुण का लक्षण और स्वरूप, गुण-अलंकार का भेद, गुणों की संख्या तथा माधुर्य-ओज-प्रसाद का वर्णन है। अन्त में रचना अथवा रीति का भी अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख है। यह सब भी पूर्णतया मम्मट पर ही आश्रित है : गुण-लक्षण मम्मट के लक्षण का अनुवाद है, दस गुणों में से तीन गुणों की स्वीकृति भी मम्मट के ही अनुसार है, इन तीन गुणों के लक्षण आदि मम्मट से ही अनूदित हैं, और गुण तथा अलंकार के भेद-प्रदर्शन में भी[1] काव्य-प्रकाश के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है :—"गुण रस के धर्म हैं, क्योंकि गुण के साथ नित्य रहते हैं। अलंकार रस का साथ छोड़ कर नीरस काव्य में भी रहते हैं। गुण रस का सदैव उपकार करते हैं, पर अलंकार रस के साथ रह कर कभी उपकारक होते हैं और कभी नहीं।" सेठ पोद्दार ने गुण को दोष का अभाव माना है—भरत मुनि का भी यही मत है, परन्तु वामन आदि आचार्यों ने इसका निराकरण किया है क्योंकि गुण भावात्मक विशेषताएं हैं अभावात्मक नहीं, निर्दोषता भी अपने आप में एक गुण है, परन्तु वह उपचार से है—वास्तविक गुण की स्थिति भावात्मक ही होनी चाहिये। इसी स्तबक के अन्त में रीतियों का भी उल्लेख है। रीति का ही नाम रचना है।[2]

---

१ रसमंजरी षष्ठ स्तबक पृ० ३८३ २ रसमंजरी षष्ठ स्तबक पृ० ३८४।

"वैदर्भी, गौणी ? (गौड़ी) और पांचाली रीतियों को रचना कहते हैं, ये रीतियां गुणों के आश्रित हैं। गुण रस के धर्म और नित्य सहचारी हैं, इसलिए वर्ण और रचना में गुण और रस की व्यंजना एक ही साथ होती हैं।[1] + + + इन रीतियों को श्री मम्मट ने उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्ति के नाम से लिखा है और माधुर्य-गुण-व्यंजक वर्णों की रचना को उपनागरिका, ओजगुण-व्यंजक वर्णों की रचना को परुषा और इन दोनों में प्रयुक्त वर्णों से अतिरिक्त वर्णों की रचना को कोमला वृत्ति बतलाया है।"—सेठजी मम्मट के आधार पर ध्वनिवादी हैं—उन्होंने रीति को रचना-ध्वनि या वर्ण-ध्वनि के अन्तर्गत ही माना है।

श्री अर्जुनदास केडिया के भारतीभूषण में भी वृत्तियों का वर्णन शब्दालंकार के अनुप्रास प्रसंग में ही मिलता है। उनके वर्णन में एक साधारण-सी नवीनता यह है कि उन्होंने वृत्ति के लिये स्वरों का भी आधार माना है—ह्रस्व स्वर उपनागरिका के और दीर्घ स्वर परुषा के लिए उपयुक्त हैं। उपर्युक्त क्रम मिश्रबन्धुओं के साहित्य-पारिजात में भी रखा गया है : वहां भी वृत्तियों का वर्णन अनुप्रास के ही अंतर्गत हुआ है : 'इसके (वृत्ति के) तीन भेदान्तर हैं, अर्थात् उपनागरिका या वैदर्भी, परुषा या गौणी ? (गौड़ी) और कोमला या पांचाली। + + + उपनागरिका में चित्त-द्रावक वर्णों में रचना रहती है। इसमें माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण आते हैं।' 'परुषा या गौणी (?) में ओज के प्रकाशक वर्णों की अधिकता होती है।' 'कोमला या पांचाली में प्रसाद-व्यंजक रचना लानी चाहिये।' मिश्रबन्धुओं के विवेचन में दो विशेषताएं हैं : एक तो उसका आधार प्रत्यक्षतः मम्मट का काव्यप्रकाश न होकर उससे प्रभावित दास का काव्यनिर्णय है। दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सर्वत्र संस्कृत का ही आश्रय नहीं लिया है—यथास्थान हिन्दी की प्रकृति को भी प्रमाण माना है। उदाहरण के लिए माधुर्य-गुण-व्यंजक वर्णों का विश्लेषण उन्होंने हिन्दी की प्रवृत्ति के ही अनुसार किया है : "संस्कृत में ण माधुर्य-व्यंजक वर्ण है, किन्तु ब्रजभाषा में नहीं। खड़ी बोली में इसका प्रयोग काफ़ी है।" मिश्रबन्धुओं की यह विशेषता तो वास्तव में स्तुत्य है, परन्तु शास्त्र की दृष्टि से उनके विवेचन में पोद्दार जी के विवेचन की प्रामाणिकता एवं स्थिरता नहीं है।

---

१ वही ३८४ पाद टिप्पणी।

रीतिपरम्परा के इन आधुनिक ग्रन्थों में सबसे अधिक उपादेय है पं० रामदहिन मिश्र का ग्रन्थ 'काव्यदर्पण'। वे केवल काव्यप्रकाश पर आश्रित नहीं रहे—संस्कृत अलंकार-शास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का आधार ग्रहण करते हुए और इधर साहित्य की नवीन गतिविधि का भी ध्यान रखते हुए उन्होंने अपने विवेचन को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। काव्यदर्पण में गुण, रीति तथा वृत्ति तीनों का संक्षिप्त तथा स्पष्ट विवेचन मिलता है। उनके रीति-विवेचन के आधार वामन का काव्यालंकारसूत्र तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थ हैं। वामन के अनुसार मिश्र जी ने तीन रीतियां ही मानी है—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। किन्तु अन्त में रुद्रट तथा विश्वनाथ की लाटी रीति का भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है।

उनके गुण-विवेचन का आधार भी व्यापक है—भरत, भोज, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि के मत देकर अन्त में उन्होंने प्रायः मम्मट का अनुसरण किया है। तीन गुणों का वर्णन मम्मट के आधार पर ही किया गया है। किन्तु मम्मट द्वारा स्वीकृत तीन गुणों में ही वे गुण की इति श्री नहीं मान लेते : 'आजकल ऐसी अधिकांश रचनाएं दीख पड़ती हैं जिनमें न तो प्रसाद गुण और न ओज गुण, बल्कि इनके विपरीत उनके अनेक स्वरूप दीख पड़ते हैं। + + + उपर्युक्त दस गुणों में इनका अन्तर्भाव हो सकता है।'[1] मिश्र जी की विशेषता यह है—और रीतिकार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी है—कि उनका शास्त्र-विवेचन केवल संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों पर ही आश्रित नहीं रहा, आधुनिक हिन्दी काव्य को भी उन्होंने आधार माना है। वर्तमान कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं को उद्धृत कर उन्होंने अपने निरूपण को तो अधिक ग्राह्य बना ही दिया है, साथ ही हिन्दी रीतिग्रन्थों की उस त्रुटि का भी परिहार किया है जिसे केशव से लेकर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तक हमारे सभी रीतिकार बराबर करते चले आये हैं। निम्नलिखित वक्तव्य में उनके रीति-गुण-विषयक दृष्टिकोण का सार निहित है :

'गुण तथा रीति का विचार हिन्दी की आधुनिक रचनाओं के विचार से होना चाहिए। संस्कृत की ये रूढ़ियां नियमतः नहीं, सामान्यतः लागू हो सकती हैं। + + + व्यक्ति-विशेष की शैली श्रेणी-विभाग का एक विशिष्ट उपादान होगी। तथापि गुण-रीति का ज्ञान काव्य-कला के अंतरंग में पैठने का द्वार है, इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।'[2]

---

१ काव्यदर्पण पृ० ३१५। २ वही पृ० ३१६।

गुणों तथा वृत्तियों का विवेचन मम्मट के आधार पर किया गया है। मिश्रजी ने भी केवल तीन ही गुणों की सत्ता स्वीकार की है—शेष का उन्हीं में अन्तर्भाव माना है। वृत्तियों का वर्णन वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत हुआ है—इन्होंने भी प्रदीप के आधार पर माधुर्य का सम्बन्ध उपनागरिकता से, ओज का गौड़ी से, और कोमला का प्रसाद से माना है।

हिन्दी काव्यशास्त्र की दूसरी प्रवृत्ति का सम्बन्ध है आधुनिक आलोचना-पद्धति से जिसका आधार पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा मनोविज्ञान है। स्वभावतः यह दूसरी प्रवृत्ति ही आज अधिक समर्थ है। इसके अन्तर्गत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास तथा श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। रीति अर्थात् काव्य-भाषा-शैली के विषय में इन विद्वानों ने भी विचार व्यक्त किए हैं जिनका अपना विशेष मूल्य है।

आधुनिक आलोचक

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के सामने काव्य-भाषा और गद्य-भाषा का प्रश्न एक नवीन रूप में उपस्थित हुआ। उस समय काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी, और गद्य की भाषा खड़ी बोली। द्विवेदी जी ने वर्ड्सवर्थ के सिद्धान्त के आधार पर व्यावहारिक रूप से इस अंतर को मिटाने का प्रयत्न किया। "मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो क्योंकि कविता की भाषा से बोलचाल की भाषा जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। + + इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिए + + हिन्दी उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं, वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता।" (रसज्ञ-रंजन पृ० ४६-४७)। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्ड्सवर्थ के प्रयत्न के समान ही यह प्रयत्न भी विफल ही रहा। इससे यह लाभ तो हुआ कि खड़ी बोली को काव्य-भाषा रूप में स्वीकृति मिल गई—किन्तु बोल-चाल की गद्य से अभिन्न भाषा काव्य-भाषा नहीं बन सकी। द्विवेदीजी की कविता तो गद्यमयी हो गई—किन्तु गद्य-भाषा काव्य की भाषा न बन सकी। द्विवेदी जी ने उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार भाषा के गुणों की अपेक्षा उसकी शुद्धता आदि पर अधिक बल दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल रसवाद के प्रबल समर्थक थे। उनका दृढ़ मत था कि शैली के समस्त उपकरणों—रीति, अलंकार आदि का चमत्कार अर्थ के चमत्कार—रस पर आश्रित रहता है। उन्होंने अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से इस तथ्य की उद्घोषणा की है : "अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जब कि उसका सम्बन्ध, कुछ दूर का ही सही, हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा।"[1]

"किसी भाव या मार्मिक भावना से असम्पृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं[2]।" इस प्रकार वे रीतिवाद अलंकारवाद तथा वक्रोक्तिवाद सभी के तत्व रूप में घोर विरोधी हैं। किन्तु उनका विरोध रीतिवाद आदि से है—रीति, अलंकार तथा वक्रोक्ति को वे काव्य की आत्मा तो मानने के लिए तैयार नहीं हैं—फिर भी, इनसे उनका विरोध नहीं है। रस के आश्रित रह कर इनकी अपनी सार्थकता है, वे तो यहां तक मानते हैं कि उक्ति ही काव्य होती है : '+ + + हमारे यहां भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है'[3]।

काव्य-भाषा के विषय में उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है—अर्थात् बाह्य रूपों का वर्णन न कर, उसके अन्तर्तत्वों का विश्लेषण किया है। काव्य-भाषा या रीति के उन्होंने चार मूलतत्व माने हैं। १. गोचर रूप-विधान करने वाले शब्द, २. विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द, ३. वर्ण-विन्यास अर्थात् श्रुतिकटु वर्णों का त्याग, लय, अंत्यनुप्रास आदि शब्द-सौष्ठव के संगीतमय उपकरण, ४. साभिप्राय विशेषण। इनमें से पहला तत्व—'गोचर रूप-विधान करने वाली शब्दावली' लक्षणा पर आश्रित रहती है। रीतिवादियों की शब्दावली में यह दण्डी का समाधि गुण है : जहां एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु पर सम्यक् आधान या उपचार हो, वहां समाधि गुण होता है—जैसे कुमुद नेत्र बन्द करते हैं, कमल नेत्र खोलते हैं। दण्डी ने इसे काव्य-सर्वस्व माना है।

'तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।'[4]

दूसरा तथा चौथा तत्व—विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द-प्रयोग और साभिप्राय विशेषण-प्रयोग वामन के अर्थ-गुण ओज के अन्तर्गत अर्थ-प्रौढ़ि के रूप-

१ काव्य में रहस्यवाद। २ कविता क्या है? ३ वही ४ काव्यादर्श १।८३, १।१००

भेद माने गये हैं। अर्थ-प्रौढ़ि में कभी विशेष को उभारने के लिए व्यास और समास पद्धतियों का ग्रहण किया जाता है, और कभी साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग होता है। नाद-सौष्ठव के संगीतमय उपकरणों का अंतर्भाव शब्द-गुण माधुर्य, उदारता, कान्ति आदि में हो जाता है। इस प्रकार शुक्लजी के शैली-तत्व रीतिवादियों के रीति-तत्वों से भिन्न नहीं है—यद्यपि उनका दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत रहा है।

आधुनिक ढंग के काव्यशास्त्र-ग्रन्थों में डाक्टर श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' प्रो० गुलाबराय के दो ग्रन्थ 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' और श्री० सुधांशु के दो ग्रन्थ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' का विशेष महत्व है। इन ग्रन्थों में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है। इस प्रकार ये 'काव्यकल्पद्रुम' आदि की परम्परा से भिन्न हैं।

डा० श्यामसुन्दर दास

डा० श्यामसुन्दर दास के रीति या शैली विषयक सिद्धान्तों का सारांश इस प्रकार है :

(१) काव्य में बुद्धि-तत्व, कल्पना-तत्व और भाव तत्व के अतिरिक्त एक चौथा तत्व भी है—शैली।

(२) शैली का अर्थ है रूप-सौन्दर्य, रूप-चमत्कार अथवा रचना-चमत्कार। बाह्य दृष्टि से किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट, और उनकी ध्वनि का नाम शैली है।

(३) शैली को विचारों का परिधान न कह कर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

(४) शैली के आधार तत्व हैं—शब्द और वाक्य। शब्द के अंतर्गत शक्ति, गुण और वृत्ति का विधान है, और वाक्य के अन्तर्गत रचना का समावेश है।

(५) गुण, रीति, वृत्ति के विषय में डा० श्यामसुन्दर दास की धारणा है : "माधुर्य गुण के लिए मधुरावृत्ति और वैदर्भी रीति; ओज गुण के लिए

रुषा वृत्ति और गौड़ी रीति, तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि डाक्टर श्यामसुन्दर दास रीतिवादी नहीं थे—वास्तव में रीतिवादी का समर्थन आधुनिक युग में संगत भी नहीं है। उन्होंने बुद्धि-तत्व, कल्पना-तत्व तथा भाव-तत्व अर्थात् अर्थ को ही काव्य में प्रमुख माना है। किन्तु उनका दृष्टिकोण समन्वयात्मक है—वाणी के बिना अर्थ का क्या रूप ? अतएव शैली को काव्य का आवश्यक अंग मानने में उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। उनके शैली या रीति के लक्षण पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रभाव है, परन्तु फिर भी वस्तु-दृष्टि से यह वामन के लक्षण से बहुत भिन्न नहीं है। रचना-चमत्कार या चमत्कृत रचना वामन की विशिष्टा पदरचना से भिन्न नहीं है। डा० श्यामसुन्दर दास के मत से शैली के आधार हैं—शब्द-शक्ति, गुण, वृत्ति तथा वाक्य-रचना। यह मत भी वामन के मत से प्रायः अभिन्न ही है। किन्तु इनका रीति-वृत्ति-विवेचन शास्त्रीय परम्परा से कुछ हटकर है : इन्होंने न तो वामन का ही अनुसरण किया है और न मम्मट का ही। वामन के अनुसार वैदर्भी समग्रगुणसम्पन्ना है—उसकी परिधि केवल माधुर्य तक ही सीमित नहीं है, और पांचाली के गुण हैं माधुर्य तथा सौकुमार्य न कि प्रसाद। इसी प्रकार मम्मट का विवेचन भी भिन्न है:—उन्होंने माधुर्य-विशिष्ट वृत्ति को उपनागरिका कहा है न कि मधुरा, और प्रसादगुण-विशिष्ट वृत्ति को प्रौढ़ा नाम से नहीं वरन् कोमला नाम से अभिहित किया है। मधुरा और प्रौढ़ा नामों का प्रयोग रुद्रट में मिलता है और डा० श्यामसुन्दर दास ने इन्हें वहीं से ग्रहण किया है। परन्तु अनुसरण इन्होंने रुद्रट का भी नहीं किया, क्यों कि रुद्रट ने मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा ये पाँच वृत्तियां मानी हैं। रुद्रट ने न तो गुणों और वृत्तियों का कोई निश्चित सम्बन्ध माना है और न वृत्तियों तथा रीतियों का, उनकी तो रीतियां भी गुणाश्रित नहीं हैं। फिर भी डा० श्यामसुन्दरदास ने अकारण ही यह नाम-भेद नहीं किया—इसके पीछे कदाचित् रीति-गुण-वृत्ति सम्बन्धी उस असंगति को दूर करने की भावना रही है जिसका प्रारम्भ मम्मट अथवा मम्मट के टीकाकारों द्वारा हुआ है। परन्तु डाक्टर महोदय भी पूर्णतः सफल नहीं हुए हैं—उन्होंने एक त्रुटि को दूर कर दूसरी त्रुटि का सूत्रपात कर दिया है। प्रसाद-गुण-विशिष्ट वृत्ति का नाम कोमला की अपेक्षा प्रौढ़ा निश्चय ही अधिक संगत है। प्रसाद गुण प्रौढ़ रचना का परि-

चायक है, केवल कोमल रचना का नहीं। इसी प्रकार उपनागरिका के स्थान पर माधुर्य-विशिष्ट वृत्ति को मधुरा कहना भी ठीक ही है। परन्तु एक तो प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति को पर्याय मानना असंगत है क्योंकि, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, पांचाली रीति के उद्भावक वामन ने स्पष्ट ही उसे केवल माधुर्य और सौकुमार्य से उपपन्न माना है, प्रसाद से नहीं। दूसरे वैदर्भी और मधुरा को एक मानने में फिर उसी त्रुटि की पुनरावृत्ति हो जाती है। डा० श्यामसुन्दर दास इस उलझन को सुलझा नहीं सके हैं—वरन् एक प्रकार से और भी उलझा बैठे हैं।

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में रीति, गुण, वृत्ति का शैली के अन्तर्गत विवेचन किया है। बाबूजी की दृष्टि व्यापक और सहज समन्वयात्मक है, साथ ही उनका पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा काव्य-शास्त्र से घनिष्ठ परिचय है, उन्होंने भी केवल मम्मट को प्रमाण नहीं माना—भरत, भामह, दण्डी, वामन, कुंतक, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि प्रायः सभी के मतों का सारांश ग्रहण किया है और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के प्रकाश में उन्हें प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। गुणों के विषय में मम्मट के विवेचन को उचित गौरव देते हुए भी वे यह नहीं मानते कि वामन के दश गुणों का अन्तर्भाव केवल तीन गुणों में अनिवार्यतः कर ही देना चाहिए। उनकी धारणा है—और वह ठीक भी है—कि वामन के इन गुणों से शैली की अनेक विशेषताएं प्रकाश में आती हैं। उन सभी को मान्यता देने से शैली के तत्वों के विश्लेषण में निश्चय ही सहायता मिलती है। गुण के प्रसंग में बाबूजी ने एक रोचक बात कही है।—

> शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
> व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥

की व्याख्या करते हुए उन्होंने ने लिखा है : 'प्रसादगुण माधुर्य और ओज दोनों के साथ रह सकता है, इसलिए उसके दो उपमान अग्नि और जल दिये गये हैं। अग्नि का सम्बन्ध ओज से है, और जल का सम्बन्ध माधुर्य से।' यह बाबूजी का अपनी मौलिक सूझ तो नहीं है—काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इसका संकेत किया है, तथापि यह आख्यान सर्वथा सटीक तथा अपने आप में अत्यन्त रोचक है। उनके रीति, गुण आदि के विवेचन में तो कोई विशेष मौलिकता नहीं है, परन्तु शैली और रीति का तुलनात्मक अध्ययन

निश्चय ही उपयोगी है। यहाँ कुन्तक के उद्धरण के आधार पर राघवन से प्रेरणा प्राप्त कर बाबू जी ने यह सिद्ध किया है कि 'शैली ही व्यक्तित्व है' का सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र के लिए अपरिचित नहीं था। कुल मिलाकर प्रो० गुलाबराय के रीति-गुण विवेचन में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगत होता है, और यह उनकी अपनी विशेषता है।

(५) सुमित्रानन्दन पन्त

वर्तमान युग हिन्दी काव्य में कला के पुनरुत्थान का युग है—कला की समृद्धि की दृष्टि से छायावाद का स्थान हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। छायावाद में कला की यत्नज तथा अयत्नज दोनों प्रकार की शोभा का उत्कर्ष मिलता है, और इस उत्कर्ष में सबसे अधिक योग दान है पंतजी का। पंत जी में छायावाद की मणि-कुट्टिम कला का अपूर्व वैभव है। वामन की वैदर्भी रीति और उसके समग्र गुणों की सम्पदा पंत-काव्य से अधिक और कहां मिलेगी? पद-रचना-सौन्दर्य पंत की कला की विशेषता है। किन्तु सिद्धान्त रूप में पंतजी रीतिवादी नहीं हैं—उन्होंने भी रीतिवाद का विरोध ही किया है। पल्लव की भूमिका में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं।

रीतिकाव्य की रूढ़ि-ग्रस्त पद-रचना की कदर्थना करते हुए पंतजी ने लिखा है—'भाव और भाषा का ऐसा शुक्र-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास तथा तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया।'

पंतजी का अभिमत है कि ब्रजभाषा में केवल माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का ही उत्कर्ष सम्भव है—अतएव वह पांचाली सदृश निर्जीव रीति के ही उपयुक्त है। काव्य की समर्थ भाषा में समस्त गुणों की सम्पदा होनी चाहिए। इसी तथ्य को अपनी रोचक लाक्षणिक शैली में अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं:

"ब्रज-भाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अंचल-छाया में सौन्दर्य का काश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहां चाँदनी के झरने राशि राशि मोती बिखराते हों, विहग-कुल का कलरव द्यावापृथ्वी को स्वर के तारों से गूंथ देता हो, सहस्र-रंगों की पुष्प-शय्या पर कल्पना का इन्द्रधनुष अर्ध-प्रसुप्त पड़ा हो, जहां सौन्दर्य की वासन्ती नन्दन-वन का स्वप्न देखती हो, पर उसका वक्ष-स्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध, जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, दीप-उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्ण-शीत-प्रधान देशों के वनस्पति-वृक्ष, पुष्प-पौधे, पशु-पक्षी, विविध प्रदेशों का जल-वायु, आचार-व्यवहार,—जिसके शब्दों में वात-उत्पात, वह्नि-बाढ़, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बांधा जा सके, जिसके पृष्ठों पर मानव-जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके।"

(पल्लव भूमिका पृ० १४-१५)

रीतिकाव्य के ह्रास युग में हीनतर कवियों के हाथ में पड़ कर रीति रूढ़ि का पर्याय बन गई थी। द्विवेदी युग के कवियों ने उसके रूढ़ि-पाश तो काट कर फेंक दिये—उसको संजीवन भी दिया, परन्तु वे उसके व्यक्तित्व को उचित समृद्धि प्रदान नहीं कर सके। यह परिष्कृति और समृद्धि उसे पंत जी से प्राप्त हुई। रीति रूढ़ि-मुक्त हुई, नवीन जीवन के अनुकूल गुण-सम्पदा से समृद्ध हुई, और कदाचित् फिर एक दूसरे प्रकार की रूढ़ियों में बंधने लगी। इस प्रकार सिद्धान्त की दृष्टि से रीतिवाद के समर्थक न होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से वर्तमान युग में रीति का सबसे अधिक उत्कर्ष पंत जी ने ही किया है।

सामान्य रूप से वर्तमान युग की कला में रीति की अपेक्षा अभिव्यंजना का ही प्राधान्य रहा है। छायावाद की ही कला में अभिव्यंजना का अद्भुत विकास मिलता है। छायावाद के उपरान्त अब अभिव्यंजना-विषयक प्रयोगों का युग आया है—जहां शब्द में उसके प्रचलित अर्थ से भारी अर्थ भरने के प्रयत्न चल रहे हैं जिनके फल-स्वरूप रचना की नयी रीतियां सामने आ रही हैं। परन्तु इन रीतियों का अस्तित्व वस्तु-परक न होकर सर्वथा

व्यक्ति-परक ही है, अतएव वामनीया रीतियों से इनका सम्पर्क सर्वथा टूट गया है।

हिन्दी काव्यशास्त्र में रीति-सिद्धान्त का यही संक्षिप्त इतिहास है। जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है हमारे काव्यशास्त्र में रीतिवाद सिद्धान्त रूप में कभी लोकप्रिय नहीं रहा—वैसे रीति के प्रभाव से अछूता काव्य कौन-सा हो सकता है?

रीति-सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों के साथ संबंध

रीति सम्प्रदाय, जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय काव्यशास्त्र का देहवादी सम्प्रदाय है—अतएव वह अलंकारवाद तथा वक्रोक्तिवाद का सहयोगी और रस तथा ध्वनिवाद का प्रतियोगी है। रीति-सिद्धांत के स्वरूप को सम्यक् रूप से व्यक्त करने के लिए इन सहयोगी तथा प्रतियोगी सिद्धान्तों के साथ उसके सम्बन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

रीति तथा अलंकार—अलंकार सम्प्रदाय की स्थापनाएं इस प्रकार हैं :

(१) काव्य का सौंदर्य शब्द-अर्थ में निहित है।

(२) शब्द-अर्थ के सौंदर्य के कारण हैं अलंकार:—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। दण्डी काव्यादर्श २. १।

(३) अलंकार के अन्तर्गत काव्य-सौंदर्य के सभी प्रकार के तत्व आ जाते हैं : काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार के अन्तर्गत आता है और शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार के अन्तर्गत। इस प्रकार गुण, रीति आदि भी अलंकार हैं : काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः। (दण्डी) अर्थात् वैदर्भ तथा गौडीय मार्गों का भेद करने के लिए (श्लेष-प्रसाद आदि) कुछ अलंकारों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

और सन्धि, संध्यंग, वृत्ति, लक्षण आदि भी अलंकार हैं :

यच्च सन्ध्यंग-वृत्त्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टं अलंकारतयैव नः ॥ (दण्डी)

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन की स्थापनाएं इससे मूलतः भिन्न न होते हुए भी परिणामतः भिन्न हो जाती हैं :

(१) वामन भी काव्य का सौंदर्य शब्द-अर्थ में निहित मानते हैं ।

(२) वामन भी अलंकार का प्रयोग काव्य-सौंदर्य के पर्याय रूप में करते हैं : सौंदर्यमलंकारः । परन्तु उनका आशय दण्डी आदि से भिन्न है ।

(३) वे अलंकार की दो कोटियाँ मान लेते हैं : गुण और अलंकार । माधुर्यादिगुण सौंदर्य के मूल कारण अर्थात् काव्य के नित्य धर्म हैं, और उपमादि अलंकार उसके उत्कर्षवर्धक अर्थात् अनित्य धर्म हैं । दूसरे शब्दों में गुण नित्य अलंकार हैं और प्रसिद्ध 'अलंकार' अनित्य । इस प्रकार वामन अलंकार की परिधि संकुचित कर देते हैं और उसकी कोटि अपेक्षाकृत हीन हो जाती है । वामन स्पष्ट कहते हैं कि अकेला गुण काव्य को शोभा-सम्पन्न कर सकता है किन्तु अकेला अलंकार नहीं कर सकता । काव्य में यदि गुण का मूल सौंदर्य ही न हो तो 'अलंकार' उसे और भी कुरूप बना देता है ।

बस यहीं आकर अलंकार सिद्धान्त और रीति सिद्धान्त में अन्तर पड़ जाता है । दोनों का दृष्टिकोण मूलरूप में समान हैं :—दोनों ही काव्य-सौंदर्य को शब्द-अर्थ में निहित मानते हैं, दोनों ही अलंकार को समिष्टि रूप में काव्य-सौंदर्य का पर्याय मानते हैं । परन्तु अलंकार सम्प्रदाय जहां उपमा आदि 'अलंकारों' को मुख्य रूप से और अन्य गुण, वृत्ति, लक्षण आदि को उपचार रूप से अलंकार मानता है, वहां रीति सम्प्रदाय रीति और गुण को मुख्य रूप से और उपमादि को गौण रूप से अलंकार मानता है । अर्थात् रीति सम्प्रदाय में गुण अथवा गुणात्मा रीति की प्रधानता है, और उपमादि 'अलंकारों' की स्थिति अपेक्षाकृत हीन है—किन्तु अलंकार सम्प्रदाय में उनकी स्थिति यदि गुण आदि से श्रेष्ठतर नहीं तो कम से कम उनके समकक्ष अवश्य है ।

यहां यह प्रश्न उठता है कि पारिभाषिक शब्दों के आवरण को हटा कर गुणात्मा रीति और 'अलंकार' में वस्तुगत भेद क्या है ? और स्पष्ट शब्दों में, शब्द-अर्थ का कौनसा प्रयोग रीति है, कौन सा 'अलंकार' ? वामन ने रीति

का लक्षण किया है विशिष्टा पदरचना—अर्थात् गुणमयी पदरचना। गुण के दो भेद हैं शब्द-गुण और अर्थ-गुण : शब्द-गुण में वर्ण-योजना तथा समास-प्रयोग पर आश्रित सौंदर्य और अर्थ-गुण में उपयुक्त सार्थक शब्द-चयन एवं रागात्मक तथा प्रज्ञात्मक तथ्यों के सुचारु क्रम-बन्धन आदि का अन्तर्भाव है। इस प्रकार रीति से अभिप्राय ऐसी रचना से है जो अपनी वर्ण-योजना, समस्त पदों के कुशल प्रयोग, उपयुक्त अर्थवान् शब्दों के चयन तथा भावों एवं विचारों के सुचारु क्रम-बन्धन के कारण मन का प्रसादन करती है। अतएव रीति में रचना अर्थात् व्यवस्था एवं अनुक्रम का सौंदर्य है। अलंकार का सौंदर्य अनेक अंशों में इससे भिन्न है। अलंकारों को अलंकारवादियों ने शब्द-अर्थ के (काव्य) शोभाकर धर्म कहा है। धर्म शब्द से सबसे पहले तो स्फुटता का द्योतन होता है, अर्थात् अलंकार रचना का व्यवस्थित सौंदर्य न होकर स्फुट सौंदर्य-विधायक तत्व है। दूसरे उसमें चमत्कार का भी आभास है : आधुनिक शब्दावली में रीति वस्तुगत शैली की पर्याय है और अलंकार उक्ति-चमत्कार का अथवा शब्द-अर्थ के प्रसाधन का—वामन उसको अतिरिक्त प्रसाधन ही मानते हैं। इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है, अब यह प्रश्न है? इसका उत्तर यह है कि रीति का क्षेत्र अधिक व्यापक है—अलंकार रीति का अंग है : वामन ने और पाश्चात्य आचार्यों ने उसे रीति या शैली का अंग रूप माना है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि रीति का विधान भी प्रायः वस्तु-परक ही है, फिर भी अर्थ-गुण कान्ति या अर्थ-गुण माधुर्य में व्यक्ति-तत्व का सद्भाव रहता है। अलङ्कार में भी रसवत् तथा ऊर्जस्विन् आदि अलङ्कारों का अन्तर्भाव व्यक्तितत्व के समावेश का ही प्रयास है, परन्तु वहां रसवत् आदि अलङ्कारों का कोई विशेष महत्व नहीं है। रीति सम्प्रदाय में अन्य गुणों के साथ अर्थ-गुण कान्ति भी वैदर्भी रीति अथवा सत्काव्य का अनिवार्य तत्व है—इस प्रकार रस का भी सत्काव्य के साथ अनिवार्य सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप में हो ही जाता है। अतएव अलङ्कार-सिद्धान्त की अपेक्षा रीति-सिद्धान्त में व्यक्ति या आत्म तत्व अधिक है।

(७) रीति और वक्रोक्ति : कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है वैदग्ध्य-भंगीभणिति। वैदग्ध्य का अर्थ है काव्य या कला नैपुण्य जो अर्जित विद्वत्ता या शास्त्र-ज्ञान से भिन्न प्रतिभा-जन्य होता है। भंगी-भणिति का अर्थ है उक्ति-चारुत्व। अतएव वक्रोक्ति का अर्थ हुआ कवि-प्रतिभा-जन्य उक्ति-

चारुत्व । यह वक्रता या चारुत्व छः प्रकार का होता है, वर्ण-वक्रता, पद-पूर्वार्ध-वक्रता अर्थात् पर्याय शब्दों तथा विशेषण आदि का चारु प्रयोग, पद-परार्ध-वक्रता अर्थात् प्रत्यत्य-वक्रता, वाक्य-वक्रता अर्थात् अर्थालङ्कार-प्रयोग, प्रकरण-वक्रता या कथा के किसी प्रकरण की चारु कल्पना, प्रबन्ध-वक्रता या प्रबन्ध-विधान-कौशल । इस प्रकार वक्रोक्ति का क्षेत्र रीति की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक है; वर्ण से लेकर प्रबन्ध-विधान तक का चारुत्व उसके अन्तर्गत समाविष्ट है। रीति का क्षेत्र तो वास्तव में वक्रता के पहले चार भेदों तक ही सीमित हैं : वर्ण-वक्रता रीति के शब्द-गुणों की वर्ण-योजना है, पद-पूर्वार्ध तथा पदपरार्ध वक्रता में अर्थ-गुण ओज, उदारता, सौकुमार्य आदि का अन्तर्भाव हो जाता है, वाक्य-वक्रता में अर्थालङ्कार हैं ही। बस रीति का अधिकार-क्षेत्र यहीं समाप्त हो जाता है । वह वर्ण, पद, तथा वाक्य से आगे नहीं जाती : प्रकरण-कल्पना, प्रबन्ध-कल्पना उसकी परिधि से बाहर हैं। अर्थात् वह काव्य की भाषा-शैली तक ही सीमित है, काव्य की व्यापक वर्णन-शैली तक उसकी पहुँच नहीं है। रीति में वर्णों का, पदों का तथा भावों और विचारों का क्रम-बंधन मात्र है, जीवन की घटनाओं का, जीवन के स्थिर दृष्टिकोणों का वह क्रम-बन्धन या नियोजन नहीं आता जो वक्रोक्ति में आता है। और स्पष्ट शब्दों में रीति केवल भाषा-काव्य-शैली तक ही सीमित है, किन्तु वक्रोक्ति समस्त काव्य-कौशल की पर्याय है । इस प्रकार जैसा कि स्वयं कुंतक ने ही निर्देश किया है रीति या मार्ग वक्रोक्ति का एक अंग मात्र है : वक्रोक्ति कवि-कर्म है, रीति कवि-मार्ग है।

दोनों सम्प्रदायों का दृष्टिकोण कुछ अंशों में समान है। दोनों में कवि-कर्म की बहुत-कुछ वस्तु-परक व्याख्या है। वर्ण-वक्रता से लेकर प्रबन्ध-वक्रता तक वक्रोक्ति के सभी रूपों में काव्य को कवि का कौशल मात्र माना गया है—कवि-कर्म अन्ततः नियोजन की कुशलता मात्र ठहरता है : उसमें कवि की प्रतिभा को तो आधार माना गया है, परन्तु कवि की सवासनता अथवा हार्दिक विभूतियों की और उधर पाठक और श्रोता की सहृदयता की उपेक्षा है। इस प्रकार रस की उपेक्षा तो दोनों सम्प्रदायों में है, परन्तु इसके आगे व्यक्ति-तत्व की उपेक्षा दोनों में समान नहीं मानी जा सकती क्योंकि वक्रोक्ति को कुन्तक निसर्गतः कविप्रतिभा-जन्य मानते हैं—उसका प्राणतत्व है विदग्धता जो विद्वता से भिन्न है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीति-सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय के दृष्टिकोणों में यहां तक तो मूलभूत समानता है कि

दोनों ही रस की उपेक्षा कर कवि-कर्म का वस्तु-परक विश्लेषण करते है, परन्तु आगे चलकर वक्रोक्तिवाद व्यक्ति-तत्व को 'कवि-प्रतिभा' के रूप में आग्रह-पूर्वक स्वीकार कर लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि वक्रोक्तिवाद की 'कवि-प्रतिभा' आधुनिक शब्दावली में सहृदयता की अपेक्षा कल्पना की ही महत्व-स्वीकृति है, परन्तु फिर भी कुन्तक का दृष्टिकोण व्यक्ति-तत्व की महत्ता को तो स्वीकार करता ही है। वक्रोक्ति को प्रतिभा-जन्य मानना, विदग्धता को वक्रता का प्राणतत्व मानना, और मार्ग (रीति) में कवि-स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान देना—यह सब व्यक्ति-तत्व का ही आग्रह है। वास्तव में कुन्तक के समय तक ध्वनि-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और रस का उत्कर्ष फिर स्थापित हो चुका था, इसलिए वामन की अपेक्षा उनके सिद्धान्त में व्यक्ति-तत्व का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही था।

रीति और वक्रोक्ति का साम्य और वैषम्य संक्षेप में इस प्रकार है :

(१) दोनों के मूल दृष्टिकोणों में पर्याप्त साम्य है—दोनों में काव्य का वस्तु-परक विवेचन है। दोनों सिद्धान्त काव्य को रचना-नैपुण्य मानते हैं—आत्म-सृजन नहीं।

(२) रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति की परिधि व्यापक है : रीति केवल वर्ण, पद, तथा वाक्य की रचना तक ही सीमित है, वक्रोक्ति का क्षेत्र प्रकरण तथा प्रबन्ध रचना तक व्याप्त है।

(३) रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति में व्यक्ति-तत्व का कहीं अधिक समावेश है—वक्रोक्ति में कवि-प्रतिभा और कवि-स्वभाव को आधार माना गया है। इसी अनुपात से वक्रोक्ति रीति की अपेक्षा रस-सिद्धान्त के भी निकट है।

रीति और ध्वनि : रीति और ध्वनि सिद्धान्तों के दृष्टिकोण परस्पर-विपरीत हैं। रीति सम्प्रदाय देहवादी है और ध्वनि-सम्प्रदाय आत्मवादी। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना रीति की स्थापना के लगभग अर्धशताब्दी उपरांत हुई है, अतएव प्रत्यक्षरूप में रीति-सिद्धान्त पर ध्वनि का प्रभाव या रीति में उसका अंतर्भाव आदि तो सम्भव नहीं हो सकता किन्तु, जैसा कि आनन्दवर्धन ने सिद्ध किया है, रीति-सिद्धांत में ध्वनि के प्रच्छन्न संकेत निस्संदेह मिलते हैं। वामनकृत अर्थालंकार वक्रोक्ति के लक्षण—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः में व्यंजना की स्वीकृति है। स्वयं रीति-गुण के विवेचन में ही अनेक स्थलों पर ध्वनि के

संकेत ढूंढ़ निकालना कठिन नहीं है। उदाहरण के लिए अनेक शब्द-गुणों में वर्ण-ध्वनि का संकेत है, अर्थ-गुण ओज के अन्तर्गत अर्थ-प्रौढ़ि के कई रूपों में भी ध्वनि की प्रच्छन्न स्वीकृति है : 'समास' भेद में केवल 'निमिषति' कह देने से ही दिवांगना का व्यक्तित्व ध्वनित हो जाता है, इसी प्रकार 'साभिप्राय विशेषण' प्रयोग में पर्याय-ध्वनि (पिनाकी और कपाली के ध्वनि-भेद) का ही प्रकारान्तर से वर्णन है। अर्थ-गुण कान्ति में तो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही।

ध्वनि-सम्प्रदाय समन्वयवादी है। ध्वनिकार आरम्भ में ही प्रतिज्ञा करके चले हैं कि ध्वनि में सभी सिद्धान्तों का समाहार हो जाएगा, अतएव रीति का भी ध्वनि में समाहार हुआ है। रीति के बाह्य तत्वों वर्ण-योजना और समास का अन्तर्भाव वर्ण-ध्वनि और रचना-ध्वनि में किया गया है। उधर दश गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों के भीतर करते हुए उनका असंलक्ष्यक्रम ध्वनि रस से अचल सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वामन ने रीति को गुणात्मक मानते हुए रीति को प्रधानता दी थी—और कम से कम उसे गुण के समतुल्य अवश्य माना था। ध्वनिवादियों ने उसे संघटना रूप मानते हुए गुण के आश्रित माना : गुण की स्थिति अचल है, संघटना की चल है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धांत में रीति का स्थान गौण भी हो जाता है।

रीति और रस : रीति-सिद्धान्त की स्थापना करते समय वामन के समक्ष रस-सिद्धान्त निश्चय ही विद्यमान था। वास्तव में रस को दृश्यकाव्योचित मानने के कारण ही अलंकार और रीति सिद्धान्तों की उद्भावना हुई। वामन ने काव्य में रस को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया और उसे रीति के गुणों में से केवल एक गुण अर्थ-गुण कान्ति का आधार-तत्व माना। इस प्रकार उनके मत से रस रीति का एक अङ्ग मात्र है। रस की दीप्ति रीति की शोभा में योगदान करती है—यही रस की सार्थकता है। अर्थात् रस अंग है, रीति अंगी। परन्तु इसके विपरीत रसवाद रस को आत्मा और रीति को केवल अंगसंस्थानवत् मानता है। वर्णगुम्फ और समास से निर्मित रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस का धर्म है, अतएव गुण के सम्बन्ध से रीति रसाश्रिता है। उसके स्वरूप का निर्णय रस के द्वारा ही होता है : आनन्दवर्धन ने रसौचित्य को रीति का प्रधान नियामक माना है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार कीजिए। रस चित्त की आनन्दमयी स्थिति है। गुण भी चित्त की स्थितियां ही हैं : माधुर्य द्रुति है,

ओज दीप्ति और प्रसाद परिव्याप्ति—ये रस-दशा के पूर्व की स्थितियां हैं जो चित्त को उस आनन्दमयी परिणति के लिए तैयार करती हैं। वर्ण तथा शब्द मन की स्थितियों के प्रतीक हैं—वे स्वयं मन की स्थितियां तो नहीं हैं परन्तु विशेष मनोदशाओं के संस्कार उन पर आरूढ़ हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि कुछ वर्ण अथवा शब्द चित्त की द्रुति के अनुकूल पड़ें और कुछ दीप्ति के और कुछ परिव्याप्ति के। इस प्रकार ये वर्ण और शब्द द्रुति-रूप माधुर्य के, दीप्ति-रूप ओज के, और परिव्याप्ति-रूप प्रसाद के अनुकूल या प्रतिकूल पड़ते हैं। यही इनकी सार्थकता है। अलंकार की तरह रीति भी रस का उपकार करती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। इसीलिए उसे अंग-संस्थान के समान माना गया है। सुन्दर शरीर रचना जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्ष-वर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रस का उपकार करती है।

इस प्रकार रीति और रस सम्प्रदायों के दृष्टिकोण भी मूलतः परस्पर विपरीत हैं। रीति सम्प्रदाय देह को ही जीवन-सर्वस्व मानता हुआ आत्मा को उसका एक पोषक तत्व मात्र मानता है, और उधर रस सम्प्रदाय आत्मा को मूल सत्य मानता हुआ देह को उसका बाह्य माध्यम मात्र समझता है। दोनों की ओर से समझौते का प्रयत्न हुआ है, परन्तु यह समझौता परस्पर सम्मान-सूचक नहीं है: रीति रस को अपने उपकरण रूप में ग्रहण करती है और रस रीति को अपने अंग-संस्थान रूप में स्वीकार करता है। वाणी और अर्थ का वह काम्य समन्वय, जिसका आवाहन कालिदास ने किया है, दोनों की साम्प्रदायिक भावना के कारण मान्य नहीं हो सका—रीति ने अपने स्वरूप को आवश्यकता से अधिक वस्तुगत बना लिया है और रस ने व्यंजना के द्वारा अपने स्वरूप को अत्यधिक व्यक्ति-परक। पाश्चात्य साहित्य में मनोविज्ञान के प्रभाववश आज अनुभूति और अभिव्यक्ति अथवा भाव और शैली का जो अनिवार्य सहभाव माना गया है वह संस्कृत काव्यशास्त्र में 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति में ही सीमित होकर रह गया, विधान रूप में मान्य न हो सका।

रीति-सिद्धान्त की परीक्षा

रीति-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में अन्ततः मान्य नहीं हुआ—अलंकार सम्प्रदाय तो फिर भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहा, परन्तु वामन के उपरान्त रीति-सिद्धान्त प्रायः निश्शेष ही हो गया। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाला कोई बिरला ही पैदा हुआ, समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन के पश्चात केवल दो नाम ही इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं : एक वामन के टीकाकार तिप्पभूपाल का—असवो रीतयः, और दूसरा अमृतानन्द-योगिन् का—रीतिरात्माऽत्र (अलंकारसंग्रह)। इनमें से एक तो केवल व्याख्याता मात्र हैं, और दूसरे का कोई विशिष्ट स्थान नहीं।

यह स्वाभाविक भी था क्योंकि अपने उग्र रूप में रीतिवाद की नींव इतनी कच्ची है कि वह स्थायी नहीं हो सकता था। देह को महत्व देना तो आवश्यक है, परन्तु उसे आत्मा या जीवन का मूल आधार ही मान लेना प्रवंचना है।

रीतिवाद में पद-रचना (शैली) को ही काव्य का सर्वस्व माना गया है—रस को शैली का अंग माना गया है और वह भी महत्वपूर्ण अंग नहीं। एक तो उसका समावेश बीस गुणों में से एक गुण कान्ति में ही है और दूसरे स्वयं कांति अपने आप में कोई विशिष्ट गुण नहीं है क्योंकि कांति और ओज गौड़ीया के गुण माने गये हैं और गौड़ीया को वामन ने निश्चय ही अप्रधान रीति माना है : "इनमें से पहली अर्थात् वैदर्भी ही ग्राह्य है क्योंकि उसमें सभी गुण वर्तमान रहते हैं। शेष दो अर्थात् गौड़ीया और पांचाली नहीं क्योंकि उनमें थोड़े से ही गुण होते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि इन दो का भी

अभ्यास करना चाहिये क्योंकि ये वैदर्भी तक पहुँचने के सोपान हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि अतत्व के अभ्यास से तत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है।" (काव्यालंकारसूत्र)। गौड़ीया के इस तिरस्कार से यह स्पष्ट है कि रीति सिद्धांत में कांति और उसके आधार तत्व रस का कोई विशेष महत्व नहीं है। रस का यह तिरस्कार या अवमूल्यन ही अन्त में रीतिवाद के पतन का कारण हुआ और यही संगत भी था। काव्य का मूल गुण है रमणीयता, उसकी चरम सिद्धि है सहृदय का मनःप्रसादन, और उद्दिष्ट परिणाम है चेतना का परिष्कार। यह सब भावों का ही व्यापार है—भाव-तत्व के कारण ही काव्य में रमणीयता आती है, भाव-तत्व ही सहृदय के भावों को उद्बुद्ध कर उन्हें उत्कट आनन्दमयी चेतना में परिणत करता है, और उसी के द्वारा भावों का परिष्कार सम्भव है। शैली में भी रमणीयता का समावेश भाव-तत्व के द्वारा ही होता है: भावों की उत्तेजना से ही वाणी में उत्तेजना आती है—चित्त के चमत्कार से ही वाणी में चमत्कार का समावेश होता है, यह स्वतः-सिद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सामान्य एवं व्यापक रूप में भी जीवन का प्रेरक तत्व राग ही है। अतएव राग या रस का तिरस्कार दर्शन भी नहीं कर सका, काव्य का तो समस्त व्यापार ही उस पर आश्रित है। रीति-सिद्धान्त ने रीति को आत्मा और रस को एक साधारण अंग मात्र मान कर प्रकृत क्रम का विपर्यय कर दिया, और परिणामतः उसका पतन हुआ।

परन्तु फिर भी रीतिवाद सर्वथा सारहीन अथवा निर्मूल्य सिद्धान्त नहीं है। वामन अत्यंत मेधावी आचार्य थे—उनके अपने युग की परिसीमाएं थीं, तथापि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है, और उनके सिद्धान्त का अपना उज्ज्वल पक्ष है।

सब से पहले तो वह इतना एकांगी नहीं है जितना प्रतीत होता है। उसके अनुसार काव्य का आदर्शरूप वैदर्भी में प्राप्त होता है जहां दश शब्द-गुणों और दश अर्थ-गुणों की पूर्ण सम्पदा मिलती है। दश शब्द-गुणों के विश्लेषण से, आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में, निम्नलिखित काव्य-तत्व उपलब्ध होते हैं:

(१) वर्ण-योजना का चमत्कार—

(क) झंकार (सौकुमार्य तथा श्लेष गुणों में)

(ख) औज्ज्वल्य (कान्ति)

(२) शब्द-गुम्फ का चमत्कार (ओज, प्रसाद, समाधि, समता, अर्थव्यक्ति)

(३) स्फुट शब्द का चमत्कार (माधुर्य, कांति)

(४) लय का चमत्कार—(उदारता)

उधर दश अर्थ-गुणों का विश्लेषण निम्नलिखित काव्य-तत्वों की ओर निर्देश करता है :

(१) अर्थ-प्रौढ़ि—अर्थात् समास तथा व्यास शैलियों का सफल प्रयोग, साभिप्राय विशेषण-प्रयोग आदि। (ओज)

(२) अर्थवैमल्य—अन्यून-अनतिरिक्त शब्दों का प्रयोग, आनुगुणत्व (प्रसाद)।

(३) उक्ति-वैचित्र्य (माधुर्य)

(४) प्रक्रम (समता)

(५) स्वाभाविकता तथा यथार्थता। (अर्थव्यक्ति)

(६) अग्राम्यत्व—अभद्र, अमंगल तथा अश्लील शब्दों का त्याग (औदार्य और सौकुमार्य)

(७) अर्थ-गौरव (समाधि, श्लेष)

(८) रस (कान्ति)

इनमें से अर्थ-गौरव, रस, अग्राम्यत्व तथा स्वाभाविकता वर्ण्य विषय के गुण हैं और अर्थ-वैमल्य, उक्ति-वैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थप्रौढ़ि अर्थात् समास और व्यास शैली तथा साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग वर्णन-शैली के गुण हैं।

इस प्रकार वामन के अनुसार आदर्श काव्य के मूल तत्व हैं :—

शैलीगत :— अर्थवैमल्य (आनुगुणत्व), उक्ति-वैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थ-प्रौढ़ि अर्थात् समास-शक्ति, व्यास-शक्ति तथा साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग।

विषय-गत :— अर्थ-गौरव, रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता।

आधुनिक आलोचना-शास्त्र के अनुसार काव्य के चार तत्व हैं : राग-तत्व, बुद्धितत्व, कल्पना और शैली। उपर्युक्त गुणों में ये चारों तत्व यथावत्

समाविष्ट हैं। रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता रागतत्त्व हैं; अर्थ-गौरव बुद्धितत्व है; उक्ति-वैचित्र्य तथा साभिप्राय विशेषण कल्पना-तत्व हैं; और अर्थवैमल्य, समासगुण तथा प्रक्रम शैली के तत्व हैं।

अतएव वामन का रीतिवाद वास्तव में सर्वथा एकांगी नहीं है—उसमें भी अपने ढंग से काव्य के सभी मूल तत्वों का समावेश है।

इसके अतिरिक्त रीति अथवा शैली की महत्व-प्रतिष्ठा अपने आप में भी कोई नगण्य सिद्धान्त नहीं है। वाणी के बिना अर्थ गूंगा है। शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय है जिसे विधाता ने हृदय का मिठास देकर भी रसना नहीं दी और कल्पना उस पक्षी के समान असमर्थ है जिसे, पर बांध कर, पिंजड़े में डाल दिया गया हो। वास्तव में काव्य को शास्त्र से पृथक करने वाला तत्व अनिवार्यतः शैली ही है। शास्त्र में विचार की समृद्धि तो रहती ही है—कल्पना का भी प्रचुर उपयोग हो सकता है; इसी प्रकार भाव का सौन्दर्य भी लोक-वार्ता में निस्सन्देह रहता है, परन्तु अभिव्यंजना-कला—शैली—के अभाव में वे काव्य-पद के अधिकारी नहीं हो सकते। इस दृष्टि से शैलीतत्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है, और रीतिवाद ने उस पर बल देकर काव्यशास्त्र का निस्संदेह ही उपकार किया है।

हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः की
हिन्दी व्याख्या
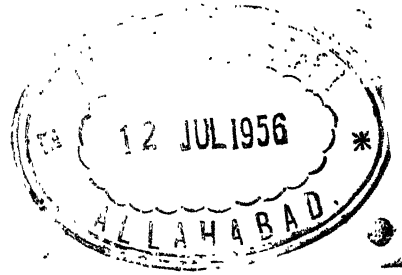
दो शब्द

'हिन्दी ध्वन्यालोक' के प्रकाशन के बाद डेढ़ वर्ष के भीतर यह तीसरा ग्रन्थ विद्वद्वर्ग की सेवा में प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। अगस्त १९५२ में 'ध्वन्यालोक' की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित हुई थी। हिन्दी तथा संस्कृत के सभी क्षेत्रों में उसका भारी स्वागत हुआ। उत्तरप्रदेश के शिक्षा-विभाग ने ८००) का पुरस्कार देकर उसको सम्मानित किया। उसके बाद नवम्बर १९५३ में 'हिन्दी तर्कभाषा' नाम से 'तर्कभाषा' की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित हुई। उस का भी सभी क्षेत्रों में अच्छा स्वागत हुआ और उत्तरप्रदेश सरकार के शिक्षा-विभाग ने पुरस्कार देकर उसको भी सम्मानित किया। अब हम 'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र' नाम से वामन-कृत 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' की हिन्दी व्याख्या विद्वद्वर्ग की सेवा में उपस्थित कर रहे हैं।

यह कार्य एक निश्चित योजना के अनुसार चल रहा है जिसके अन्तर्गत संस्कृत साहित्य-शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों की विस्तृत व्याख्याएँ प्रस्तुत करने का सङ्कल्प किया गया है। योजना के जन्मदाता हैं दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डा० नगेन्द्र, जो इस ग्रन्थमाला के सम्पादक हैं। इन्हीं की प्रेरणावश 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली' तथा हिन्दी की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था 'आत्माराम एण्ड संस' के सहयोग से योजना सफलतापूर्वक आगे बढ़ रही है। डा० नगेन्द्र ने 'हिन्दी ध्वन्यालोक' के लिए विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका लिखी थी, और इस 'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र' के लिए उससे भी अधिक परिश्रमपूर्वक और विस्तृत भूमिका लिखने की कृपा की है। उनकी इस विद्वत्तापूर्ण भूमिका से ग्रन्थ की उपयोगिता अवश्य बढ़ गई है। आशा है उससे अलङ्कार-शास्त्र के प्रेमियों को बहुत लाभ होगा। इसके उपरान्त 'कुन्तक' के अप्राप्य 'वक्रोक्तिजीवितम्' की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित हो रही है। 'अभिनवगुप्त' की अप्राप्य 'अभिनव-भारती' तथा 'मुकुल भट्ट' की 'अभिधा वृत्ति मातृका' के हिन्दी-व्याख्या-सहित सुसम्पादित संस्करणभी शीघ्र ही प्रकाशित हो सकेंगे, ऐसी आशा है।

दुर्लङ्घ्य बाधा-विघ्नों और बहुमुखी व्यस्त कार्यक्रम के बीच यह जो साहित्य-साधना निरन्तर चल रही है, इसका श्रेय भाई विजयेन्द्र तथा अन्य स्नेही बन्धुओं की आग्रहपूर्ण प्रेरणाओं को ही है, अतएव वे धन्यवाद के पात्र हैं।

नव-सम्वत्सर
२०११

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि
गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

विषयानुक्रमणिका

'शारीर' नामक प्रथम अधिकरण

[पृष्ठ १-६२ तक]

प्रथम अध्याय

[प्रयोजन स्थापना पृष्ठ १-११]

द्वितीय अध्याय

[अधिकारि-चिन्ता, रीति निश्चय १२-३८]

तृतीय अध्याय

[काव्याङ्ग और काव्य भेद ३९-६३]

'दोष-दर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण

[पृष्ठ ६७–११२ तक]

प्रथम अध्याय

[पदपदार्थ-दोष विभाग ६६–८७]

द्वितीय अध्याय

[वाक्य वाक्यार्थ दोष विभाग ८८–१०२]

'गुण विवेचन' नामक तृतीय अधिकरण

[पृष्ठ ११३–१५९ तक]

प्रथम अध्याय

[गुणालङ्कार विवेक और शब्द गुण] ११३–१३९

द्वितीय अध्याय

[अर्थ गुण विवेचन १४०–१५९]

'आलङ्कारिक' नामक चतुर्थ अधिकरण

पृष्ठ १६०–२७०

प्रथम अध्याय

[शब्दालङ्कार विचार १६०–१८४]

द्वितीय अध्याय

[उपमा विचार १८५–२१०]

तृतीय अध्याय

[उपमा प्रपञ्च विचार २२०–२८०]

'प्रायोगिक' नामक पञ्चम अधिकरण

[प्रथम अध्याय २८१–२९५]

द्वितीय अध्याय

[२९६–३६१ शब्द शुद्धि]

शब्द शुद्धि

॥ ॐ ॥

पण्डितवरश्रीवामनविरचिता

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः

'शारीरं' नाम प्रथममधिकरणम्

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
काव्यालङ्कारदीपिकाख्या हिन्दी-व्याख्या

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडामनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम्[1] ॥

गुणातीतं गुणागारमनवद्यमलंकृतम्।
वन्दे तं रसात्मानं कविमाद्यं महेश्वरम् ॥

ध्वन्यालोके विषमविषमे या मयाऽकारि व्याख्या
प्रौढ़ाऽप्येषा सपदि सुबुधैः सादरं सा गृहीता।
साहित्येऽतो रुचिमनुभवन्नूतनानां तु प्रत्ने
जातोत्साहस्तदनु विवृतिं वामनीये तनोमि ॥

भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'रससम्प्रदाय', 'ध्वनि सम्प्रदाय', 'अलङ्कार सम्प्रदाय' आदि नामों से अनेक साहित्यिक सम्प्रदाय प्रचलित रहे हैं। उनमें से 'रीति सम्प्रदाय' नाम से भी एक सम्प्रदाय माना जाता है। इस 'रीति सम्प्रदाय' के प्रवर्तक श्री वामन माने जाते हैं। 'रस सम्प्रदाय' के प्रवर्तक भरत मुनि रस को ही काव्य का आत्मा मानते हैं। 'ध्वनि सम्प्रदाय' के प्रवर्तक श्री आनन्दवर्धनाचार्य के मत में ध्वनि ही काव्य का आत्मा है। इसी प्रकार 'रीति मार्ग' के प्रवर्तक आचार्य वामन के मत में 'रीति' ही काव्य का आत्मा है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। साहित्य के इन विविध सम्प्रदायों का उल्लेख करते हुए हमने अपने 'साहित्यमीमांसा' नामक संस्कृत ग्रन्थ में उनका संग्रह इस प्रकार किया है—

---

[1] अथर्ववेद ५, १२, ८। [2] का० अ० सू० १, २, ६।

[1]एकत्वेऽपि परेशस्य विश्वधर्मविभेदवत् ।
साहित्येऽपि समुद्भूताः सम्प्रदायास्तु सप्तधा ॥ ३१ ॥
काव्यस्यात्मा रसः कैश्चित् कैश्चिच्चैव ध्वनिर्मतः ।
वक्रोक्तिर्गुण औचित्यमलङ्कारोऽथ रीतयः ॥ ३२ ॥
भरतो रसराद्धान्तमलङ्कारं च भामहः ।
गुणं दण्डी ततोऽभिन्नं रीतिमार्गं च वामनः ॥ ३३ ॥
कुन्तकश्चैव वक्रोक्तिं ध्वनिमानन्दवर्धनः ।
अन्त्यमौचित्यराद्धान्तं क्षेमेन्द्रः प्रत्यपादयत् ॥ ३४ ॥
प्राधान्यात् तत्र तत्रैषां मता एते प्रवर्तकाः ।
अन्यथा भरतादौ तु दृश्यते सर्वसङ्करः ॥ ३५ ॥

इन साहित्यिक सम्प्रदायों में से 'रीति सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। उनका केवल एक यही 'काव्यालङ्कारसूत्रम्' ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इसकी रचना यद्यपि प्राचीन काल की सूत्रशैली में की गई है परन्तु वह उतना प्राचीन नहीं है। जैसा कि इस ग्रन्थ के इस प्रारम्भिक मङ्गल श्लोक से प्रतीत होता है, श्री वामनाचार्य ने अपने सूत्रों पर यह वृत्ति भी स्वयं लिखी है। इस वृत्ति में अनेक स्थानों पर उन्होंने कालिदास तथा भवभूति आदि प्रसिद्ध कवियों के श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वामन, भवभूति आदि के बाद, लगभग आठवीं शताब्दी में हुए हैं। उनके ग्रन्थ की रचना सूत्र रूप में होते हुए भी वे वस्तुतः सूत्रकालीन ग्रन्थकार नहीं हैं। 'ध्वन्यालोक' की व्याख्या 'लोचन' में श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने—

'अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः ॥

वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरत् ग्रन्थकृत् ।'[2] इस सन्दर्भ में वामन के नाम का उल्लेख किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त की दृष्टि में भी वामनाचार्य आनन्दवर्धनाचार्य के पूर्व लगभग आठवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए हैं, क्योंकि आनन्दवर्धन का समय ८५० के लगभग माना जाता है।

---

[1] साहित्यमीमांसा ३। [2] लोचन पृ० ३७।

ग्रन्थकार वामन ने अपने इस ग्रन्थ को पांच 'अधिकरणों' में विभक्त किया है। प्रत्येक 'अधिकरण' अनेक 'अध्यायों' में विभक्त है। प्रथम अधिकरण का नाम 'शारीराधिकरण' रखा है। इसमें तीन अध्याय हैं, जिनमें ग्रन्थ के 'अनुबन्धचतुष्टय' का वर्णन किया है। 'अनुबन्धचतुष्टय' में (१) प्रयोजन, (२) अधिकारी, (३) विषय, तथा (४) सम्बन्ध इन चार का ग्रहण होता है। प्रथम अध्याय में ग्रन्थ के 'प्रयोजन' का, दूसरे अध्याय में 'अधिकारी' तथा 'विषय' का निरूपण किया गया है। इन 'विषय', 'प्रयोजन' तथा 'अधिकारी' तीनों का ज्ञान हो जाने पर विषय और ग्रन्थ का 'प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव' और अधिकारी तथा ग्रन्थ का 'बोध्यबोधकभाव' सम्बन्ध स्वयं ज्ञात हो सकता है। इसलिए उसका अलग प्रदर्शन ग्रन्थकार ने नहीं किया है।

द्वितीय अधिकरण का नाम 'दोषदर्शन अधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में 'पद-दोषों' तथा 'पदार्थ-दोषों' का और दूसरे अध्याय में 'वाक्य-दोषों' का वर्णन किया गया है।

तृतीय अधिकरण का नाम 'गुणविवेचनाधिकरण' है। इसमें भी दो अध्याय हैं। इनमें से प्रथम अध्याय में गुण और अलङ्कारों के भेदों तथा शब्दगुणों का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में अर्थगुणों का वर्णन हुआ है।

चतुर्थ अधिकरण 'आलङ्कारिक अधिकरण' कहा जाता है। इसमें तीन अध्याय हैं। इनमें से प्रथमाध्याय में शब्दालङ्कार—यमक, अनुप्रासादि का विवेचन है। दूसरे अध्याय में समस्त अलङ्कारों के मूलभूत उपमा अलङ्कार का विवेचन है और तीसरे अध्याय में उपमा के प्रपञ्चभूत अन्य अलङ्कारों का विवेचन किया गया है।

पञ्चम अधिकरण का नाम 'प्रायोगिकाधिकरण' रखा है। इसमें भी दो अध्याय हैं जिनमें से प्रथम अध्याय में काव्यसमय का और दूसरे में शब्दशुद्धि का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार कुल १२ अध्याय वाले पांच अधिकरणों में वामन ने अपने इस ग्रन्थ को पूर्ण किया है। वामन के पूर्ववर्ती भामह 'अलङ्कार सम्प्रदाय' के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके ग्रन्थ का नाम भी 'काव्यालङ्कार' ही है और उसमें भी प्रतिपाद्य विषय का विभाग इसी प्रकार किया गया है। वामन का पहिला अधिकरण 'शारीराधिकरण' है, तो भामह का प्रथम परिच्छेद 'शारीर परिच्छेद'

शारीरं नाम प्रथममधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः

[प्रयोजनस्थापना]

प्रणम्य परं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया ।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । १, १, १ ।

है। भामह ने स्वयं [1]'षष्ट्या शरीरं निर्णीतम्' लिख कर इस परिच्छेद की शारीरपरता को सूचित किया है। वामन का दूसरा अधिकरण 'दोषदर्शनाधिकरण' है, तो भामह का तीसरा परिच्छेद 'दोषवर्णन' परक है। भामह ने 'पञ्चाशता दोषदृष्टिः'[2] लिखकर उसको सूचित किया है। वामन ने तृतीय अधिकरण में गुणों का और चतुर्थ अधिकरण में अलङ्कारों का वर्णन किया है। भामह ने गुणों के लिए अलग परिच्छेद न रख कर दूसरे परिच्छेद के प्रारम्भ में गुणों का और द्वितीय परिच्छेद के शेष भाग तथा तृतीय परिच्छेद में अलङ्कारों का वर्णन किया है। वामन ने पञ्चम अधिकरण के प्रथमाध्याय में 'काव्यसमय' तथा द्वितीयाध्याय में 'शब्दशुद्धि' का वर्णन किया है। परन्तु भामह ने पञ्चम परिच्छेद में 'न्यायनिर्णय' तथा षष्ठ परिच्छेद में 'शब्दशुद्धि' का निरूपण किया है। इस प्रकार का भामह और वामन का विषय-विभाग प्रायः समान और पांच भागों में विभक्त है। काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि नवीन ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषय को पांच के स्थान पर दस भागों में विभक्त किया गया है।

वामन के इस प्रकृत ग्रन्थ का यह प्रथम अध्याय प्रयोजन का प्रतिपादक अध्याय कहा गया है। ग्रन्थकार उसका प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं—

'शारीर' नामक प्रथम अधिकरण में

प्रथम अध्याय

[प्रयोजन स्थापना]

पर ज्योतिः [स्वरूप परमात्मा] को नमस्कार कर के [इस ग्रन्थ के

---

[1] भामह काव्यालङ्कार उपसंहार । [2] भामह काव्यालङ्कार उपसंहार ।

काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति, अलङ्कारात् । काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ॥ १ ॥

कोऽसावलङ्कार इत्यत आह—

सौन्दर्यमलङ्कारः । १, १, २ ।

अलंकृतिरलङ्कारः । करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते ॥ २ ॥

निर्माता] वामन अपने [बनाये हुए काव्यालङ्कार] सूत्रों की [कविप्रिया नामक अथवा] कवियों को प्रिय लगने वाली इस वृत्ति [ग्रन्थ] की रचना करते हैं।

काव्य, अलङ्कार [के योग] से [ही] उपादेय होता है।

काव्य, अलङ्कार [के योग] से निश्चय से उपादेय [आदरणीय] होता है । [यद्यपि मुख्य रूप से] यह काव्य शब्द गुण तथा अलङ्कार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है [इस लिए अलङ्कार काव्य से भिन्न कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका योग काव्य में हो। फिर भी यहां शब्दार्थ और काव्य का भेद मान कर काव्य शब्द] परन्तु लक्षणा से यहां केवल शब्दार्थ मात्र का बोधक [काव्यशब्द] लिया जाता है । [इसलिए अलङ्कार के योग से काव्य उपादेय होता है यह सूत्र का अर्थ उपपन्न हो जाता है] ॥ १ ॥

[काव्य की उपादेयता का प्रयोजक] यह अलङ्कार क्या [पदार्थ] है इस [शङ्का के होने पर उसके निवारण] के लिए कहते हैं—

[काव्य में] सौन्दर्य [के आधायक तत्व] का नाम अलङ्कार है।

[भावार्थक] अलंकृति अलङ्कार [शब्द का मुख्यार्थ] है। [परन्तु] करण [में घञ् प्रत्यय द्वारा] व्युत्पत्ति [करने] से [यह] अलङ्कार शब्द उपमा आदि [प्रसिद्ध] अलङ्कार में [प्रयुक्त होता] है ॥ २ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकार यहां भाव में घञ् प्रत्यय करके अलङ्कार शब्द बनाना चाहते हैं। करणार्थक घञ् प्रत्यय से नहीं। इसीलिए उन्होंने अपने वृत्ति ग्रन्थ में इस अलङ्कार शब्द की स्पष्ट रूप से भाव में क्तिन् प्रत्यय

स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् । १, १, ३ ।

स खल्वलङ्कारो दोषहानाद् गुणालङ्कारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः ॥ ३ ॥

शास्त्रतस्ते । १, १, ४ ।

ते दोषगुणालङ्कारहानादाने । शास्त्रादस्मात् । शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषान् जह्याद् गुणालङ्कारांश्चाददीत ॥ ४ ॥

'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' यह कहते हैं तब अलङ्कार शब्द से वह उपमादि अलङ्कारों का ग्रहण नहीं करते हैं अपितु काव्य के 'सौन्दर्य' को ही ग्रहण करते हैं। काव्य अपने सौन्दर्य के कारण ही उपादेय होता है यह उस सूत्र का अभिप्राय है। उपमादि के लिए जो अलङ्कार शब्द का प्रयोग होता है वह इससे भिन्न करणार्थक घञ् प्रत्यय से निष्पन्न होता है और वह 'सौन्दर्य के साधन', 'सौन्दर्य के कारण', इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। उपमादि, काव्य सौन्दर्य के करण अथवा साधन होने से अलङ्कार कहलाते हैं। वामन ने अपने प्रथम या द्वितीय सूत्र में जो अलङ्कार शब्द का प्रयोग किया है वह करणार्थक नहीं अपितु भावार्थक घञ् प्रत्यय से निष्पन्न शब्द का योग है। अतएव वहां अलङ्कार शब्द सौन्दर्य साधन का नहीं अपितु साक्षात् सौन्दर्य का वाचक है। अतएव जो साहित्यदर्पणकार आदि अलङ्कार को कटक-कुण्डल स्थानीय मान कर उसको काव्य का स्वरूपाधायक मानने का खण्डन करते हैं उनका मत वामन के इस अभिप्राय के अनुरूप नहीं है ॥ २ ॥

वह [सौन्दर्य रूप अलङ्कार] दोषों के हान [परित्याग] और गुण तथा [सौन्दर्य के साधनभूत करणार्थक प्रसिद्ध उपमादि] अलङ्कारों के उपादान से होता है।

और वह [काव्य सौन्दर्य रूप] अलङ्कार दोषों के [परित्याग] हान तथा गुण एवं [उपमादि] अलङ्कारों के उपादान से कवि सम्पादन कर सकता है ॥ ३ ॥

वे दोनों [दोषों का हान तथा गुणों का उपादान इस] शास्त्र से [हो सकते] हैं।

वे दोनों अर्थात् दोष तथा गुणालङ्कार के हान और उपादान [दोषों का

किं पुनः फलमङ्कारवता काव्येन येनैतदर्थोऽयमित्याह—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् । १, १, ५ ।

काव्यं सत् चारु, दृष्टप्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात् । अदृष्टप्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वात् । अत्र श्लोकाः—

प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः ।
अकीर्तिवर्तिनीं[1] त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ॥ १ ॥

हान तथा गुण और अलङ्कार का उपादान] इस [काव्यालङ्कार रूप] शास्त्र [के अध्ययन] से [ही] हो सकते हैं। शास्त्र से [दोषों के स्वरूप लक्षण आदि को] जान कर दोषों का परित्याग करे और गुण तथा अलङ्कारों [के स्वरूप, लक्षण आदि को जान कर उन] का उपादान [अपने काव्य में यथोचित प्रयोग] करे। [इसी से काव्य सौन्दर्य की सिद्धि होती है] ॥ ४ ॥

अलङ्कारयुक्त काव्य का क्या फल है जिससे इस [काव्य निरूपण] के लिए यह [काव्यालङ्कारसूत्र रूप ग्रन्थ, या उसके लिखने का यह प्रयास] किया गया है। [इस शङ्का के होने पर उसके उत्तर के लिए] यह कहते हैं।

सुन्दर काव्य [कवि तथा पाठक दोनों की] प्रीति [आनन्द] का और [कवि के जीवन काल में तथा उसकी मृत्यु के बाद भी उसकी स्थायी] कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट [ऐहिक] और अदृष्ट [आमुष्मिक दोनों प्रकार के] फल वाला होता है।

सत् [अर्थात्] सुन्दर काव्य [कवि तथा पाठक दोनों की] प्रीति [आनन्द] का हेतु होने से दृष्ट [ऐहिक, लौकिक] फल वाला होता है। और [कवि के इस जीवन में तथा उसकी मृत्यु के बाद भी] कीर्ति का हेतु होने से अदृष्ट [आमुष्मिक] फल वाला होता है। इस विषय में [संग्रह रूप स्वलिखित] श्लोक [निम्न प्रकार] हैं। [उनसे काव्य का और हमारे इस ग्रन्थ का प्रयोजन भली प्रकार विदित होता है।]

काव्य रचना की प्रतिष्ठा [सुन्दर काव्य की रचना ही] यश की प्राप्ति का मार्ग कही जाती है। इसी प्रकार कुकवित्व की [उपहास्यता रूप] विडम्बना को अकीर्ति का मार्ग कहा जाता है।

अपनाया है। और अपने ग्रन्थों में उसको उद्धृत किया है। इसके अनुसार कीर्ति और प्रीति के अतिरिक्त पुरुषार्थचतुष्टय और कला तथा व्यवहार आदि में नैपुण्य का लाभ भी काव्य का प्रयोजन है।

कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में इसको और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करते हुए लिख

[1]धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥ ३ ॥
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ ४ ॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ ५ ॥

अर्थात् काव्य की रचना अभिजात श्रेष्ठकुल में उत्पन्न राजकुमार आदि के लिए कहा हुआ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है।

सत्काव्य के परिज्ञान से ही, व्यवहार करने वाले सब प्रकार के लोगों को अपने-अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है।

[और सबसे बड़ी बात यह है कि] चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़ कर सहृदयों के हृदय में चमत्कार उससे उत्पन्न होता है।

कुन्तक के इस काव्य प्रयोजन के निरूपण को काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचार्य ने और भी अधिक व्यापक तथा स्पष्ट करके इस प्रकार लिखा है—

[2]काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

इसमें काव्यप्रकाशकार ने काव्य के ६ प्रयोजन प्रतिपादन किए हैं। जिनमें से तीन को हम मुख्यतः कविनिष्ठ और शेष तीन को मुख्यतः पाठकनिष्ठ प्रयोजन कह सकते हैं। 'यशसे', 'अर्थकृते' और 'शिवेतरक्षतये' अर्थात् यश और अर्थ की प्राप्ति तथा अनिष्ट का नाश यह तीनों प्रयोजन कवि के उद्देश्य

[1] वक्रोक्तिजीवितम् १, ३, ४, ५। [2] काव्यप्रकाश १, २।

से और 'व्यवहारविदे', 'सद्यः परनिर्वृतये' तथा 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' यह तीन प्रयोजन पाठक के उद्देश्य से रखे गए हैं। इस प्रकार काव्य प्रयोजनों के निरूपण में उत्तरोत्तर विकास हुआ जान पड़ता है।

कीर्ति को काव्य का मुख्य प्रयोजन बतलाते हुए वामन ने जिस प्रकार के तीन श्लोक इस अध्याय के अन्त में लिखे हैं, उसी प्रकार के श्लोक भामह के 'काव्यालङ्कार' में भी पाए जाते हैं। जो इस प्रकार हैं—

[1]उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥ ६ ॥
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥ ७ ॥
अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमाभुवः स्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ॥ ८ ॥
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥ ११ ॥
अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥ १२ ॥

अर्थात् उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवङ्गत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य शरीर [यावच्चन्द्रदिवाकरौ] अक्षुण्ण बना रहता है।

और जब तक उसकी अनश्वर कीर्ति इस भूमण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है तब तक वह सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देव पद का भोग करता है।

इसलिए प्रलय पर्यन्त स्थिर कीर्ति को चाहने वाले कवि को कवि के उपयोगी समस्त विषय का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य रचना के लिए परम प्रयत्न करना चाहिए।

काव्य में एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बात का ध्यान रखे। क्योंकि कुकाव्य की रचना से कवि उसी प्रकार निन्दा का भाजन बनता है जिस प्रकार कुपुत्र को उत्पन्न करके।

[1] भामह काव्यालङ्कार १।

इति श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'शारीरे' प्रथमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।
इति प्रयोजनस्थापना ।

[कुकवि बनने से तो अकवि रहना अच्छा है । क्योंकि] अकवित्व से तो अधिक-से-अधिक व्याधि या दण्ड का भागी हो सकता है परन्तु कुकवित्व को तो विद्वान् लोग साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं ।

वामन ने जिस प्रकार के तीन संग्रह श्लोक इस अध्याय की समाप्ति में दिए हैं इसी प्रकार के श्लोक सारे ग्रन्थ में उन्होंने अनेक जगह उद्धृत किए हैं । इनमें से अधिकांश श्लोकों का यह पता नहीं चलता है कि उन्होंने कहां से लिए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि वह श्लोक उनके स्वयं अपने ही बनाए हुए हैं । 'ध्वन्यालोक' तथा 'वक्रोक्तिजीवित' आदि में यह शैली देखी जाती है । इन ग्रन्थों के लेखकों ने भी अपने मूल ग्रन्थों की रचना कारिका रूप में करके उनकी वृत्ति भी स्वयं ही लिखी है । उन्होंने वृत्ति लिखते हुए अनेक स्थलों पर कुछ संग्रह श्लोक लिखे हैं । वह श्लोक कारिकाओं से भिन्न और वृत्ति ग्रन्थ के भाग हैं । कुन्तक ने इन श्लोकों को 'अन्तरश्लोक' शब्द से कहा है । 'ध्वन्यालोक' में 'संग्रह' नाम से उनका निर्देश हुआ है । इसी प्रकार वामन ने अपने सूत्रों पर स्वयं 'वृत्ति' लिखते हुए स्थान-स्थान पर इस प्रकार के श्लोक लिखे हैं । इन्हीं को प्रायः 'अत्र श्लोकाः' आदि शब्दों से वामन ने निर्दिष्ट किया है । कहीं-कहीं इस प्रकार के श्लोक वामन ने भामह के काव्यालङ्कार आदि प्राचीन ग्रन्थों से भी उद्धृत किए हैं । जहां उनका पता लग जाता है वहां तो वह प्राचीन श्लोक ही मानने होंगे, शेष श्लोक वामन के अपने श्लोक मानने होंगे । इसी लिए यह श्लोक भी वामन स्वरचित 'संग्रह' रूप ही हैं ।

श्री पण्डितवरवामनविरचित 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में
प्रथम 'शारीराधिकरण' में प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।
प्रयोजन की स्थापना समाप्त हुई ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यालङ्कारदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां

शारीरनाम्नि प्रथमाधिकरणे

द्वितीयोऽध्यायः

[अधिकारिचिन्ता रीतिनिश्चयश्च]

अधिकारिनिरूपणार्थमाह—

अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः । १, २, १ ।

शारीर नामक प्रथम अधिकरण में द्वितीय अध्याय

[अधिकारी तथा रीतियों का विचार]

प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन का निरूपण कर अब इस अध्याय में 'अनुबन्ध चतुष्टय' के द्वितीय अङ्ग 'अधिकारी' तथा तृतीय अङ्ग 'विषय' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। 'अधिकारी' के निरूपण के लिए ग्रन्थकार ने पहिले कवियों के दो भेद किए हैं, एक 'अरोचकी' और दूसरे 'सतृणाभ्यवहारी'। 'सतृणाभ्यवहारी' शब्द का मुख्यार्थ है—तिनके आदि के सहित खा जाने वाला। अविवेकी पुरुष के भोजन में यदि कुछ तिनका आदि पड़ जाय तो वह उसकी चिन्ता किए बिना, अर्थात् रद्दीसद्दी भोजन को भी खा जाता है। दूसरे प्रकार के वे लोग होते हैं जिनके भोजन में कूड़े की तो बात दूर रही, यदि नमक मिर्च मसाले आदि का भी तनिक सा ही विपर्यास या गड़बड़ हो जावे तो उनको वह भोजन भी पसन्द न आवे। ऐसे लोगों को 'अरोचकी' नाम से कहा जाता है। यह दो प्रकार की वृत्ति वाले लोग होते हैं। उनमें से एक को 'विवेकी' और दूसरे को 'अविवेकी' कहा जा सकता है। इसी आधार पर यहां ग्रन्थकार ने कवियों के भेद करते हुए 'विवेकी' कवियों के लिए 'अरोचकी' और 'अविवेकी' कवियों के लिए 'सतृणाभ्यवहारी' शब्दों का प्रयोग किया है। 'विवेकी' और 'अविवेकी' अर्थ में क्रमशः 'अरोचकी' तथा 'सतृणाभ्यवहारी' शब्दों का प्रयोग सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा के आधार पर किया गया है। अपने इस अभिप्राय को ग्रन्थकार ने वृत्तिग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कह भी दिया है।

अधिकारी के निरूपण के लिए कहते हैं—

'अरोचकी' [विवेकी] और 'सतृणाभ्यवहारी' [अविवेकी] दो प्रकार के कवि होते हैं।

इह खलु द्वये कवयः सम्भवन्ति । अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्चेति । अरोचकिसतृणाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ । कोऽसावर्थः । विवेकित्वमविवेकित्वञ्चेति ॥ १ ॥

यहाँ [इस संसार में] दो प्रकार के कवि हो सकते हैं। [एक] 'अरोचकी' और [दूसरे] 'सतृणाभ्यवहारी'। यहाँ 'अरोचकी' और 'सतृणाभ्यवहारी' शब्द गौणार्थक [सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा से प्रयुक्त हुए] हैं। [इन शब्दों का विवक्षित] वह अर्थ कौन सा है ? [यह प्रश्न करके उसका उत्तर देते हैं] 'विवेकित्व' [अरोचकी पद का] और 'अविवेकित्व' [सतृणाभ्यवहारी शब्द का विवक्षित अर्थ है] ॥ १ ॥

प्रकृत ग्रन्थकार वामन ने यहा कवियों के 'अरोचकी' और 'सतृणाभ्यवहारी' यह दो भेद किए हैं। परन्तु उनके उत्तरवर्ती राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में किन्हीं अज्ञात आचार्य 'मङ्गल' का उल्लेख करके 'भावकों' के यही दो भेद किए हैं। 'भावक' शब्द का प्रयोग 'आलोचक' के अर्थ में किया गया है। राजशेखर ने दो प्रकार की प्रतिभा का वर्णन किया है, एक 'कारयित्री प्रतिभा' और दूसरी 'भावयित्री प्रतिभा'। 'कारयित्री प्रतिभा' कवि की काव्यरचना में उपयोगिनी होती है और 'भावयित्री प्रतिभा' 'भावक' अर्थात् आलोचक को काव्य के गुण-दोष की परीक्षा में सहायता देती है।[१] 'कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री' 'भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति।' 'भावयित्री प्रतिभा' कवि के श्रम तथा अभिप्राय को भावित करती है। कवि के श्रम और अभिप्राय को 'भावित' करने के अभिप्राय में अंग्रेज़ी का 'एप्रीसिएशन' [appreciation] शब्द प्रयुक्त होता है।

'कवि' तथा 'भावक' के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए राजशेखर ने किन्हीं प्राचीन आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कवि स्वयं भी भावक हो सकता है। परन्तु उन्होंने इस विषय में कालिदास की सम्मति प्रकट करते हुए लिखा है कि कालिदास के मत में कवि और भावक एक नहीं हो सकते। 'कवित्व' और 'भावकत्व' दोनों अलग-अलग रहते हैं। काव्यमीमांसा में प्रकृत विषय का निरूपण इस प्रकार किया गया है :—

[१]सा च द्विधा। कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री।

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सोऽवकेशी स्यात्। कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः इत्याचार्याः। तदाहुः।

प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा खलु भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्॥

न, इति कालिदासः। पृथगेव हि कवित्वाद् भावकत्वं भावकत्वाच्च कवित्वम्। स्वरूपभेदाद् विषयभेदाच्च। यदाहुः—

कश्चिद् वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
न ह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणानां
एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥

ते च द्विधा, अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च, इति 'मङ्गलः'। कवयोऽपि भवन्ति, इति वामनीयाः। चतुर्धा इति यायावरीयः। मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च।[1]

इस उद्धरण की अन्तिम पंक्तियों में राजशेखर ने यह दिखलाया है कि मङ्गलाचार्य के मत में 'भावक' दो प्रकार के होते हैं। एक 'अरोचकी' और दूसरे 'सतृणाभ्यवहारी'। उसके साथ ही वामन के मत का भी उल्लेख किया है कि वामन के मत में 'भावक' ही नहीं, कवि भी 'अरोचकी' और 'सतृणाभ्यवहारी' भेद से दो प्रकार के होते हैं। और यायावरीय अर्थात् राजशेखर के अपने मत में 'भावक' अर्थात् आलोचक दो की जगह चार प्रकार के होते हैं। 'मत्सरी' और 'तत्वाभिनिवेशी' यह दो भेद और जोड़ दिए हैं। हमने अपने 'साहित्य-मीमांसा' नामक संस्कृत भाषा में कारिका रूप में लिखे हुए ग्रन्थ में इस विषय का विवेचन करते हुए कुछ कारिकाएं इस प्रकार लिखी हैं—

[2]प्रतिभा कारयित्री च भावयित्री तथैव च।
काव्ये कलायां साहित्ये द्विधा सर्वत्र सम्मता॥ १६॥
आद्या काव्यादिनिर्माणे द्वितीया तद्विवेचने।
कविं च भावकं चैव योजयत्यात्मकर्मणि॥ १७॥

---

[1] काव्यमीमांसा ४। [2] साहित्यमीमांसा २।

पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात् । १, २, २ ।

आधुनिके तु साहित्ये शास्त्रमालोचनाह्वयम् ।
यदर्थं दृश्यते काय पुरासीद् भावकस्य तत् ॥ १८ ॥
कवेः ख्यातिरपख्यातिर्भावकादेव जायते ।
तस्मात् स एव सर्वस्वं तस्य प्राज्ञैः प्रकीर्तितः ॥ १६ ॥
भावकानां पुनर्भेदा भूयांसः सन्ति दर्शिताः ।
हृदये वाचि गूढश्च मुख्यास्ते भावकास्त्रयः ॥ २४ ॥
हृदये भावयेदर्थं बहिर्यो न प्रकाशयेत् ।
हृदये भावकः सोऽयमुच्यते राजशेखरैः ॥ २५ ॥
काव्यनिष्ठं गुणं दोषं हृदये भावितं स्वयम् ।
स तु वाग्भावकः प्रोक्तो वचसा यः प्रकाशयेत् ॥ २६ ॥
मुखनेत्रादिचेष्टाभिरानन्दं हृद्गतं पुनः ।
अभिव्यनक्ति यः सोऽयं सम्मतो गूढभावकः ॥ २७ ॥
गूढस्य भावकस्यैव वर्णनेऽन्यत्र 'विज्जिका' ।
लिलेख स्तावकत्वेन श्लोकमेनमधोऽङ्कितम् ॥ २८ ॥

"कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम् ।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीम्भवतोऽयमञ्जलिः ॥"

एकेऽरोचकिनः परे सतृणाभ्यवहारिणः ।
एवं द्वैविध्यमाम्नात कवेश्च भावकस्य च ॥ २६ ॥
अरोचकिपदं चात्र विवेक्यर्थे प्रयुज्यते ।
दोषेऽरुचिस्तदीयैव परस्य नाविवेकिनः ॥ ३० ॥
सदोषमपि गृह्णन्ति सतृणाभ्यवहारिणः ।
अविवेकप्रधानत्वात् तत्पदं तस्य बोधकम् ॥ ३१ ॥

ग्रन्थकार वामन ने अधिकारियों के निरूपण के लिए यहां कवियों के दो भेद किए हैं। इन दोनों में से प्रथम 'अरोचकी' अर्थात् 'विवेकी' कवि ही इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं। 'सतृणाभ्यवहारी' अर्थात् 'अविवेकी' नहीं। इसी बात को अगले सूत्रों में कहते हैं।

[उन दो प्रकार के कवियों में से] प्रथम [अरोचकी कवि ही] विवेकी

पूर्वे खल्वरोचकिनः शिष्याः, शासनीयाः, विवेकित्वात् विवेचनशीलत्वात् ॥ २ ॥

नेतरे तद्विपर्ययात् । १, २, ३ ।

इतरे सतृणाभ्यवहारिणो न शिष्याः । तद्विपर्ययात् । अविवेचनशीलत्वात् । न च शीलमपाकर्तुं शक्यम् ॥ ३ ॥

नन्वेवं न शास्त्रं सर्वत्रानुग्राहि स्यात् । को वा मन्यते ? तदाह—

न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् । १, २, ४ ।

न खलु शास्त्रमद्रव्येष्वविवेकिष्वर्थवत् ॥ ४ ॥

[पूर्वोक्त दो प्रकार के कवियों में से] प्रथम अर्थात् 'अरोचकी' शिक्षा के योग्य अर्थात् उपदेश के पात्र हैं, विवेकशील अर्थात् विवेचनाशील होने से ॥ २ ॥

दूसरे [अर्थात् 'सतृणाभ्यवहारी' अविवेकी कवि] उसके विपरीत होने से [अर्थात् विवेचनाशील न होने से शिक्षा के अधिकारी] नहीं हैं ।

दूसरे अर्थात् 'सतृणाभ्यवहारी' उस [विवेचनशीलता] के विपरीत होने से शिक्षा के योग्य [काव्य शिक्षा के अधिकारी] नहीं हैं । अविवेचनशील होने से । [यदि यह कहा जाय कि शास्त्र के पढ़ने से उनकी अविवेकशीलता दूर हो जायगी इसलिए उनको भी उपदेश देना चाहिए तो ग्रन्थकार इसका खण्डन करते हैं कि] और स्वभाव दूर नहीं किया जा सकता । [इसलिए अनधिकारी व्यक्ति के ग्रन्थ पढ़ने से भी उसका वह अविवेक दूर होना सम्भव नहीं है] ॥ ३ ॥

[प्रश्न] यदि ऐसा है तो [आपका] शास्त्र सबका अनुग्राहक नहीं हुआ ?

[उत्तर] तो [इस शास्त्र को सब का अनुग्राहक] मानता कौन है ? [अर्थात् हम स्वयं इस शास्त्र को सबका अनुग्राहक नहीं मानते हैं । वह केवल विवेकशील अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है, सबके लिए नहीं ।] इसी बात को [अगले सूत्र में] कहते हैं—

अनधिकारियों [अविवेकी, अयोग्य व्यक्तियों] में शास्त्र सफल नहीं हो सकता है ।

[यह ही नहीं, कोई भी] शास्त्र अद्रव्य अर्थात् [अनधिकारी] [अ]विवेकी पुरुषों में सफल नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

इसलिए अन्य शास्त्रकारों ने भी अनधिकारी व्यक्ति को उपदेश देने का निषेध किया है। निरुक्तकार यास्क मुनि ने अधिकारी का निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से करते हुए लिखा है—

[१] विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूकायानृजवेऽयताय न मां ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्॥ १॥
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥ २॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥ ३॥
यमेव विद्या शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्य्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ ४॥

अभिप्राय यह है कि विद्या ब्राह्मण आचार्य के पास जाकर प्रार्थना करती है कि मेरी रक्षा करो। मैं ही तुम्हारी सम्पत्ति हूं। मुझे, निन्दा करने वाले, कुटिल और तपोविहीन को मत दो जिससे मैं वीर्यवती, सबल और सशक्त बनूं।

जो गुरु बिना कष्ट के विद्या रूप अमृत को प्रदान करके कानों को सत्य-तत्व से आप्लावित करते हैं, उन गुरु को ही माता-पिता समझना चाहिए और उसका द्रोह कभी भी नहीं करना चाहिए।

जो पढ़ाए हुए ब्राह्मण मन से, वचन से, या कर्म से गुरुओं का अनादर करते हैं; वह जैसे गुरु के लिए फलप्रद नहीं होते हैं उसी प्रकार उनका वह पढ़ना-लिखना उनके लिए सफल नहीं होता है।

जो अपने गुरु का किसी प्रकार द्रोह न करे उसी अपनी निधि की रक्षा करने वाले पवित्र, मेधावी, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले अधिकारी को मुझे प्रदान करना।

यह सभी विद्याओं के अधिकारी का सामान्य लक्षण है। भिन्न-भिन्न विद्या के अधिकारियों में कुछ और विशिष्ट लक्षण होना भी आवश्यक है। जिनका निरूपण उन-उन शास्त्रों में विशेष रूप से किया जाता है।

इसी दृष्टि से प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में 'अनुबन्ध चतुष्टयों' में 'अधिकारी'

निदर्शनमाह—

न कतकं पङ्कप्रसादनाय । १, २, ५ ।

न हि कतकं पयस इव पङ्कप्रसादनाय भवति ॥ ५ ॥

अधिकारिणो निरूप्य रीतिनिश्चयार्थमाह—

रीतिरात्मा काव्यस्य । १, २, ६ ।

रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य शरीरस्येवेति वाक्यशेषः ॥ ६ ॥

का निरूपण करना आवश्यक रखा गया है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए अगले सूत्र में उदाहरण देते हैं।

[इसी विषय में] उदाहरण देते हैं—

निर्मली कीचड़ को स्वच्छ करने के लिए नहीं होती ।

निर्मली [वृक्ष विशेष का फल] जैसे जल को स्वच्छ कर देता है इस प्रकार कीचड़ को स्वच्छ करने में समर्थ नहीं होता है।

कतक एक प्रकार का वृक्षविशेष होता है। उसके फल को पीस कर यदि गंदले जल में डाल दिया जाय तो जल तुरन्त साफ़ हो जाता है। उसका मैल सब नीचे बैठ जाता है। उस कतक फल को हिन्दी में निर्मली कहते हैं। निर्मली के डालने से मलिन जल तो स्वच्छ हो जाता है परन्तु यदि निरी कीचड़ में ही उसको डाल दिया जाय तो उससे कीचड़ तो स्वच्छ नहीं होगी। इसी प्रकार अज्ञानी किन्तु विवेकशील पुरुष तो इस शास्त्र के अध्ययन से ज्ञान-प्रसाद को प्राप्त कर सकता है परन्तु कीचड़ के समान सर्वथा विवेकरहित पुरुष को इस शास्त्र के पढ़ने से भी कोई लाभ नहीं होगा। इसलिए 'अरोचकी' अर्थात् 'विवेकशील' कवि ही इसके अधिकारी है। 'सतृणाभ्यवहारी' अर्थात् अत्यन्त 'अविवेचनशील' पुरुष इस शास्त्र के अधिकारी नहीं हैं। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय हुआ ॥ ५ ॥

इस प्रकार इस शास्त्र के अधिकारियों का निरूपण करके प्रतिपाद्य विषय का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार सबसे अधिक प्रिय विषय 'रीति' के निरूपण से अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

अधिकारियों का निरूपण करके रीतियों के निश्चय के लिए कहते हैं—

रीति [ही] काव्य की आत्मा है।

यह रीति [ही] काव्य की आत्मा है। शरीर के समान यह वाक्य शेष समझना चाहिए ॥ ६ ॥

किं पुनरियं रीतिरित्याह—

विशिष्टपदरचना रीतिः । १, २, ७

विशेषवती पदानां रचना रीतिः ॥ ७ ॥

कोऽसौ विशेष इत्याह—

विशेषो गुणात्मा । १, २, ८ ।

वक्ष्यमाणगुणरूपो विशेषः ॥ ८ ॥

सा त्रेधा वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चाली चेति । १, २, ९ ॥

सा चेयं रीतिस्त्रेधा भिद्यते । वैदर्भी, गौड़ीया, पाञ्चाली चेति ॥ ९ ॥

जैसे शरीर में रहने वाला उसका जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है इसी प्रकार काव्य में रहने वाला उसका जीवनाधायक तत्व 'रीति' है। काव्य में शब्द तथा अर्थ शरीरस्थानीय है। और वामन के मत में 'रीति' आत्मस्थानीय है। साहित्यदर्पणकार आदि अन्य लोगों ने 'रीति' को अवयवसंस्थान के समान माना है। अर्थात् जैसे शरीर में अङ्गों की गठन है [आंख आदि अवयव स्थान-विशेष पर बनाए गए हैं], इसी प्रकार काव्य की रचना शैली रूप 'रीतियां' हैं। इसलिए वे लोग 'रीति' को काव्य की आत्मा न मान कर 'रस' को काव्य की आत्मा मानते हैं। परन्तु वामन के मत में काव्य का चमत्कार 'रीति' में ही निहित है। इसलिए वह 'रीति' को ही काव्य की आत्मा मानते हैं॥ ६ ॥

[प्रश्न] यह रीति क्या [पदार्थ] है यह कहते हैं—

[उत्तर] विशेष प्रकार की पद-रचना [शैली] को रीति कहते हैं।

विशेष युक्त पद-रचना रीति है ॥ ७ ॥

वह विशेष [जिससे युक्त पदरचना को रीति कहते हैं] कौन सा है, यह बतलाते हैं—

[विशिष्ट पद रचना में] विशेष गुण [के अस्तित्व] स्वरूप है।

विशेष [तो] गुण रूप हैं—जिन [गुणों] का वर्णन आगे किया जायगा ॥ ८ ॥

वह [रीति] वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली इस तरह तीन प्रकार की है।

किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः काव्यानां येनायं देशविशेषव्यपदेशः ? नैवम् ।

यदाह—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या । १, २, १० ।

विदर्भगौड़पाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या । न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम् ॥ १० ॥

तासां गुणभेदाद् भेदमाह—

समग्रगुणा वैदर्भी । १, २, ११ ।

समग्रैरोजःप्रसादप्रमुखैर्गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीतिः ।

[प्रश्न] क्या काव्यों के 'द्रव्य गुण' [विशेषता] की उत्पत्ति देश [विशेष] के कारण होती है जिसके कारण [रीतियों में] यह देश विशेष [विदर्भ, गौड़, पाञ्चाल आदि] से [उनका] नामकरण किया है ?

[उत्तर] यह बात नहीं है ।

देश विशेष से 'द्रव्य गुण' अर्थात् काव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं होती है । और न इस कारण रीतियों के नाम देशों के नाम पर रखे गए हैं । अपितु उन-उन देशों के लोगों ने उस-उस विशेष प्रकार की रचना शैली का आविष्कार किया है इसलिए उन देशों के नाम पर 'रीतियों' का नामकरण किया गया है । जैसा कि आज कल भी बहुत से वैज्ञानिक आविष्कारों के नाम उनके आविष्कारकों के नाम पर रखे गए हैं ।

जैसा कि कहते हैं :—

विदर्भादि [देशों] में आविष्कृत [देखी गई] होने से [रीतियों की देशों के नामों से] वह संज्ञाएं रखी गई हैं ।

विदर्भ, गौड़ तथा पाञ्चाल [देशों] में वहां के कवियों द्वारा वास्तविक रूप में [उपलब्ध, आविष्कृत या] प्रयुक्त होने से वह [उस प्रकार के] नाम रखे गये हैं । [वैसे] देशों से काव्य का कोई उपकार नहीं होता है, [जिससे किसी देश के नाम पर रीतियों का नामकरण किया जाता] ।। १० ।।

उन [रीतियों] का गुणों के भेद से भेद [होता है यह] कहते हैं—

समस्त गुणों से युक्त वैदर्भी [रीति] है ।

समस्त [अर्थात् दश शब्द गुण तथा दश अर्थ गुण] ओजः प्रसाद

अत्र श्लोकौ—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

तामेतां कवयः स्तुवन्ति—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥

उदाहरणम्—

आदि से युक्त रीति का नाम वैदर्भी रीति है । इस [वैदर्भी रीति के निरूपण] में निम्न दो श्लोक हैं—

[आगे कहे जाने वाले काव्य —] दोषों की मात्रा से भी रहित और समस्त गुणों से युक्त वीणा के स्वर के समान मधुर [लगने वाली] वैदर्भी रीति मानी जाती है ।

उस [वैदर्भी रीति] की कवि लोग इस प्रकार स्तुति करते हैं—

[सुकवि रूप योग्य] वक्ता, [सुन्दर वर्ण्य विषय रूप] अर्थ, और शब्दों पर अधिकार [शब्दकोष] रहते हुए भी जिस [विशिष्ट रचना शैली] के बिना वाणी का मधु रस स्रवित नहीं होता है [वह ही वैदर्भी रीति है]।

[महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का निम्न पद्य इस वैदर्भी रीति का सुन्दर] उदाहरण है—

आज हम(राजा दुष्यन्त)वन में मृगया के लिए नहीं जावेंगे इसलिए वन में सब प्राणी निश्चिन्त होकर आनन्द मनाएं । इस भाव को प्रकट करते हुए राजा दुष्यन्त ने यह श्लोक कहा है । इस श्लोक में आए हुए महिष, मृग और वराह शब्द यद्यपि पुल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त हुए हैं परन्तु उनसे उस जाति के नर और मादा दोनों का ग्रहण किया जायगा । 'महिष्यश्च महिषाश्च इति महिषाः' इस विग्रह में 'पुमान् स्त्रिया'[1] इस पाणिनि सूत्र के अनुसार एकशेष से पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया गया है ।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में राजा दुष्यन्त शिकार खेलने के लिए निकले हैं । उसी प्रसङ्ग में वह महर्षि कण्व के आश्रम में जा पहुँचते हैं । वहां महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में उनकी पोष्यपुत्री नवयौवना शकुन्तला को देखकर

[1] गाहन्तां महिषा[2] निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विस्रब्धं कुरुतां वराहविततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥ ११ ॥

वह उस पर मोहित हो जाते हैं। और अन्य सब भूल कर उसकी प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठते हैं। दूसरे दिन उनके सेनापति आदि उनको शिकार के लिए बहुत कुछ प्रोत्साहित करते हैं। परन्तु उनका मन तो कहीं और है। बहुत कहने-सुनने पर भी वह मृगया के लिए उद्यत नहीं होते हैं। उसी वार्तालाप के प्रसङ्ग में उन्होंने यह श्लोक कहा है जिसका भाव यह है कि आज वन के सब प्राणी आराम करें और हमारा यह धनुष भी विश्राम करे। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है।

[आज] भैंसे सींगों से बार-बार ताड़ित किए हुए कुएं के समीपवर्ती पोखरों के जल में खूब डुबकी लगावें। [भैंसों और भैंसियों का यह स्वभाव है कि यदि उन्हें पोखरों का जल मिल जावे तो वह उसमें घुस जाते हैं। मुख को छोड़ कर शेष सारा शरीर पानी में डुबा लेते हैं। इससे शायद उनको मक्खियों के कष्ट से छुटकारा मिल जाता है। परन्तु फिर भी उनका मुख भाग जो ऊपर रह जाता है उसमें मक्खियां लगती-ही हैं। उस समय उन मक्खियों के उड़ाने के लिए वह ज़ोर से सिर हिलाते रहते हैं, जिससे उनके सींग पानी में लगते रहते हैं। इसी दृश्य को कवि ने स्वभावोक्ति से 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्' इन शब्दों में लिखा है।] मृगों [मृगों और मृगियों] का समूह [वृक्षों की शीतल] छाया में झुण्ड बना कर [निश्चिन्त होकर बैठ कर] बार-बार जुगाली करे। [जङ्गली] सूअरों की पंक्ति पल्वल [छोटे तालाब के किनारे] पर नागरमोथा [की जड़ों] को निश्चिन्त होकर खोदें [और खावें। नागरमोथा एक प्रकार की घास होती है। इसकी जड़ को सूअर अपनी थूथनी से खोद कर बड़े चाव से खाता है। इसी का वर्णन यहां कवि ने किया है। यह औषधि के रूप में प्रयुक्त होती है और हवन सामग्री में भी पड़ती है।] और प्रत्यञ्चा ढीली कर देने से आज हमारा यह धनुष भी विश्राम करे।

कालिदास के इस श्लोक को वामन ने समस्त गुणों से युक्त वैदर्भी रीति

---

[1] अभिज्ञान शाकुन्तलम् २, ६ ।

[2] 'आहवस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये'। इत्यमरः ।

ओजःकान्तिमती गौड़ीया । १, २, १२ ।

ओजः कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा ओजःकान्तिमती, गौड़ीया नाम रीतिः । माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समासबहुला अत्युल्वणपदा च । अत्र श्लोकः—

के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है । वामन के अनुसार (१) ओज, (२) प्रसाद, (३) माधुर्य, (४) सौकुमार्य, (५) उदारता, (६) श्लेष, (७) कान्ति, (८) समता, (९) समाधि और (१०) अर्थ व्यक्ति ये दस प्रकार के शब्द गुण तथा अर्थगुण माने गए हैं। इस श्लोक में यथासम्भव इन सभी गुणों का अस्तित्व पाया जाता है । जैसे कि 'छायाबद्धकदम्बकं' और 'शिथिलज्याबन्धम्' इन पदों में वन्ध के गाढ़ होने से 'बन्धवैकट्य लक्षण' (१) 'ओज' गुण विद्यमान है। 'छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं' इसमें बन्ध के गाढ़त्व तथा शैथिल्य के कारण (२) 'प्रसाद' है । 'महिषा निपानसलिलम्' में कोमल रचना के कारण (३) श्लेष है। 'गाहन्तां महिषाः' इस पद्य में जिस क्रम से पद्य का प्रारम्भ हुआ है उसी शैली से पद्य की समाप्ति भी हुई है इसलिए 'मार्गाभेद' रूप (४) 'समता' गुण भी उपस्थित है । 'गाहन्तां' में आरोह और 'महिषाः' में एक प्रकार का अवरोह होने से 'आरोहावरोहक्रम' रूप (५) 'समाधि' गुण पाया जाता है। 'शृङ्गै मुहुस्ताडितम्' इसमें 'पृथक्पदत्व' से (६) माधुर्य गुण, 'रोमन्थमभ्यस्यतु' इसमें कोमल बन्ध के कारण (७) सौकुमार्य, 'शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः' में बन्ध के विकटत्व के कारण (८) उदारता, पदों के उज्ज्वल होने से (९) कान्ति, और पदों के स्पष्टार्थक होने से (१०) अर्थव्यक्ति गुण पाया जाता है। इस प्रकार इस पद्य में प्रायः समस्त गुणों के उपस्थित होने से वामन ने उसे 'समग्रगुणा वैदर्भी' रीति के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है ॥ ११ ॥

वैदर्भी रीति के बाद क्रमप्राप्त गौड़ी रीति का लक्षण करते हैं।

'ओज' और 'कान्ति' [नामक केवल दो गुणों] से युक्त 'गौड़ी' [रीति] है।

[पूर्वोक्त दस गुणों में से केवल दो] ओज और कान्ति जिस में पाए जावें वह ओजःकान्तिमती गौड़ीया रीति [कही जाती] है। 'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' [गुणों] के न होने से [यह गौड़ी रीति] समासबहुल और अत्यन्त उग्र पदों वाली होती है। [जैसा कि] उसके विषय में [निम्न] श्लोक

समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौड़ीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥

उदाहरणम्,

[1]दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥ १२ ॥

गुणों से समन्वित रीति को रीति [शास्त्र] के पण्डित 'गौड़ीया' रीति कहते हैं।

[गौड़ीया रीति का] उदाहरण [निम्न श्लोक है]

महाकवि [भवभूतिनिर्मित 'महावीरचरितम्' नाटक के प्रथमाङ्क में रामचन्द्र के द्वारा शिव-धनुष के तोड़ दिए जाने के बाद यह लक्ष्मण की उक्ति है। लक्ष्मण कह रहे हैं कि रामचन्द्र जी के तोड़े हुए धनुष का भयङ्कर शब्द अब तक भी शान्त नहीं हुआ है। श्लोक का शब्दार्थ इस प्रकार है—

[श्री रामचन्द्र जी के द्वारा अनायास] हाथ में उठाए हुए [चन्द्रशेखर] शिव जी के धनुष के दण्ड के टूटने से उत्पन्न हुआ और आर्य [रामचन्द्र जी] के बाल चरित्र रूप [उनके भावी जीवन की] प्रस्तावना का उद्घोषक, टङ्कार-ध्वनि [उस भीषण टङ्कार के कारण] एकदम कांप उठने [द्राक् झटिति पर्यस्ते चलिते] वाले [पृथ्वी तथा आकाश रूप छोटे-छोटे] कपाल-संपुटों में सीमित [छोटे से] ब्रह्माण्ड रूप भाण्ड [घड़ा आदि रूप बर्तन] के भीतर घूमने के कारण और अधिक भयङ्करता को प्राप्त होकर अब तक भी शान्त नहीं हुआ है। यह आश्चर्य है।

इसमें बन्ध की गाढ़ता और पदों की उज्ज्वलता के कारण 'ओज' और 'कान्ति' नामक दोनों गुण स्पष्ट हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने इसे 'गौड़ी' रीति के उदाहरण रूप में यहां प्रस्तुत किया है ॥ १२ ॥

इसके बाद क्रमप्राप्त तीसरी पाञ्चाली रीति का निरूपण करते हैं।

---

[1] महावीरचरितम् १, १४।

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली । १, २, १३ ।

माधुर्येण सौकुमार्येण च गुणेनोपपन्ना पाञ्चाली नाम रीतिः । ओजःकान्त्यभावादनुल्वणपदा विच्छाया च । तथा च श्लोकः—

अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम् ।
मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥

यथा,

[1]ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पान्थाधुना दीयते,
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा ।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतम्,
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति ॥

[ओज और कान्ति के विपरीत] 'माधुर्य' और 'सौकुमार्य' [रूप दो गुणों] से युक्त पाञ्चाली रीति होती है ।

'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' गुणों से युक्त 'पाञ्चाली' नामक रीति होती है । [उसमें] ओज और कान्ति का अभाव होने से उसके पद [गाढ़त्व रूप 'ओज' से विहीन] सुकुमार और [कान्ति का अभाव होने से] विच्छाय [कान्तिविहीन] होते हैं । जैसा कि [उस 'पाञ्चाली' के विषय में निम्न-लिखित प्राचीन] श्लोक है—

गाढ़बन्ध से रहित [ओजोविहीन] और शिथिल [अनुज्ज्वल] पद वाली, [गौड़ी रीति के विषय भूत, 'ओज' के विपरीत] 'माधुर्य' और [कान्ति के विपरीत] 'सौकुमार्य' से युक्त सम्पूर्ण सौन्दर्य से शोभित 'रीति' को कवि 'पाञ्चाली' रीति कहते हैं ।

जैसे :—

हे पथिक इस ग्राम में अब पथिकों को [रात्रि में ठहरने के लिए] स्थान नहीं दिया जाता है । [क्योंकि एक बार ऐसे ही किसी पथिक को यहां ठहरा लिया था, परन्तु] रात्रि में यहां विहार [बौद्ध मठ] के मण्डप के नीचे सोते हुए उस [नवयुवक पथिक] ने [वर्षा ऋतु की रात्रि में] मेघ के गर्जने पर उठ कर [उसके कारण] अपनी प्रिया को स्मरण करके वह

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति ॥ १३ ॥

तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् । १, २, १४ ।

[कर्म] किया [जो कहने योग्य भी नहीं है और] जिसके कारण यहां [ग्राम] के लोग [पथिक के] वध के दण्ड की शङ्का से भयभीत हैं।

करङ्क शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'शव' और 'तत्कृतं' से पथिक की मृत्यु सूचित होती है, ऐसी व्याख्या की है। अर्थात् वर्षा की रात्रि में मेघों के गर्जन को सुनकर और अपनी प्रिया का स्मरण कर वह पथिक युवक इतना दुःखी और उत्तेजित हुआ कि दुःख के आवेग में उसकी मृत्यु हो गई। प्रातःकाल उसका शव पड़ा मिला। जिसके कारण यहां लोग यह समझने लगे कि इस पथिक की हत्या का दोष हमारे सिर पड़ेगा कि गांव वालों ने इसे मारकर इसका धन आदि छीन लिया है। इसलिए इसका दण्ड गांववालों को भोगना पड़ेगा। इस भय से ग्राम के लोग आज तक भयभीत हैं। इसलिए तब से इस गांव में रात्रि में किसी पथिक को ठहरने की अनुमति न दिए जाने का नियम बना लिया है।

किसी गृहस्थ के यहां कोई पथिक रात्रि को ठहरने के लिए स्थान मांगने गया। उसके उत्तर में गृहपति, गृहस्वामिनी अथवा कुलवृद्धा का यह वचन उस दूसरे पथिक के प्रति कहा गया है।

इस पद्य में माधुर्य और सौकुमार्य गुण स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं और उनके कारण सम्पूर्ण पद्य सौन्दर्ययुक्त प्रतीत होता है इसलिए ग्रन्थकार ने इसे 'पाञ्चाली रीति' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

इस प्रकार रीतियों का निरूपण करने के बाद उनके आपेक्षिक महत्त्व तथा उपादेयता के तारतम्य का प्रश्न स्वयं उपस्थित हो जाता है। क्या ये तीनों रीतियां समान महत्त्व की हैं अथवा उनकी उपादेयता में तारतम्य है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ग्रन्थकार अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

उनमें से प्रथम [अर्थात् वैदर्भी रीति] समस्त [अर्थात् दशों] गुणों से युक्त होने के कारण ग्राह्य है। [शेष दोनों उतनी ग्राह्य नहीं हैं]।

तासां तिसृणां रीतीनां पूर्वा वैदर्भी ग्राह्या गुणानां साकल्यात् ॥ १४ ॥

न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् । १, २, १५ ।

इतरे गौड़ीयपाञ्चाल्यौ न ग्राह्ये, स्तोकगुणत्वात् ॥ १५ ॥

इन तीनों रीतियों में से प्रथम अर्थात् वैदर्भी [रीति सबसे अधिक] ग्राह्य है, सम्पूर्ण [दशों] गुणों से युक्त होने के कारण ॥१४॥

अन्य दोनों [गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियां] अल्प गुण [केवल दो-दो गुण] वाली होने से [उतनी] ग्राह्य नहीं हैं।

दूसरी गौड़ी और पाञ्चाली [यह दोनों रीतियां] स्वल्पगुण वाली [केवल दो-दो गुण वाली] होने से [उतनी] ग्राह्य नहीं हैं ॥१५॥

इन तीनों रीतियों में से वामन ने केवल वैदर्भी को ग्राह्य और शेष दोनों को अग्राह्य अथवा वैदर्भी की अपेक्षा अल्पग्राह्य कहा है। यह मत केवल उनका ही नहीं है अपितु अन्य अनेक सिद्धहस्त और प्रसिद्ध कवियों ने भी उनके इस मत का समर्थन किया है, अथवा कम-से-कम वैदर्भी रीति की अत्यधिक प्रशंसा की है। 'नवसाहसाङ्कचरितम्' काव्य के रचयिता श्री पद्मगुप्त परिमल ने वैदर्भी रीति को जहां सबसे उत्तम मार्ग कहा है वहां उसका अनुसरण तलवार की धार पर चलने के समान कठिन बताया है। उन्होंने लिखा है—

[1]तत्वस्पृशस्ते कवयः पुराणा श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' के रचयिता महाकवि 'बिल्हण' ने भी वैदर्भी रीति की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए लिखा है—

[2]अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥

महाकवि नीलकण्ठ ने अपने 'नलचरितम्' नामक नाटक में वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

[3]आदिः स्वादुषु या परा कवयतां काष्ठां यदारोहणे,
या ते निःश्वसितं नवापि च रसा यत्र स्वदन्तेतराम्।

---

[1] नवसाहसाङ्कचरितम् १, ५।

[2] विक्रमाङ्कदेवचरितम् १, ६।

[3] नलचरितम् नाटक अङ्क २।

पाञ्चालीति परम्परापरिचितो वादः कवीनां परं,
वैदर्भी यदि सैव वाचि किमितः स्वर्गेऽपवर्गेऽपि वा ॥

नीलकण्ठ के मत में 'वैदर्भी' रीति स्वादु, आह्लाददायक वस्तुओं में सबसे प्रथम है। उसका अवलम्बन करने से कवियों को अपने कवित्व की पराकाष्ठा प्राप्त होती है। 'या ते निःश्वसितम्' जो वैदर्भी तेरी अर्थात् सरस्वती की प्राण स्वरूप है जिसमें नवो रसों का आस्वादन हो सकता है। कुछ लोग 'पाञ्चाली' को भी रीति कहते हैं परन्तु यह उन कवियों का केवल परम्परापरिचितवादमात्र [भेड़चाल] है, उसमें तथ्य नहीं है। वास्तव में तो वैदर्भी रीति ही इन गुणों से युक्त है। यदि वाणी में उस वैदर्भी रीति का राज्य है तो फिर उसके सामने स्वर्ग या अपवर्ग में भी कुछ तत्व नहीं हैं।

महाकवि 'श्रीहर्ष' पण्डित कवि थे। उनकी कविता कठिन और शास्त्र-चर्चा बहुल है। परन्तु वह भी अपने को 'वैदर्भी' के पाश में फंसा हुआ पाते हैं। जैसे वैदर्भी दमयन्ती ने अपने सौन्दर्यादि गुणों से नैषध नल को अपनी ओर खींच लिया था इसी प्रकार 'समग्रगुणसम्पन्ना' वैदर्भी रीति ने महाकवि श्रीहर्ष के नैषध काव्य को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। इस रहस्य को श्रीहर्ष श्लेष-मुख से स्वयं ही स्वीकार करते हुए नैषध काव्य में लिखते हैं—

[1]धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥

नैषध के श्लेषमय चौदहवें सर्ग में भी श्रीहर्ष ने श्लेष से वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

[2]गुणानामास्थानीं नृपतिलकनारीति विदितां
रसस्फीतामन्तः तव च तव वृत्ते च कवितुः।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं
परीरम्भक्रीड़ा चरणशरणामन्वहमयम् ॥

अधिक क्या इस अध्याय के अन्त में स्वयं ग्रन्थकार वामन ने भी वैदर्भी रीति की प्रशंसा में दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं। फलतः इस वैदर्भी रीति के सामने अन्य दोनों रीतियां हेय अर्थात् अल्प महत्व की हैं यह वामन का अभिप्राय है। जिसे उन्होंने इन दोनों सूत्रों में अभिव्यक्त किया है ॥ १५ ॥

---

[1] नैषध ३, ११६ ॥

[2] नैषध १४, ६१ ॥

तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके ॥ १, २, १६ ॥

तस्या वैदर्भ्या एवारोहणार्थमितरयोरपि रीत्योरभ्यास इत्येके मन्यन्ते ॥ १६ ॥

तच्च न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः ॥१, २, १७॥

न ह्यतत्त्वं शीलयतस्तत्त्वं निष्पद्यते ॥ १७ ॥

निदर्शनमाह—

न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः ॥१,२,१८॥

कुछ लोगों का मत है कि वैदर्भी मार्ग की प्राप्ति का साधन पाञ्चाली तथा गौड़ी रीतियां का अभ्यास है। अर्थात् गौड़ी तथा पञ्चाली रीति में रचना करना सरल है और उसका अभ्यास करते-करते कवि समय पर वैदर्भी रीति में रचना करने में भी समर्थ हो सकता है। परन्तु वामन इस मत के अत्यन्त विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि अतत्त्व के अभ्यास से तत्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। जैसे सन की सुतली से टाट की पट्टी बुनने वाला व्यक्ति अपने उस अभ्यास से टसर के सुन्दर रेशमी वस्त्र बुनने में कौशल प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार पाञ्चाली तथा गौड़ी रीतियों का अभ्यास करने वाला कवि उनके अभ्यास के द्वारा वैदर्भी रीति में अभ्यास-पाटव प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी बात को ग्रन्थकार आगे कहते हैं।

उस [वैदर्भी रीति] के आरोहण के लिए दूसरी [गौड़ी तथा पाञ्चाली रीति] का अभ्यास [उपयोगी या साधनभूत होता] है ऐसा कोई लोग मानते हैं।

उस [वैदर्भी रीति] के आरोहण [उसकी प्राप्ति] के लिए ही शेष दोनों [गौड़ी तथा पाञ्चाली] रीतियों का अभ्यास होता है ऐसा कोई लोग मानते हैं ॥ १६ ॥

उनके मत का खण्डन करते हैं—

वह ठीक नहीं है। अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

अतत्त्व का अभ्यास करने वाले को तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है ॥ १७ ॥

[अपने इस कथन की पुष्टि में] उदाहरण [के लिए] कहते हैं—

न हि शणसूत्रवानमभ्यसन् कुविन्दस्त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यं लभते ॥ १८ ॥

सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी । १, २, १६ ।

सापि वैदर्भी शुद्धवैदर्भी भण्यते, यदि समासवत् पदं न भवति ॥१६॥

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या । १, २, २० ।

[रेशम] के सूत्र के बुनने में विचक्षणता [कौशल] की प्राप्ति नहीं होती है।

सन के सूत्र से बुनने का अभ्यास करने वाला बुनकर टसर [रेशम] के सूत्र के बुनने में वैचित्र्य को प्राप्त नहीं करता है।

इसी प्रकार का एक प्रसङ्ग योगदर्शन के प्रथम पाद में आया है। योग दर्शन में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार की समाधि मानी गई है। जिस प्रकार यहां अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है यह कहा है, उसी प्रकार वहां सम्प्रज्ञात या सालम्बन समाधि के अभ्यास से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती है यह बात कही गई है।

[1]'सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते।' ॥ १८ ॥

ऊपर जिस समग्रगुण विभूषित वैदर्भी रीति का वर्णन किया है वह और भी उत्कृष्ट शुद्ध वैदर्भी हो जाती है यदि उसमें समास का प्रयोग न हो। इसको ग्रन्थकार आगे कहते हैं।

वह [वैदर्भी रीति] भी समास के न होने पर [और भी उत्कृष्ट] शुद्ध वैदर्भी कहलाती है।

वह वैदर्भी भी शुद्ध वैदर्भी कही जाती है यदि उसमें समासयुक्त पद न हों। [वैदर्भी का भी उत्कृष्ट रूप यह शुद्ध वैदर्भी है। यह अभिप्राय है] ॥ १६ ॥

उसमें अर्थ गुणों का वैभव [सम्पत्ति, समग्रता, पूर्ण सौन्दर्य आस्वाद्य अर्थात्] अनुभव करने योग्य होता है।

---

[1] योग० १, १८।

तस्यां वैदर्भ्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति ॥२०॥

तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि । १, २, २१ ।

तदुपधानतः खल्वर्थलेशोऽपि स्वदते । किमङ्ग पुनरर्थगुणसम्पत् । तथा चाहुः—

उस वैदर्भी [रीति] में अर्थगुणों का वैभव आस्वाद के योग्य होता है।

वामन ने जो दश गुण माने हैं उनको शब्दगुण तथा अर्थगुण दोनों रूप में माना है। उनके नाम दोनों जगह समान हैं परन्तु लक्षण दोनों जगह भिन्न-भिन्न हैं। इनमें से शब्दगुणों का क्षेत्र कुछ सीमित है परन्तु अर्थगुणों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमें वस्तुतः काव्य के उपयोगी और उत्कर्षाधायक प्रायः समस्त अंशों का समावेश हो जाता है। (१) अर्थ की प्रौढ़ि 'ओज' नाम से, (२) उक्ति का वैचित्र्य 'माधुर्य' नाम से, (३) नवीन अर्थ की कल्पना अर्थदृष्टिरूप 'समाधि' नाम से, (४) रसों का प्रकर्ष कान्ति नाम से, (५) अर्थवैमल्य प्रसाद नाम से, इत्यादि रूप से काव्य के उत्कर्षाधायक समस्त अंशों का समावेश अर्थगुणों के अन्तर्गत हो जाता है। वह सारी अर्थ सम्पत्ति वैदर्भी रीति के अन्तर्गत आस्वाद्य अथवा अलौकिक चमत्कार रूप से अनुभव योग्य होती है। इसीलिए वैदर्भी रीति विशेषरूप से ग्राह्य और प्रशंसा के योग्य मानी गई है ॥ २० ॥

वैदर्भी रीति में अर्थगुणों की सम्पत्ति या वैभव तो अनुभव योग्य होता ही है परन्तु यदि उसमें गुणों का पूर्ण विकास न हुआ हो और लेश मात्र ही हो तो उस लेशमात्र का भी सौन्दर्य कुछ अलौकिक रूप से भासने लगता है। जिसके कारण उसमें वर्णित एक छोटी-सी बात भी बड़ी चमत्कार युक्त प्रतीत होती है। इसी बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र में कह रहे हैं।

उस [वैदर्भी रीति] के सहारे से अर्थगुणों का लेश मात्र भी आस्वाद योग्य हो जाता है [अर्थगुण-सम्पत्ति की तो बात ही क्या।]

उस [वैदर्भी रीति] के सहारे से अर्थ का लेश [सामान्य अर्थ] भी आस्वाद योग्य हो जाता है अर्थगुण सम्पत्ति की तो बात ही क्या कहना।

जैसा कि [वैदर्भी रीति की प्रशंसा में लिखे गए निम्न श्लोकों में]

किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी,
यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सतामममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥

किन्तु वह [वैदर्भी रीतिमयी] कुछ और ही [प्रकार की लोकोत्तर] पद रचना है जिसमें [निबद्ध होने पर] न कुछ [तुच्छ या असत्] सी वस्तु भी कुछ [अलौकिक चमत्कारमय] सी प्रतीत होती है। और सहृदयों के कर्णगोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार आह्लादित करती है मानो [कहीं से] अमृत की वर्षा हो रही है।

इस श्लोक की व्याख्या के प्रसङ्ग में श्री गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचित 'वामनालङ्कार सूत्रवृत्ति' की कामधेनु नामक व्याख्या में इसके पूर्वार्द्ध रूप में यह दो पंक्तियां और उद्धृत की हैं,

जीवन् पदार्थपरिरम्भणमन्तरेण
शब्दावधिर्भवति न स्फुरणेन सत्यम्।

इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि जीवित अर्थात् चमत्कारयुक्त पदार्थ के बिना केवल वैदर्भी रीति के स्फुरणमात्र से वाक्य या काव्य के सौंदर्य की पराकाष्ठा नहीं होती है, यह सत्य है किन्तु, इस प्रकार इस पूर्वार्द्ध की अगले श्लोक के साथ सङ्गति तो लग जाती है परन्तु वह इस 'किन्त्वस्ति० इत्यादि श्लोक का पूर्वार्द्ध नहीं है। किन्तु इसके पूर्व यदि एक पूर्वपक्ष का श्लोक दिया जाय यह पंक्तियां उस पूर्वपक्ष के श्लोक का उत्तरार्द्ध हो सकती हैं।

परन्तु यह श्लोक स्वयं परिपूर्ण है। ग्रन्थकार ने पूरा श्लोक उद्धृत किया है। केवल उत्तरार्द्ध नहीं। फिर टीकाकार ने न जाने क्यों 'अत्र......इति पूर्वार्द्ध पठन्ति' लिख कर ऊपर की दोनों पंक्तियां उद्धृत की हैं। श्लोक में आए हुए 'न किञ्चिदिव' शब्द का असद्वस्तु और 'किञ्चिदिवावभाति' का अर्थ 'सदिवावभाति' यह अर्थ टीकाकार ने भी अपनी टीका में दिया है।

ग्रन्थकार श्री वामन वैदर्भी रीति की प्रशंसा में आगे एक और श्लोक उद्धृत करते हैं—

वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-
र्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति ।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ॥२१॥

साऽपि वैदर्भी तात्स्थ्यात् । १, २, २२ ।

सापीयमर्थगुणसम्पद् वैदर्भीत्युक्ता । तात्स्थ्यादित्युपचारतो व्यवहारं दर्शयति ॥ २२ ॥

जिस [वैदर्भी रीति] को [काव्य रूप] वाक्य में प्राप्त करके शब्द सौन्दर्य [वाचकश्रीः] थिरकने लगता है, जहां [वैदर्भी रीति में पहुंच कर] नीरस [वितथ] वस्तु भी सरस [अवितथ] हो उठती हैं, सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला कुछ ऐसा अनिर्वचनीय शब्दपाक वैदर्भी रीति में [ही] कहीं उदय हो जाता है । [जिसके कारण शब्द शोभा मानों नाचने सी लगती है और नीरस वस्तु भी सरस हो जाती है । टीकाकार ने वितथ शब्द का अर्थ नीरस और अवितथ शब्द का अर्थ सरस किया है ।] ॥ २१ ॥

उस [वैदर्भी रीति] में रहने के कारण वह [अर्थगुण सम्पत्ति भी] [उपचार या लक्षणा से] वैदर्भी [नाम से कही जा सकती] है ।

वह अर्थगुण सम्पत्ति भी वैदर्भी [नाम से] कही गई है । [सूत्र में प्रयुक्त 'तात्स्थ्यात्' इस पद से] उस [वैदर्भी रीति] में स्थित होने के कारण [अर्थसम्पत्ति भी वैदर्भी नाम से कही गई है] । इस प्रकार उपचार [लक्षणा] से व्यवहार दिखलाते हैं ।

किसान लोग खेतों की रक्षा के लिए उनसे मचान बना कर और उन पर बैठ कर अनाज आदि को खाने वाले पक्षी आदि को उड़ाते हैं। वहां पक्षियों को उड़ाने की आवाज़ मचानों पर स्थित पुरुष देते हैं परन्तु वहां 'मञ्चाः क्रोशन्ति—मचान पुकारते हैं'—इस प्रकार का व्यवहार होता है । यह व्यवहार 'तात्स्थ्य' सम्बन्ध से लक्षणा वृत्ति के द्वारा गौण रूप से होता है । वहां जैसे 'तात्स्थ्य' सम्बन्ध से मञ्चस्थ पुरुषों के लिए मञ्च शब्द का औपचारिक प्रयोग होता है, इसी प्रकार यहां वैदर्भी रीति में स्थित अर्थगुणसम्पत्ति के लिए भी उपचार अर्थात् लक्षणा से वैदर्भी शब्द का प्रयोग किया गया है । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है ।

भामहकालीन दो मार्गों का सिद्धान्त—

रीतियों का वर्णन किया है और उन्हीं को काव्य की आत्मा माना है। वामन के पूर्ववर्ती भामह ने रीति के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है और उसके तीन की जगह केवल दो भेद किए हैं—'वैदर्भ मार्ग' तथा 'गौड़ीय मार्ग'। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में काव्य-रचना के यह दो मार्ग प्रचलित थे। परन्तु वह स्वयं दोनों मार्गों का भेद मानने के पक्ष में नहीं हैं। मार्ग-भेद के विषय में अरुचि सी दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है—

[1]वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियः परे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥ ३१ ॥
गौड़ीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥ ३२ ॥
ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ॥ ३३ ॥
अपुष्टार्थमवक्रोक्तिं प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदन्तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥ ३४ ॥
अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौड़ीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥ ३५ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि कुछ लोग 'वैदर्भ मार्ग' को 'गौड़ीय मार्ग' से अलग मानते हैं और यह कहते हैं कि वही 'वैदर्भ मार्ग' उत्तम मार्ग है। सदर्थ युक्त होने पर दूसरा अर्थात् 'गौड़ीय मार्ग' उस वैदर्भ 'मार्ग' के बराबर नहीं हो सकता है। परन्तु भामहाचार्य का कथन यह है कि यह 'वैदर्भ' और 'गौड़ीय' मार्ग के भेद की कल्पना व्यर्थ है। मूर्ख लोग गतानुगतिक न्याय से, या भेड़-चाल से क्या नहीं कह सकते हैं। सब प्रकार की अनर्गल बातें कहने लगते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार यह 'वैदर्भ' तथा 'गौड़ीय' मार्ग के भेद की कल्पना केवल भेड़-चाल के आधार पर चल रही है और मूर्खतापूर्ण है।

कोई यदि यह कहे कि नहीं, मार्ग की यह कल्पना निराधार नहीं है अपितु देश के आधार पर की गई है। अश्मक वंश आदि देश विदर्भ कहलाता है। उसी के आधार पर 'वैदर्भमार्ग' माना जाता है। और वह 'गौड़ीयमार्ग' से भिन्न है। इसके उत्तर में भामहाचार्य कहते हैं कि यह वैदर्भ आदि संज्ञाएं तो आपने अपनी इच्छा के अनुसार कर ली हैं। काव्य का सौन्दर्याधायक तत्व तो एक ही है। उसे चाहे 'वैदर्भ मार्ग' से, चाहे 'गौड़ीय मार्ग' से निरू-

[1] भामह काव्यालङ्कार १, ३१–३५।

यण करो। यदि वह तत्व आ जाता है तो दोनों अवस्थाओं में काव्य उपादेय होगा अन्यथा उससे भिन्न होने पर 'वैदर्भ मार्ग' भी काव्य को उपादेय नहीं बना सकता है। यदि अलङ्कारयुक्त, ग्राम्यता दोष से रहित, सुन्दर अर्थ से युक्त और सुसङ्गत काव्य है तो वह भले ही 'गौड़ीय मार्ग' से लिखा गया हो, वह अवश्य सहृदयों के हृदय में चमत्कार को उत्पन्न करेगा। और यदि इन गुणों से विहीन काव्य है तो फिर वह भले ही 'वैदर्भ मार्ग' से लिखा गया हो वह सहृदयों के लिए चमत्कारजनक नहीं हो सकता है।

इस प्रकार भामह ने अपने समय के मार्गों के प्रचलित भेद के प्रति अरुचि प्रकट की है परन्तु उस से यह स्पष्ट है कि वामन की तीन रीतियों के स्थान पर भामह के समय दो मार्ग का मानने वाला कोई सम्प्रदाय प्रचलित था।

(८) कुन्तक का त्रिमार्ग सिद्धान्त—

'वक्रोक्ति जीवितम्' नामक प्रसिद्ध सहित ग्रन्थ के निर्माता कुन्तक ने देश के आधार पर माने गए दोनों मार्गों तथा वामन की तीनों रीतियों का खण्डन कर 'रचना शैली' के आधार पर 'सुकुमार', 'मध्यम' और 'विचित्र' इन तीन प्रकार के मार्गों का प्रतिपादन किया है।

[१] सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥

अर्थात् काव्य रचना के केवल तीन मार्ग हो सकते हैं। न इससे कम एक या दो और न इससे अधिक चार या पांच। इन तीनों मार्गों में से पहिला सुकुमार, दूसरा विचित्र और तीसरा सुकुमार तथा विचित्र के योग से बना मध्यम मार्ग है।

. देशाश्रित रीतिवाद तथा मार्गवाद का खण्डन—

विदर्भादि देशों के आधार पर मानी गई वामन की तीन रीतियों तथा भामह द्वारा उल्लिखित दो मार्गों के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कुन्तक ने लिखा है—

[२] अत्र बहुविधा विप्रतिपत्तयः सम्भवन्ति। यस्माच्चिरन्तनैर्विदर्भादिदेशसमाश्रयेण वैदर्भीप्रभृतयो रीतयस्तिस्रः समाम्नाताः। तासां चोत्तमाधममध्यमत्वेन त्रैविध्यम्। अन्यैश्च वैदर्भगौडीयलक्षणं मार्गद्वितयमाख्यातम्। एतच्चोभयमप्ययुक्ति-

युक्तम् । यस्माद्देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्यादसंख्यत्वं प्रसज्यते । न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम् । देशधर्मो हि वृद्धव्यवहारपरम्परामात्रशरणः शक्यानुष्ठानतां नातिवर्तते । तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलाप-साकल्यमपेक्षमाणो न शक्यते यथाकथञ्चिदनुष्ठातुम्[1] ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि मार्ग के विषय में अनेक प्रकार के मत-भेद हो सकते हैं। क्योंकि वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने विदर्भ आदि देश विशेष के आश्रय से वैदर्भी आदि तीन रीतियां मानी हैं । और उन रीतियों में वैदर्भी को सर्वोत्तम मान कर उत्तम, मध्यम, अधम रूप से तीन विभाग किए हैं। इसके अतिरिक्त भामह के काव्यालङ्कार में पाए जाने वाले मत के अनुसार अन्य लोगों ने वैदर्भ तथा गौड़ीय रूप दो प्रकार के मार्ग माने हैं । यह दोनों मत युक्तिसङ्गत नहीं हैं। क्योंकि काव्य रचना की रीतियों को यदि देशविशेष के आधार पर विभक्त किया जायगा तो देशों के अनन्त होने से रीतियों की अनन्तता माननी होगी । जो कि असङ्गत है। किसी देशविशेष में प्रचलित ममेरी बहिन के साथ विवाह आदि के समान रीतियों को दैशिक आचारमात्र नहीं माना जा सकता है। क्योंकि दैशिक आचार में तो केवल वृद्धव्यवहार-परम्परा ही प्रमाण है । इसी लिए वृद्धव्यवहार के अनुसार उसका अनुष्ठान किया जा सकता है परन्तु काव्य की रचना तो वृद्धव्यवहार के ऊपर आश्रित नहीं है । उसके लिए तो शक्ति और व्युत्पत्ति आदि कारणकलाप की आवश्यकता होती है। उसके बिना केवल दैशिक धर्म के रूप में काव्य की रचना नहीं की जा सकती है । इसलिए दैशिक आचारों के समान देश-भेद के आधार पर काव्य-रचना की रीतियों का भेद करना उचित नहीं है।

[2]किञ्च शक्तौ विद्यमानायामपि व्युत्पत्त्यादिराहार्यकारणसम्पत् प्रतिनियत-देशविषयतया न व्यवतिष्ठते । नियमनिबन्धनाभावात् तत्रादर्शनादन्यत्र च दर्शनात् ।

और शक्ति के होने पर भी व्युत्पत्ति आदि उपार्जित कारण सामग्री की भी काव्य-रचना में आवश्यकता होती है। वह कारण-सामग्री भी किसी देशविशेष में नियमित नहीं है। क्योंकि विदर्भ आदि उस-उस देश में रहने वाले अन्य बहुत से पुरुषों को उस प्रकार की शक्ति तथा व्युत्पत्ति प्राप्त नहीं होती है और उस देश से भिन्न स्थल में भी उस प्रकार की सामग्री प्राप्त हो जाती है । इसलिए काव्य-

[1],[2] वक्रोक्तिजीवितम् का० १, २४ ।

रचना की कोई भी समग्री देशविशेष के ऊपर अवलम्बित नहीं है। न प्रतिभा किसी देशविशेष से सम्बन्ध रखती है और न व्युत्पत्ति आदि। वह दोनों प्रकार की सामग्री सब देशों और कालों में सर्वत्र उपलब्ध हो सकती है। सभी देशों में उत्तम कवि हो सकते हैं। इसलिए देशविशेष के आधार पर काव्य-रचना की रीतियों का विभाजन करना उचित नहीं है।

आगे देश-भेद के आधार पर मानी हुई उन रीतियों के उत्तम, मध्यम, अधम भाव का मानना भी उचित नहीं है, यह दिखलाते हुए कुन्तक लिखते हैं—

[१]न च रीतीनामुत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यमवस्थापयितुं न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासम्भवान्मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति। परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामवलम्बते। तैरेवानभ्युपगतत्वात्। नचागतिकगतिन्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् काव्यं करणीयतामर्हति। तदेवं निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विवदामहे। मार्गद्वितयवादिनामप्येतान्येव दूषणानि। तदलमनेन निःसारवस्तुपरिमलनव्यसनेन।

अर्थात् देशविशेष के आधार पर मानी गई रीतियों का जो उत्तम, मध्यम अधम रूप से तीन प्रकार का जो विभाजन किया गया है वह भी उचित नहीं हुआ। क्योंकि सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना के प्रसङ्ग में यह तीन प्रकार का रीतिविभाग किया गया है। और यह कहा गया कि वैदर्भी रीति सबसे अधिक सहृदयहृदयाह्लादकारी है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्य रीतियां 'वैदर्भी' के समान हृदयाह्लादक नहीं हो सकती हैं। अतः जो सहृदयहृदयाह्लादकारी है वही काव्य की एकमात्र रीति हो सकती है। इसलिए तीन रीतियां नहीं अपितु केवल एक ही रीति माननी चाहिए। शेष दो रीतियों का उपदेश व्यर्थ हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि शेष रीतियों का उपदेश उनके परित्याग के लिए किया गया है तो यह कहना उचित नहीं होगा क्योंकि रीतियों का प्रतिपादन करने वाले वामन इस बात को नहीं मानते हैं कि शेष रीतियों का उपदेश उनका परित्याग करने के लिए किया गया है। दो मार्गों के मानने में भी यही दोष आते हैं।

इस प्रकार कुन्तक ने देशभेद के आधार पर माने गए दो मार्ग और तीन रीतियों के सिद्धान्त का खण्डन कर वस्तुतः 'शैली' के आधार पर सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग का निरूपण किया है।

इति श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'शारीरे' प्रथमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
अधिकारिचिन्ता रीतिनिश्चयश्च ।

पाश्चात्य 'रीति' विवेचन—

न केवल भारतीय साहित्य में अपितु पाश्चात्य साहित्य में भी 'रीतियों' का विवेचन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। पाश्चात्य दर्शन तथा साहित्य के जन्मदाता प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् 'अरस्तू' ने साहित्य शास्त्र सम्बन्धी दो महत्व-पूर्ण है ग्रन्थ लिखे हैं जिनके नाम 'रेटारिक्स' तथा 'पोइटिक्स' हैं । इनमें से 'रेटारिक्स' के तृतीय खण्ड में रीतियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। अरस्तू ने 'साहित्यिक' तथा 'वादात्मक' दो प्रकार की रीतियों का विवेचन किया है। हमारे यहां 'साहित्यिक' रीतियों का विवेचन साहित्यशास्त्र में और 'वादात्मक' रीतियों का विवेचन न्याय शास्त्र में किया गया है।

'अरस्तू' के बाद 'डिमेट्रियस' नामक एक और प्रसिद्ध यूनानी आलङ्कारिक ३०० ईसवी पूर्व हुए हैं। उन्होंने 'आन स्टाइल' [On Style] नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ रीति ग्रन्थ में चार प्रकार की रीतियां मानी हैं—

१ प्रसन्न मार्ग [Plain Style], २ उदात्त मार्ग [Stately Style]
३ मसृण मार्ग [Polished Style], ४ ऊर्जस्वी मार्ग [Powerful Style]

हमारे यहां जैसे 'कुन्तक' ने अपने मार्गों के साथ अथवा वामन ने अपनी रीतियों के साथ गुणों का सम्बन्ध प्रदर्शित किया है, इसी प्रकार 'डिमेट्रियस' ने भी अपने मार्गों के साथ गुणों का सम्बन्ध दिखलाया है। उन गुणों के अभाव में चार दूषित रीतियां उत्पन्न हो जाती हैं—

१ शिथिल मार्ग [Frigid Style], २ कृत्रिम मार्ग [Affected Style],
३ नीरस मार्ग [Arid Style], ४ अननुकूल मार्ग [Disagreeable Style]

श्री पण्डितवामनविरचित 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में
प्रथम 'शारीराधिकरण' में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।
अधिकारिचिन्ता और रीतिनिश्चय समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यालङ्कारदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
प्रथमे शारीराऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

शारीरनाम्नि प्रथमाधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः
[काव्याङ्गानि काव्यविशेषाश्च]

अधिकारिचिन्तां रीतितत्त्वञ्च निरूप्य काव्याङ्गान्युपदर्शयितुमाह—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि । १, ३, १ ।

शारीर नामक प्रथम अधिकरण में तृतीय अध्याय

[काव्य के अङ्ग और काव्य के भेद]

पिछले अध्याय में ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के 'अधिकारी' तथा उसके प्रतिपाद्य विषय के मुख्य भाग 'रीति' का विवेचन किया था। उसके पूर्व अर्थात् प्रथमाधिकरण के प्रथम अध्याय में ग्रन्थ के 'प्रयोजन' का निरूपण कर चुके हैं। इस प्रकार इन विगत दो अध्यायों में 'अनुबन्ध चतुष्टय' में से 'अधिकारी', 'प्रयोजन' और 'विषय' इन तीनों अनुबन्धों का निरूपण हो गया। अब शेष चौथा 'सम्बन्ध' नामक अनुबन्ध रह जाता है। उसके स्पष्ट होने से ग्रन्थकार ने अलग नहीं दिखाया है। ग्रन्थ का, विपय के साथ 'प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव', और अधिकारी के साथ 'बोध्य-बोधकभाव' सम्बन्ध सदा ही होता है। इसलिए उसको अलग दिखलाने की अधिक आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार यहां तक 'अनुबन्ध चतुष्टय' का निरूपण कर चुकने के वाद ग्रन्थकार अब अपने विषय का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं।

जैसे पिछले अध्याय में 'अधिकारी' तथा 'रीति निश्चय' रूप दो विषयों का प्रतिपादन किया था इसी प्रकार इस अध्याय में 'काव्य के अङ्ग' और 'काव्य के भेद' इन दो विषयों का निरूपण करेंगे। काव्य के अङ्ग शब्द से काव्य के अवयवों का नहीं अपितु साधनों का ग्रहण करना चाहिए। ग्रन्थकार इस अध्याय के प्रारम्भिक २० सूत्रों में काव्य के साधनों का और अन्तिम १२ सूत्रों में काव्य के मुख्य भेदों का निरूपण करेंगे। सबसे पूर्व पिछले अध्याय के साथ इस अध्याय की सङ्गति जोड़ते हुए ग्रन्थकार अध्याय का प्रारम्भ करते हैं—

अधिकारिचिन्ता और रीतिनिश्चय का [पिछले अध्याय में] निरूपण करके [अब इस अध्याय में] काव्य के साधनों [अङ्गों] को दिखलाने के लिए कहते हैं—

चौदह अथवा अठारह भेदों से प्रसिद्ध समस्त विद्याएं], और ३. [काव्यों का ज्ञान, काव्यज्ञों की सेवा, पदों के निर्वाचन की सावधानता, और स्वाभाविक प्रतिभा, तथा उद्योग रूप पांच को मिलाकर], प्रकीर्ण [फुटकर इस प्रकार यह तीन मुख्य] काव्य [निर्माण में कौशल प्राप्त करने] के साधन हैं ॥ १ ॥

काव्य के इन्हीं साधनों को लेकर काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचार्य ने अपने ग्रन्थ में काव्य के हेतुओं का इस प्रकार निरूपण किया है—

[1]शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

इसमें वामन के लोक और विद्या दोनों का 'लोकशास्त्राद्यवेक्षणात् निपुणता' के अन्तर्गत और प्रकीर्ण में से शक्ति को अलग करके तथा वृद्धसेवा आदि को 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः' में अन्तर्गत करके, 'काव्यप्रकाशकार' ने भी वामन के समान ही ८ काव्याङ्गों को मुख्य रूप से तीन काव्य-साधनों के रूप में प्रस्तुत किया है। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य 'भामह' ने काव्य के साधनों का निरूपण इस प्रकार किया है—

[2]शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यैरमी ॥९॥
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥१०॥

इन सब काव्याङ्गों के निरूपण की तुलना करने से प्रतीत होता है कि काव्य के साधन सब लोगों की दृष्टि में लगभग एक जैसे ही हैं। परन्तु उन्हीं के पौर्वापर्य अथवा विभाग आदि में भेद करके भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से उनका निरूपण कर दिया है।

भामह के ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोकों में अन्तिम पद का पाठ भ्रष्ट मालूम होता है। ग्रन्थ के सम्पादक महोदय स्वयं भी शुद्ध पाठ का निश्चय नहीं कर सके हैं। उन्होंने मूल में ही 'काव्यैर्वंशी' और 'काव्यैरमी' यह दो पाठ दिए हैं। और एक तीसरा पाठ 'काव्यैह्यमी' नीचे टिप्पणी रूप में दिया है। इन तीनों में से किसी से भी अर्थ की सङ्गति ठीक नहीं लगती है। फिर भी 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस सिद्धान्त के अनुसार

[1] काव्यप्रकाश १, २। [2] भामह काव्यालङ्कार १, ९-१०।

उद्देशक्रमेणैतद् व्याचष्टे—

१. लोक

लोकवृत्तं लोकः । १, ३, २ ।

लोकः स्थावरजङ्गमात्मा । तस्य वर्तनं वृत्तमिति ॥ २ ॥

स्थित पाठ की ही व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है । इस पाठ में वस्तुतः 'काव्ययैः' पद अस्पष्ट है । उसको यदि 'काव्यं याति इति काव्ययः' अर्थात् जो काव्य निर्माण की ओर चलना चाहता है वह 'काव्यय' हुआ ऐसा अर्थ कर लें तो पाठ की कथञ्चित् सङ्गति लग जावेगी । उस दशा में प्रथम श्लोक का अर्थ यह हो जावेगा कि जो काव्य निर्माण की ओर प्रवृत्त होना चाहे उस अभिनव कविपदाकांक्षी को 'शब्द-स्मृति' अर्थात् 'व्याकरण', छन्द, कोश, इतिहासाश्रित कथाएं, लोकव्यवहार, न्यायादि युक्तिशास्त्र और चौंसठ प्रकार की कलाओं का मनन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । यह पहिले श्लोक का अर्थ हुआ । और उसके बाद शब्द और अर्थ को भली प्रकार समझ कर, दूसरे महाकवियों के काव्यों का अवलोकन, तथा काव्यज्ञ विद्वानों की सत्सङ्गति करते हुए काव्यरचना का अभ्यास करना चाहिए । यह भामह के काव्यसाधन-प्रतिपादक दोनों श्लोकों का भावार्थ हुआ । वामन ने भी प्रायः इन्हीं साधनों का निरूपण किया है ।

[१] 'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनं उद्देशः'—नाम मात्र से वस्तु के कथन करने अर्थात् पदार्थों के केवल नाम गिनाने को 'उद्देश' कहते हैं । जैसे कि यहां प्रथम सूत्र में लोक, विद्या, और प्रकीर्ण यह काव्याङ्गों के नाम मात्र गिना दिए हैं । उनका लक्षण आदि नहीं किया है । इसी को 'उद्देश' कहते हैं । 'उद्देश' के समय पदार्थों के पौर्वापर्व का जो क्रम रहता है उसी क्रम से आगे उनकी व्याख्या, लक्षण आदि किए जाते हैं । इसलिए यहां भी ग्रन्थकार 'उद्देश-क्रम' से काव्याङ्गों के लक्षण आदि करने के लिए अवतरणिका करते हैं—

उद्देश के क्रम से इनकी व्याख्या करते हैं—

लोक व्यवहार [यहां] लोक [शब्द से अभिप्रेत] है ।

स्थावर [वृक्षादि अचल] और जङ्गम [चल मनुष्यादि] रूप [जगत्] लोक [शब्द का मुख्यार्थ] है । उसका वृत्त अर्थात् व्यवहार यह [लोकवृत्त पद का] अर्थ है ॥ २ ॥

शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वा विद्याः । १, ३, ३, ।

शब्दस्मृत्यादीनां तत्पूर्वकत्वं पूर्वं काव्यबन्धेष्वपेक्षणीयत्वात् ॥ ३ ॥

प्रथम साधन 'लोकवृत्त' की व्याख्या के बाद द्वितीय साधन 'विद्या' की व्याख्या अगले सूत्र में करते हैं—

शब्दस्मृति [व्याकरण शास्त्र], अभिधानकोश [कोशग्रन्थ], छन्दोविचिति [छन्दःशास्त्र], कलाशास्त्र [चौंसठ प्रकार की कलाओं और चौदह प्रकार की उपकलाओं के प्रतिपादक शास्त्र], कामशास्त्र [वात्स्यायन आदि प्रणीत], और दण्डनीति [कौटिल्यादि प्रणीत अर्थशास्त्र] 'विद्या' [शब्द से ग्रहण करने योग्य] हैं ।

शब्दस्मृति [व्याकरण] आदि का काव्य का पूर्ववर्तित्व [तत्पूर्वकत्व] काव्यरचना में [सबसे] पहिले अपेक्षित होने के कारण [कहा गया] है ॥ ३ ॥

इस सूत्र में जो 'शास्त्र' शब्द आया है उसको 'कला' और 'काम' इन दो शब्दों के साथ ही जोड़ना चाहिए ऐसा इस ग्रन्थ के प्राचीन टीकाकार का मत है। अन्य 'शब्दस्मृति', 'अभिधानकोश', 'छन्दोविचिति' आदि के साथ 'शास्त्र' शब्द को जोड़े बिना भी उनका शास्त्रत्व स्वतःसिद्ध ही है इसलिए उनके साथ शास्त्र शब्द को जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। केवल 'कला' तथा 'काम' शब्द के साथ उसको जोड़ कर 'कामशास्त्र' तथा 'कलाशास्त्र' ऐसा अन्वय कर लेना चाहिए यह टीकाकार का भाव है। परन्तु सूत्रकार ने सम्भवतः 'कामशास्त्र' को एक पद मान कर प्रयोग किया है इसलिए उस 'शास्त्र' शब्द को अलग करके 'कला' के साथ भी जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। सूत्र का 'पूर्वाः' पद 'इत्यादि' के अर्थ में प्रयुक्त है। इसलिए सूत्र में अनुक्त गणितादि विद्याओं का भी उससे ग्रहण कर लेना चाहिए। अर्थात् कवि के लिए सभी विद्याओं का परिज्ञान आवश्यक है। इसीलिए 'भामह' ने लिखा है कि कोई शब्द, या अर्थ या विद्या या कला ऐसी नहीं है जिसका काव्य में उपयोग न हो। इसीलिए कवि के ऊपर उन सबका ज्ञान प्राप्त करने का एक बड़ा भारी भार है।

तासां काव्याङ्गत्वं योजयितुमाह—

(४) शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः । १, ३, ४ ।

शब्दस्मृतेर्व्याकरणात्, शब्दानां शुद्धिः साधुत्वनिश्चयः कर्तव्यः । शुद्धानि हि पदानि निष्कम्पैः कविभिः प्रयुज्यन्ते ॥ ४ ॥

---

[१] न स शब्दो, न तद् वाच्यं, न स न्यायो, न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥

सूत्र में व्याकरण, कोश, और छन्दःशास्त्र आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया है परन्तु 'अलङ्कारशास्त्र' का नामोल्लेख नहीं किया है इसका कारण यह है कि अलङ्कार का वर्णन वह प्रथम अध्याय में ही '[२]शास्त्रतस्ते' सूत्र में कर चुके हैं इसलिए यहां उसका पृथक् निर्देश नहीं किया है ।

ऊपर कहे हुए काव्याङ्गों का काव्य में उपयोग दिखाने के लिए अगले सूत्रों में प्रत्येक का काव्य से सम्बन्ध दिखलाते है ।

उनकी काव्याङ्गता की योजना करने के लिए कहते हैं—

शब्दस्मृति [व्याकरणशास्त्र] से शब्द की शुद्धि होती है ।

शब्दस्मृति अर्थात् व्याकरण से शब्दों की शुद्धि अर्थात् साधुत्व का निश्चय करना चाहिये । शुद्ध पदों को कवि निर्भय [निष्कम्प] होकर प्रयुक्त कर सकते हैं ॥ ४ ॥

व्याकरण का ज्ञान न होने पर कवि को पद के शुद्ध होने का सन्देह हो जाता है इसलिए उसको पदों का प्रयोग करते हुए डर लगता है और बहुधा अशुद्ध प्रयोग कर जाने पर अपकीर्ति का तथा उपहास का पात्र बनता है । इसी लिए पातञ्जल महाभाष्य में व्याकरण के प्रयोजनों के प्रसङ्ग में लिखा है—

[३] यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

भामह ने भी कहा है—

[४] सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥

---

[१] भामह काव्यालङ्कार, ५, ४ ।

[२] वामन काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः १, १, ४ ।

[३] महाभाष्य १ ।

(५) अभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः । १, ३, ५ ।

पदं हि रचनाप्रवेशयोग्यं भावयन् सन्दिग्धार्थत्वेन [1]गृह्णीयान्न वा गृह्णीयात्, जह्यान्न वा जह्यादिति काव्यबन्धविघ्नः । तस्मादभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः कर्तव्य इति ।

---

[2]अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥

दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' में इसी बात की पुष्टि की है—

[3] गौर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥

इसलिए सत्कवि के लिए व्याकरण शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । उसके बिना उसका काम नहीं चल सकता है ॥ ४ ॥

आगे कोश के ज्ञान का उपयोग दिखाते हैं—

अभिधान कोश [के परिज्ञान] से पदों के [ठीक] अर्थ का निश्चय [करना चाहिए]

रचना में रखने योग्य पद का विचार करते हुए [यदि कोश का ज्ञान नहीं है तो] अर्थ का सन्देह रहने से [उस विशेष पद को] ग्रहण करे अथवा न करे, छोड़ दे अथवा न छोड़े यह [द्विविधा] काव्य रचना में [बड़ा] विघ्न [करती] है । इसलिए अभिधान कोश से पदों के अर्थ का [ठीक तरह से] निश्चय करना चाहिए ।

कुछ लोगों का विचार यह भी है कि कोश के ज्ञान से कवि को नए-नए शब्द प्रयोग करने के लिए मिल जाते हैं । जैसा कि महाकवि माघ के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने 'शिशुपाल-वध' नामक काव्य के प्रारम्भिक नौ सर्गों में कोश के अधिकांश शब्दों का प्रयोग कर डाला है । इसलिए नौ सर्ग माघ के पढ़ जाने के बाद नवीन शब्द का मिलना कठिन हो जाता है—'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते ।' परन्तु वामन का मत है कि अपूर्व, अप्रयुक्त नए

---

[1] बनारस वाले संस्करण में 'गृह्णीयान्नवा जह्यादिति' इस प्रकार का पाठ छपा है जो ठीक नहीं है । उसके बीच में कुछ पाठ छूट गया है । हमने उसकी पूर्ति करके पाठ दिया है ।

[2] भामह काव्यालङ्कार १, १२ ।

[3] काव्यादर्श ।

अपूर्वाभिधानलाभार्थत्वं त्वयुक्तमभिधानकोशस्य। अप्रयुक्तस्याप्रयोज्यत्वात्।

यदि तर्हि प्रयुक्तं प्रयुज्यते किमिति सन्दिग्धार्थत्वमाशङ्कितं पदस्य?

तन्न। तत्र सामान्येनार्थावगतिः सम्भवति। यथा नीवीशब्देन जघनवस्त्रग्रन्थिरुच्यते इति कस्यचिन्निश्चयः। स्त्रियो वा पुरुषस्य वेति संशयः। 'नीवी संग्रथनं नार्या जघनस्थस्य वाससः' इति नाममालाप्रतीकमपश्यतः इति।

शब्दों की खोज को 'कोश' के परिज्ञान का प्रयोजन नहीं मानना चाहिए। क्योंकि बहुत से शब्द ऐसे भी हैं जो कोश में तो पाए जाते हैं परन्तु काव्य में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसे शब्दों का प्रयोग करने से काव्य में 'अप्रयुक्तत्व दोष' हो जाता है। जैसे 'हन हिंसागत्योः' इस धातुपाठ के अनुसार 'हन्' धातु का 'गति' अर्थ भी है। परन्तु काव्य में गमनार्थ में उसका प्रयोग निषिद्ध है। इसीलिए 'कुञ्जं हन्ति कृशोदरी' इत्यादि उदाहरण 'अप्रयुक्तत्व' दोष से ग्रस्त माने गए हैं। 'पद्म' शब्द, कोश के अनुसार पुलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त हो सकता है परन्तु कवि उसे नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयुक्त करते हैं। काव्य में उसका पुलिङ्ग प्रयोग दोषाधायक माना जाता है। इसलिए वामन का मत यह है कि अपूर्व शब्दों के अनुसन्धान को अभिधानकोश का प्रयोजन नहीं समझना चाहिए अपितु उसका उपयोग शब्द के अर्थ के निश्चय में ही करना चाहिए। इसी बात को आगे कहते हैं।

अपूर्व [नए नए] पद के लाभ को अभिधानकोश का फल मानना उचित नहीं है। [क्योंकि महाकवियों द्वारा] [1]अप्रयुक्त [पद का] प्रयोग उचित नहीं है।

[प्रश्न] फिर यदि प्रयुक्त [पदों] का [ही] प्रयोग किया जाता है तो [उनका तो अर्थ निश्चित ही है] फिर पदों की सन्दिग्धार्थकता की शंङ्का क्यों की है ?

[उत्तर] ऐसा कहना ठीक नहीं है। ऐसे शब्दों में सामान्य रूप से अर्थ की प्रतीति हो सकती है [परन्तु विशेष अर्थ का ज्ञान न होने से संशय अथवा अनुचित प्रयोग हो जाता है। ऐसे संशय के निवारण के लिए कोश का उपयोग करना चाहिए] जैसे कमर पर पहिने जाने वाले वस्त्र के बांधने वाले

---

[1] नाऽप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतः सम्मोहकारिणम्।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात् को हन्तिं गतिवाचिनम्॥

नारे को 'नीवी' कहते हैं यह कोई [कवि सामान्य रूप से] जानता है। परन्तु 'नीवी संग्रथनं नार्या जघनस्थस्य वाससः' इस नाममाला के प्रतीक को न जानने वाले [कवि] को, वह स्त्री का [नारा] या पुरुष का [नारा नीवी कहलाता है] यह संशय हो सकता है। [जब वह इस 'नीवी संग्रथनं नार्या जघनस्थस्य वाससः' इत्यादि कोश को देख लेता है तब उसको वह निश्चय हो जाता है कि 'नीवी' शब्द पुरुष के नारे के लिए नहीं, केवल स्त्री के नारे के लिए प्रयुक्त करना चाहिए]।

इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि 'नीवी' शब्द केवल स्त्री के नारे का ही बोधक है तो पुरुष के नारे के लिए निम्नलिखित श्लोक में कैसे प्रयुक्त किया गया है। इस नीचे लिए श्लोक में किसी 'भोजनभट्ट' का वर्णन है। वह जब किसी बढ़िया निमन्त्रण आदि के अवसर पर भोजन करने बैठा था तो पहले से ही ज़रा नारा ढीला करके बैठा था ताकि भोजन करते समय पेट कसे नहीं। परन्तु फिर भी जब खाते-खाते उसका पेट बढ़ने लगा तो उसने अपने नारे को और ढीला कर दिया। यह इस श्लोक का भाव है। इसमें 'वर्धमानोदरास्थिना' और 'केनचित्' इन दोनों पुल्लिङ्ग विशेषणों से, भोजन करने वाला पुरुष ही है यह बात निश्चित है। और 'नीवीबन्धः श्लथीकृतः' में उसके 'नीवी' ढीली करने का वर्णन है। यदि 'नीवी' शब्द केवल स्त्री के नारे के लिए प्रयुक्त होता है तो यहां पुरुष के साथ उसका प्रयोग कैसे हुआ यह प्रश्नकर्ता का आशय है।

इसका उत्तर ग्रन्थकार ने यह दिया है कि यह प्रयोग या तो भ्रान्तिमूलक है, या औपचारिक अर्थात् लक्षणामूलक। या तो कवि यह जानता ही नहीं है कि 'नीवी' शब्द का प्रयोग केवल स्त्री के नारे के लिए ही करना चाहिए इसलिए भ्रान्तिवश उसने 'नीवी' शब्द को सामान्य रूप से दोनों का वाचक समझ कर भ्रम से पुरुष के नारे के लिए प्रयोग कर दिया है। और यदि वह इस बात को जानता है फिर भी जानबूझ कर उसने इस शब्द का प्रयोग किया है तो गौण, औपचारिक या लक्षणामूलक प्रयोग कहना चाहिए।

साधारणतः लोगों का विचार है कि आधुनिक पायजामा नेकर आदि भारतीय वेषभूषा के अङ्ग नहीं हैं। उनका प्रचार कदाचित् मुसलमानों के काल से हुआ परन्तु इस श्लोक से प्रतीत होता है कि वामन के काल के पूर्व भी इन वस्त्रों का उपयोग भारत में होता था। अन्यथा वामन ने अपने पूर्ववर्ती किसी कवि का जो यह श्लोक उद्धृत किया है उसमें 'नीवी' शब्द का

अथ कथम् :—

विचित्रभोजनाभोगवर्धमानोदरास्थिना ।
केनचित् पूर्वमुक्तोऽपि नीवीबन्धः श्लथीकृतः ॥

इति प्रयोगः । भ्रान्तेरुपचाराद्वा ॥ ५ ॥

(८) छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः । १, ३, ६ ।

काव्याभ्यासाद् वृत्तसंक्रान्तिर्भवत्येव, किन्तु मात्रावृत्तादिषु क्वचित् संशयः स्यात् । अतो वृत्तसंशयच्छेदश्छन्दोविचितेर्विधेय इति ॥ ६ ॥

(९) कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् १, ३, ७ ।

कला गीतनृत्यचित्रादिकास्तासामभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलादिप्रणीतानि कलाशास्त्राणि । तेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् संवेदनम् । न हि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यङ् निबद्धुं शक्यमिति ॥ ७ ॥

उल्लेख कैसे आता । 'नीवी' या नारे का उपयोग इन्हीं में हो सकता है । मूल ग्रन्थ की पंक्तियों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

[प्रश्न—यदि 'नीवी' शब्द स्त्री के वस्त्र के नारे के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है] तो फिर,

नाना प्रकार के व्यञ्जनों के प्रचुर परिमाण [में पेट में पहुंचने] से पेट फूलने वाले [भोजनभट्ट] ने पहले से ही ढीले किए हुए अपने नारे को और भी ढीला कर दिया ।

यह [पुरुष के नारे के लिए 'नीवी' शब्द का] प्रयोग कैसे हुआ ?

[उत्तर] भ्रान्ति से अथवा उपचार से ॥ ५ ॥

आगे काव्य निर्माण में छन्दःशास्त्र का उपयोग दिखलाते हैं :—

छन्दोविचिति [छन्दः शास्त्र] से वृत्त [छन्द] विषयक संशय का नाश होता है ।

[यद्यपि] काव्य [रचना] के अभ्यास से [साधारणतः] वृत्तों का परिचय हो जाता है । फिर भी [कभी-कभी] मात्रिक वृत्त आदि में कहीं संशय हो सकता है । इसलिए छन्दःशास्त्र [के अभ्यास] से वृत्त [सम्बन्धी] संशय का निराकरण करना चाहिए ॥ ६ ॥

कलाशास्त्रों के द्वारा कला के तत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।

कला, गाना, नाचना, और चित्र आदि हैं । उनका प्रतिपादन करने वाले

(८) कामशास्त्रतः कामोपचारस्य । १, ३, ८ ।

संविदित्यनुवर्तते । कामोपचारस्य संवित् कामशास्त्रत इति । कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्येति ॥ ८ ॥

(९) दण्डनीतेर्नयापनययोः । १, ३, ९ ।

दण्डनीतेरर्थशास्त्रान्नयस्यापनयस्य च संविदिति । अत्र षाड्गुण्यस्य यथावत् प्रयोगो नयः । तद्विपरीतोऽपनयः । न तावविज्ञाय नायकप्रतिनायकयोर्वृत्तं शक्यं काव्ये निबद्धुमिति ॥ ९ ॥

'विशाखिल' आदि रचितशास्त्र कलाशास्त्र [कहलाते] हैं । उन [कलाशास्त्रों] से कलाओं के तत्त्वों का संवित् अर्थात् संवेदन [ज्ञान] करना चाहिए । कलाओं के तत्त्व को समझे बिना [काव्य में] कला [सम्बन्धी] वस्तु का भली प्रकार वर्णन करना सम्भव नहीं है । [इसलिए कलाओं का ज्ञान कवि के लिए आवश्यक है] ॥ ७ ॥

कामशास्त्र [के अध्ययन] से काम [सम्बन्धी] व्यवहार का [ज्ञान प्राप्त करना चाहिए] ।

संवित् [इस पद] की [पूर्वसूत्र से] अनुवृत्ति आती है । काम [सम्बन्धी] व्यवहार का ज्ञान कामशास्त्र से करना चाहिए यह [इस सूत्र का अर्थ है] । काव्य की वस्तु में कामोपचार [कामशास्त्र सम्बन्धी व्यवहार] का बाहुल्य रहता है इसलिए [कामशास्त्र का अध्ययन कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है ॥ ८ ॥

दण्डनीति [कौटिल्यादि प्रणीत अर्थशास्त्र] से नय और अपनय का [ज्ञान] करना चाहिए ।

दण्डनीति [अर्थात् कौटिल्यादि प्रणीत] अर्थशास्त्र से नय [उचित नीति] और अपनय [अनुचित नीति] का ज्ञान होता है । उनमें से [१. सन्धि, २. विग्रह, ३. यान, ४. आसन, ५. संश्रय, ६. द्वैधीभाव इन] षड्गुणों का यथोचित प्रयोग नय [कहलाता] है । उसके विपरीत [उन्हीं षड्गुणों का अनुचित प्रयोग] अपनय [कहलाता] है । उन दोनों [नय और अपनय] को जाने बिना नायक और प्रतिनायक के व्यवहार को [काव्य में भली प्रकार] वर्णन करना सम्भव नहीं है [इसलिए दण्डनीति या अर्थशास्त्र का ज्ञान भी कवि के लिए आवश्यक है] ॥ ९ ॥

इतिवृत्तकुटिलत्वञ्च ततः । १, ३, १० ।

इतिहासादिरितिवृत्तम् काव्यशरीरम् । तस्य कुटिलत्वम् । ततो दण्डनीतेः । आबलीयसप्रभृतिप्रयोगव्युत्पत्तौ, व्युत्पत्तिमूलत्वात् तस्याः । एवमन्यासामपि विद्यानां यथास्वमुपयोगो वर्णनीय इति ॥ १० ॥

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं
प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् । १, ३, ११ ।

और उस [दण्डनीति के परिज्ञान] से [ही] इतिवृत्त [कथा के आख्यान वस्तु] की [काव्योपयोगी आवश्यक] कुटिलता होती है ।

काव्य का शरीर भूत इतिहासादि [आख्यान वस्तु] इतिवृत्त [शब्द से यहां अभिप्रेत] है । उसकी [काव्योपयोगी] विचित्रता [कुटिलता] उस दण्डनीति से [ही] हो सकती है । 'आबलीयस' प्रभृति प्रयोगों की व्युत्पत्ति में [दण्डनीति का उपयोग है] । उस [दण्डनीति] के [तद्विषयक] ज्ञान का कारण होने से [दण्डनीति का ज्ञान भी काव्य के सौन्दर्याधान के निमित्त, कवि के लिए आवश्यक है] ।

'अबलीयांसमधिकृत्य कृतमधिकरणं आबलीयसम् । प्रयोगा मित्रभेद-सुहृल्लाभादयः ।' वृत्ति में आए हुए 'आबलीयस' तथा 'प्रयोग' शब्द की इस प्रकार की व्याख्या टीकाकार ने की है । 'आबलीयस' नाम का अधिकरण अर्थ-शास्त्र में मिलता है ।

इसी प्रकार [यहां न कही हुई] अन्य विद्याओं का [काव्य के लिए] यथोचित उपयोग समझ लेना चाहिए [वर्णन करना चाहिए] ॥ १० ॥

इस अध्याय के प्रथम सूत्र में लोक, विद्या और प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य का अङ्ग या साधन कहा था । उनमें से विद्या के अन्तर्गत व्याकरण, कोश, छन्द, कला, कामशास्त्र और दण्डनीति इन छः का समावेश किया था । यहां तक लोक, और विद्या के उन छहों भेदों का निरूपण हो गया । अब इसके आगे तीसरे साधन की विवेचना करते हैं । इस को ग्रन्थकार ने 'प्रकीर्ण' नाम से रखा है । प्रकीर्ण का अर्थ फुटकर होता है । इसके भीतर (१) लक्ष्यज्ञत्व, (२) अभियोग, (३) वृद्धसेवा, (४) अवेक्षण, (५) प्रतिभान और (६) अवधान इन ६ का संग्रह किया गया है । पहिले उन छहों का नाममात्र से कथन ['उद्देश'] करते हैं—

(१) लक्ष्यज्ञत्व, (२) अभियोग, (३) वृद्धसेवा, (४) अवेक्षण, (५) प्रतिभान, और (६) अवधान [यह छः] प्रकीर्ण [शब्द से यहां अभिप्रेत] हैं ॥ ११ ॥

(a) तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् । १, ३, १२ ।

अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् । ततो हि काव्यबन्धस्य व्युत्पत्तिर्भवति ॥ १२ ॥

(b) काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः ॥ १, ३, १३ ॥

बन्धनं बन्धः । काव्यस्य बन्धो रचना काव्यबन्धः । तत्रोद्यमोऽभियोगः । स हि कवित्वप्रकर्षमादधाति ॥ १३ ॥

(c) काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा ॥ १, ३, १४ ॥

काव्योपदेशे गुरव उपदेष्टारः । तेषां शुश्रूषणं वृद्धसेवा । ततः काव्यविद्यायाः संक्रान्तिर्भवति ॥ १४ ॥

उनमें से [अन्य महाकवियों के बनाए हुए] काव्यों का परिचय [पुनः पुनः अवलोकन] लक्ष्यज्ञत्व [पद से यहां अभिप्रेत] है।

दूसरों [अन्य महाकवियों] के काव्यों में परिचय [अभ्यास] लक्ष्यज्ञत्व [कहलाता] है। उस [काव्यानुशीलन] से काव्यरचना में व्युत्पत्ति होती है। [इसलिए कविता करने की इच्छा रखने वाले को अन्य कवियों की रचनाओं का अनुशीलन अवश्य ही करना चाहिए] ॥ १२ ॥

आगे 'अभियोग' का लक्षण करते हैं—

काव्य रचना के लिए उद्योग 'अभियोग' [कहलाता] है।

[बन्धन अर्थात्] रचना [का नाम] बन्ध है। काव्य का बन्ध अर्थात् रचना काव्यबन्ध [कहलाती] है। उसके लिये प्रयत्न [यहां सूत्र में] अभियोग [शब्द से अभिप्रेत] है। वह [प्रयत्न] कवित्व के उत्कर्ष का आधान करता है ॥ १३ ॥

'वृद्धसेवा' का लक्षण करते हैं—

काव्य की शिक्षा देने वाले गुरुओं की सेवा 'वृद्धसेवा' [शब्द से अभिप्रेत] है।

काव्योपदेश में गुरु [अर्थात् शिक्षा देने वाले] उपदेष्टा [काव्योपदेश-गुरु कहलाते हैं]। उनकी सेवा 'वृद्धसेवा' [शब्द से अभिप्रेत] है। उससे 'काव्य विद्या' [अर्थात् काव्य निर्माण में नैपुण्य] की [अभ्यासी शिष्य में] संक्रान्ति होती है ॥

यहां शुश्रूषा शब्द का प्रयोग सेवा के अर्थ में किया गया है। यद्यपि व्युत्पत्ति के अनुसार, श्रोतुं इच्छा शुश्रूषा, अर्थात् सुनने की इच्छा यह शुश्रूषा

पदाधानोद्धरणमवेक्षणम् ॥ १, ३, १५ ॥

पदस्याधानं न्यासः, उद्धरणमपसारणम् । तयोः खल्ववेक्षणम् ।

अत्र श्लोकौ :—

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः ।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥ १५ ॥

शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है । परन्तु यह शब्द सेवा के अर्थ में रूढ़ हो गया है । इसीलिए 'वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासनम्' इस कोश में भी 'शुश्रूषा' शब्द सेवा या परिचर्या के अर्थ में मिलता है । इसी कोश के आधार पर ग्रन्थकार ने यहां सेवा के अर्थ में 'शुश्रूषा' पद का प्रयोग किया है और अन्यत्र भी इस अर्थ में शुश्रूषा पद का प्रचुर प्रयोग होता है ॥ १४ ॥

पद [विशेष] के [रचना में] रखने और हटाने [के द्वारा उसके सौन्दर्य और उपयोगिता की परीक्षा करने] को अवेक्षण कहते हैं ।

पद का आधान अर्थात् रखना, और उद्धरण अर्थात् निकालना उन दोनों [रूपों] में [उसकी उपयोगिता की परीक्षा] अवेक्षण है । इस विषय में [निम्न लिखित] दो श्लोक हैं :—

जब तक मन [पद की उपयोगिता के विषय में] स्थिर नहीं होता तब तक पद का रखना और हटाना होता [ही] रहता है । और [कवि के पदों में] स्थिरता स्थापित हो जाने पर तो सरस्वती सिद्ध हुई समझो ।

जिस [अवस्था] में [पहुंच कर कवि के] पद परिवर्तनसहत्व को छोड़ देते हैं [अर्थात् कवि ने जहां जो पद एक बार रख दिया उसको बदल कर कोई और अधिक सुन्दर शब्द वहां रख सकना सम्भव नहीं रहता है । कवि की] उस [स्थिति] को शब्द विन्यास में निपुण [महाकवि] 'शब्दपाक' [पद से] कहते हैं ॥ १५ ॥

इन दोनों श्लोकों को वामन के टीकाकार श्री गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल ने भामह का श्लोक बताया है । परन्तु भामह के काव्यालङ्कार में वे नहीं मिलते

कवित्वबीजं प्रतिभानम् ॥ १, ३, १६ ॥

कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम् । जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित् । यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात् ॥ १६ ॥

हैं। सम्भव है यह भी अन्य बहुत से संग्रह श्लोकों के समान वामन के अपने बनाए हुए संग्रह श्लोक ही हों। या फिर भामह के किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किए गए हों जो अब नहीं मिलता है।

इन श्लोकों में शब्दों की परिवर्तन की असहिष्णुता को सर्वोत्कृष्ट 'शब्द-पाक' कहा गया है। परन्तु काव्यमीमांसा के देखने से विदित होता है कि महाकवि राजशेखर की विदुषी पत्नी 'अवन्ति सुन्दरी' वामन के इस मत से सहमत नहीं है। वह शब्दों की परिवर्तन की असहिष्णुता को कवि की शक्ति नहीं अपितु अशक्ति का परिचायक मानती हैं। उनका कहना है कि महाकवि तो एक ही अर्थ को दस तरह से वर्णन कर सकते हैं और सभी वर्णनों में अलौकिक चमत्कार हो सकता है। इसलिए जिस कवि को एक अर्थ वर्णन करने के लिए एक प्रकार के वाक्य को छोड़ कर दूसरे प्रकार का वाक्य ही न सूझे वह कवि कैसा ?

[1]इयमशक्तिर्न पुनः पाकः, इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान् भवति। तस्माद् रसोक्तिशब्दार्थसूक्ति-निबन्धनः पाकः।

कवित्व का बीज प्रतिभा [जन्मसिद्ध संस्कार विशेष] है।

कवित्व का बीज कवित्वबीज [यह षष्ठी-तत्पुरुष समास कवित्वबीज पद में है और उसका अर्थ] जन्मान्तरागत कोई [अपूर्व] संस्कार विशेष है। जिस [प्रतिभा] के बिना काव्य बनता ही नहीं अथवा [जैसा तैसा कुछ] बन भी जाय तो उपहास के योग्य होता है। [उस जन्म सिद्ध प्रतिभा का होना कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है] ॥ १६ ॥

हमने अपने 'साहित्यमीमांसा' नामक कारिकात्मक संस्कृत ग्रन्थ में इस विषय में इस प्रकार लिखा है :—

---

[1] काव्यमीमांसा पृ २०।

चित्तैकाग्र्यमवधानम् ॥ १, ३, १७ ॥

चित्तैकाग्र्यं बाह्यार्थनिवृत्तिस्तदवधानम्। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति ॥ १७ ॥

तद्देशकालाभ्याम्। १, ३, १८।

तदवधानं देशात् कालाच्च समुत्पद्यते ॥ १८ ॥

---

[१]काव्ये वाऽथ कलायां वा प्रतिभैव प्रयोजिका।
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ॥१८॥
प्रतिभाया बलादेव कवयः क्रान्तदर्शिनः।
भूतं भव्यं भवन्तञ्च पश्यन्ति वर्णयन्ति च ॥१९॥
दर्शनेऽव्यक्तरूपाणां वर्णने च मनोहरे।
कवीनां मातृभूतेयं प्रतिभैवोपयुज्यते ॥२०॥
अतोऽभिनवगुप्तस्य भट्टतौतोऽस्ति यो गुरुः।
ऋषित्वं तेन सम्प्रोक्तं कवीनां काव्यकर्मणि ॥२१॥
'नानृषिः कविरित्युक्तं कविश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्वप्रख्या च दर्शनम्' ॥

काव्य के प्रकीर्ण साधनों में अन्तिम साधन 'अवधान' है। 'अवधान' का अर्थ चित्त की एकाग्रता है। अगले सूत्र में सूत्रकार उसी का लक्षण करते हैं।

चित्त की एकाग्रता अवधान [कहलाती] है।

चित्त की एकाग्रता अर्थात् बाह्य अर्थों से निवृत्ति अवधान [कहलाती] है। क्योंकि अवहित [एकाग्र] चित्त [ही] अर्थों को देखता है। [एकाग्रता के बिना कोई भी काम ठीक ढंग से नहीं होता है। इसलिए काव्य-रचना भी उसके बिना सम्भव नहीं है। इसलिए काव्य-रचना करते समय कवि के लिए एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। वह चित्त की एकाग्रता कैसे प्राप्त हो इसके लिए सूत्रकार आगे कहते हैं।] ॥ १७ ॥

वह [एकाग्रता रूप अवधान] देश और काल से [प्राप्त होता है।]

वह अवधान [अर्थात् ऐकाग्र्य] देश और काल [विशेष] से उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥

(१) विविक्तो देशः । १, ३, १९ ।

विविक्तो निर्जनः ॥ १९ ॥

(२) रात्रियामस्तुरीयः कालः । १, ३, २० ।

रात्रेर्यामो रात्रियामः प्रहरस्तुरीयश्चतुर्थः काल इति । तद्वशाद् विषयोपरतं चित्तं प्रसन्नमवधत्ते ॥ २० ॥

वह विशेष देश और काल कौन-से हैं जिनमें एकाग्रता उत्पन्न होती है यह कहते हैं—

विविक्त [अर्थात् निर्जन] देश [एकाग्रता के लिए आवश्यक] है ।

विविक्त [का अर्थ] निर्जन है । [स्थान की निर्जनता, चित्त की एकाग्रता-सम्पादन के लिए अत्यन्त आवश्यक है] ॥ १९ ॥

रात्रि का चौथा पहर [ब्राह्ममुहूर्त का काल चित्त की एकाग्रता के लिए सबसे अधिक उपयुक्त] काल है ।

रात्रि का याम रात्रियाम [यह षष्ठी तत्पुरुष समास] है । [याम का अर्थ] प्रहर है । तुरीय [का अर्थ] चतुर्थ । [रात्रि का चतुर्थ पहर, अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त का समय चित्त की एकाग्रता का उपयुक्त] काल है । उस [समय] के प्रभाव से विषयों से विरत और निर्मल चित्त एकाग्र हो जाता है । [वह समय काव्य निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।]

ब्राह्ममुहूर्त का समय काव्य रचना आदि बौद्धिक कार्यों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त और अनुकूल है। उसमें नवीन भावों की स्फूर्ति होती है। इसलिए महाकवि कालिदास ने—

'पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ।'[1]

यह पद लिखा है । महाकवि माघ ने भी लिखा है कि—

[2]गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम् ॥२०॥

इस प्रकार इस अध्याय के इन प्रारम्भिक बीस सूत्रों में काव्य के साधनों

---

[1] रघुवंश १७, १ ।

[2] माघ ११, ६ ।

एवं काव्याङ्गान्युपदिश्य काव्यविशेषकथनार्थमाह—

काव्यं गद्यं पद्यञ्च । १, ३, २१ ।

गद्यस्य पूर्वनिर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात् । तथाहुः— 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' ॥ २१ ॥

तच्च त्रिधा भिन्नमिति दर्शयितुमाह—

गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायञ्च । १, ३, २२ ।

तल्लक्षणान्याह—

पद्यभागवद् वृत्तगन्धि । १, ३, २३ ।

पद्यस्य भागाः पद्यभागाः । तद्वद् वृत्तगन्धि । यथा— 'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' इति ।

का निरूपण कर अब अगले १० सूत्रों में काव्य के भेदों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

इस प्रकार काव्य के साधनों का कथन करके काव्य के भेदों के निरूपण के लिए कहते हैं—

काव्य गद्य और पद्य [रूप से दो प्रकार का] होता है ।

[काव्य के इन दोनों भेदों में से] गद्य का पहले निर्देश उसकी विशेषताओं के दुर्ज्ञेय और उसकी रचना के कठिन होने के कारण किया गया है । जैसा कि [लोकोक्ति में] कहा है—

गद्य को कवियों की [प्रतिभा की] कसौटी कहते हैं ॥ २१ ॥

वह [गद्य] भी तीन प्रकार का होता है यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

गद्य (१) वृत्तगन्धि, (२) चूर्ण, और (३) उत्कलिकाप्राय [तीन प्रकार का] होता है ॥ २२ ॥

उन [तीनों गद्यभेदों] के लक्षण कहते हैं—

[जो गद्य पढ़ने में] पद्यभाग से युक्त [या उसके समान प्रतीत] हो [उसमें वृत्त अर्थात् छन्द की गन्ध होने से] उसको 'वृत्तगन्धि' कहते हैं ।

['पद्यभागवत्' का समास कहते हैं] पद्य का भाग पद्यभाग [यह षष्ठी समास है] उससे युक्त [या उसके समान गद्य] 'वृत्तगन्धि' [कहलाता] है । जैसे—

अत्र हि 'वसन्ततिलका' वृत्तस्य भागः प्रत्यभिज्ञायते ॥ २३ ॥

अनाविद्धललितपदं चूर्णम् १, ३, २४ ।

अनाविद्धान्यदीर्घसमासानि ललितान्यनुद्धतानि पदानि यस्मिंस्तदनाविद्धललितपदं चूर्णमिति । यथा—

अभ्यासो हि कर्मणां कौशलमावहति । न हि सकृन्निपातमात्रेणोदबिन्दुरपि ग्रावणि निम्नतामादधाति ॥ २४ ॥

इस [उदाहरण] में 'वसन्ततिलका' छन्द का भाग [एक चरण, पढ़ते ही] पहिचान लिया जाता है । [इसलिए इस गद्यांश में 'वसन्ततिलका' वृत्त की गन्ध होने से यह सारा गद्य भाग जिसका यह एकदेश उदाहरणार्थ लिया गया है, 'वृत्तगन्धि' गद्य कहलाता है] ।

'वसन्ततिलका' छन्द का लक्षण है 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।' यही पंक्ति उसका उदाहरण भी है । इसके अनुसार वसन्ततिलका वृत्त में प्रत्येक चरण में १४ अक्षर होते हैं । उनका विन्यास तगण, भगण, जगण, जगण, गुरु, गुरु इस प्रकार होता है । ऊपर के उदाहरण 'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' की रचना इसी क्रम से है । इसलिए वह पद्य के समान प्रतीत होता है । इसलिए वह जिस गद्यभाग का अंश है वह सब 'वृत्तगन्धि' गद्य कहलाता है ॥२३॥

दूसरे प्रकार की गद्यरचना को 'चूर्ण' कहते हैं । अगले सूत्र में ग्रन्थकार उस 'चूर्ण' गद्य का लक्षण करते हैं ।

असमस्त [अनाविद्ध] और ललित पदों से युक्त [गद्यभाग] 'चूर्ण' कहलाता है ।

अनाविद्ध अर्थात् दीर्घसमासरहित और सुन्दर कोमल पद जिस में हों वह अनाविद्ध ललितपद वाला गद्य 'चूर्ण' कहलाता है । जैसे—

कर्मों के अभ्यास से ही कौशल प्राप्त होता है । केवल एक बार गिरने से तो जल की बूंद भी पत्थर में गड्ढा नहीं डालती ॥ २४ ॥

गद्य का तीसरा भेद 'उत्कलिकाप्राय' कहलाता है । उसका स्वरूप चूर्णात्मक गद्य से बिल्कुल विपरीत होता है । चूर्णात्मक गद्य दीर्घसमासरहित और कोमल पद युक्त होता है, तो 'उत्कलिकाप्राय' गद्य उसके विपरीत दीर्घसमास और उद्धत पदों से युक्त होता है । इसी आशय से ग्रन्थकार उसका लक्षण आगे करते हैं ।

विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् । १, ३, २५ ।

विपरीतमाविद्धोद्धतपदमुत्कलिकाप्रायम् । यथा—

कुलिशशिखरखरनखरप्रचयप्रचण्डचपेटापाटितमत्तमातङ्गकुम्भ-स्थलगलन्मदच्छटाच्छुरितचारुकेसरभारभासुरमुखे केसरिणि ॥ २५ ॥

पद्यमनेकभेदम् । १, ३, २६ ।

पद्यं खल्वनेकेन समार्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति ॥ २६ ॥

[चूर्णात्मक गद्य से] विपरीत 'उत्कलिकाप्राय' [गद्य] होता है ।

[चूर्णात्मक गद्य से] विपरीत अर्थात् दीर्घसमासयुक्त [आविद्ध] और उद्धत पदों से युक्त [गद्य] 'उत्कलिकाप्राय' [गद्य नाम से कहा जाता] है । जैसे—

बज्रकोटि के समान तीक्ष्ण नखों के कारण भयङ्कर थप्पड़ से विदीर्ण मत्त हाथी के कुम्भस्थल से गिरती हुए मदधारा से भीगे हुए अयालों के समूह से देदीप्यमान मुख वाले सिंह के होने पर ॥ २५ ॥

गद्यकाव्य का निरूपण कर चुकने के बाद पद्य का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

पद्य अनेक प्रकार के होते हैं ।

सम, अर्धसम और विषम आदि भेद से पद्य अनेक प्रकार के होते हैं ॥ २६ ॥

'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के टीकाकार श्री 'गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल' ने सम, अर्धसम, और विषम वृत्तों के लक्षण 'भामह' के मतानुसार इस प्रकार उद्धृत किए हैं—

समधर्धसमं वृत्तं विषमञ्च त्रिधा मतम् ।
अंध्रयो यस्य चत्वारस्तुल्यलक्षणलक्षिताः ।
तच्छन्दःशास्त्रतत्त्वज्ञाः समवृत्तं प्रचक्षते ॥१॥
प्रथमांघ्रिसमो यस्य तृतीयश्चरणो भवेत् ।
द्वितीयस्तुर्यवद् वृत्तं तदर्धसममुच्यते ॥२॥
यस्य पादचतुष्केऽपि लक्ष्म भिन्नं परस्परम् ।
तदाहुर्विषमं वृत्तं छन्दःशास्त्रविशारदाः ॥३॥

ये श्लोक यद्यपि 'भामह' के नाम से टीका में उद्धृत किए गए हैं परन्तु 'भामह' के 'काव्यालङ्कार' में उनका कहीं पता नहीं चलता है । इसी प्रकार ऊपर

१ ३ १५ में [illegible]

इत्यादि दो श्लोक दिए हैं। उनको भी टीकाकार ने 'भामह' का ही श्लोक कहा है। परन्तु वह भी 'भामह' के इस 'काव्यालङ्कार' में नहीं पाए जाते हैं। इससे जान पड़ता है कि 'काव्यालङ्कार' के अतिरिक्त छन्दःशास्त्र विषयक 'भामह' का कोई और ग्रन्थ भी रहा होगा जो इस समय मिलता नहीं है। यह श्लोक उसी ग्रन्थ से उद्धृत किए गये होंगे। 'भामह' के नाम से छन्दःशास्त्र विषयक कतिपय उद्धरण अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। स्वयं 'वृत्तरत्नाकर' की टीका में निम्नाङ्कित श्लोक भामह के नाम से उद्धृत किये गए हैं।

तदुक्तं भामहेन—

[1]अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति मुदिवर्णाद्धनशता—
न्युवर्णादख्यातिः सरभसमृवर्णाद्धरहितात्।
तथाद्यैचः सौख्यं ङ-ञ-ण रहितादक्षरगणात्
पदादौ विन्यासात् भरबहलहाहाविरहितात् ॥१॥

तदुक्तं भामहेन—

[2]देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥२॥
कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति वियशो ङस्तथा चः सुखं छः
प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ झञौ टठौ खेददुःखे।
डः शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धं
दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदुःखं पवर्गः ॥३॥
यो लक्ष्मीं रश्च दाहं व्यसनमथ लवौ शः सुखं षश्च खेदं
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च लः क्षः समृद्धिं करोति।
संयुक्तं चेह न स्यात् सुखभरणपटुर्वर्णविन्यासयोगः
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ॥४॥

इसी प्रकार राघवभट्ट ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की टीका में 'क्षेमं सर्वगुरुर्धत्ते मगणो भूमिदैवतः, इति भामहोक्तेः[3] लिखकर 'भामह' के छन्दःशास्त्रविषयक मत का उल्लेख किया है। यह सब वर्तमान काव्याङ्कार में नहीं पाए जाते हैं। अतएव यह प्रतीत होता है कि 'भामह' कृत छन्दःशास्त्र विषयक कोई और ग्रन्थ अवश्य था जो अब मिलता नहीं है। वृत्तरत्नाकर की टीका

[1] वृत्तरत्नाकर पृ० ६।
[2] वृत्तरत्नाकर पृ० ७।
[3] 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' निर्णय सागर संस्करण पृ० ४।

तदनिबद्धं निबद्धञ्च । १, ३, २७ ।

तदिदं गद्यपद्यरूपं काव्यमनिबद्धं निबद्धञ्च । अनयोः प्रसिद्धत्वाल्लक्षणं नोक्तम् ॥ २७ ॥

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत् १, ३, २८ ।

तयोरित्यनिबद्धं निबद्धञ्च परामृश्येते । क्रमेणसिद्धिः क्रमसिद्धिः । अनिबद्धसिद्धौ निबद्धसिद्धिः । यथा स्रजि मालायां सिद्धायां, उत्तंसः शेखरः सिद्ध्यतीति ॥ २८ ॥

तथा 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' की टीका के प्रकृत उद्धरण उसी से लिए गए जान पड़ते हैं ॥२६॥

गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचनाएं पहिले अनिबद्ध अर्थात् परस्पर असम्बद्ध फुटकर 'मुक्तक' रूप में होती हैं । फिर जब कवि को रचना का अभ्यास हो जाता है तब वह एक सुसम्बद्ध गद्य अथवा पद्यात्मक 'प्रबन्ध' काव्य, नाटक, आख्यायिका आदि की रचना करता है । इसी बात को ग्रन्थकार अगले प्रकरण में कहते हैं ।

वह [गद्य पद्यात्मक काव्य प्रकारान्तर से] अनिबद्ध [फुटकर मुक्तक आदि रूप में] और निबद्ध [परस्पर सम्बद्ध खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि रूप में] दो प्रकार के होते हैं ।

यह गद्य और पद्य रूप काव्य अनिबद्ध [परस्पर असम्बद्ध, फुटकर मुक्तक आदि रूप] और निबद्ध [परस्पर सम्बद्ध प्रबन्धकाव्य या खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि रूप से] दो प्रकार का होता है । इन दोनों [मुक्तक अनिबद्ध, और निबद्ध प्रबन्धकाव्यों] के प्रसिद्ध होने से [यहां उनके] लक्षण नहीं कहे हैं ॥ २७ ॥

माला और मौर [शेखर] के समान उन दोनों [अनिबद्ध और निबद्ध काव्यों] की सिद्धि क्रमशः होती है ।

'तयोः' पद से अनिबद्ध और निबद्ध का ग्रहण होता है । क्रम से सिद्धि क्रमसिद्धि [यह तृतीया तत्पुरुष समास] है । अनिबद्ध [मुक्तक] की सिद्धि हो जाने पर निबद्ध, [प्रबन्ध काव्य] की सिद्धि होती है । माला और मौर के समान । जैसे स्रक् अर्थात् माला के बन जाने पर [उससे ही] उत्तंस अर्थात्

केचिदनिबद्धा एव पर्यवसितास्तद्दूषणार्थमाह—

नानिबद्धं चकास्त्येकतेजःपरमाणुवत् । १, ३, २९ ।

न खल्वनिबद्धं काव्यं चकास्ति, दीप्यते । यथैकतेजःपरमाणुरिति ।

अत्र श्लोकः—

असङ्कलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता ।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः ॥२९॥

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः । १, ३, ३० ।

सन्दर्भेषु प्रबन्धेषु दशरूपकं नाटकादि श्रेयः ॥ ३० ॥

कस्मात् तदाह—

तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात् । १, ३, ३१ ।

तद् दशरूपकं हि यस्माच्चित्रं चित्रपटवत् । विशेषाणां साकल्यात् ॥ ३१ ॥

कुछ [काव्य] मुक्तकों [की रचना] में ही समाप्त हो जाते हैं उनका दोष दखलाने के लिए कहते हैं—

[अग्नि के अकेले परमाणु के समान मुक्तक अकेला शोभित नहीं होता है ।] जैसे अग्नि का एक परमाणु नहीं चमकता है । इसी प्रकार अनिबद्ध [मुक्तक] काव्य प्रकाशित नहीं होता है । इसी विषय में यह निम्न श्लोक है—

असङ्कलित [मुक्तक] काव्यों में चारुता नहीं आती । जैसे अग्नि के अलग-अलग परमाणु नहीं चमकते हैं [मिल कर ही चमकते हैं । इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य ही शोभित होते हैं । 'मुक्तक' उतने शोभित नहीं होते ।] ॥२९॥

प्रबन्ध काव्यों में दस प्रकार के रूपक उत्तम होते हैं ।

सन्दर्भ अर्थात् प्रबन्ध काव्यों में दश रूपक नाटकादि उत्तम होते हैं ॥ ३० ॥

वह [प्रबन्ध काव्यों में दशरूपक की उत्तमता] क्यों है यह बतलाते हैं—

वह [दश प्रकार के रूपक] चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण चित्र रूप [आश्चर्यकारक तथा आनन्ददायक] हैं ।

क्योंकि वह दश प्रकार के रूपक चित्रपट के समान चित्ररूप [अभिनय के चित्ररूप अथवा आश्चर्यकारक तथा आनन्ददायक] हैं समस्त गुणों से पूर्ण होने से [और चित्रमय होने से वह चित्रपट के समान आकर्षक है ।]

चित्रपट का प्रयोग यहां आजकल के प्रचलित चित्रपट अर्थ में लेना

ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः । १, ३, ३२ ।

अधिक उपयुक्त है : आधुनिक चित्रपट में आख्यायिका, गीति, वस्तुविन्यासादि सब कुछ होता है । इसी प्रकार चित्रपट पर प्रदर्शित होने वाले प्राचीन अभिनयों में भी आख्यायिका गीति आदि रहती थीं । इसी लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि काव्य के आख्यायिका, गीतिकाव्य, महाकाव्य आदि अन्य भेदों की कल्पना चित्रपटमय दशरूपक से ही की गई है ।

साहित्य शास्त्र में ऐतिहासिक दृष्टि से काव्य और नाटक के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तीन प्रकार के मत पाए जाते हैं । सबसे पहिले मत में काव्यों में नाटक का ही प्राधान्य माना जाता था । इसलिए भरत मुनि ने अपने साहित्य ग्रन्थ का निर्माण 'नाट्य शास्त्र' के रूप में ही किया था । वामन भी इसी मत की ओर संकेत कर रहे हैं । उनके कथनानुसार प्रबन्ध काव्यों में दश रूपक ही सर्वश्रेष्ठ हैं । उन्हीं से आख्यायिका, महाकाव्य आदि की कल्पना की गई है । दूसरे मत में नाटकादि से भिन्न महाकाव्य आदि का अलग स्वतंत्र अस्तित्व माना जाता है । इसके विपरीत तीसरे मत में महाकाव्यों में ही नाटकों को माना जाता है । उस मत के अनुसार काव्य का निरूपण करने वाले ग्रन्थों में एक अंश विशेष के रूप में नाटकों का निरूपण किया जाता है । जैसे साहित्य-दर्पण ग्रन्थ में दश परिच्छेदों में एक छठे परिच्छेद में नाटकों का निरूपण किया गया है ।

इन तीन मतों में से वामन प्रथम मत के समर्थक हैं । अर्थात् प्रबन्ध काव्यों में दशरूपकों को उत्तम मानते हैं । भरत के 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार 'अभिनवगुप्त' ने भी 'काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव' लिख कर दशरूपक की ही प्रधानता प्रतिपादित की है । परन्तु इसके विपरीत ऐसा भी एक पक्ष साहित्य में पाया जाता है जो कि अभिनेय दशरूपकों की अपेक्षा काव्य को और अभिनेताओं की अपेक्षा कवि को अधिक महत्व देता है । इस मत का प्रतिपादन करने वाले 'भोजराज' हैं । उन्होंने अपने ग्रन्थ में लिखा है :—

'अतोऽभिनेतृभ्यः' कवीनेव बहु मन्यामहे अभिनेयेभ्यश्च काव्यमिति' ।

परन्तु वामन 'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः' इसी पक्ष के मानने वाले हैं । उनके मत में काव्यादि अन्य भेदों की कल्पना दशरूपक के आधार पर ही हुई है । इसी बात को वह अगले सूत्र में लिख रहे हैं ।

उस [दशरूपक] से [काव्य आख्यायिका आदि साहित्य के] अन्य भेदों की कल्पना की जाती है ।

ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति। दशरूपकस्यैव हीदं सर्वं विलसितम्। यच्च कथाख्यायिकं महाकाव्यमिति। तल्लक्षणञ्च नातीव हृदयङ्गममित्युपेक्षितमस्माभिः। तदन्यतो ग्राह्यम्॥ ३२॥

उस दशरूपक से [काव्यादि] अन्य भेदों की क्लृप्ति अर्थात् कल्पना होती है। यह सब जो कथा, आख्यायिका और महाकाव्य आदि हैं दशरूपक का ही विस्तार मात्र है। उनके लक्षण अधिक मनोरञ्जक नहीं हैं इसलिए हमने उनकी यहां उपेक्षा कर दी है। उनका ज्ञान अन्य ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिए॥ ३२॥

इसमें कथा और आख्यायिका दो शब्दों का प्रयोग ग्रन्थकार ने किया है। यह दोनों पद सामान्यतः कथा के ही बोधक हैं परन्तु उन दोनों में पारिभाषिक अन्तर यह है कि उच्छ्वास आदि भागों में निबद्ध और वक्ता-प्रतिवक्ता आदि युक्त कथा 'आख्यायिका', और उनसे रहित कथा 'कथा' कहलाती है। [1]ध्वन्यालोककार ने परिकथा, सकलकथा और खण्डकथा नाम से कथाओं के तीन भेद और भी दिखाए हैं। उनमें से धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष किसी एक पुरुषार्थ के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाओं का संग्रह 'परिकथा' कहलाता है। फलपर्यन्त सम्पूर्ण इतिवृत्त को कहने वाली कथा 'सकलकथा' और उसके किसी एक देश को कहने वाली कथा 'खण्डकथा' कहलाती है।

'भामह' के मतानुसार काव्य के भेद :—

[2]भामह ने अपने काव्यालङ्कार में काव्य के भेद इस प्रकार किए हैं :—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यञ्च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतञ्चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥ १६॥
वृत्तं देवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः॥ १७॥
सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते॥ १८॥

अर्थात् रचना शैली की दृष्टि से विभाग करने पर काव्य के (१) गद्य और (२) पद्य यह दो भेद होते हैं। दूसरी प्रकार से भाषा के आधार पर काव्य के

---

[1] ध्वन्यालोकः पृ० २४८। [2] भामह काव्यालङ्कार प्रथम परि० १६-१८।

(१) संस्कृत काव्य, (२) प्राकृत काव्य, और (३) अपभ्रंश काव्य यह तीन भेद किए जा सकते हैं। विषय की दृष्टि से यदि काव्य का विभाग किया जाय तो (१) ऐतिहासिक चरित्र वाले काव्य, (२) कल्पित वस्तु वाले काव्य, (३) कला-प्रधान काव्य और (४) 'भट्टिकाव्य' सदृश शास्त्रप्रधान काव्य यह चार भेद किए जा सकते हैं। शैली की दृष्टि से ही अन्य प्रकार से (१) सर्गबन्ध अर्थात् महा-काव्य, (२) अभिनेयार्थ अर्थात् नाटक, (३) आख्यायिका तथा, (४) कथा यह चार प्रकार के प्रबन्ध काव्य और (५) पांचवां अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक काव्य यह पांच प्रकार के काव्य के भेद किए जा सकते हैं। इन भेदों का निरूपण करते हुए 'भामह' ने सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य का वर्णन इस प्रकार किया है:—

[1]सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च सालङ्कारं सदाश्रयम्॥ १९॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्॥ २०॥
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्॥ २१॥
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया॥ २२॥
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभाक् तस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ॥ २३॥

सर्गबन्ध महाकाव्य कहलाता है। उसको महाकाव्य कहने के दो कारण हैं एक तो यह कि उसमें महापुरुषों के चरित्र का वर्णन होता है और दूसरा यह कि वह स्वयं भी महत् होता है। 'महताञ्च महच्च' होने से ही उसको महाकाव्य कहते हैं। उसमें ग्राम्य शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। उत्कृष्ट अर्थ से युक्त अलङ्कारों से अलंकृत और उत्तम गुणों का आश्रय होना चाहिए। (१) मन्त्र-सन्धि अर्थात् विजयादि विषयक विचार, (२) दूतसन्धि अर्थात् दूतप्रेषणादि, (३) प्रयाण सन्धि अर्थात् विजययात्रा, (४) युद्ध सन्धि अर्थात् युद्ध का वर्णन और (५) नायकाभ्युदय सन्धि अर्थात् नायक की विजय प्राप्ति रूप पांच सन्धियों से युक्त, अत्यन्त लम्बे और कठिन व्याख्या योग्य प्रसङ्गों से रहित और गुण अलङ्कारादि से समृद्ध महाकाव्य होता है। उसमें चतुर्वर्ग का वर्णन होने पर भी अधिकतर

[1] भामह काव्यालङ्कार प्रथम परि० १९–२३।

'अर्थ' अर्थात् लौकिक अभ्युदय का उपदेश प्राधान्येन होना चाहिए। लोकस्वभाव से युक्त और अपने-अपने स्थान पर समुचित रीति से अलग-अलग वर्णित समस्त रसों से युक्त होना चाहिए। वंश, पराक्रम अथवा ज्ञान आदि कारणों से जिसे पहिले नायक रूप में महाकाव्य में चित्रित किया जाय बाद में किसी अन्य प्रतिनायक आदि का उत्कर्ष दिखलाने के लिए उसका वध वर्णन नहीं करना चाहिए। यदि उस नायक को सारे कथा रूप शरीर में व्यापक रखना अभीष्ट नहीं है तो आदि में उसका नायक रूप से ग्रहण करना और उसकी स्तुति आदि करना व्यर्थ है। अर्थात् जिसको एक बार महाकाव्य का नायक मान लिया है उसका वध आदि दिखा कर उसको बीच में नहीं छोड़ देना चाहिए।

यह साधारणतः महाकाव्य के विषय में 'भामह' का निरूपण है। आगे 'अभिनेयार्थ' नाटक आदि का निरूपण 'भामह' ने इस प्रकार किया है—

[1] नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत्।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः॥ २४॥

अर्थात् नाटक, द्विपदी, शम्या, रासक और स्कन्धादि जो पांच प्रकार के काव्य हैं वह 'अभिनेयार्थ' काव्य कहलाते हैं। भरत नाट्यशास्त्र आदि में उनका विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। इसलिए हम यहां उनका निरूपण नहीं करेंगे।

काव्य के तीसरे भेद 'आख्यायिका' का लक्षण 'भामह' ने इस प्रकार किया है—

[2] प्राकृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता॥ २५॥
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं च परवक्त्रं च काले भाव्यार्थशंसि च॥ २६॥

अर्थात् गद्य रूप में उच्छ्वासों में विभक्त करके लिखी गई, विषय के अनुकूल, उपयुक्त, सुनने में अच्छे लगने वाले शब्द, अर्थ और समास आदि से युक्त उत्तम वर्ण्य वस्तु वाली रचना 'आख्यायिका' कहलाती है। उसमें वक्ता प्रतिवक्ता के वार्तालाप आदि के रूप में नायक अपने पूर्वानुष्ठित और समय पर होने वाली समृद्धि की सूचना से युक्त वृत्तान्त का वर्णन करता है।

काव्य के चौथे भेद 'कथा' का लक्षण करते हुए 'भामह' ने लिखा है—

[3] कवेरभिप्रायकृतैः कथानैः कैश्चिदङ्किता।

---

[1], [2], [3], भामह काव्यालङ्कार प्रथम परि० २४-२६।

कन्याहरणसंग्राम - विप्रलम्भोदयान्विता ॥ २७ ॥
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ।
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा ॥ २८ ॥
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते ।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः ॥ २९ ॥

अर्थात् वक्ता, प्रतिवक्ता तथा उच्छ्वास आदि विभागों से रहित कन्या के हरण, उसके कारण संग्राम, उसके विप्रलम्भ, पुनः प्राप्ति रूप उदय आदि के वर्णन से युक्त, कवि के स्वकल्पित कथानक के आधार पर संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा में लिखी गई कथा 'कथा' नाम से कही जाती है। उसमें अन्य लोग अपने तथा नायक के चरितादि का वर्णन करते हैं। नायक अपने चरित्र का वर्णन नहीं करता है। क्योंकि कोई अभिजात कुलीन व्यक्ति अपने गुणों को स्वयं अपने मुख से वर्णन करे यह उचित प्रतीत नहीं होता है।

इस के आगे 'मुक्तक' काव्य का वर्णन करते हुए 'भामह' ने लिखा है—

[2]अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत् पुनः ।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥ ३० ॥

अर्थात् वक्रोक्ति अथवा स्वभावोक्ति युक्त गाथा या श्लोकमात्र आदि रूप में लिखे गए काव्य को अनिबद्ध अर्थात् 'मुक्तक' काव्य कहते हैं।

इस प्रकार 'भामह' ने 'वामन' की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तार से काव्य के भेदों का निरूपण किया है।

ध्वन्यालोक के अनुसार काव्य के भेद—

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रसङ्गतः काव्य के भेदों का निरूपण करते हुए लिखा है—

[3]यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, सन्दानितक-विशेषक-कलापक-कुलकानि, पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथा-सकलकथे, सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं आख्यायिका-कथे, इत्येवमादयः।

अर्थात् काव्य संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में लिखे गए 'मुक्तक' [जैसे गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती और अमरुकशतक आदि] सन्दानितक [दो श्लोकों में अन्वय होने वाले युग्म श्लोक], विशेषक [तीन श्लोकों में

[1] भामह का० अ० १, २७-२९ । [2] भामह का० अ० १, ३० ।
[3] ध्वन्यालोक पृ० २५० ।

इति पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'शारीरे' प्रथमाधिकरणे तृतीयोऽध्यायः ।
काव्याङ्गानि काव्यविशेषाश्च ।
समाप्तञ्चेदं 'शारीरं' प्रथममधिकरणम् ॥

—०—

एक साथ अन्वय होने वाले श्लोक], कलापक [चार श्लोकों में एक साथ अन्वय होने वाले श्लोक], कुलक [पांच या अधिक श्लोकों का एक साथ अन्वय होने वाले श्लोक], यह सब 'मुक्तक' काव्य के भेद हैं। मुक्तक आदि का वर्णन अग्नि पुराण में इस प्रकार किया गया है—

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ।
द्वाभ्यान्तु युग्मकं ज्ञेयं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
चतुर्भिस्तु कलापं स्यात् पञ्चभिः कुलकं मतम् ॥

लोचनकार ने प्रबन्ध-काव्यों के अन्तर्गत भी 'मुक्तकों' की सत्ता स्वीकार करते हुए मेघदूत के 'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्' इत्यादि ४२वें श्लोक को 'मुक्तक' माना है।

वसन्त-वर्णनादि रूप किसी एक उद्देश्य से प्रवृत्त काव्य को 'पर्यायबन्ध' कहा जाता है। लोचनकार ने लिखा है—'वसन्तवर्णनादिरेकवर्णनोद्देशेन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः'। इसी प्रकार 'एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा।' अर्थात् धर्म, अर्थ आदि में से किसी एक पुरुषार्थ के उद्देश्य से नाना प्रकार से अनन्त वृत्तान्तों का वर्णन करने वाली कथा 'परिकथा' कही जाती है। सकल-कथा तथा खण्ड-कथाएं केवल प्राकृत भाषा में प्रसिद्ध हैं। उनमें कुलकादि का बहुत प्रयोग होता है। आख्यायिका और कथा का भामहकृत भेद ही प्रायः सर्वत्र मान्य हुआ है।

श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में
प्रथम 'शारीर अधिकरण' में तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।
काव्य के अङ्ग और काव्य के भेद समाप्त हुए।
और यह 'शारीर' प्रथम अधिकरण समाप्त हुआ।

—०—

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
'काव्यालङ्कारदीपिकायां' हिन्दीव्याख्यायां
प्रथमे शारीराधिकरणे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।
समाप्तञ्चेदं 'शारीरं' प्रथममधिकरणम्।

'दोषदर्शनं' नाम द्वितीयमधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः

[पद-पदार्थ-दोष-विभागः]

'दोषदर्शनं' नामक द्वितीय अधिकरण में प्रथम अध्याय
[पद तथा पदार्थ के दोषों का विभाग]

इस ग्रन्थ के प्रथम अधिकरण का नाम 'शारीर' अधिकरण था। उसमें काव्य के शरीर का निरूपण किया गया था। शरीर-सौन्दर्य के लिए उसका संस्कार अपेक्षित है और वह संस्कार मुख्यतः दो प्रकार से होता है। एक 'दोषापनयन' रूप संस्कार और दूसरा 'गुणाधान' रूप संस्कार। साधारणतः अपने भौतिक शरीर के संस्कार में प्रवृत्त पुरुष पहले हाथ, पैर, मुख आदि धोने और स्नान आदि से शरीर की शुद्धि अथवा 'दोषापनयन' रूप संस्कार करता है। उसके बाद सुगन्धित तैल आदि लगा कर 'गुणाधान' रूप संस्कार करता है। इसी क्रम से ग्रन्थकार काव्यशरीर के संस्कार के लिए प्रवृत्त होकर पहिले 'दोषापनयन' के लिए दोषों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। इस द्वितीय अधिकरण का नाम उन्होंने 'दोषदर्शनाधिकरण' रखा है। दोषा दृश्यन्ते अस्मिन् इति 'दोषदर्शनम्'। इस प्रकार अधिकरणार्थ में ल्युट् प्रत्यय मान कर यह शब्द सिद्ध किया है। और इसी अधिकरणार्थ में प्रत्यय करके इस अधिकरण का नाम 'दोषदर्शन' अधिकरण रखा है।

शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य के शरीर हैं। इसलिए काव्य शरीर के संस्कार के लिए दोनों का ही संस्कृत होना आवश्यक है। अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों में 'दोषापनयन' और 'गुणाधान' रूप दोनों प्रकार के संस्कार होने चाहिएं। इसलिए शब्द और अर्थ दोनों के 'दोष' और शब्द और अर्थ दोनों के 'गुणों' का परिज्ञान आवश्यक है। इसलिए ग्रन्थकार ने इस अधिकरण के दो भाग या अध्याय बनाए हैं। प्रथम अध्याय में 'शब्द दोषों' का और दूसरे अध्याय में 'अर्थ दोषों' का निरूपण किया है। इसी आधार पर उन्होंने 'शब्द गुण' और 'अर्थ गुणों' का विभाग भी किया है। इस रूप में गुणों का द्विविध विभाग करने का श्रेय केवल वामन को ही प्राप्त है। यहां प्रथम अध्याय में 'शब्द दोषों' का निरूपण करना है। उस शब्द के भी दो भेद हैं एक 'पद' रूप शब्द

काव्यशरीरे स्थापिते काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतवस्त्यागाय दोषा विज्ञातव्या इति 'दोषदर्शनं' नामाधिकरणमारभ्यते। दोषस्वरूपकथनार्थमाह—

गुणविपर्ययात्मानो दोषाः। २, १, १।

गुणानां वक्ष्यमाणानां ये विपर्ययास्तदात्मानो दोषाः॥ १॥

और दूसरा 'वाक्य' रूप शब्द। इसलिए इस प्रथमाध्याय में पद दोष तथा वाक्य दोषों का निरूपण किया गया है। उन दोषों के विवेचन के भी पूर्व दोष का सामान्य लक्षण होना आवश्यक है इसलिए ग्रन्थकार सबसे प्रथम पूर्व अधिकरण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति दिखाते हुए दोष का सामान्य लक्षण करके इस अध्याय में पद और वाक्यगत दो प्रकार के शब्द दोष का निरूपण करेंगे।

[प्रथम शारीर अधिकरण में] काव्य के शरीर की स्थापना हो जाने पर काव्य के सौन्दर्य के विघातक दोषों के परित्याग के लिए [उन] दोषों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए 'दोषदर्शन' नामक [द्वितीय] अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं। [उसमें भी सबसे पहले] दोष के [सामान्य] स्वरूप का कथन करने के लिए कहते हैं—

गुणों के विपरीत स्वरूप वाले दोष होते हैं।

जो, आगे कहे जाने वाले गुणों के [विपरीयन्ते इति विपर्यया विपरीताः, कर्मार्थेऽच् प्रत्ययः] विपरीत स्वरूप से युक्त हैं, वह दोष [कहलाते] हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि गुणों के विपर्यय का अर्थ गुणों का अभाव भी हो सकता है। उस दशा में गुणाभाव का नाम दोष होने से दोष अभावरूप होंगे। परन्तु ग्रन्थकार दोषों को अभाव रूप नहीं अपितु गुणविरोधी भावभूत मानते हैं। इसीलिए उन्होंने आत्म शब्द का भी प्रयोग किया है। उसी के साथ सङ्गति लगाने के लिए विपर्यय शब्द का अर्थ अभाव न करके 'विपरीयन्ते विरुद्धं गच्छन्ति इति विपर्ययाः' यह करना उचित है। अर्थात् उस विपर्यय के साथ जुड़ा हुआ आत्म शब्द दोषों की भावरूपता को और भी अधिक स्पष्ट करता है। अर्थात् गुणों के विपरीत विरुद्धगामी स्वरूपवाले दोष होते हैं। यह दोष का सामान्य लक्षण हुआ॥ १॥

यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि दोष गुणों के विरुद्धगामी ही हैं तो गुणों के ज्ञान से ही उनका ज्ञान हो सकता है। उनके लक्षण आदि करने

अर्थतस्तदवगमः । २, १, २ ।

गुणस्वरूपनिरूपणात् तेषां दोषाणां अर्थादवगमोऽर्थसिद्धिः ॥ २ ॥

किमर्थन्ते पृथक् प्रपञ्च्यन्त इत्याह—

सौकर्याय प्रपञ्चः । २, १, ३ ।

सौकर्यार्थं प्रपञ्चो विस्तरो दोषाणाम् । उद्दिष्टा लक्षिता हि दोषाः सुज्ञाना भवन्ति ॥ ३ ॥

की आवश्यकता नहीं है। फिर दोष निरूपण के लिए इस 'दोषदर्शन' अधिकरण की रचना आपने क्यों की है? ग्रन्थकार इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि यह ठीक है कि गुणों के परिज्ञान से भी उनके विरोधी दोषों का ज्ञान हो सकता है। परन्तु यदि उनका साक्षात् लक्षण कर दिया जाय तो पाठक को अधिक सरलता होगी इसलिए पाठकों के सौकर्य के लिए यहां दोषों का प्रपञ्च अथवा निरूपण किया है। इसी पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष को अगले दो सूत्रों में दिखलाते हैं।

[प्रश्न] अर्थापत्ति से उन [गुणविरोधी दोषों] का ज्ञान हो सकता है।

गुणों के स्वरूप के निरूपण से उन दोषों का अर्थापत्ति से ज्ञान या अर्थतः सिद्धि हो सकती है ॥ २ ॥

[फिर] उनका पृथक् निरूपण किस लिए कर रहे हैं, यह कहते हैं—

[उत्तर—पाठकों की] सरलता के लिए [दोषों का] प्रपञ्च [विस्तार] किया है।

सुगमता के लिए प्रपञ्च अर्थात् दोषों का विस्तृत विवेचन [किया] है। [दोषों के] नाम गिना देने [उद्देश] और लक्षण कर देने से दोष सरलता से समझ में आते हैं।

यहां वृत्तिग्रन्थ में 'उद्देश' तथा 'लक्षण' शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'उद्देश' का अर्थ 'नाममात्र का कथन करना' अर्थात् अभिमत पदार्थों का केवल नाम गिना देना है। 'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनमुद्देशः'। और 'लक्षणन्तु असाधारणधर्मवचनम्'। असाधारण धर्म का कथन करना लक्षण कहलाता है। जैसे 'गन्धवती पृथिवी' अथवा 'सास्नादिमत्त्वं गोत्वम्' यह पृथिवी तथा गौ के लक्षण हैं। अभिमत पदार्थों के नाम गिनाकर उनके असाधारण धर्मों को बता देने अर्थात् लक्षण कर देने से पदार्थ भली प्रकार समझ में आ जाते हैं। इसीलिए

पददोषान् दर्शयितुमाह—

दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकञ्च । २, १, ४ ।

उद्देश तथा लक्षण करने की पद्धति सर्वत्र पाई जाती है । न्याय शास्त्र में त्रिविध शास्त्र प्रवृत्ति का वर्णन आया है । अर्थात् उसमें 'उद्देश' और 'लक्षण' इन दो के साथ 'परीक्षा' को और बढ़ा दिया गया है । इन तीनों रूपों में न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति होती है । परन्तु वैशेषिक आदि दर्शनों में 'परीक्षा' को छोड़ कर 'उद्देश' तथा 'लक्षण' रूप द्विविध शास्त्र प्रवृत्ति का ही वर्णन किया गया है । यहां वामन ने भी 'उद्देश' तथा 'लक्षण' दो का ही कथन किया है ।

इस अधिकरण में स्थूल रूप से ही प्रतीत होने वाले काव्य के असाधुत्वापादक स्थूल दोषों का ही निरूपण किया गया है । आगे ग्रन्थकार लिखेंगे कि 'ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते' । इस पंक्ति से यह अभिप्राय निकलता है कि यहां निरूपण किए जाने वाले दोष, स्थूल दोष ही हैं, सूक्ष्म दोष नहीं । गुण विपर्यय स्वरूप सूक्ष्म दोषों का निरूपण गुणनिरूपण के प्रसङ्ग में किया जायगा ।।३।।

इस प्रकार दोष का सामान्य लक्षण और उसके निरूपण की उपयोगिता का प्रतिपादन करके अब दोषों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

पद दोषों को दिखलाने के लिए कहते हैं—

१ असाधुपद, २ कष्टपद, ३ ग्राम्यपद, ४ अप्रतीतपद, और ५ अनर्थक पद [यह पांच प्रकार के पददोष अथवा] दुष्ट पद होते हैं ।।४।।

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं । उनमें से शब्द, पद और वाक्य रूप, तथा अर्थ, पदार्थ, वाक्यार्थ रूप से दो-दो प्रकार के हैं । पद और पदार्थ की प्रतीति हो जाने के बाद ही वाक्य और वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है । इसलिए वाक्य या वाक्यार्थ के दोषों के निरूपण के पूर्व पद और पदार्थ के दोषों का निरूपण किया है । उनमें भी पद से ही पदार्थ की प्रतीति हो सकती है इसलिए पदार्थ दोषों की अपेक्षा पद-दोषों का निरूपण पहिले किया है ।

यह सूत्र पद दोषों का 'उद्देश' सूत्र है । इसमें पद दोषों के नामों का सङ्कीर्तन मात्र किया गया है । उनके लक्षण आदि आगे किए जायेंगे । सूत्र में आया 'पदं' शब्द असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत और अनर्थक इन पांचों के साथ जोड़ कर असाधुपद, कष्टपद, ग्राम्यपद, अप्रतीतपद, और अनर्थकपद यह पांच प्रकार के पददोष समझने चाहिएं । यहां सूत्रकार ने केवल पांच प्रकार के ही

क्रमेण व्याख्यातुमाह—

शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु । २, १, ५ ।

शब्दस्मृत्या व्याकरणेन विरुद्धं पदमसाधु । यथा 'अन्यकारक-वैयर्थ्यम्' इति । अत्र हि,

[1] 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्याऽन्यस्य दुक् आशीराशास्थास्थितोत्सुकोति-कारकरागच्छेषु' इति दुका भवितव्यम् इति ।। ५ ।।

पददोषों का निरूपण किया है परन्तु वामन के बाद दोषों की संख्या में वृद्धि होकर अन्त में साहित्यदर्पण के युग में पहुंच कर पांच की जगह १८ प्रकार के पद दोष हो गए हैं। साहित्यदर्पणकार ने उनको इस प्रकार गिनाया है—

[2] दुःश्रवत्रिविधाश्लीलानुचितार्थाप्रयुक्तता । ६
ग्राम्याप्रतीतिसन्दिग्धनेयार्थनिहितार्थता ।। ५
अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता । ३
अविमृष्टविधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः ।। १
दोषाः केचिद् भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदे परे । —
निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ।। ३
१८

[उद्देश के] क्रम से व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

व्याकरणशास्त्र के विपरीत [शब्द का प्रयोग] 'असाधु' [पद] कहलाता है।

शब्दस्मृति अर्थात् व्याकरणशास्त्र से विरुद्ध पद 'असाधु' [पद] कहलाता है। जैसे, अन्यकारक व्यर्थ है। यहां [इस प्रयोग में] अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुक् आशी-आशा-आस्था-स्थित-उत्सुक-ऊति-कारक-राग-च्छेषु इस सूत्र से [अन्य शब्द के अन्त्य अच् से परे] दुक् [का आगम होकर 'अन्यत्कारकवैयर्थ्यम्' ऐसा प्रयोग] होना चाहिए।

यहां दुक् का आगम न करके 'अन्यकारक' पद का प्रयोग किया गया है। उक्त पाणिनि सूत्र का आशय यह है कि आशी आदि पदों के परे रहते अन्य शब्द को दुक् का आगम हो। इस प्रकार दुगागम होकर अन्यदाशी, अन्यदाशा, अन्यदास्था, अन्यदास्थितः, अन्यदुत्सुकः, अन्यदूतिः, अन्यद्रागः, और छ प्रत्यय का अन्यदीयः आदि प्रयोग बनते हैं। 'अषष्ठी' आदि देने से षष्ठी

---

[1] अष्टाध्यायी ६, ३, ६६ । [2] साहित्यदर्पण ७, २-४ ।

श्रुतिविरसं कष्टम् । २, १, ६ ।

श्रुतिविरसं श्रुतिकटु पदं कष्टम् । तद्धि रचनागुम्फितमप्युद्वेजयति । यथा—

अचूचुरच्चण्डि कपोलयोस्ते
कान्तिद्रवं द्राग् विशदः शशाङ्कः ॥६॥

तथा तृतीया में अन्यस्य अन्येन वाशीः अन्याशीः प्रयोग ही होगा । यह कहा जा सकता है कि यहां 'अन्यकारक' पद का प्रयोग करने वाले ने भी 'अन्येषां कारकाणां वैयर्थ्यं अन्यकारक वैयर्थ्यम्' इस प्रकार का षष्ठी तत्पुरुष समास और षष्ठी विभक्ति मान कर ही यहां 'अन्यकारकवैयर्थ्यम्' इस प्रकार का प्रयोग किया है । उसमें असाधुत्व का अवकाश कहां है ? इसका उत्तर यह है कि फिर भी उनका यह प्रयोग ठीक नहीं है । क्योंकि इस पाणिनीय सूत्र के महाभाष्य में भाष्यकार ने सूत्र को दो भागों में विभक्त करके इस प्रकार उसका न्यास किया है । १. अन्यस्य दुक् छकारकयोः, २. अपष्ठ्यतृतीयास्थस्याशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिरागेषु । भाष्यकार के इस प्रकार के न्यास करने का आशय यह हुआ कि 'छ' प्रत्यय और 'कारक' के परे रहते 'अन्य' शब्द को सब विभक्तियों में नित्य दुक् का आगम हो और आशी, आशा आदि शब्दों के परे रहते पष्ठी तथा तृतीया से भिन्न विभक्तियों के 'अन्य' शब्द को ही दुक् का आगम हो । अर्थात् आशी, आशा आदि शब्दों के परे रहते षष्ठी और तृतीया के अन्य शब्द को दुक् का आगम न होकर अन्याशी, अन्याशा आदि प्रयोग बन जावेंगे । परन्तु 'छ' प्रत्यय तथा 'कारक' शब्द के परे रहते दुक् का आगम अवश्य होगा इसलिए वहां 'अन्यकारक' प्रयोग न होकर 'अन्यत्कारक' ही बनेगा । 'अन्यकारक' पद का प्रयोग असाधु है । नवीन आचार्यों ने इस दोष को च्युतसंस्कार नाम से कहा है ॥५॥

सुनने में विरस अर्थात् कर्णकटु पद 'कष्टपद' [दोष] कहलाता है । कानों को अरुचिकर कर्णकटु पद 'कष्टपद' है । [नवीन आचार्यों ने इसे दुःश्रव नाम से 'व्यवहृत' किया है ।] वह तो रचना में [लेख रूप में] निबद्ध होकर भी अरुचिकर होता है । जैसे—

हे चण्डि [क्रोधनशीले तुम्हारे नाराज होने पर] जान पड़ता है कि तुम्हारे गालों के सौन्दर्य रस को एक दम चमकने वाले चन्द्रमा ने चुरा लिया है [इसीलिए वह तुरन्त चमकने लगा है] ।

[यहां द्राक् यह पद कष्ट श्रुतिकटु या दुःश्रव है] ॥६॥

लोकप्रयुक्तमात्रं ग्राम्यम् । २, १, ७ ।

लोक एव यत्प्रयुक्तं पदं न शास्त्रे तद् ग्राम्यम् । यथा—

'कष्टं कथं रोदिति फूत्कृतेयम् ।'

अन्यदपि तल्लगल्लादिकं द्रष्टव्यम् ।।७।।

शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम् । २, १, ८ ।

शास्त्र एव प्रयुक्तं यन्न लोके तदप्रतीतम् । यथा—

'किं भाषितेन बहुना रूपस्कन्धस्य सन्ति मे न गुणाः ।
गुणानान्तरीयकञ्च प्रेमेति न तेऽस्त्युपालम्भः' ।।

अत्र रूपस्कन्धनान्तरीयकपदे न लोके इत्यप्रतीतम् ।। ८ ।।

जो केवल लोक में ही प्रयुक्त हो [शास्त्र में नहीं] वह ग्राम्य पद कहलाता है ।

जो पद केवल लोक में ही प्रयुक्त हो शास्त्र में नहीं वह ग्राम्य [पद] कहलाता है । जैसे—

हाय यह [चूल्हा आदि] फूंकने वाली [धुंए आदि के कारण] कैसे रो रही है । [यहाँ फूत्कृता शब्द ग्राम्य है । उसका काव्यों में सत्कवियों द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता है] ।

इसी प्रकार तल्ल गल्ल आदि शब्द भी [ग्राम्य पद] समझने चाहिएं [जैसे—ताम्बूलभृतगल्लोऽयं तल्लं जल्पति मानवः । पान से भरे हुए गालों वाला यह आदमी अच्छी बकवाद कर रहा है । इस उदाहरण में प्रयुक्त 'गल्ल' और 'तल्ल' शब्द भी ग्राम्यपद ही समझने चाहिएं] ।।७।।

केवल शास्त्र में प्रयुक्त होने वाला [लोक में प्रयुक्त न होने वाला] पद 'अप्रतीत पद' [दोषग्रस्त] कहलाता है ।

जो केवल शास्त्र में ही प्रयुक्त होता है लोक में नहीं वह [पद] 'अप्रतीत पद' होता है । जैसे—

बहुत कहने से क्या लाभ, सीधी बात यह है कि मेरे भीतर शरीर [रूपस्कन्ध] के [सौन्दर्य आदि] गुण नहीं हैं और प्रेम [उन शारीरिक सौन्दर्य आदि] गुणों का [नान्तरीयक] अविनाभावी है इसलिए [तुम मुझे प्रेम क्यों नहीं करते यह] तुम्हें उलाहना [तो] दिया ही नहीं जा सकता है ।

यहां 'रूपस्कन्ध' [पद मुख्य रूप से बौद्ध दर्शन में रूप, वेदना, विज्ञान,

पूरणार्थमनर्थकम् । २, १, ६ ।

पूरणमात्रप्रयोजनमव्ययपदमनर्थकम् । दण्डापूपन्यायेन पदमन्यदप्यनर्थकमेव ।

संज्ञा और संस्कार इन 'पञ्च स्कन्धों' में से प्रथम 'स्कन्ध' के लिए प्रयुक्त होता है और उससे विषय तथा इन्द्रिय का ग्रहण होता है] और नान्तरीयक [पद मुख्य रूप से न्यायादि दर्शन में अविनाभाव या 'व्याप्ति' के अर्थ में प्रयुक्त होता है] यह दोनों पद लोक में प्रयुक्त नहीं होते इसलिए 'अप्रतीत पद' [दोष] कहलाते हैं। [नवीन आचार्यों ने भी इस दोष को 'अप्रतीतत्व' नाम से पद दोष कहा है] ॥८॥

[केवल पाद की] पूर्ति के लिए प्रयुक्त पद अनर्थक होते हैं।

[श्लोक में] केवल [पाद] पूर्ति मात्र के लिए प्रयुक्त होने वाले [च आदि] अव्यय पद अनर्थक [पद कहलाते] हैं। 'दण्डापूपिका-न्याय' से अन्य पद भी अनर्थक होते हैं।

श्लोक रचना करते समय कभी-कभी वर्णों की गणना में एक दो अक्षरों की कमी पड़ती है और उसके लिए कोई अधिक उपयुक्त शब्द कवि को नहीं मिलता है उस समय कवि च, तु, हि, खलु, वै, आदि अव्ययों का प्रयोग करके उसकी पूर्ति कर देता है। उनसे छन्द के पाद की पूर्ति तो हो जाती है, परन्तु उस का वहां कोई अर्थ नहीं होता है। इसलिए इस प्रकार के पदों का प्रयोग 'अनर्थक पद' कहलाता है। जब इन अव्यय पदों को भी अनर्थक, या दोषयुक्त पद कहा जा सकता है तब अन्य पद यदि कहीं निष्प्रयोजन प्रयुक्त किए जायं तो 'दण्डापूपिका' न्याय से वह अन्य पद भी अनर्थक ही होंगे।

'दण्डापूपिका-न्याय' का अभिप्राय यह है कि जैसे किसी ने अपूप अर्थात् पुआ या गुलगुला कपड़े में रख कर अपने डंडे में बांध कर रख दिए थे। उसके किसी दूसरे साथी ने उसको रखते देख लिया। जब वह कहीं बाहर गया तो उस दूसरे साथी ने पुए तो लेकर स्वयं खा लिए और डंडा उठाकर कहीं इधर-उधर फेंक दिया। जब पहिला पुरुष लौट कर आया तो उसने अपना डंडा जहां रखा था वहां न देख कर अपने साथी से पूछा कि डंडा कहां गया? तो उसने उत्तर दिया कि मालूम नहीं, जान पड़ता है चूहे डंडा उठा ले गए। पहिले आदमी को भूख लग रही थी। उसे उस समय डंडे की इतनी आवश्यकता न थी जितनी पुओं की। इसलिए उसने, अच्छा फिर पुए कहां गए? इस प्रकार का

यथा—

उदितस्तु हास्तिकविनीलमयं,
तिमिरं निपीय किरणैः सविता ॥

अत्र 'तु' शब्दस्य पादपूरणार्थेनैव प्रयोगः।' न वाक्यालङ्कारार्थम्। वाक्यालङ्कारप्रयोजनं तु नानर्थकम्। अपवादार्थमिदम्। यथा—

न खल्विह गतागता नयनगोचरं मे गता ॥६॥

दूसरा प्रश्न किया। परन्तु उसके साथी ने इस दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया कि जब डंडा ही चूहे ले गए तो क्या पुए उन्होंने छोड़ दिए होंगे। पुए भी चूहे ही ले गए यह तो स्वयं ही सिद्ध हो जाता है, कहने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार जहां एक बात के कहने से दूसरा परिणाम तो स्वयं ही निकल आता है उसको 'दण्डापूपिका-न्याय' कहा जाता है। दार्शनिक क्षेत्र में इसी को अर्थापत्ति प्रमाण भी कहा जाता है। इसका नाम है 'दण्डापूप-न्याय'। प्रकृत में, 'च' आदि निपात, जो किसी अर्थ के वाचक नहीं होते केवल द्योतक होते हैं, वह ही केवल पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त होने पर जब अनर्थक कहलाने लगते हैं तब वाचक पद यदि निष्प्रयोजन कहीं प्रयुक्त हो जावें तो वे भी अनर्थक कहलाने लगेंगे यह तो 'दण्डापूपिका-न्याय' से स्वतःसिद्ध है ही। इसी बात को ग्रन्थकार ने 'दण्डापूपन्यायेन पदमन्यदपि अनर्थकमेव।' लिख कर प्रकट किया है। आगे अनर्थक पद का उदाहरण देते हैं।

जैसे—

हाथियों के समूह की नीलिमा से निर्मित [जैसे] अन्धकार को [अपनी] किरणों द्वारा पान [नाश] करके सूर्यदेव उदय हुए।

यहां [मूल श्लोक में] 'तु' शब्द का प्रयोग पादपूरणार्थ ही किया गया है, वाक्यालङ्कार के लिए नहीं। [इसलिए वह अनर्थक है]। वाक्यालङ्कार के लिए किया गया [तु आदि का प्रयोग] तो अनर्थक नहीं होता।

अर्थात् 'तु', 'खलु' आदि का प्रयोग कहीं केवल पादपूर्ति मात्र के लिए किया जाता है और कहीं वाक्यालङ्कार के लिए भी उनका प्रयोग किया जाता है। इनमें से जहां केवल पादपूर्ति के लिए 'तु' आदि का प्रयोग किया जाता है वहां 'अनर्थकपद' दोष होता है। और जहां वाक्यालङ्कार में उनका प्रयोग होता है वहां दोष नहीं होता है। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

यह [पूर्वोक्त नियम के] अपवाद के लिए कहा है। जैसे—

[वह] यहां आती जाती मुझे दिखाई नहीं दी।

पूरणार्थमनर्थकम् । २, १, ९ ।

पूरणमात्रप्रयोजनमव्ययपदमनर्थकम् । दण्डापूपन्यायेन पदमन्यदप्यनर्थकमेव ।

संज्ञा और संस्कार इन 'पञ्च स्कन्धों' में से प्रथम 'स्कन्ध' के लिए प्रयुक्त होता है और उससे विषय तथा इन्द्रिय का ग्रहण होता है] और नान्तरीयक [पद मुख्य रूप से न्यायादि दर्शन में अविनाभाव या 'व्याप्ति' के अर्थ में प्रयुक्त होता है] यह दोनों पद लोक में प्रयुक्त नहीं होते इसलिए 'अप्रतीत पद' [दोष] कहलाते हैं। [नवीन आचार्यों ने भी इस दोष को 'अप्रतीतत्व' नाम से पद दोष कहा है] ॥८॥

[केवल पाद की] पूर्ति के लिए प्रयुक्त पद अनर्थक होते हैं।

[श्लोक में] केवल [पाद] पूर्ति मात्र के लिए प्रयुक्त होने वाले [च आदि] अव्यय पद अनर्थक [पद कहलाते] हैं। 'दण्डापूपिका-न्याय' से अन्य पद भी अनर्थक होते हैं।

श्लोक रचना करते समय कभी-कभी वर्णों की गणना में एक दो अक्षरों की कमी पड़ती है और उसके लिए कोई अधिक उपयुक्त शब्द कवि को नहीं मिलता है उस समय कवि च, तु, हि, खलु, वै, आदि अव्ययों का प्रयोग करके उसकी पूर्ति कर देता है। उनसे छन्द के पाद की पूर्ति तो हो जाती है, परन्तु उस का वहां कोई अर्थ नहीं होता है। इसलिए इस प्रकार के पदों का प्रयोग 'अनर्थक पद' कहलाता है। जब इन अव्यय पदों को भी अनर्थक, या दोषयुक्त पद कहा जा सकता है तब अन्य पद यदि कहीं निष्प्रयोजन प्रयुक्त किए जायं तो 'दण्डापूपिका' न्याय से वह अन्य पद भी अनर्थक ही होंगे।

'दण्डापूपिका-न्याय' का अभिप्राय यह है कि जैसे किसी ने अपूप अर्थात् पुआ या गुलगुला कपड़े में रख कर अपने डंडे में बांध कर रख दिए थे। उसके किसी दूसरे साथी ने उसको रखते देख लिया। जब वह कहीं बाहर गया तो उस दूसरे साथी ने पुए तो लेकर स्वयं खा लिए और डंडा उठाकर कहीं इधर-उधर फेंक दिया। जब पहिला पुरुष लौट कर आया तो उसने अपना डंडा जहां रखा था वहां न देख कर अपने साथी से पूछा कि डंडा कहां गया? तो उसने उत्तर दिया कि मालूम नहीं, जान पड़ता है चूहे डंडा उठा ले गए। पहिले आदमी को भूख लग रही थी। उसे उस समय डंडे की इतनी आवश्यकता न थी जितनी पुओं की। इसलिए उसने, अच्छा फिर पुए कहां गए? इस प्रकार का

यथा—

उदितस्तु हास्तिकविनीलमयं,
तिमिरं निपीय किरणैः सविता ॥

अत्र 'तु' शब्दस्य पादपूरणार्थमेव प्रयोगः ।' न वाक्यालङ्कारार्थम् । वाक्यालङ्कारप्रयोजनं तु नानर्थकम् । अपवादार्थमिदम् । यथा—

न खल्विह गतागता नयनगोचरं मे गता ॥६॥

दूसरा प्रश्न किया । परन्तु उसके साथी ने इस दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया कि जब डंडा ही चूहे ले गए तो क्या पुए उन्होंने छोड़ दिए होंगे । पुए भी चूहे ही ले गए यह तो स्वयं ही सिद्ध हो जाता है, कहने की आवश्यकता नहीं होती । इस प्रकार जहां एक बात के कहने से दूसरा परिणाम तो स्वयं ही निकल आता है उसको 'दण्डापूपिका-न्याय' कहा जाता है । दार्शनिक क्षेत्र में इसी को अर्थापत्ति प्रमाण भी कहा जाता है । इसका नाम है 'दण्डापूप-न्याय' । प्रकृत में, 'च' आदि निपात, जो किसी अर्थ के वाचक नहीं होते केवल द्योतक होते हैं, वह ही केवल पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त होने पर जब अनर्थक कहलाने लगते हैं तब वाचक पद यदि निष्प्रयोजन कहीं प्रयुक्त हो जावें तो वे भी अनर्थक कहलाने लगेंगे यह तो 'दण्डापूपिका-न्याय' से स्वतःसिद्ध है ही । इसी बात को ग्रन्थकार ने 'दण्डापूपन्यायेन पदमन्यदपि अनर्थकमेव ।' लिख कर प्रकट किया है । आगे अनर्थक पद का उदाहरण देते हैं ।

जैसे—

हाथियों के समूह की नीलिमा से निर्मित [जैसे] अन्धकार को [अपनी] किरणों द्वारा पान [नाश] करके सूर्यदेव उदय हुए ।

यहां [मूल श्लोक में] 'तु' शब्द का प्रयोग पादपूरणार्थ ही किया गया है, वाक्यालङ्कार के लिए नहीं । [इसलिए वह अनर्थक है] । वाक्यालङ्कार के लिए किया गया [तु आदि का प्रयोग] तो अनर्थक नहीं होता ।

अर्थात् 'तु', 'खलु' आदि का प्रयोग कहीं केवल पादपूर्ति मात्र के लिए किया जाता है और कहीं वाक्यालङ्कार के लिए भी उनका प्रयोग किया जाता है । इनमें से जहां केवल पादपूर्ति के लिए 'तु' आदि का प्रयोग किया जाता है वहां 'अनर्थकपद' दोष होता है । और जहां वाक्यालङ्कार में उनका प्रयोग होता है वहां दोष नहीं होता है । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है ।

यह [पूर्वोक्त नियम के] अपवाद के लिए कहा है । जैसे—

[वह] यहां आती जाती मुझे दिखाई नहीं दी ।

इति । तथा, हि 'खलु' हन्तेति ।

सम्प्रति पदार्थदोषानाह—

अन्यार्थनेयगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च । २, १, १० ।

दुष्टं पदमित्यनुवर्तते, अर्थश्च, वचनविपरिणामः । अन्यार्थादीनि पदानि दुष्टानीति सूत्रार्थः ॥१०॥

यह [यहां खलु पद वाक्यालङ्कार के लिए प्रयुक्त हुआ है पादपूर्ति के लिए नहीं । इस लिए यह अनर्थक पद नहीं है ।] इसी प्रकार, हि, खलु, हन्त इत्यादि [पद वाक्यालङ्कार के लिए प्रयुक्त होने पर अनर्थक नहीं होते] हैं ॥ ९ ॥

इस प्रकार वामन ने यहां पांच प्रकार के पद-दोषों का निरूपण किया है परन्तु साहित्यदर्पण में १८ प्रकार के पद दोष माने हैं । उनमें अश्लील दोष का उल्लेख वामन ने पददोषों में न करके केवल पदार्थ दोषों में किया है परन्तु नवीन आचार्यों ने पद दोष तथा अर्थ दोष दोनों में उसकी गणना की है ।

पदार्थ दोषों का निरूपण—

इसी प्रकार वामन ने अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लील और क्लिष्टत्व रूप पांच प्रकार के पदार्थ दोष माने हैं । परन्तु साहित्यदर्पण के समय तक अर्थ-दोषों की संख्या बढ़कर पांच के स्थान पर २३ तक पहुंच गई है । साहित्य दर्पणकार ने तेईस प्रकार के अर्थदोष इस प्रकार गिनाए हैं—

[1]अपुष्ट-दुष्क्रम-ग्राम्य-व्याहता-ऽश्लील-कष्टता । ६
अनवीकृत-निर्हेतु-प्रकाशितविरुद्धता ॥ ३
सन्दिग्ध-पुनरुक्तत्वे ख्याति-विद्या-विरुद्धते । ४
साकांक्षता-सहचरभिन्नता-ऽस्थानयुक्तता ॥ ३
अविशेषे विशेषश्चा-ऽनियमे नियमस्तथा । २
तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ ४
निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ॥ १

२३

[ग्रन्थकार वामन] अब पदार्थ दोषों को कहते हैं—

१. अन्यार्थ, २. नेयार्थ, ३. गूढार्थ, ४. अश्लील, और ५. क्लिष्ट [यह पांच प्रकार के पदार्थ दोष हैं ।]

दुष्टं पदं इस [शब्द अथवा दुष्टं पदं शब्दों के अर्थ] की

एषां क्रमेण लक्षणान्याह—

रूढिच्युतमन्यार्थम् । २, १, ११ ।

रूढिच्युतं रूढिमनपेक्ष्य यौगिकार्थमात्रोपादानात् । अन्यार्थं पदम् स्थूलत्वात् सामान्येन घटशब्दः पटशब्दार्थ इत्यादिकमन्यार्थं नोक्तम् ।

यथा—

ते दुःखमुच्चावचमावहन्ति,
ये प्रस्मरन्ति प्रियसङ्गमानाम् ।

अत्र 'आवहतिः' करोत्यर्थो धारणार्थे प्रयुक्तः । प्रस्मरतिर्विस्मरणार्थः प्रकृष्टस्मरण इति ॥११॥

की अनुवृत्ति [पूर्वसूत्रों से] आती है । और अर्थ [इस शब्द की] भी [अनुवृत्ति आती है । और दुष्टं पद में जो एक वचन है उसका] वचन-विपरिणाम [परिवर्तन करके बहुवचन कर लेना चाहिए । तब इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार] होगा । अन्य अर्थादि [के बोधक] पद दुष्ट होते हैं । यह सूत्र का अर्थ हुआ ॥ १० ॥

[इस प्रकार इस सूत्र में पदार्थ दोषों का 'उद्देश' अर्थात् नाममात्र से कथन करके आगे] क्रम से इनके लक्षण कहते हैं—

[योगरूढ़ अथवा रूढ़ शब्द जब] रूढ़ि से च्युत [अर्थात् रूढ़ अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है तो वह] अन्यार्थ होता है ।

रूढ़ि से च्युत अर्थात् रूढ़ि की पर्वाह किए बिना यौगिकार्थ मात्र का उपादान करने से [रूढ़ अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ पद] अन्यार्थ पद कहलाता है । साधारणतः घट शब्द पट शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होने पर अन्यार्थ पद होता है [यह अन्यार्थ का लक्षण कहा जा सकता है । परन्तु] यह मोटी [स्थूलबुद्धि ग्राह्य] बात होने से नहीं कहा । [अपितु 'रूढ़िच्युतमन्यार्थम्' इस प्रकार अन्यार्थ का तनिक सूक्ष्म लक्षण किया है । आगे उसका उदाहरण देते हैं] जैसे—

जो प्रियजनों के सङ्गों को विशेष रूप से स्मरण करते हैं वह नाना प्रकार के दुःखों को उठाते हैं ।

यहां करने [कृञ् धातु] के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला आङ्-पूर्वक वह धातु का [आवहति] प्रयोग धारण के अर्थ में किया गया है । और

कल्पितार्थं नेयार्थम् । २, १, १२ ।

अश्रुतस्याप्युन्नेयस्य पदार्थस्य कल्पनात् कल्पितार्थं नेयार्थम् । यथा—

सपदि पंक्तिविहङ्गमनामभृत्-तनयसंवलितं बलशालिना ।
विपुलपर्वतवर्षि शितैः शरैः, प्लवगसैन्यमुलूकजिता जितम् ॥

विस्मरणार्थक प्र पूर्वक स्मृ धातु का [प्रस्मरन्ति] प्रयोग प्रकृष्ट स्मरण के अर्थ में किया गया है ।

आङ् पूर्वक वह धातु 'करोति' के अर्थ में रूढ है । उस रूढ अर्थ की उपेक्षा करके यहां उसका प्रयोग 'धारण' अर्थ में किया गया है । इसी प्रकार 'प्र' पूर्वक 'स्मृ' धातु विस्मरण के अर्थ में रूढ है । नैषध आदि महाकाव्यों में विस्मरण अर्थ में 'प्रस्मृतः' पद का प्रयोग पाया जाता है । जैसे—

[1]नाक्षराणि पठता किमपाठि ।
प्रस्मृतः किमथवा पठितोऽपि ॥

इत्यादि में विस्मरण में, प्रस्मृतः पद का प्रयोग हुआ है । यहां पूर्व उदाहरण में रूढ़ि की उपेक्षा करके 'प्रस्मरन्ति' पद का प्रयोग 'प्रकृष्ट स्मरण' रूप यौगिक अर्थ में किया गया है इसलिए यह अन्यार्थ का उदाहरण हुआ ॥ ११ ॥

कल्पित [अर्थात् वाक्य में स्पष्ट रूप से सुनाई न देने वाले] अर्थ का बोधक [पद] नेयार्थ [कहलाता] है ।

[वाक्य में] अश्रुत होने पर भी [अनुमान आदि से] कल्पनीय पदार्थ की कल्पना करने से कल्पितार्थ नेयार्थ [कहलाता] है । जैसे—

दशरथ के पुत्रों के सहित, बड़े-बड़े पर्वतों को बरसाने वाली वानरों की सेना को महाबली मेघनाद ने तीक्ष्ण बाणों से जीत लिया ।

पंक्ति अर्थात् दश । विहङ्गमनाम अर्थात् चक्रवाक पक्षी के नाम का अंश भूत जो चक्र उसको धारण करने वाला, चक्रयुक्त, रथ । अर्थात् पंक्ति-विहङ्गमनामभृत् का अर्थ हुआ 'दशरथ' । उनके पुत्रों अर्थात् राम लक्ष्मण से युक्त प्लवग सैन्य अर्थात् वानर सेना को बलवान् 'उलूक' अर्थात् कौशिक इन्द्र को जीतने वाले, मेघनाद ने जीत लिया । 'कौशिक' पद के दो अर्थ होते हैं एक उलूक और दूसरा इन्द्र । इस प्रकार 'उलूकजिता' का अर्थ हुआ 'इन्द्रजिता' अर्थात् इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद ने बड़े-बड़े पर्वतों की वर्षा

[1] नैषध

अत्र विहङ्गमश्चक्रवाकोऽभिप्रेतः । तन्नामानि चक्राणि । तानि बिभ्रतीति विहङ्गमनामभृतो रथाः । पंक्तिरिति दश संख्या लक्ष्यते । पंक्तिर्दश विङ्गमनामभृतो रथाः यस्य स पंक्तिविहङ्गमनामभृद् 'दशरथः' । तत्तनयाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां संवलितं प्लवगसैन्यं जितम् । उलूकजिता इन्द्रजिता । कौशिकशब्देनेन्द्रोलूकयोरभिधानमिति कौशिकशब्दवाच्यत्वेनेन्द्र उलूक उक्तः ।

ननु चैवं रथाङ्गनामादीनामपि प्रयोगोऽनुपपन्नः । न । तेषां निरूढलक्षणत्वात् ॥१२॥

करने वाली 'प्लवगसैन्यं' अर्थात् वानर सेना को अपने 'शितैः शरैः' तीक्ष्ण बाणों से जीत लिया ।

यहां विहङ्गम [शब्द से सहस्रों पक्षियों में से केवल] चक्रवाक [रूप पक्षी विशेष] अभिप्रेत है । उसके नाम वाले, चक्र [रथ के पहिए] हुए । उनको धारण करने वाले रथ, 'विहङ्गमनामभृत्' हुए । पंक्ति शब्द से दश संख्या लक्षित होती है । पंक्ति अर्थात् दश 'विहङ्गमनामभृत्' अर्थात् रथ जिसके हैं वह 'पंक्तिविहङ्गमनामभृत्' 'दशरथ' हुआ । उसके रामलक्ष्मण दो पुत्रों से परिगृहीत वानर सेना को जीत लिया । 'उलूकजिता' अर्थात् इन्द्रजित् मेघनाद ने । कौशिक शब्द से इन्द्र तथा उलूक दोनों का कथन किया जाता है । इसलिए कौशिक शब्द वाच्य होने से इन्द्र को उलूक कहा है ।

इस प्रकार यहां सारे अर्थ की खींचतान कर कल्पना करनी पड़ती है इसलिए यहां कल्पितार्थ होने से 'नेयार्थ' दोष हुआ ।

[प्रश्न] यदि ऐसा [नेयार्थ दोष] मानेंगे तो 'रथाङ्गनामा' आदि [महाकवियों द्वारा प्रयुक्त] पदों का प्रयोग भी अनुचित हो जायगा ।

[उत्तर] नहीं ['रथाङ्गनामा' आदि पदों का प्रयोग] उनकी उस [चक्रवाक पक्षी रूप] अर्थ में रूढ़ लक्षणा होने से [दूषित नहीं होता है ।]

निरूढ लक्षणा वाले प्रयोग वाचक शब्द के समान ही हो जाते हैं । जैसा कि कहा भी है—

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥

रूढ़ि अथवा प्रयोजनवती लक्षणा से किया हुआ प्रयोग दूषित नहीं होता है । उन दोनों के अभाव में ही नेयार्थता दोष होता है । इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने 'रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनं नेयार्थत्वम्' ऐसा नेयार्थ का लक्षण किया है ॥ १२ ॥

अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम् । २, १, १३ ।

यस्य पदस्य लोकेऽर्थः प्रसिद्धश्चाप्रसिद्धश्च तदप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं गूढार्थम् । यथा—

सहस्रगोरिवानीकं दुस्सहं भवतः परैः ।

इति । सहस्रं गावोऽक्षीणि यस्य स सहस्रगुरिन्द्रः । तस्येवेति, गोशब्दस्याक्षिवाचित्वं कविष्वप्रसिद्धमिति ॥ १३ ॥

असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम् । १, १, १४ ।

अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त पद 'गूढ़ार्थ' [दोष से युक्त] होता है ।

जिस [अनेकार्थक] पद का [एक] अर्थ लोक में प्रसिद्ध और [दूसरा अर्थ लोक में] अप्रसिद्ध होता है उसका अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग [होने पर वह पद] गूढ़ार्थ होता है । जैसे—

सहस्र नेत्र वाले इन्द्र के समान आपकी सेना शत्रुओं के लिए असह्य है। यह । [इसमें गो शब्द का इन्द्रिय अर्थ मान कर] सहस्र गौएं अर्थात् चक्षु रूप इन्द्रियां जिसके हैं वह 'सहस्रगु' इन्द्र हुआ । उसके समान [आप] यह [कवि का विवक्षित अर्थ है] गो शब्द का नेत्रवाचकत्व कवियों में अप्रसिद्ध है ।

गौर्नाके वृषभे चन्द्रे वाग्-भू-दिग्-धेनुपु स्त्रियाम् ।
द्वयोस्तु रश्मि-दृग् बाणस्वर्ग वज्रा-ऽम्बुलोमसु ॥

इस कोश के अनुसार 'गो' शब्द का नेत्र अर्थ भी हो सकता है परन्तु गो शब्द को सुकविगण प्रायः नेत्र अर्थ में प्रयुक्त नहीं करते हैं । इसलिए प्रकृत उदाहरण में प्रयोग 'गूढ़ार्थ' दोष कहलाता है । इसी प्रकार—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्पथः ।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥

इत्यादि स्थलों में 'हन्ति' पद का गमनार्थ में प्रयोग भी 'गूढ़ार्थ' दोष का उदाहरण है । 'हन हिंसागत्योः' इस धातु पाठ के अनुसार 'हन्' धातु के हिंसा और गति दोनों अर्थ हैं । परन्तु कविगण 'हन्' का गमनार्थ में प्रयोग नहीं करते हैं । इसलिए 'सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति' यहां गमनार्थ में 'हन्ति' का प्रयोग 'गूढ़ार्थ' दोप कहा जाता है । नवीन आचार्य इसी 'गूढ़ार्थ' दोष को 'अप्रयुक्तत्व' दोष कहते हैं ॥ १३ ॥

[आगे अश्लीलार्थ रूप पदार्थ दोष का निरूपण करते हैं]—

जिसका दूसरा अर्थ असभ्य [असभ्यता सूचक] हो और जिससे असभ्यार्थ की स्मृति होती हो उसको 'अश्लील' कहते हैं ।

यस्य पदस्यानेकार्थस्यैकोऽर्थोऽसभ्यः स्यात् तदसभ्यार्थान्तरम् । यथा वर्चः इति पदं तेजसि विष्ठायाञ्च । यत्तु पदं सभ्यार्थवाचकमपि एकदेशद्वारेणासभ्यार्थं स्मारयति तदसभ्यस्मृतिहेतुः यथा 'कृकाटिका' इति ॥ १४ ॥

न गुप्तलक्षितसंवृतानि । २, १, १५ ।

अपवादार्थमिदम् । गुप्तं लक्षितं संवृत्तञ्च नाश्लोलम् ॥ १५ ॥

एषां लक्षणान्याह—

अप्रसिद्धासभ्यं गुप्तम् । २, १, १६ ।

जिस अनेकार्थक पद का एक अर्थ असभ्य हो, वह [इस सूत्र में] असभ्यार्थान्तर [पद से कहा गया] है । जैसे 'वर्चस्' पद तेज तथा विष्ठा [दोनों] अर्थों में [प्रयुक्त होता है इनमें से विष्ठा रूप दूसरा अर्थ जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लील है । इसलिए यह पद 'असभ्यार्थान्तर' पद होने से अश्लील है] । और जो पद [केवल] सभ्यार्थ का वाचक होने पर भी एकदेश से असभ्यार्थ का स्मरण कराने वाला हो, वह [भी] असभ्य अर्थ की स्मृति का हेतु होने से अश्लील है । जैसे 'कृकाटिका' पद । ['कृकाटिका' पद कर्ण के नीचे के भाग कनपटी का वाचक है । कर्णापरभागवाचकमपि कृकाटिका पदं] परन्तु उसके एकदेश 'काटि' से मुर्दे को लेजाने वाली 'काठी' का स्मरण हो आता है इसलिए वह 'अमङ्गल व्यञ्जक अश्लीलता' का उदाहरण है । 'प्रेतयानं खटिः काटी' इस वैजयन्ती कोश के अनुसार 'काटी' शब्द 'प्रेतयान' अर्थात् मुर्दा ले जाने वाली 'काठी' का बोधक है । एकदेश से उसका स्मारक होने से 'कृकाटिका' पद भी 'अमङ्गल व्यञ्जक अश्लील' कहलाता है ।] ॥१४॥

[यदि असभ्यार्थ] गुप्त [अप्रसिद्ध] अथवा लक्षित [लक्षणाबोध्य] अथवा [लोकव्यवहार से] दब गया [संवृत हो गया] हो तो वह अश्लील नहीं होता ॥

यह [सूत्र] अपवाद के लिए है । गुप्त [अप्रसिद्ध], लक्षित [लक्षणा-गम्य] अथवा [लोकव्यवहार से] संवृत [दब जाने वाले असभ्यार्थ का बोधक पद] अश्लील नहीं हैं ॥ १५ ॥

इन [गुप्त, लक्षित तथा संवृत] के लक्षण कहते हैं—

[जिसका] असभ्य अर्थ अप्रसिद्ध हो वह गुप्त [असभ्यार्थ] होता है ।

अप्रसिद्धासभ्यार्थान्तरं पदमप्रसिद्धासभ्यं तद् गुप्तम् । यथा 'सम्बाधः' इति पदम् । तद्धि सङ्कटार्थं प्रसिद्धं, न गुह्यार्थमिति ॥ १६ ॥

८-लाक्षणिकासभ्यं लक्षितम् । २, १, १७ ।

तदेवासभ्यार्थान्तरं लाक्षणिकेनासभ्येनार्थेनान्वितं पदं लक्षितम् । यथा 'जन्मभूमिः' इति । तद्धि लक्षणया गुह्यार्थं न स्वशक्त्येति ॥ १७ ॥

९-लोकसंवीतं संवृतम् । २, १, १८ ।

लोकेन संवीतं लोकसंवीतम् । यत् तत् संवृतम् । यथा 'सुभगा', 'भगिनी', 'उपस्थानम्', 'अभिप्रेतम्', 'कुमारी', 'दोहदम्' इति । अत्र हि श्लोक :—

[जिसका] दूसरा [अर्थात्] असभ्य अर्थ [हो पर] प्रसिद्ध न हो वह अप्रसिद्धासभ्य पद 'गुप्त' [कहलाता] है । जैसे 'सम्बाधः' यह पद । ['वेशोऽपि गन्धः सम्बाधो गुह्यसङ्कटयोर्द्वयोः' इस कोश के अनुसार 'सम्बाध' पद गुह्येन्द्रिय उपस्थ तथा सङ्कट दोनों का वाचक है । परन्तु इनमें से] वह [सम्बाध पद] सङ्कट अर्थ में प्रसिद्ध है गुह्य [उपस्थेन्द्रिय] अर्थ में [प्रसिद्ध] नहीं । [इसलिए अश्लील अर्थ के गुप्त अर्थात् अप्रसिद्ध होने से इस पद का प्रयोग अश्लीलतायुक्त नहीं है ।] ॥ १६ ॥

[असभ्य अर्थान्तर वाला पद] असभ्य अर्थ के लाक्षणिक [लक्षणागम्य] होने पर लक्षित [असभ्य अर्थ] होता है [और वह अश्लील नहीं कहलाता है] ।

वही असभ्यार्थान्तर वाला पद, यदि लाक्षणिक असभ्यार्थ से युक्त हो तो लक्षित [लक्षितासभ्यार्थ] कहलाता है [और वह अश्लील नहीं होता है] । जैसे 'जन्मभूमिः' यह [पद] । वह लक्षणा से गुह्य [स्त्री की योनि या उपस्थ] का बोधक है अपनी [अभिधा] शक्ति से नहीं । [इसलिए वह अश्लील नहीं है] ॥ १७ ॥

लोक [व्यवहार] से [असभ्यार्थ] दबा हुआ [होने पर] संवृत [असभ्यार्थ कहलाता] है [और वह भी अश्लील नहीं होता है] ।

लोक [व्यवहार] से [संवीत] दबा हुआ 'लोक संवीत' जो पद होता है वह संवृत [पद] है [वह अश्लीलता दोष युक्त नहीं होता] । जैसे 'सुभगा', 'भगिनी', [इन दोनों पदों में 'भग' शब्द स्त्री के गुह्याङ्ग अर्थात् योनि का

संवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना ॥ १८ ॥

तत्त्रैविध्यं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलातङ्कदायिभेदात् । २,१,१६ ।

तस्याश्लीलस्य त्रैविध्यं भवति, व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलातङ्कदायिभेदात् । किंचिद् व्रीडादायि यथा 'वाक्काटवम्', 'हिरण्यरेताः' इति । किञ्चिज्जुगुप्सादायि यथा 'कपर्दकः' इति । किञ्चिदमङ्गलातङ्कदायि यथा 'संस्थितः' इति ॥ १६ ॥

वाचक है], 'उपस्थान' [समीपस्थ होना या स्तुति करना । इसमें 'उपस्थ' अंश से पुरुष के गुह्याङ्ग अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का बोध होता है], 'अभिप्रेतम्' [का अर्थ अभिप्राय होता है परन्तु उसके 'प्रेत' अंश से मुर्दा का बोध होता है], 'कुमारी',' दोहद' [दोहद पद इच्छा का बोधक है परन्तु उससे 'हद पुरीषोत्सर्गे' धातु की स्मृति होती है जो जुगुप्सा व्यञ्जक है । परन्तु इन सब स्थलों में यह अश्लीलता व्यञ्जक अर्थ लोक व्यवहार से दब गए हैं । भगिनी आदि शब्दों का बहिन आदि सुन्दर अर्थों में अत्यधिक प्रयोग होता है । जिसके कारण अन्य असभ्य अर्थ सामने नहीं आते हैं । उन शब्दों के प्रयोग में अश्लीलता नहीं है] इस विषय में [किसी प्राचीन आचार्य का] श्लोक [भी] है—

[असभ्यार्थ के] लोक व्यवहार से दबे हुए [असभ्यार्थ वाले भगिनी आदि पदों] के दोष का अनुसन्धान उचित नहीं है । [साक्षात्] शिवलिङ्ग की स्थापना में [भी] असभ्यार्थ की भावना किस को होती है [किसी को नहीं । क्योंकि लोक व्यवहार में शिवलिङ्ग सार्वजनिक पूजा का पात्र बन गया है ।] ॥ १८ ॥

उस [अश्लील अर्थ] के व्रीडा [लज्जा], जुगुप्सा [घृणा] और [अनिष्ट भय को देने वाला] अमङ्गलातङ्कदायी भेद से तीन प्रकार होते हैं ।

उस अश्लील के तीन भेद होते हैं । व्रीडादायी [लज्जाजनक], जुगुप्सादायी [घृणाकारक] और अमङ्गलातङ्कदायी [अनर्थभय के देने वाला] भेद होने से । कोई [पद] लज्जाजनक होता है, जैसे 'वाक्काटवम्' और 'हिरण्यरेताः' यह । ['वाक्काटवम्' का अर्थ होता है वचन की तीक्ष्णता । परन्तु इसका 'काटव' यह एक देश लिङ्ग की प्रतीति कराने वाला होने से व्रीडादायी, लज्जाजनक, होने से अश्लील है । इसी प्रकार 'हिरण्यरेताः' में रेतस् अंश वीर्य का बोधक होने से व्रीडादायी अश्लील है ।] कोई [पद] जुगुप्सादायी [घृणा-

व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम् । २, १, २० ।

अर्थस्य प्रतीतिरर्थप्रत्ययः । स व्यवहितो यस्माद् भवति तद् व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम् । यथा—

दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकानां
ज्योत्स्नाजुषां जललवास्तरलं पतन्ति ।

दक्षात्मजास्ताराः । तासां दयितो दक्षात्मजादयितश्चन्द्रः । तस्य वल्लभाश्चन्द्रकान्ताः । तद्वेदिकानामिति अत्र हि व्यवधानेनार्थप्रत्ययः ॥ २० ॥

जनक होने से अश्लील होता है] जैसे 'कपर्दक' यह [कौड़ी वाचक होने पर भी 'पर्द' शब्द 'पर्द कुत्सिते शब्दे' इस धातु पाठ के अनुसार और 'पर्दस्तु गुदजे शब्दे' इस कोष के अनुसार अपान वायु का बोधक होने से जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील है] कोई [पद] अमङ्गलातङ्कदायी [अनिष्ट अनर्थ का भय दिखाने वाला होने से अमङ्गल व्यञ्जक अश्लील] होता है । जैसे 'संस्थितः' यह पद । [भली प्रकार से स्थित, इस अर्थ में प्रयुक्त होता है । परन्तु उसका दूसरा अर्थ 'मृतः' भी होता है, इसलिए यह अमङ्गलातङ्कदायी अश्लील है ।] ॥ १९ ॥

जिस पद के अर्थ की प्रतीति व्यवधान से हो उसको 'क्लिष्ट' कहते हैं ।

अर्थ की प्रतीति को अर्थ प्रत्यय कहते हैं । वह [अर्थ प्रत्यय] जिस [पद] से व्यवहित [व्यवधान से] होती है [साक्षात् नहीं] वह व्यवहित अर्थ प्रतीति वाला [पद] क्लिष्ट कहलाता है । जैसे—

[दक्षात्मजा] दक्ष की पुत्री [तारा] के [दयित] प्रिय [चन्द्रमा] की वल्लभाओं [चन्द्रकान्त मणियों] की वेदिकाओं के चांदनी के साथ संयोग से चञ्चल जल कण गिर रहे हैं ।

[इस श्लोक में] दक्षात्मजा [का अर्थ] तारा है । उनका दयित [अर्थात् प्रिय हुआ] दक्षात्मजादयित अर्थात् चन्द्रमा । उसकी वल्लभा चन्द्रकान्त [मणि हुई] उस [चन्द्रकान्त मणि] की [बनी हुई] वेदिकाओं के । यहां [दक्षात्मजादयितवल्लभ पद से चन्द्रकान्त मणि रूप] अर्थ की प्रतीति व्यवधान से होती है [इसलिए इसे क्लिष्टत्व दोष का उदाहरण समझना चाहिए] ।

यह क्लिष्टत्व दोष का उदाहरण दिया है । इसके पूर्व 'नेयार्थ' का जो उदाहरण ग्रन्थकार ने दिया था वह भी कुछ इसी प्रकार का उदाहरण था । इसलिए 'नेयार्थत्व' और 'क्लिष्टत्व' का भेद दिखलाने की आवश्यकता है । वामन ने

अरूढार्थत्वात् । २, १, २१ ।

अरूढार्थत्वेऽपि यतोऽर्थप्रत्ययो झटिति, न तत् क्लिष्टम् । यथा—

काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।

इति ॥ २१ ॥

अन्त्याभ्यां वाक्यं व्याख्यातम् । २, १, २२ ।

अश्लीलं क्लिष्टञ्चेत्यन्त्ये पदे । ताभ्यां वाक्यं व्याख्यातम् । तदप्यश्लीलं क्लिष्टञ्च भवति । अश्लीलं यथा—

जिसको 'कल्पितार्थं नेयार्थम्' कहा है उसी को नवीन आचार्यों ने 'रूढ़िप्रयोजना-भावादशक्तिकृतलक्ष्यार्थप्रकाशनं नेयार्थम्' कहा है । अर्थात् जहां रूढ़ि अथवा प्रयोजन रूप लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के अभाव में लक्ष्यार्थ का प्रकाशन हो उसे 'नेयार्थ' कहते हैं । और व्यवहितार्थ प्रतीति को 'क्लिष्टत्व' कहते हैं । अर्थात् 'क्लिष्टत्व' में लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती है केवल अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होता है । जैसे 'दक्षात्मजादयित' का अर्थ तारापति चन्द्र, अथवा 'दक्षात्मजादयितवल्लभा' का चन्द्रकान्ता अर्थ लक्षणा से नहीं, अभिधा से ही हो सकता है । उसकी प्रतीति झटिति नहीं तनिक विलम्ब से होती है । इसलिए यहां 'क्लिष्टत्व' दोष माना है । परन्तु 'विहङ्गमनामभृत्' का 'रथ' यह अर्थ अभिधा से नहीं हो सकता है । इसी प्रकार 'उलूकजिता' में भी मेघनाद अर्थ अभिधा से सम्भव न होने से लक्षणा का ही आश्रय लेना होगा । इसलिए उसे 'नेयार्थ' का उदाहरण कहा है ।

[क्लिष्ट दोष के स्थल में व्यवहित अर्थ की प्रतीति] अरूढ़ अर्थ होने से [विलम्ब से होती है] ।

[अरूढ़ अर्थात् अप्रसिद्ध अर्थ होने के कारण जहाँ अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होता है वहाँ क्लिष्टत्व दोष होता है । परन्तु] अरूढ़ [अप्रसिद्ध] अर्थ होने पर भी जिस [शब्द] से अर्थ की प्रतीति झट से हो जाती है वह 'क्लिष्टत्व' नहीं कहलाता है । जैसे—

सुन्दरी के करधनी पहिनने का स्थान [अर्थात् कमर] यह । [यहाँ 'काञ्चीगुणस्थान' पद कटि देश के अर्थ में रूढ़ नहीं है, परन्तु उससे अर्थ की प्रतीति तुरन्त बिना विलम्ब के हो जाती है इस लिए यहाँ क्लिष्टत्व दोष नहीं माना जाता है ।] ॥२१॥

अन्तिम दोनों [अर्थात् अश्लीलत्व तथा क्लिष्टत्व रूप पद-दोषों] से

न सा धनोन्नतिर्या स्यात् कलत्ररतिदायिनी ।
परार्थबद्धकक्ष्याणां यत् सत्यं पेलवं धनम् ॥ १ ॥
सोपानपथमुत्सृज्य वायुवेगः समुद्यतः ।
महापथेन गतवान् कीर्त्यमानगुणो जनैः ॥ २ ॥

वाक्य [वाक्यगत अश्लीलत्व तथा क्लिष्टत्व] की व्याख्या हो गई । [अर्थात् इस अध्याय में यद्यपि वाक्य-दोषों का निरूपण नहीं किया गया है परन्तु क्लिष्टत्व और अश्लीलत्व यह दोनों दोष पदार्थदोष के अतिरिक्त वाक्यदोष भी होते हैं। उनके वाक्यगत उदाहरण आगे वृत्ति ग्रन्थ में देते हैं ।]

अश्लील और क्लिष्टत्व यह अन्तिम दो पद हैं । उनके द्वारा वाक्य [अर्थात् वाक्यगत अश्लीलत्व तथा क्लिष्टत्व] की व्याख्या हुई [समझना चाहिए ।] वह [वाक्य] भी अश्लील तथा क्लिष्टत्व हो सकता है ।

[वाक्यगत] अश्लील [का उदाहरण] जैसे—

उस को धन की उन्नति नहीं कहते हैं जो [किसी दूसरे के या परोपकार के काम में न आवे] केवल अपनी स्त्री [अपने बीबी-बच्चों] के ही सुख के लिए हो । दूसरों के [उपकार] के लिए कमर कसे हुए लोगों का धन ही वस्तुतः सुन्दर [और यथार्थ] धन है ।

यह इस श्लोक का अभिप्रेत अर्थ है । परन्तु उससे दूसरा व्रीडादायि अश्लील अर्थ भी निकलता है । 'साधन' का अर्थ लिङ्ग होता है । कलत्र अर्थात् स्त्री की रतिदायिनी, साधन अर्थात् लिङ्ग की उन्नति, जो केवल अपनी स्त्री के लिए आनन्ददायक लिङ्ग की उन्नति है वह वास्तविक 'साधनोन्नति' नहीं है अपितु परार्थ के लिए कमर कसे हुए अर्थात् अन्य स्त्रियों के साथ भी सम्भोग के लिए समर्थ पुरुषों की 'साधनोन्नति' ही यथार्थ 'साधनोन्नति' है । यह अर्थ व्रीडादायि अश्लील होता है । और वह एक पद में नहीं परन्तु समस्त वाक्य से निकलता है । अतः वाक्यगत दोष है ।

[जुगुप्सा व्यञ्जक वाक्यगत अश्लीलता का दूसरा उदाहरण देते हैं ।] लोगों के द्वारा जिसके [वेग भयङ्करता आदि] गुणों का कीर्तन किया जा रहा है ऐसा वायु का प्रचण्ड वेग [आंधी] सीढ़ियों के [सङ्कीर्ण] मार्ग को छोड़कर महापथ [अर्थात् राजमार्ग] से निकल गया । [इसमें वह तीव्र, वायु का वेग अपानवायु के मार्ग को छोड़ कर महापथ अर्थात् मुखमार्ग से बड़ी जोर से डकार रूप से निकल गया ऐसा दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है । अतः यह वाक्यगत जुगुप्सा

क्लिष्टं यथा—

धम्मिलस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः ।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥ २२ ॥

एतान् पदपदार्थदोषान् ज्ञात्वा कविस्त्यजेदिति तात्पर्यार्थः ॥२२॥

इति श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'दोषदर्शने' द्वितीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।
पदपदार्थदोषविभागः ।

व्यञ्जक अश्लीलता का उदाहरण होता है]।

इसी दूसरे उदाहरण में 'महापथेन गतवान्' का दूसरा अर्थ 'परलोक-मार्गेण गतवान्' अर्थात् मर गया, यह भी हो सकता है । उस दशा में यह वाक्यगत अमङ्गलातङ्कदायी अश्लीलता का उदाहरण हो जायगा ।

इस प्रकार इन दोनों श्लोकों में अश्लीलता दोष के व्रीडादायी, जुगुप्सा-दायी और अमङ्गलातङ्कदायी तीनों प्रकार के भेदों के वाक्यगत उदाहरण दिखा दिए हैं । अब आगे एक श्लोक वाक्यगत 'क्लिष्टत्व' दोष का दिखलाते हैं ।

क्लिष्टत्व [का उदाहरण] जैसे—

मृग शावक के नेत्रों के समान नेत्र वाली [उस सुन्दरी] के केशपाश [धम्मिल जूड़ा, केशपाश] के बांधने की अपूर्व चतुरता की शोभा को देखकर किस का मन अत्यन्त प्रसन्न नहीं होता ।

इस श्लोक का अर्थ दूरान्वय के कारण समझना कठिन हो जाता है । 'कुरङ्गशावाक्ष्याः धम्मिलस्य अपूर्वबन्धव्युत्पत्तेः शोभां निरीक्ष्य कस्य मानसं निकामं न रज्यति' इस प्रकार इसका अन्वय होता है । परन्तु इन सब पदों के अत्यन्त व्यवहित होने से वाक्य के अर्थ की प्रतीति बड़ी कठिनता से होती है ।

श्री पण्डितवरवामनविरचित 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में
द्वितीय 'दोषदर्शन' अधिकरण में प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।
पद और पदार्थ के दोषों का विभाग समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यालङ्कारदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
द्वितीये 'दोषदर्शनाधिकरणे' प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

दोषदर्शननाम्नि द्वितीयाधिकरणे
द्वितीयोऽध्यायः

[वाक्य-वाक्यार्थ-दोष-विभागः]

पदपदार्थदोषान् प्रतिपाद्य वाक्यदोषान् दर्शयितुमाह—

भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि । २, २, १ ।

दुष्टानीत्यभिसम्बन्धः ॥ १ ॥

क्रमेण व्याचष्टे—

स्वलक्षणच्युतवृत्तं भिन्नवृत्तम् । २, २, २, ।

स्वस्माल्लक्षणाच्च्युतं वृत्तं यस्मिंस्तत् स्वलक्षणाच्च्युतं वृत्तं वाक्यं भिन्नवृत्तम् । यथा—

अयि पश्यसि सौधमाश्रिता—
मविरलसुमनोमालभारिणीम् ।

'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण का द्वितीय अध्याय

[वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का विभाग]

[द्वितीय अधिकरण के पिछले प्रथम अध्याय में] पद-दोषों तथा पदार्थ-दोषों का प्रतिपादन करके [अब इस द्वितीय अध्याय में] वाक्य-दोषों को दिखाने के लिए कहते हैं—

भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसन्धि [तीन प्रकार के] वाक्य [दोष] हैं। [पिछले अध्याय के चतुर्थ सूत्र से 'दुष्टं' पद के एक वचन का 'दुष्टानि' बहुवचन में वचन-विपरिणाम करके भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसन्धि तीन प्रकार के वाक्य] दुष्ट होते हैं यह सम्बन्ध [पिछले प्रकरण से] है ॥ १ ॥

[इन तीनों प्रकार के वाक्य-दोषों की] क्रम से व्याख्या करते हैं।

अपने लक्षण से हीन वृत्त [छन्द] को भिन्नवृत्त [दोष ग्रस्त] कहते हैं। जिस [श्लोक वाक्य] में वृत्त [छन्द] अपने लक्षण से च्युत हो वह स्वलक्षणच्युत वृत्त वाला [श्लोक] वाक्य भिन्नवृत्त होता है। जैसे—

अरे [मित्र] सघन [अविरल] पुष्पों की माला के भार को धारण

वैतालीययुग्मपादे लघ्वक्षराणां षण्णां नैरन्तर्यं निषिद्धम्, तच्च कृतमिति भिन्नवृत्तम् ॥ २ ॥

विरसविरामं यतिभ्रष्टम् । २, २, ३ ।

विरसः श्रुतिकटुर्विरामो यस्मिंस्तद् विरसविरामं यतिभ्रष्टम् ॥ ३ ॥

तद्धातुनामभागभेदे स्वरसन्ध्यकृते प्रायेण । २, २, ४ ।

तद् यतिभ्रष्टं धातुभागभेदे नामभागभेदे च सति भवति । स्वरसन्धिनाऽकृते प्रायेण ।

करने वाली, महल [सौध-प्रासाद] के ऊपर खड़ी हुई [नायिका] को देख रहे हो।

यह श्लोक 'वैतालीय' वृत्त में लिखा गया है। 'वैतालीय' वृत का लक्षण 'वृतरत्नाकर' ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है—

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समात्र पराश्रिताः कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥

वैतालीय [वृत्त] के सम [अर्थात् द्वितीय तथा चतुर्थ] चरणों में निरन्तर छः लघु अक्षरों [एकसी छः मात्राओं] का निषेध किया हुआ है। [परन्तु उक्त उदाहरण में 'अविरलसुम' यह छहों लघु मात्राएं निरन्तर प्रयुक्त करके, जो निषिद्ध है] वह ही किया गया है इसलिए [यहां 'वैतालीय' वृत्त अपने लक्षण से च्युत हो जाने से] 'भिन्नवृत्त' [दोष से युक्त] है। [अतएव इस को भिन्नवृत्त के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है] ॥ २ ॥

'भिन्नवृत्त' के बाद 'यतिभ्रष्ट' नामक दूसरे वाक्यदोष का निरूपण करते हैं—

विरस [अरुचिकर स्थल में] विराम वाला [श्लोक वाक्य] यतिभ्रष्ट [कहलाता] है।

विरस अर्थात् श्रुतिकटु [सुनने में बुरा लगने वाला] विराम जिस [श्लोक वाक्य] में हो वह विरस विराम [यह बहुव्रीहि समास है] वाला [श्लोक वाक्य] यतिभ्रष्ट [दोष से युक्त कहलाता] है ॥ ३ ॥

वह [यतिभ्रष्ट दोष] प्रायः स्वरसन्धि के [नियम के] बिना [स्वर सन्धि के नियम के विपरीत] किए हुए धातु अथवा [नाम] प्रातिपादिक भाग में टुकड़े कर देने पर होता है।

वह यतिभ्रष्ट [दोष] प्रायः स्वरसन्धि के बिना, [स्वर सन्धि के

(i) धातुभागभेदे मन्दाक्रान्तायां यथा—

एतासां राजति सुमनसां, दाम कण्ठावलम्बि।

(ii) नामभागभेदे शिखरिण्याम् यथा—

कुरङ्गाक्षीणां गण्डतलफलके स्वेदविसरः।

नियम के बिना] धातु-भाग अथवा प्रातिपदिक-भाग [नाम] का भेद [टुकड़े] कर देने पर होता है।

धातु-भाग के विभाग कर देने पर [यतिभ्रष्ट का उदाहरण] मन्दाक्रान्ता [छन्द] में जैसे—

इनके गले में पड़ी हुई फूलों की माला शोभित होती है।

यह मूल श्लोक 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में लिखा गया है। मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

मन्दाक्रान्ता, जलधिषडगै, म्भौं नतौ ताद् गुरू चेत्।

अर्थात् मन्दाक्रान्ता छन्द में प्रत्येक पाद १७ अक्षर का होता है। वह १७ अक्षर भगण, मगण, नगण, तगण-तगण और दो गुरु इस प्रकार पूरे होते हैं। इनमें चार, छः और सात अक्षरों के बाद 'यति' होनी चाहिए। अर्थात् पहली यति चौथे अक्षर के बाद, उसके छः अक्षरों के बाद अर्थात् दसवें अक्षर के अन्त में दूसरी और उसके सात अक्षर बाद अर्थात् सत्रहवें अक्षर के बाद अन्तिम 'यति' होनी चाहिए। इस लक्षण के अनुसार पहिली 'यति' चार अक्षर के बाद अर्थात् एतासां रा, यहां पर होनी चाहिए। यह 'रा' 'राजति' पद के मूलभूत 'राज' धातु का एक अंश है। इसके बाद 'यति' कर देने से राज धातु के टुकड़े हो जाते हैं। इसलिए धातुभाग के भेद होने से यहां 'यतिभ्रष्ट' दोष माना गया है।

[नाम] प्रातिपदिक भाग के भेद [भङ्ग] होने पर शिखरिणी [छन्द] में [यतिभ्रष्ट का उदाहरण] जैसे—

मृगनयनियों के [कपोलफलक] गाल के ऊपर पसीना बह रहा है।

यह शिखरिणी छन्द का एक पाद है। 'शिखरिणी' छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना, यमनसभला गः शिखरिणी।

अर्थात् यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु तथा गुरु इस प्रकार

मन्दाक्रान्तायां यथा—

दुर्दर्शश्चक्रशिखिकपिशः, शार्ङ्गिणो बाहुदण्डः ।

धातु-नाम-भागभेदग्रहणात् तद्भागातिरिक्तभेदे न भवति यतिभ्रष्टत्वम् ।

यथा मन्दाक्रान्तायाम्—

शोभां पुष्यत्ययमभिनवः, सुन्दरीणां प्रबोधः ।

से १७ अक्षरों के पाद वाला छन्द 'शिखरिणी' होता है । इसमें रस अर्थात् छः और रुद्र ग्यारह अक्षरों के बाद 'यति' होती है। पहली 'यति' छठे वर्ण के बाद और दूसरी 'यति' १७ वर्ण के बाद अर्थात् पादान्त में होती है। इस लक्षण के अनुसार कुरङ्गाक्षीणां गं', यहां पर छः अक्षरों के बाद पहिली 'यति' पड़ती है। परन्तु यह 'गं' गण्ड अथवा 'गण्डतलफलके' इस समस्त प्रातिपदिक का एक देश है। इसके बाद 'यति' करने से प्रातिपादिक दो टुकड़ों में बंट जाता है। अतएव नाम-भागभेद के कारण यहां यतिभ्रष्टत्व दोष आता है।

'मन्दाक्रान्ता' [छन्द] में [नामभागभेद से यतिभ्रष्ट का उदाहरण] जैसे—

चक्र [सुदर्शनचक्र] की अग्नि से [अथवा के समान] दीप्यमान [अथवा पीताम्बर परिवेष्टित अतएव पीत] विष्णु का भुजदण्ड है।

मन्दाक्रान्ता के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार प्रथम चार अक्षरों के बाद अर्थात् 'दुर्दर्शश्च', यहां पर यति होनी चाहिए। परन्तु यह 'च' 'चक्र' पद का एक देश है। उसके बाद यति कर देने से 'चक्र' इस प्रातिपदिक अथवा नाम-भाग में भेद हो जाता है। इसलिए यह 'यतिभ्रष्ट' दोष ग्रस्त है।

सूत्र में धातु [भाग] और नाम भाग पदों का ग्रहण करने से [यह अर्थ निकलता है कि] उन भागों से भिन्न [प्रकृति प्रत्यय आदि] में भेद [या खण्ड] हो जाने पर 'यतिभ्रष्टत्व' दोष नहीं होता है।

जैसे 'मन्दाक्रान्ता' में [प्रकृति-प्रत्यय के बीच में यति होने पर भी 'यतिभ्रष्टत्व' दोष के न होने का निम्न उदाहरण]—

यह [रतिश्रमालस] सुन्दरियों का नवीन [प्रातःकालीन] जागरण [उनकी] शोभा को बढ़ा रहा है।

इस मूल मन्दाक्रान्ता के चरण में चतुर्थाक्षर 'शोभां पुष्य' के बाद यति पड़ती है। यह 'पुष्य' का अन्तिम अक्षर 'पुष्यति' इस पद का अंश है। परन्तु

शिखरिण्यां यथा—

विनिद्रः श्यामान्तेष्वधरपुटसीत्कारविरुतैः ।

स्वरसन्ध्यकृत इति वचनात् स्वरसन्धिकृते भेदे न दोषः । यथा—

किञ्चिद्भावालसमसरलं प्रेक्षितं सुन्दरीणाम् ॥ ४ ॥

इस यति से धातु भाग के खण्ड नहीं होते हैं अपितु प्रकृति और तिप् प्रत्यय के बीच में यति पड़ती है इसलिए वह दोषाधायक नहीं है।

[इसी प्रकार प्रातिपदिक और प्रत्यय के बीच हुई यति का] शिखरिणी [वृत्त] में [निम्न उदाहरण है] जैसे—

रात्रि [श्यामा रात्रि] के अन्त में [प्रातःकाल] अधरपुट के सीत्कार के शब्द से जगा हुआ ।

'शिखरिणी' छन्द के इस चरण में, छठे अक्षर के बाद 'विनिद्रः श्यामान्ते' यहां पर 'यति' पड़ती है। परन्तु 'श्यामान्ते' यहां पद पूर्ण नहीं होता है। 'श्यामान्तेषु' यहां पर पद पूर्ण होता है। इसलिए यह 'यति' पद के बीच में पड़ती है परन्तु उससे प्रातिपदिक के खण्ड नहीं होते अपितु प्रातिपदिक और सुप् प्रत्यय के बीच में 'यति' पड़ती है। इस प्रकार की 'यति' वैरस्यतापादक नहीं होती है। इसलिए यहां 'यतिभ्रष्टत्व' दोष नहीं होता है।

[सूत्र में] 'स्वरसन्ध्यकृते' स्वर-सन्धि के बिना [मूल रूप से] किये हुए कहने से स्वर-सन्धि से किए हुए [अर्थात् स्वर-सन्धि से बने हुए धातुभाग-प्रातिपदिक अथवा नामभाग के] भेद होने पर दोष नहीं होता है [यह अभिप्राय निकलता है। इस प्रकार का उदाहरण देते हैं] जैसे—

कुछ भाव भरी [अतः] अलसाई सी सुन्दरियों की तिरछी चितवन।

यह भी 'मन्दाक्रान्ता' छन्द का एक चरण है। नियमानुसार इसमें चतुर्थ अक्षर के बाद अर्थात् 'किञ्चिद्भावा' के बाद 'यति' पड़ती है। किन्तु यहां पूरा पद 'किञ्चिद्भावालस' है। उसके बीच में 'यति' पड़ रही है। परन्तु वहां भाव और अलस दो पदों के बीच 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस सूत्र से दीर्घ होकर 'किञ्चिद्भावालस' बनता है। इस सन्धिकृत पद में से 'यति' के अवसर पर 'किञ्चिद्-भावा' अंश एक ओर, और 'लस' दूसरी ओर निकल जाता है। परन्तु फिर भी इस प्रकार की यति वैरस्याधायक नहीं होती है। इसलिए स्वरसन्धिकृत अर्थात् स्वर सन्धि से बने हुए नाम अर्थात् प्रातिपदिक अथवा धातु के खण्ड होने पर भी ऐसे स्थलों में 'यतिभ्रष्टत्व' दोष नहीं होता है। यह सूत्रकार का अभिप्राय है॥ ४॥

न वृत्तदोषात् पृथग्यतिदोषो वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् ।२,२,५।

वृत्तदोषात् पृथग् यतिदोषो न वक्तव्यः । वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् ॥ ५ ॥

यत्यात्मकं हि वृत्तमिति भिन्नवृत्त एव यतिभ्रष्टस्यान्तर्भावान्न पृथग् ग्रहणं कार्यम् । अत आह—

न, लक्ष्मणः पृथक्त्वात् । २, २, ६ ।

नायं दोषः, लक्ष्मणो लक्षणस्य पृथक्त्वात् । अन्यद्धि लक्षणं वृत्तस्यान्यद् यतेः । गुरुलघुनियमात्मकं वृत्तं, विरामात्मिका च यतिरिति ॥ ६ ॥

यहां तक वाक्यदोषों में 'भिन्नवृत्त' और 'यतिभ्रष्ट' दो दोष दिखाए हैं। यहां यह शङ्का उपस्थित होती है कि यह दोनों प्रकार के दोष वृत्त अर्थात् छन्द में ही पाए जाने वाले दोष हैं। दोनों ही वृत्त अर्थात् छन्द के वैरस्यापादक होते हैं। इसलिए 'भिन्नवृत्त' से 'यतिभ्रष्ट' दोष को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है। इस प्रश्न को उठाकर उसका समाधान करने के लिए ग्रन्थकार अगले प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं।

वृत्त के [भी] यतिविशिष्ट [यत्यात्मक] होने से वृत्तदोष से पृथग् यतिदोष ['यतिभ्रष्ट' दोष का मानना उचित] नहीं है।

वृत्त दोष से पृथक् यति दोष कहना उचित नहीं है। वृत्त के यतिविशिष्ट [या यति स्वरूप] होने से ॥ ५ ॥

वृत्त यत्यात्मक [यतिविशिष्ट ही] होता है इसलिए भिन्न वृत्त में ही यतिभ्रष्ट [दोष] का [भी] अन्तर्भाव हो जाने से [यतिभ्रष्ट दोष का] पृथग् ग्रहण नहीं करना चाहिए। [यह शङ्का हो सकती है] इसलिए [उसके समाधानार्थ] कहते हैं—

['भिन्नवृत्त' और 'यतिभ्रष्ट' दोनों के] लक्षणों के भिन्न होने से यह [दोनों दोषों को अभिन्न कहना] ठीक नहीं है।

यह [आपका दिखाया हुआ] दोष [ठीक] नहीं है। [भिन्नवृत्तत्व तथा यतिभ्रष्टत्व दोनों के] लक्ष्म अर्थात् लक्षण के पृथक् होने से। वृत्त का लक्षण और है और यति का लक्षण अन्य है। [वाक्य में] गुरु लघु [रूप से वर्ण विन्यास] का नियामक वृत्त होता है और विराम रूप [विराम की नियामिका] यति होती है।

विरूपपदसन्धिर्विसन्धिः । २, २, ७ ।

पदानां सन्धिः पदसन्धिः स च स्वरसमवायरूपः प्रत्यासत्तिमात्र-रूपो वा । स विरूपो यस्मिन्निति विग्रहः ॥ ७ ॥

पदसन्धिवैरूप्यं विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वञ्च । २, २, ८ ।

विश्लेषो विभागेन पदानां संस्थितिरिति । अश्लीलत्वमसभ्यस्मृति-हेतुत्वम् । कष्टत्वं पारुष्यमिति । विश्लेषो यथा—

इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न होने से दोनों को अभिन्न मानना उचित नहीं है। इसी कारण अस्थान में विराम रूप यतिभ्रष्टत्व रहने पर भी गुरु-लघु नियम के यथावत् विद्यमान रहने पर भिन्नवृत्तत्व दोष नहीं होता। इसी प्रकार गुरु-लघु नियम का भङ्ग हो जाने से भिन्नवृत्तत्व दोष के होने पर भी विराम मे वैरस्य न होने से यतिभ्रष्टत्व दोष नहीं होता। अतः अन्वय-व्यतिरेक के भेद से भी भिन्नवृत्तत्व और यतिभ्रष्टत्व दोष एक नहीं हो सकते हैं। उनको अलग-अलग मानना ही उचित है ॥ ६ ॥

जहां पदों की विरूप [अनुचित] सन्धि हो उसको 'विसन्धि' दोष कहते हैं।

पदों की सन्धि [यह] पदसन्धि [समास का विग्रह] है। और वह [सन्धि] स्वरों का मिश्रण [समवाय] रूप अथवा [स्वरों की] प्रत्यासत्ति [समीपस्थिति मात्र दो प्रकार का] होता है। वह [स्वरसमवाय रूप अथवा स्वर प्रत्यासत्ति रूप सन्धि] जहां [जिस शब्द या वाक्य में] विरूप [अनुचित, वैरस्यापादक] हो [वह विसन्धि कहलाता है] यह विग्रह हुआ ॥ ७ ॥

[पूर्व सूत्र में कहा हुआ] पद-सन्धि का वैरूप्य १. विश्लेष रूप, २. अश्लीलत्व रूप, और ३. कष्टत्व रूप [तीन प्रकार का] होता है।

[सन्धि होने योग्य स्थलों पर सन्धि न करके] अलग-अलग [विभागेन] पदों की स्थिति [रखना] विश्लेष [या सन्धि विश्लेष दोष कहलाता] है। [पदों की सन्धि कर देने से जहां] असभ्यार्थ की स्मृति का हेतुत्व [उस सन्धि में हो जाय वहां सन्धि का] अश्लीलत्व [दोष होता] है। और कष्टत्व [का अर्थ सन्धि से उत्पन्न पारुष्य] कठोरता है। [उनमें से] विश्लेष [का उदाहरण] जैसे—

१—मेघाऽनिलेन अमुना एतस्मिन्नद्रिकानने ।
२—कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति विलासपद्धतिः ।
३—लोलालकानुविद्धानि आननानि चकासति ।

इस पहाड़ी वन [प्रान्त] में इस मेघ की [वृष्टि सहित तीव्र] वायु ने ।

इस उदाहरण में अनिलेन + अमुना में दीर्घ तथा अमुना + एतस्मिन् में वृद्धि नहीं की गई है इसलिए सन्धि विश्लेष रूप 'विसन्धि' दोष है ।

कमलों के समान सौन्दर्य इन नेत्रों को सुशोभित करता है ।

दूसरे उदाहरण में १. कमले इव, २. लोचने इमे, ३. इमे अनुबध्नाति इन तीनों स्थानों पर प्राप्त होने वाली सन्धि [1]'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' इस पाणिनि सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा हो जाने से और [2]'प्लुप्तप्रगृह्या अचि नित्यम् ।' इस सूत्र से प्रकृतिवद्भाव हो जाने से नहीं हो पाती है । इस प्रकार यह सन्धिविश्लेष शास्त्रादेश के अनुसार किया गया है । फिर भी अनेक बार इकट्ठा ही इस प्रकार का विश्लेप पाया जाता है । इसलिए वह श्रोता को वैरस्यापादक प्रतीत होता है । और कवि की अक्षमता का सूचक होने से दोप ही होता है । यह सन्धि विश्लेप का 'प्रगृह्य संज्ञा' निमित्तक एक प्रकार का भेद है । इस सन्धिविश्लेष का दूसरा भेद 'सन्ध्यविवक्षा' निबन्धन होता है अर्थात् जहां कवि, सन्धि की विवक्षा नहीं है ऐसा मान कर सन्धि नहीं करता है । इस प्रकार का दूसरा उदाहरण देते हैं—

चञ्चल केशपाश से घिरे हुए मुख शोभायमान हो रहे हैं ।

यहां 'लोलालकानुविद्धानि' के बाद 'आननानि' पद होने के कारण [3]'इको यणचि' सूत्र से यणादेश प्राप्त है । उसके अनुसार 'अनुविद्धान्याननानि' ऐसा प्रयोग होना चाहिए । परन्तु यदि ऐसा प्रयोग किया जाता है तो यह छन्द ठीक नहीं बनता है । इसलिए कवि ने यहां जान-बूझ कर सन्धि नहीं की है । यद्यपि सर्वत्र सन्धि करना नितान्त आवश्यक नहीं है अपितु सन्धि के विवक्षा के आधीन होने से, कवि, विवक्षित न होने पर सन्धि न करने के लिए स्वतंत्र है । परन्तु ऐसे पदों का प्रयोग कवि की अशक्ति का सूचक अवश्य होता है । जहाँ सन्धि होनी चाहिए वहां सन्धि न करने के लिए बाधित होकर

---

[1] अष्टाध्यायी १, १, ११ । [2] अष्टाध्यायी ६, १, १२५ ।

[3] अष्टाध्यायी ६, १, ७७ ।

अश्लीलत्वं यथा —

१. विरेचकमिदं नृत्तमाचार्याभासयोजितम् ।

सन्धिविश्लेष का आश्रय लेना एक प्रकार का आपद्धर्म ही हो सकता है। उसका अवलम्बन तभी करना उचित है जब कोई अन्य मार्ग न हो। इसलिए जब कवि इस प्रकार का प्रयोग करता है तो यह निश्चित है कि उसके पास दूसरा और कोई मार्ग नहीं रह गया है। यही उसकी अशक्ति का परिचायक है। इसलिए विवक्षाधीन सन्धिविश्लेष यदि एक भी बार प्रयोग किया जाय तो भी वह दोषाधायक होता है। और प्रगृह्यसंज्ञा-निमित्तक सन्धि विश्लेष एक बार करने से दोष नहीं होता परन्तु इकट्ठा अनेक बार करने पर वह भी दोष हो जाता है। इसी लिए आगे इसी ग्रन्थ के 'काव्यसमयाध्याय' में [1]'नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम्' यह सूत्र कहेंगे। इसके अनुसार काव्य में एक चरण के अन्तर्गत पदों में सन्धि नित्य करना चाहिए। व्याकरण के अनुसार सन्धि को विवक्षाधीन भले ही माना जाय परन्तु कवियों की परम्परा या 'समय' यह ही है कि जैसे एक पद के अन्तर्गत सन्धि अनिवार्य है इसी प्रकार श्लोक के एक चरण के अन्तर्गत भी नित्य सन्धि होती है इसलिए यदि विवक्षाधीन मानकर एक बार भी सन्धिविश्लेष होता है तो वह काव्य दोष ही माना जायगा।

सन्धिविश्लेष दोष का निरूपण करने के बाद सन्धि अश्लीलता दोष का निरूपण करते हैं। जैसाकि पहिले कहा जा चुका है १. जुगुप्सा व्यञ्जक, २. व्रीड़ा व्यञ्जक और ३. अमङ्गलातङ्कदायि तीन प्रकार की अश्लीलता होती है। उन तीनों को दिखाने के लिए तीन उदाहरण देते हैं।

१ [सन्धिविश्लेष में जुगुप्सादायि] अश्लीलत्व [का उदाहरण] जैसे—

अयोग्य आचार्य [आचार्याभास] द्वारा योजित [होने से] यह 'नृत्त' रेचक [नामक 'नृत्त' के भेद] से रहित [अतः विरेचक] है।

इस उदाहरण में 'विरेचक' पद का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ 'रेचक' रहित होता है। 'रेचक' शब्द नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। नृत्यकाल में हाथ, पैर, कमर, गर्दन, आदि की विशेष प्रकार की जो चेष्टाएं होती हैं उनको 'रेचक' कहते हैं। सङ्गीतरत्नाकर में कहा है—

'रेचकानथ वक्ष्यामश्चतुरो भरतोदितान्।
पदयोः करयोः कट्या ग्रीवायाश्च भवन्ति ते॥

---

[1] **काव्यालङ्कार सूत्रवृत्तिः ५, १, २।**

२. चकासे पनसप्रायैः पुरी षण्डमहाद्रुमैः ।
३. विना शपथदानाभ्यां पदवादसमुत्सुकम् ।

नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार 'नृत्तं तालत्याश्रयम्' प्रत्येक सुन्दर 'नृत्त' में इन 'रेचकों' का होना आवश्यक है । नाट्यशास्त्र का जानने वाला कोई आचार्य 'रेचकों' से हीन 'विरेचक' 'नृत्त' नहीं करवा सकता है। किन्तु यह 'नृत्त' 'विरेचक' अर्थात् उक्त 'रेचकों' से हीन है इसलिए जान पड़ता है कि किसी 'आचार्याभास' अर्थात् अयोग्य किन्तु आचार्यम्मन्य व्यक्ति ने इसकी योजना की है। 'विरेचकमिदं नृत्तमाचार्याभासयोजितम्' इस पद का यही अभिप्राय है। परन्तु इसमें 'विरेचक' पद दस्तावर का और 'याभ' पद मैथुन का स्मारक भी है, इसलिए यह दोनों क्रमशः 'जुगुप्सादायी' तथा 'व्रीडादायी' अश्लीलता के उदाहरण हो जाते हैं। 'विरेचक' पद में अश्लीलता की स्थिति सन्धिदोष के कारण नहीं है। 'आचार्याभास' में 'याभ' अंश जो मैथुन का स्मारक होने से 'व्रीडादायी' होता है उसमें अश्लीलता का प्रयोजक सन्धि ही है । इस लिए यह 'व्रीडादायी' अश्लीलता रूप सन्धि-दोष का उदाहरण है । 'जुगुप्सादायी' सन्धिदोष का उदाहरण दूसरा देते हैं—

जिनमें कटहल बहुतायत से हैं ऐसे बड़े-बड़े वृक्षों के झुण्डों से [घिरी हुई यह] नगरी शोभित हो रही थी।

इस उदाहरण में 'पुरी षण्डमहाद्रुमैः' यह अंश 'जुगुप्सा' व्यञ्जक अश्लीलता दोष से युक्त है । यहां यद्यपि स्वरसमुदाय रूप कोई सन्धि नहीं हुई है। परन्तु पुरी + षण्ड के समीपस्थ होने से 'प्रत्यासत्ति' रूप सन्धि मात्र से 'पुरीष' शब्द बन गया है जो 'विष्ठा' का स्मारक होने से यह 'जुगुप्सा-व्यञ्जक' अश्लीलता का उदाहरण है। तीसरा निम्न उदाहरण अश्लीलता के तीसरे भेद 'अमङ्गलातङ्कदायी' अश्लील का दिया गया है—

बिना किसी [लोकोपकार आदि कार्य के] प्रतिज्ञा [शपथ] या [किसी प्रकार के] दान [आदि कार्य] के [किए हुए भी] पदवाद [पद प्राप्ति की योग्यता सूचन] के लिए उत्सुक को।

इसमें 'विना' और 'शपथ' शब्दों की प्रत्यासत्ति रूप सन्धि से 'विना-शपथ' शब्द बन गया है और उससे 'विनाशपथ' अर्थात् मृत्यु मार्ग की स्मृति होती है, अतः वह 'अमङ्गलातङ्कदायी' अश्लीलता का उदाहरण है और उसका कारण विना + शपथ शब्दों की प्रत्यासत्ति रूप सन्धि है। यहां मुख्यतः सन्धिदोष

कष्टत्वं यथा—

मञ्जर्युद्गमगर्भास्ते गुर्वाभोगा द्रुमा बभुः ॥ ८ ॥

एवं वाक्यदोषानभिधाय वाक्यार्थदोषान् प्रतिपादयितुमाह—

व्यर्थैकार्थसन्दिग्धाप्रयुक्तापक्रमलोकविद्या-
विरुद्धानि च । २, २, ९ ।

वाक्यानि दुष्टानीति सम्बन्धः ॥ ९ ॥

क्रमेण व्याख्यातुमाह—

व्याहतपूर्वोत्तरार्थं व्यर्थम् । २, २, १० ।

के प्रसङ्ग में अश्लीलता का निरूपण हुआ है इसलिए ऐसे उदाहरण अधिक उपयुक्त रहते जिनमें वास्तव में सन्धि होने पर अश्लीलता आई होती। यह जो उदाहरण दिए गए हैं उनमें प्रत्यासत्ति मात्र के कारण अश्लीलता है। इसलिए वह उतने उपयुक्त नहीं बने हैं।

[सन्धि होने पर] कष्टत्व [दुःश्रवत्व का उदाहरण] जैसे—

मञ्जरी के उद्‌गम से युक्त वे बड़े-बड़े वृक्ष शोभित हुए।

इस उदाहरण में मञ्जरी + उद्‌गम तथा गुरु + आभोग पदों में यणादेश हो कर बने हुए 'मञ्जर्युद्‌गम' और गुर्वाभोग' पदों में सन्धि के कारण ऊपर चढ़े हुए रेफ के संयोग से 'कष्टता' या 'दुःश्रवता' आ गई है। अतएव यह 'सन्धिकष्टता' के उदाहरण हैं ॥ ८ ॥

इस प्रकार वाक्यदोषों का कथन करके अब वाक्यार्थ दोषों का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

१ व्यर्थ, २ एकार्थ, ३ सन्दिग्ध, ४ अप्रयुक्त, ५ अपक्रम, ६ लोकविरुद्ध और ७ विद्याविरुद्ध [सात प्रकार के] वाक्यार्थ दोष हैं।

[पूर्वोक्त सात प्रकार के] वाक्य दुष्ट [अर्थ वाले] हैं यह [पिछले सूत्र के साथ] सम्बन्ध है। [इस प्रकार इस सूत्र में सात प्रकार के वाक्यार्थ दोषों का 'उद्देश' अर्थात् 'नाममात्रेण कथन' किया गया है। आगे उनके लक्षण करेंगे] ॥ ९ ॥

क्रम से [उन वाक्यार्थ दोषों की] व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

आगे पीछे के [पूर्व और उत्तर] अर्थ का जिसमें [विरोध, व्याघात] हो वह 'व्यर्थ' [दोष] कहलाता है।

व्याहतौ पूर्वोत्तरावर्थौ यस्मिंस्तद् व्याहतपूर्वोत्तरार्थं वाक्यं व्यर्थम्। यथा—

अद्यापि स्मरति रसालसं मनो मे
मुग्धायाः स्मरचतुराणि चेष्टितानि ॥

मुग्धायाः कथं स्मरचतुराणि चेष्टितानि। तानि चेत् कथं मुग्धा। अत्र पूर्वोत्तरयोरर्थयोर्विरोधाद् व्यर्थमिति ॥ १० ॥

उक्तार्थपदमेकार्थम्। २, २, ११।

उक्तार्थानि पदानि यस्मिंस्तदुक्तार्थपदमेकार्थम्। यथा—

चिन्तामोहमनङ्गमङ्ग तनुते विप्रेक्षितं सुभ्रुवः।

अनङ्गः शृङ्गारः। तस्य चिन्तामोहात्मकत्वाच्चिन्तामोहशब्दौ प्रयुक्तावुक्तार्थौ भवतः। एकार्थपदत्वाद् वाक्यमेकार्थमित्युक्तम् ॥ ११ ॥

जिस [वाक्य] में [पूर्व और उत्तर] आगे-पीछे के अर्थ परस्पर विरुद्ध [व्याहत] हों वह परस्पर विरुद्धार्थ वाला वाक्य 'व्यर्थ' [कहलाता] है। जैसे—

[सम्भोगकालीन] आनन्द से परिपूर्ण मेरा मन अब भी 'मुग्धा' पत्नी की रति-क्रीड़ा की चतुरतापूर्ण चेष्टाओं को याद कर रहा है।

[इसमे वधू को 'मुग्धा' और उसकी चेष्टाओं को 'स्मरचतुराणि चेष्टितानि' कहा है। यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि यदि वह 'मुग्धा' है तो [मुग्धा तु 'रतौ वामा'] 'मुग्धा' की चेष्टाएं 'रतिचतुर' कैसे [हो सकती हैं] और यदि [उसकी चेष्टाएं] उस प्रकार की [रति चतुर] हैं तो वह 'मुग्धा' कैसे [हो सकती है इस प्रकार] यहां आगे-पीछे की बातों [पूर्व और उत्तर अर्थों] में विरोध होने से 'व्यर्थत्व' दोष है ॥ १० ॥

पुनरुक्त [उक्त अर्थ वाला] पद 'एकार्थ' [दोष कहलाता] है।

जिस [वाक्य] में [उक्तार्थ] पुनरुक्त पद हों वह उक्तार्थ [पुनरुक्त] पद वाला [वाक्य] 'एकार्थ' [वाक्यदोष कहलाता] है। जैसे—

उस सुन्दरी का कटाक्ष चिन्ता, मोह और काम को उत्पन्न करता है।

[यहां] अनङ्ग [का अर्थ] शृङ्गार है। उसके [स्वयं ही] चिन्ता और मोहात्मक होने से [अर्थात् चिन्ता तथा मोह के उसी काम के अन्तर्गत हो

न विशेषश्चेत् । २, २, १२ ।

न गतार्थं दुष्टं, विशेषश्चेत् प्रतिपाद्यः स्यात् ॥ १२ ॥

तं विशेषं प्रतिपादयितुमाह—

धनुर्ज्याध्वनौ धनुःश्रुतिरारूढेः प्रतिपत्त्यै । १३ ।

धनुर्ज्याध्वनावित्यत्र ज्याशब्देनोक्तार्थत्वेऽपि धनुःश्रुतिः प्रयुज्यते।

जाने से] चिन्ता और मोह शब्द का [पृथक्] प्रयोग [उक्तार्थ] पुनरुक्त हो जाता है। [वाक्य के] पुनरुक्त पद वाला होने से [छत्रि-न्याय से समस्त] वाक्य को पुनरुक्त [उक्तार्थ] कहा है।

[इसका अभिप्राय यह है कि उक्तार्थता या पुनरुक्ति तो पदों की होती है इसको वाक्यार्थ दोष कैसे कहा है। यह प्रश्न है। इसका समाधान ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है कि पुनरुक्ति का सम्बन्ध दो या अनेक पदों से होता है अतः उसको वाक्य दोष ही समझना चाहिए। अथवा इस समाधान का दूसरा अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जैसे बहुत से व्यक्ति एक साथ जा रहे हों उनमें एक छतरी लगाए हो और अन्य बिना छतरी के हों तो कभी-कभी उन सबके लिए जरा उन छतरी वालों को बुला लेना इस प्रकार का प्रयोग होता है। इस को 'छत्रिन्याय' कहते हैं। इस 'छत्रिन्याय' से वाक्यान्तर्गत एक पद की पुनरुक्तता से वाक्य की पुनरुक्ति मान कर इस उक्तार्थता को वाक्यदोष कहा जा सकता है] ॥ ११ ॥

यदि [इस उक्तार्थता में कोई] विशेष [प्रयोजन] हो तो [यह 'उक्तार्थ' या 'एकार्थ'] दोष नहीं होता है।

यदि कोई विशेष [बात पुनरुक्ति से] प्रतिपाद्य हो तो गतार्थता [उक्तार्थता या पुनरुक्ति] दोष नहीं होती है ॥ १२ ॥

[जिस विशेषता के प्रदर्शन के लिए पुनरुक्ति होने पर भी उसको दोष नहीं माना जाता है] उस विशेष का प्रतिपादन करने के लिए [अगले सूत्रों में कुछ उदाहरण] कहते हैं।

'धनुर्ज्याध्वनौ' धनुष के चाप की टङ्कार [इस प्रयोग] में 'ज्या' शब्द [प्रत्यञ्चा के] चढ़ाव की प्रतीति के लिए है।

'धनुर्ज्याध्वनौ' इस [प्रयोग] में [ज्या अर्थात् प्रत्यञ्चा धनुष के सिवाय और किसी की होती ही नहीं इसलिए ज्या पद से ही धनुःपद के गतार्थ

आरूढेः प्रतिपत्त्यै । आरोहणस्य प्रतिपत्त्यर्थम् । न हि धनुःश्रुतिमन्तरेण धनुष्यारूढा ज्या धनुर्ज्येति शक्यं प्रतिपत्तुम् । यथा—

धनुर्ज्याकिणचिन्हेन दोष्णा विस्फुरितं तव । इति ॥ १३ ॥

(८) कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादिनिर्देशः सन्निधेः । २, २, १४ ।

कर्णावतंसादिशब्देषु कर्णादीनामवतंसादिपदैरुक्तार्थानामपि निर्देशः सन्निधेः प्रतिपत्त्यर्थमिति सम्बन्धः । न हि कर्णादिशब्दनिर्देशमन्तरेण कर्णादिसन्निहितानामवतंसादीनां शक्या प्रतिपत्तिः कर्तुमिति । यथा—

१. दोलाविलासेषु विलासिनीनां
कर्णावतंसाः कलयन्ति कम्पम् ॥

हो जाने पर भी] धनुः शब्द [का प्रयोग किया गया है ।] आरूढ़ता के बोध के लिए [प्रयुक्त किया गया] है । 'आरूढेः प्रतिपत्त्यै' का अर्थ आरूढ़ता के बोध के लिए है । धनुःपद के बिना, धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा धनुष की प्रत्यञ्चा है [अथवा उतरी हुई] यह नहीं समझा जा सकता है । [धनुर्ज्या शब्द के प्रयोग का उदाहरण] जैसे—

धनुष की प्रत्यञ्चा की चोट से चिन्हित तुम्हारा बाहु फड़क रहा है ।

[यहां धनुर्ज्या पद के प्रयोग से चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा का ही ग्रहण होता है अन्यथा प्रत्यञ्चा के बन्धन आदि से भी चिन्ह हो सकता है] ॥ १३ ॥

[इसी प्रकार] कर्णावतंस, श्रवणकुण्डल, शिरःशेखर आदि [प्रयोगों] में कर्ण [श्रवण, शिर] आदि [पदों] का निर्देश सामीप्य [बोधन के कारण] से है ।

कर्णावतंस आदि शब्दों में कर्णादि के अवतंस, आदि पदों से गतार्थ हो जाने पर भी [अलग] निर्देश सन्निधि [सामीप्य] के बोध के लिए [किया जाता] है, यह [सूत्र के पदों का] सम्बन्ध हुआ । कर्णादि पदों के प्रयोग के बिना कर्ण आदि में सन्निहित [पहिने हुए] अवतंस आदि का ज्ञान नहीं किया जा सकता है । [क्योंकि कान के आभूषण कर्णफूल अलग भी रखे हुए हो सकते हैं । कर्णावतंस पद के प्रयोग से कानों में पहिने हुए रूप में ही उनका बोध होता है, अलग रखे हुओं का नहीं] जैसे—

२. लीलाचलच्छ्रवणकुण्डलमापतन्ति ।

३. आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥ १४ ॥

मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धेः । २, २, १५ ।

मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दो हारशब्देनैव गतार्थः प्रयुज्यते, शुद्धेः प्रतिपत्त्यर्थमिति सम्बन्धः। शुद्धानामन्यरत्नैरमिश्रितानां हारो मुक्ताहारः। यथा—

झूला झूलने के समय सुन्दरियों के कानों के आभूषण हिल रहे हैं।

[इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण देते हैं] लीला से हिलते हुए श्रवणकुण्डल पर [भ्रमर आदि] गिरते हैं। [अथवा लीला से हिलते कुण्डलों वाले या वाली होकर गिरते हैं या गिरती हैं]।

यह उदाहरण श्रवणकुण्डल पद में कुण्डल की श्रवण-सन्निधि कान में पहिने होने की सूचना के लिए प्रयुक्त श्रवण पद के प्रयोग समर्थन के लिए दिया है। परन्तु यहां 'लीला-चलत्' पद से ही उनका कान में पहिना होना प्रतीत हो सकता है। इसलिए यह उदाहरण अधिक सुन्दर नहीं रहा उसकी अपेक्षा निम्न उदाहरण अच्छा रहेगा—

अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम्।
तथैव शोभतेऽत्यन्तमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥

इसके पूर्व धनुर्ज्या आदि सूत्र में ही कर्णावतंसादि पदों का भी एकत्र ही निर्देश किया जा सकता था उस दशा में अलग सूत्र बनाने की आवश्यकता न होती। परन्तु प्रयोजन के भेद को दिखाने के लिए इस सूत्र और इसके अगले चार सूत्रों की रचना अलग की गई है। तीसरा उदाहरण देते हैं—

भृङ्गों के गुञ्जन से युक्त [मुखरित] शिर-मौर [शेखर] वाले [लोग] आए।

[यहां शेखर के साथ शिरः पद का प्रयोग मौर [शेखर] की शिर पर स्थिति के बोधन के लिए है]॥ १४ ॥

मुक्ताहार [इस प्रयोग] में मुक्ता पद [का प्रयोग] शुद्धि [के बोधन के प्रयोजन] से हुआ है।

'मुक्ताहार' इस शब्द में मुक्ता शब्द हार शब्द से ही गतार्थ होकर [भी अलग] प्रयुक्त होता है। [क्योंकि मुक्ता के बने हुए हार को ही हार

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥ १५ ॥

पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य । २, २, १६ ।

पुष्पमालाशब्दे मालाशब्देनैव गतार्थं पुष्पपदं प्रयुज्यते, उत्कर्षस्य प्रतिपत्त्यर्थमिति । उत्कृष्टानां पुष्पाणां माला पुष्पमालेति । यथा—

प्रायशः पुष्पमालेव कन्या सा कं न लोभयेत् ।

ननु मालाशब्दोऽन्यत्रापि दृश्यते यथा रत्नमाला, शब्दमालेति । सत्यम् । स तावदुपचरितस्य प्रयोगः । निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्परचनाविशेषमेवाभिधत्त इति ॥ १६ ॥

कहा जाता है । मुक्ताओं की] शुद्धि [के सूचन] के प्रयोजन से, यह [सूत्र के पदों का] सम्बन्ध है । शुद्ध अर्थात् अन्य रत्नों से अमिश्रित [केवल मुक्ताओं] का हार मुक्ताहार होता है । जैसे—

प्राणेश्वर के आलिङ्गन से विलास के गौरव को प्राप्त करके शोभायमान मुक्ताहार [के सम्पर्क] से [नायिका के] दोनों स्तन हँस से रहे हैं ।

वैसे तो 'हारो मुक्तावली' इस कोश के अनुसार शुद्ध मुक्ताओं से बने हुए हार के लिए ही हार शब्द का प्रयोग होता है । इस रूप में शुद्धता की प्रतीति भी केवल हार शब्द के प्रयोग से ही मानी जा सकती है । उस दशा में मुक्ता पद का प्रयोग मुक्ताओं के उत्कर्ष सूचन के लिए होता है यह मानना चाहिए । जैसे पुष्पमाला शब्द में पुष्प पद का प्रयोग पुष्पों के उत्कर्ष सूचन के लिए होता है ॥ १५ ॥

'पुष्प-माला' शब्द में पुष्प पद [का प्रयोग] उत्कर्ष का सूचक है ।

'पुष्पमाला' शब्द में माला पद से ही गतार्थ हुआ पुष्प पद [उक्तार्थ] प्रयुक्त होता है । [वह प्रयोग पुष्पों के] उत्कर्ष के बोधन के लिए [होता है] उत्कृष्ट पुष्पों की माला पुष्पमाला कहलाती है । जैसे—

पुष्पमाला के समान [सुन्दर] वह कन्या प्रायः किसको नहीं लुभाती है ।

[प्रश्न] माला शब्द [पुष्पमाला में ही रूढ़ नहीं है बल्कि] अन्यत्र भी [प्रयुक्त होता हुआ] देखा जाता है । जैसे—रत्नमाला, शब्दमाला इत्यादि [तब केवल माला शब्द से पुष्प शब्द गतार्थ कैसे हो सकता है] ।

करिकलभशब्दे करिशब्दस्ताद्रूप्यस्य । २, २, १७ ।

करिकलभशब्दे करिशब्दः कलभेनैव गतार्थः प्रयुज्यते, ताद्रूप्यस्य प्रतिपत्त्यर्थमिति । करी प्रौढ़कुञ्जरः, तद्रूपकलभः करिकलभ इति । यथा–

त्यज करिकलभ त्वं प्रीतिबन्धं करिण्याः ॥ १७ ॥

विशेषणस्य च । २, २, १८ ।

विशेषणस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुक्तार्थस्य पदस्य प्रयोगः । यथा—

जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥ १८ ॥

[उत्तर] ठीक है [माला शब्द अन्यत्र भी प्रयुक्त होता है परन्तु वहां] वह प्रयोग औपचारिक [लक्षणा से किया हुआ] है । [रत्न, शब्द आदि] विशेषणों से रहित केवल माला शब्द पुष्पों की रचनाविशेष को ही बोधित करता है ॥ १६ ॥

करिकलभ शब्द में [हाथी के बच्चे को ही कलभ कहते हैं । 'कलभो करिशावकः' यह कोश इसी बात का सूचक है । इसलिए कलभ से ही करी शब्द उक्तार्थ हो जाता है । पुनः] करी शब्द [का प्रयोग] ताद्रूप्य [करी-शावक की प्रौढ़ता रूप करिरूपता] का बोधक होता है ।

'करिकलभ' शब्द में करी शब्द कलभ [शब्द] से ही गतार्थ [हो जाता है पुनः] ताद्रूप्य की प्रतीति के लिए प्रयुक्त होता है । करी [का अर्थ] प्रौढ़ हाथी है । उसके समान [बलिष्ठ] कलभ [हाथी का बच्चा है यह बात] 'करिकलभ' [शब्द से सूचित होती] है । जैसे—

हे करिकलभ तू हथिनी के प्रेम बन्धन को छोड़ दे ।

[यहाँ करिकलभ पद का प्रयोग तरुण हाथी की समानता को बोधन करने के लिए ही हुआ है । क्योंकि करिणी का प्रीति-बन्धन तरुण करी को ही हो सकता है बच्चे को नहीं ।] ॥१७॥

और विशेषण का प्रयोग भी [उक्तार्थ होने पर विशेष प्रतिपत्ति के लिए ही होता है] ।

विशेषण की विशेषता का बोधन करने के लिए ही उक्तार्थ पद का प्रयोग होता है । जैसे—

विशिष्ट अक्षरों से युक्त मधुर वाणी को बोला ।

तदिदं प्रयुक्तेषु । २, २, १६ ।

तदिदमुक्तं प्रयुक्तेषु नाप्रयुक्तेषु । न हि भवति तथा श्रवणकुण्डलमिति तथा नितम्बकाञ्चीत्यपि । यथा वा करिकलभ इति तथा उष्ट्रकलभ इत्यपि । अत्र श्लोकः—

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।
सन्निधानादिबोधार्थं स्थितेष्वेतत् समर्थनम् ॥ १६ ॥

'गद व्यक्तायां वाचि' धातु होने से 'जगाद' के साथ 'वाचं' का प्रयोग उक्तार्थ हो जाता है । वह विशेषणभूत 'मधुर' के उत्कर्ष के सूचनार्थ किया जाता है । उसके प्रयुक्त किए बिना विशेषणों का ठीक प्रयोग नहीं हो सकता है । इसलिए विशेषणों की प्रतीति के लिए उक्तार्थ 'वाचं' आदि का प्रयोग होता है ॥१८॥

यह [उक्तार्थ पदों का प्रयोग का समर्थन केवल महाकवियों द्वारा] प्रयुक्तों में [ही समझना चाहिए । उस प्रकार के नवीन प्रयोग नहीं करने चाहिएं] ।

यह [समाधान महाकवियों द्वारा] प्रयुक्त [पदों] में ही [समझना चाहिए ।] अप्रयुक्त [नवीन प्रयोगों] में नहीं । जैसे [प्राचीन महाकवियों के काव्यों में] 'श्रवणकुण्डल' [पद का प्रयोग] होता है इसी प्रकार 'नितम्बकाञ्ची' यह भी [प्रयोग] नहीं [करना चाहिए] । अथवा 'करिकलभ' के समान 'उष्ट्र-कलभ' यह [प्रयोग] भी नहीं होना चाहिए । ['श्रवणकुण्डल' और 'करिकलभ' शब्द प्राचीन महाकाव्यों में प्रयुक्त हैं इस लिए उनके प्रयोग का समर्थन किया जा सकता है । परन्तु उसी आधार पर 'नितम्बकाञ्ची' और 'उष्ट्रकलभ' आदि नवीन प्रयोग करना उचित नहीं है] ।

इस विषय में [संग्रह] श्लोक भी है—

कर्णावतंसादि पदों में [उक्तार्थ होने पर भी] कर्णादि शब्दों का प्रयोग [ध्वनिनिर्मितिः] सन्निधान आदि के बोधन के लिए [होता] है । यह समर्थन [केवल प्राचीन काव्यों में] विद्यमान [प्रयोगों] में समझना चाहिए । [नवीन प्रयोग नहीं करने चाहिएं] ॥ १६ ॥

'व्यर्थ' और 'उक्तार्थ' नामक दो प्रकार के वाक्यार्थ दोषों के निरूपण के बाद अब 'सन्दिग्ध' नामक तीसरे वाक्यार्थ दोष का निरूपण करते हैं—

संशयकृत् सन्दिग्धम् । २, २, २० ।

यद्वाक्यं साधारणानां धर्माणां श्रुतेर्विशिष्टानां वा श्रुतेः संशयं करोति तत् संशयकृत् सन्दिग्धमिति । यथा—

स महात्मा भाग्यवशान्महापदमुपागतः ।

किं भाग्यवशान्महापदमुपागतः, आहोस्विदभाग्यवशान्महतीमापदमिति संशयकृद् वाक्यं, प्रकरणाद्यभावे सतीति ॥ २० ॥

मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम् । २, २, २१ ।

संशय कराने वाला [वाक्य] 'सन्दिग्ध' [सन्दिग्ध वाक्यार्थ दोष] है ।

जो वाक्य साधारण धर्मों के श्रवण से अथवा विशेष धर्मों के श्रवण से [अथवा अश्रुतेः विशेष धर्म के अश्रवण से] संशय को [उत्पन्न] करता है वह संशय-जनक होने से सन्दिग्ध' कहलाता है । जैसे—

वह महात्मा भाग्यवश से महत् पद को प्राप्त हुआ ।

अथवा—

वह महात्मा अभाग्यवश महती आपत्ति को प्राप्त हुआ ।

[यहाँ एक ही मूल वाक्य सन्धिविच्छेद के भेद से] प्रकरणादि के अभाव में, क्या भाग्यवश महान् पद को प्राप्त हुआ अथवा अभाग्यवश महती आपत्ति को प्राप्त हुआ इस प्रकार का संशय जनक वाक्य है ।

प्रकरणादि के अपरिज्ञान काल में यह वाक्य संशयजनक है । परन्तु यदि इसका प्रकरण आदि ज्ञात हो तो संशय का जनक न होकर अर्थ का निर्णय भी उससे हो सकता है । भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में प्रकरणादि के परिज्ञान को सन्दिग्ध स्थलों में अर्थ का निर्णायक प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥२०॥

अप्रयुक्तत्व रूप चतुर्थ वाक्यार्थ दोष का निरूपण करते हैं—

माया [छल] आदि से कल्पित अर्थ [जिस वाक्य का हो उस] को 'अप्रयुक्त' कहते हैं ।

माया आदि के द्वारा जिसका अर्थ कल्पित हो वह 'मायादि कल्पितार्थ'

मायादिना कल्पितोऽर्थो यस्मिंस्तन्मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम् । अत्र स्तोकमुदाहरणम् ॥ २१ ॥

क्रमहीनार्थमपक्रमम् । २, २, २२ ।

उद्देशितानामनुद्देशितानाञ्च क्रमः सम्बन्धः । तेन विहीनोऽर्थो यस्मिंस्तत् क्रमहीनार्थमपक्रमम् । यथा—

कीर्तिप्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समौ ।

अत्र कीर्तिश्चन्द्रमसस्तुल्या । प्रतापः सूर्यस्य तुल्यः । सूर्यस्य पूर्वनिपातादपक्रमः ।

अथवा प्रधानस्यार्थस्य निर्देशः क्रमः । तेन विहीनोऽर्थो यस्मिंस्तदपक्रमम् । यथा—

[वाक्य] 'अप्रयुक्त' होता है । इसके उदाहरण कम मिलते हैं । ['विदग्धमुखमण्डन' आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के कुछ उदाहरण पाए जाते हैं । परन्तु अधिक कठिन होने के कारण ग्रन्थकार ने उनको यहाँ नहीं दिया है] ॥२१॥

क्रम से विहीन अर्थ वाला [वाक्य] 'अपक्रम' कहलाता है ।

आगे-पीछे कहे हुओं [उद्दिष्ट और अनुद्दिष्टों] का सम्बन्ध क्रम कहलाता है । उससे विहीन अर्थ जिस [वाक्य] में हो वह क्रमहीनार्थ 'अपक्रम' [वाक्य] है । जैसे—

आपके कीर्ति और प्रताप सूर्य तथा चन्द्रमा के समान हैं ।

यहां कीर्ति चन्द्रमा के समान और प्रताप सूर्य के समान है [यह कवि का अभिप्राय है । इसके बोधन के लिए यदि प्रताप को पहले और कीर्ति को बाद में रखा जाता तब तो सूर्य का पूर्व और चन्द्र को पीछे रखना बन सकता है । परन्तु यहां 'सूर्याचन्द्रमसोः' में सूर्य का पूर्व निपात किया गया है और उधर सूर्य के साथ पहले स्थान पर कीर्ति और चन्द्रमा के साथ दूसरे स्थान पर प्रताप को रखा है । इससे कीर्ति सूर्य के समान और प्रताप चन्द्रमा के समान है, यह अर्थ बोधित होता है, जो कि 'कवि-समय' के विपरीत होने से असङ्गत है । इसलिए उद्दिष्ट, अर्थात् पूर्वकथित कीर्ति तथा प्रताप, और अनुद्दिष्ट, अर्थात् बाद में कहे हुए सूर्य तथा चन्द्र, [में ठीक सम्बन्ध नहीं बनता है । अतः] सूर्य का पूर्वनिपात होने से 'अपक्रम' [दोष] है ।

अथवा प्रधान अर्थ का [पूर्व और अप्रधान अर्थ का पश्चात्] निर्देश-क्रम है । उससे विहीन अर्थ जिस [वाक्य] में हो वह [वाक्य] 'अपक्रम' [दोषयुक्त] है । जैसे—

तुरङ्गमथ मातङ्गं प्रयच्छास्मै मदालसम् ॥ २२ ॥

देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि । २, २, २३ ।

देशकालस्वभावैर्विरुद्धोऽर्थो येषु तानि देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि वाक्यानि लोकविरुद्धानि । अर्थद्वारेण लोकविरुद्धत्वं वाक्यानाम् । देशविरुद्धं यथा—

सौवीरेष्वस्ति नगरी मधुरा नाम विश्रुता ।
अक्षोटनारिकेलाढ्या यस्याः पर्यन्तभूमयः ॥

कालविरुद्धं यथा—

कदम्बकुसुमस्मेरं मधौ वनमशोभत ।

इसको घोड़ा अथवा मदमत्त हाथी प्रदान करो ।

[यहां प्रधान अर्थ हाथी को पहले और घोड़े को बाद में कहना चाहिए था । परन्तु उसके विपरीत कथन किया गया है अतएव यहां 'अपक्रम' दोष है] ॥ २२ ॥

[वाक्यार्थ दोषों में से छठे 'लोकविरुद्ध' दोष की व्याख्या करने के लिए अगला सूत्र है ।]

देश, काल, स्वभाव से विरुद्ध अर्थ [वाले वाक्य] 'लोकविरुद्ध' [दोषयुक्त] कहलाते हैं ।

देश, काल तथा स्वभाव से विरुद्ध अर्थ जिन [वाक्यों] में हो वह देश, काल और स्वभावविरुद्ध अर्थ वाले वाक्य 'लोकविरुद्ध' कहलाते हैं । वाक्यों का लोकविरुद्धत्व अर्थ के द्वारा होता है, [साक्षात् नहीं होता] । देशविरुद्ध [का उदाहरण] जैसे—

सौवीर देश में मधुरा [मथुरा] नाम की प्रसिद्ध नगरी है जिसके चारों ओर की भूमि में अखरोट और नारियल [के वृक्ष] बहुतायत से पाये जाते हैं ।

यहां मथुरा नगरी का देशविरुद्ध वर्णन किया गया है । मथुरा नगरी स्रुघ्न प्रान्त में यमुना तट पर बसी है, सौवीर प्रान्त में नहीं और उसकी भूमि करील और बदरीफल बहुल है अक्षोट और नारिकेल बहुल नहीं ।

कालविरुद्ध [का उदाहरण] जैसे—

वसन्त में कदम्ब के फूलों से मुसकराता हुआ वन शोभित हुआ ।

(ङ) स्वभावविरुद्धं तथा—

मत्तालिमङ्खमुखरासु च मञ्जरीपु
सप्तच्छदस्य तरतीव शरन्मुखश्रीः ॥

सप्तच्छदस्य स्तबका भवन्ति न मञ्जर्य इति स्वभावविरुद्धम् । तथा—

भृङ्गेण कलिकाकोशस्तथा भृशमपीड्यत ।
यथा गोष्पदपूरं हि ववर्ष बहुलं मधु ॥

कलिकायाः सर्वस्या मकरन्दस्यैतावद् बाहुल्यं स्वभावविरुद्धम् ॥२३॥

यहां वसन्त ऋतु में कदम्ब के पुष्पों का वर्णन कालविरुद्ध है। कदम्ब वर्षा ऋतु में फूलता है, वसन्त ऋतु में नहीं। अतः वसन्त में कदम्ब-पुष्पों का वर्णन कालविरुद्ध है।

स्वभावविरुद्ध [का उदाहरण] जैसे—

मत्त भ्रमर रूप स्तुतिपाठकों [नान्दीकारश्चाटुकारो मङ्खश्च स्तुतिपाठकः] से शब्दायमान [मुखरित] सप्तच्छन्द की मञ्जरियों में शरद् ऋतु की मुखश्री [प्रारम्भिक शोभा] तैरती हुई-सी [प्रतीत हो रही] है।

[यहां सप्तच्छद की मञ्जरियों का वर्णन किया गया है। परन्तु] सप्तच्छद के स्तबक [गुच्छे] होते हैं मञ्जरियां नहीं। [आम के बौर के समान लम्बी डण्डी में लगने वाले फूलों को मञ्जरी कहते हैं। अन्य प्रकार के फूलों के गुच्छे स्तबक कहलाते हैं]। इसलिए यह स्वभावविरुद्ध [वर्णन] है। इसी प्रकार—

भौंरे ने कली के कोश को इतना दबाया कि [उसमें से] गाय के खुर को भर देने वाला बहुत-सा मधु निकल पड़ा।

[यहां कली के निकले हुए मधु से गोष्पद-गाय के खुर के बराबर स्थान-भर गया यह जो कहा गया है वह भी स्वभाव-विरुद्ध अर्थ है। क्योंकि सब कलियों अथवा] किसी भी कली के मकरन्द की इतनी अधिकता [का वर्णन] स्वभाव के विरुद्ध है।

परन्तु बहुत-सी लोकविरुद्ध बातें भी 'कवि-समय' में स्वीकृत मानी गई हैं। उनका वर्णन आगे करेंगे। लोकविरुद्ध होने पर भी 'कवि-समयगत' बातों का वर्णन दोष नहीं माना जाता है। अर्थात् लोकयात्रा और 'कवि-समय' के विरोध होने पर 'कवि-समय' 'लोकयात्रा' की अपेक्षा प्रबल माना जाता है॥ २३॥

कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि । २, २, २४ ।

कलाशास्त्रैश्चतुर्वर्गशास्त्रैश्च विरुद्धोऽर्थो येषु तानि कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि वाक्यानि विद्याविरुद्धानि । वाक्यानां विरोधोऽर्थद्वारकः । कलाशास्त्रविरुद्धं यथा—

कालिङ्गं लिखितमिदं वयस्य पत्रं
पत्रज्ञैरपतितकोटिकण्टकाग्रम् ॥

कालिङ्गं पतितकोटिकण्टकाग्रमिति पत्रविदामाम्नायः । तद्विरुद्धत्वात् कलाशास्त्रविरुद्धम् । एवं कलान्तरेष्वपि विरोधोऽभ्यूह्यः । चतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धानि तूदाह्रियन्ते—

कामोपभोगसाफल्यफलो राज्ञां महीजयः ।

'विद्याविरुद्ध' के वर्णन के लिए अगला सूत्र कहते हैं ।

कलाशास्त्र और चतुर्वर्गशास्त्रों के विरुद्ध अर्थ वाले [वाक्य] 'विद्याविरुद्ध' [वाक्य] कहलाते हैं ।

कलाशास्त्र और चतुर्वर्गशास्त्रों [अर्थात् धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र] से विरुद्ध अर्थ जिन [वाक्यों] में हो, वह कलाशास्त्र तथा चतुर्वर्ग शास्त्रों से विरुद्ध अर्थ वाले वाक्य, 'विद्याविरुद्ध' कहलाते हैं । वाक्यों का विरोध अर्थ द्वारा होता है [साक्षात् नहीं] । कलाशास्त्रविरुद्ध [का उदाहरण] जैसे—

हे मित्र, पत्रलेखनशैली के पण्डितों ने यह 'कलिङ्ग-शैली' का [लिखा हुआ] यह पत्र खड़ी हुई नोक [अपतित कोटि] के 'कण्टक' [लौहमय लेखनी के अग्रभाग निब, कण्टकाग्र] से लिखा है ।

[यहां 'कलिङ्ग-शैली' के पत्र-लेखन का वर्णन उस शैली के विरुद्ध रूप से किया गया है । क्योंकि] 'कलिङ्ग-शैली' में [खड़ी नोक से नहीं बल्कि] गिरी नोक की क़लम से लिखा जाता है, यह पत्र [लेखनप्रकार] को जानने वालों का सिद्धान्त है । [परन्तु यहां] उसके विरुद्ध [अपतित अर्थात् खड़ी क़लम से लिखने का वर्णन] होने से [यह वर्णन] कलाशास्त्र के विरुद्ध है । इसी प्रकार अन्य कलाओं के भी विरोध को समझ लेना चाहिए । 'चतुर्वर्गशास्त्रविरुद्ध' के उदाहरण दिखलाते हैं—

राजाओं का पृथिवी विजय कामोपभोग की सफलता रूप फल वाला है ।

धर्मफलोऽश्वमेधादियज्ञफलो वा राज्ञां महीजय इत्यागमः। तद्विरोधाद् धर्मशास्त्रविरुद्धमेतद् वाक्यमिति।

(२) अहङ्कारेण जीयन्ते द्विषन्तः किं नयश्रिया।

द्विषज्जयस्य नयमूलत्वं स्थितं दण्डनीतौ। तद्विरोधादर्थशास्त्रविरुद्धमिदं वाक्यमिति।

(३) दशनाङ्कपवित्रितोत्तरोष्ठं।
रतिखेदालसमाननं स्मरामि।

उत्तरोष्ठमन्तर्मुखं नयनान्तमिति मुक्त्वा चुम्बननखरदशन स्थानानि इति कामशास्त्रे स्थितम्। तद्विरोधात् कामशास्त्रविरुद्धार्थं वाक्यमिति।

[यहां पृथिवी विजय का फल कामोपभोग को बताया है यह बात धर्मशास्त्र के विरुद्ध है क्योंकि धर्मशास्त्र में] धर्म अथवा अश्वमेधादि यज्ञ राजाओं के पृथिवीजय का फल है इस प्रकार [के अर्थ] का [प्रतिपादक] आगम है। उसके विरुद्ध होने से यह वाक्य धर्मशास्त्र के विरुद्ध है।

अर्थशास्त्र के विपरीत 'विद्याविरुद्ध' का उदाहरण देते हैं—

शत्रु अहङ्कार से ही जीते जा सकते हैं नीति से क्या प्रयोजन।

दण्डनीति [अर्थशास्त्र] में शत्रुविजय का नीतिमूलकत्व कहा गया है। [यहां] उसके विरुद्ध [वर्णन] होने से यह वाक्य अर्थशास्त्र [दण्डनीति] के विरुद्ध है।

कामशास्त्र से विपरीत 'विद्याविरुद्ध' का उदाहरण देते हैं—

दन्तचिन्हों [दन्तक्षत] से अङ्कित उत्तरोष्ठ [ऊपर के ओठ] वाले और रतिश्रम के कारण आलस्य युक्त [नायिका के] मुख की याद [अब भी] आ रही है।

[यहां नायिका के ऊपर के ओठ पर दशनचिन्हों—दन्तक्षत—का वर्णन किया गया है परन्तु] ऊपर के ओठ, मुख के भीतर, और आंखों के किनारों [नेत्रप्रान्त] को छोड़ कर चुम्बन, नख और दशन [दन्तक्षत] के स्थान होते हैं, ऐसा कामशास्त्र में कहा गया है। उसके विरुद्ध होने से [यह वाक्य] कामशास्त्र के विरुद्ध है।

धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, और कामशास्त्र से विपरीत 'विद्याविरुद्ध' दोष के तीन उदाहरण पहिले दे चुके हैं अब मोक्ष शास्त्र से विपरीत 'विद्याविरुद्ध' का चौथा उदाहरण आगे देते हैं—

देवताभक्तितो मुक्तिर्न तत्वज्ञानसम्पदा ।

एतस्यार्थस्य मोक्षशास्त्रे स्थितत्वात् तद्विरुद्धार्थम् ।

एते वाक्यवाक्यार्थदोषास्त्यागाय ज्ञातव्याः । ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते, उपमादोषाश्चोपमाविचार इति ॥ २४ ॥

इति पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
दोषदर्शने द्वितीयाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
वाक्य-वाक्यार्थ-दोषविभागः ।
समाप्तञ्चेदं 'दोषदर्शनं' द्वितीयमधिकरणम् ।

परमात्मा [देवता] की भक्ति से [ही] मुक्ति होती है, तत्वज्ञान की सम्पत्ति से नहीं ।

['ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् तत्वज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है । ज्ञान से ही मुक्ति होती है ।] इस अर्थ के मोक्षशास्त्र में प्रतिपादित [स्थित] होने से [तत्वज्ञान की सम्पत्ति से मुक्ति नहीं होती यह कहना] मोक्षशास्त्र के विरुद्ध है ।

यह वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोष परित्याग करने के लिए जानने चाहिएं, इनसे भिन्न जो शब्द और अर्थ के अन्य सूक्ष्म दोष हैं उनको गुणविवेचन के प्रकरण में कहेंगे और उपमा के दोष उपमा के विचार के अवसर पर कहेंगे ॥ २४ ॥

पण्डितवरवामनविरचित काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में
'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।
वाक्य-वाक्यार्थ-दोषों का विभाग पूर्ण हुआ ।
और यह 'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण भी समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यालङ्कारदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
द्वितीयाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः
समाप्तञ्चेदं 'दोषदर्शन' द्वितीयमधिकरणम्

अथ 'गुणविवेचनं' नाम तृतीयमधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः ।

[गुणालङ्कारविवेकः शब्दगुणविवेकश्च]

यद्विपर्ययात्मानो दोषास्तान् गुणान् विचारयितुं गुणविवेचनमधिकरणमारभ्यते । तत्रौजःप्रसादादयो गुणाः यमकोपमादयस्त्वलङ्कारा इति स्थितिः काव्यविदाम् । तेषां किं भेदनिबन्धनमित्याह—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः । ३, १, १ ।

ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते चौजःप्रसादादयः । न यमकोपमादयः । कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात् । ओजःप्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति ॥ १ ॥

'गुण-विवेचन' नामक तृतीय अधिकरण में प्रथम अध्याय

गुण और अलङ्कारों का भेद तथा शब्द गुणों का विवेचन ।

[पिछले अधिकरण में दोषों का विवेचन किया गया था । उस अधिकरण के प्रारम्भ में 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' इस प्रकार दोष का सामान्य लक्षण किया था । इसलिए दोषों के निरूपण के बाद] जिन के विपर्यय स्वरूप दोष होते हैं उन गुणों का निरूपण करने के लिए 'गुण-विवेचन' नामक [यह तृतीय] अधिकरण प्रारम्भ करते हैं । उसमें ओज, प्रसाद आदि गुण और यमक उपमादि अलङ्कार कहलाते हैं । यह काव्यज्ञ लोगों का सिद्धान्त [स्थिति-मर्यादा] है । उन [गुण तथा अलङ्कारों] में भेद [व्यवहार] का क्या कारण है इसको बतलाने के लिए [इस अधिकरण में सबसे पहिले गुण तथा अलङ्कारों के भेद का निरूपण करते हुए] कहते हैं—

काव्य की शोभा को [उत्पन्न] करने वाले धर्म गुण होते हैं ।

शब्द तथा अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा को [उत्पन्न] करते हैं वे 'गुण' कहलाते हैं । वे ओज, प्रसाद आदि [गुण] हैं, यमक उपमादि नहीं । [ओज, प्रसाद आदि गुणों के अभाव में] केवल उन [यमक उपमादि अलङ्कारों] के काव्य-

देवताभक्तितो मुक्तिर्न तत्वज्ञानसम्पदा ।

एतस्यार्थस्य मोक्षशास्त्रे स्थितत्वात् तद्विरुद्धार्थम् ।

एते वाक्यवाक्यार्थदोषास्त्यागाय ज्ञातव्याः । ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते, उपमादोषाश्चोपमाविचार इति ॥ २४ ॥

इति पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
दोषदर्शने द्वितीयाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
वाक्य-वाक्यार्थ-दोषविभागः ।
समाप्तञ्चेदं 'दोषदर्शनं' द्वितीयमधिकरणम् ।

परमात्मा [देवता] की भक्ति से [ही] मुक्ति होती है, तत्वज्ञान की सम्पत्ति से नहीं ।

['ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् तत्वज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है । ज्ञान से ही मुक्ति होती है ।] इस अर्थ के मोक्षशास्त्र में प्रतिपादित [स्थित] होने से [तत्वज्ञान की सम्पत्ति से मुक्ति नहीं होती यह कहना] मोक्षशास्त्र के विरुद्ध है ।

यह वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोष परित्याग करने के लिए जानने चाहिएं, इनसे भिन्न जो शब्द और अर्थ के अन्य सूक्ष्म दोष हैं उनको गुणविवेचन के प्रकरण में कहेंगे और उपमा के दोष उपमा के विचार के अवसर पर कहेंगे ॥ २४ ॥

पण्डितवरवामनविरचित काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में
'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।
वाक्य-वाक्यार्थ-दोषों का विभाग पूर्ण हुआ ।
और यह 'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण भी समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यालङ्कारदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
द्वितीयाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः
समाप्तञ्चेदं 'दोषदर्शन' द्वितीयमधिकरणम्

अथ 'गुणविवेचनं' नाम तृतीयमधिकरणम्
प्रथमोऽध्यायः ।
[गुणालङ्कारविवेकः शब्दगुणविवेकश्च]

यद्विपर्ययात्मानो दोषास्तान् गुणान् विचारयितुं गुणविवेचन-मधिकरणमारभ्यते । तत्रौजःप्रसादादयो गुणाः यमकोपमादयस्त्वलङ्कारा इति स्थितिः काव्यविदाम् । तेषां किं भेदनिबन्धनमित्याह—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः । ३, १, १ ।

ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते चौजः प्रसादादयः । न यमकोपमादयः । कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात् । ओजःप्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति ॥ १ ॥

'गुण-विवेचन' नामक तृतीय अधिकरण में प्रथम अध्याय

गुण और अलङ्कारों का भेद तथा शब्द गुणों का विवेचन ।

[पिछले अधिकरण में दोषों का विवेचन किया गया था । उस अधि-करण के प्रारम्भ में 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' इस प्रकार दोष का सामान्य लक्षण किया था । इसलिए दोषों के निरूपण के बाद] जिन के विपर्यय स्वरूप दोष होते हैं उन गुणों का निरूपण करने के लिए 'गुण-विवेचन' नामक [यह तृतीय] अधिकरण प्रारम्भ करते हैं । उसमें ओज, प्रसाद आदि गुण और यमक उपमादि अलङ्कार कहलाते हैं । यह काव्यज्ञ लोगों का सिद्धान्त [स्थिति-मर्यादा] है । उन [गुण तथा अलङ्कारों] में भेद [व्यवहार] का क्या कारण है इसको बतलाने के लिए [इस अधिकरण में सबसे पहिले गुण तथा अलङ्कारों के भेद का निरूपण करते हुए] कहते हैं—

काव्य की शोभा को [उत्पन्न] करने वाले धर्म गुण होते हैं ।

शब्द तथा अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा को [उत्पन्न] करते हैं वे 'गुण' कहलाते हैं । वे ओज, प्रसाद आदि [गुण] हैं, यमक उपमादि नहीं । [ओज, प्रसाद आदि गुणों के अभाव में] केवल उन [यमक उपमादि अलङ्कारों] के काव्य-

शोभा के जनक न होने से [केवल यमक उपमादि गुण नहीं कहलाते हैं। इसके विपरीत] ओज, प्रसाद आदि [गुण] तो [यमक उपमादि अलङ्कारों के बिना] केवल भी काव्य-शोभा के जनक हो सकते हैं। इसलिए [अन्वय-व्यतिरेक से ओज, प्रसाद आदि गुण ही काव्य के शोभोत्पादक होते हैं। यमक, उपमादि अलङ्कार काव्य-शोभा के जनक नहीं होते अपितु उस शोभा की वृद्धि के हेतु होते हैं। यही गुण और अलङ्कारों का मुख्य भेद है।]—

गुण और अलङ्कार इन दोनों के भेद का विवेचन साहित्यशास्त्र का मुख्य विषय रहा है। अनेक आचार्यों ने इस विषय में अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं। उनमें प्रायः दो प्रकार के पक्ष पाए जाते हैं—एक 'अभेदवादी' पक्ष और दूसरा 'भेदवादी' पक्ष। इनमें से 'भामह' और उनके विवरणकार उद्भट अभेद सिद्धान्त को मानने वाले हैं। उनके मत में गुण और अलङ्कारों में कोई भेद नहीं है। उनमें भेद-व्यवहार जो किया जाता है उसे वह भेड़चाल के समान अविवेकपूर्ण मानते हैं। भट्टोद्भट ने लिखा है—

समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।

इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष में रहने वाले शौर्य आदि गुण तथा उसके हारादि अलङ्कारों का भेद तो हो सकता है। क्योंकि शौर्यादि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और हारादि का शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध होता है। इसलिए सम्बन्ध के भेद से पुरुषनिष्ठ गुण और अलङ्कारों का भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्य में तो ओजः प्रसाद आदि गुण और अनुप्रास उपमादि अलङ्कार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं इसलिए उन दोनों में कोई भेद नहीं है। वह दोनों वस्तुतः एक हैं। दोनों से ही काव्य की शोभा होती है। व्यवहार में जो गुण और अलङ्कार का भेद दिखाई देता है वह 'गड्डलिकाप्रवाह' अर्थात् 'भेड़चाल' है। गड्डलिका मेषी या भेड़ को कहते हैं। जैसे भेड़ों में से अगली भेड़ किसी कारण के बिना स्वेच्छापूर्वक जब जिस ओर चल देती है। अन्य भेड़ें भी तब उसी के पीछे चल देती हैं। इसी प्रकार किसी ने बिना सोचे समझे गुण और अलङ्कारों में भेदव्यवहार कर दिया तो अन्य लोग भी उनको अलग-अलग कहने लगे। वास्तव में गुण और अलङ्कार भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु अभिन्न और एक हैं, यह भामह के व्याख्याकार उद्भट का मत है।

भेदवादियों में भी दो प्रकार के मत पाए जाते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य तथा मम्मटाचार्य एक मत के मानने वाले हैं, और वामन दूसरे मत के पोषक हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक में गुण तथा अलङ्कारों के भेद का निरूपण करते हुए लिखा है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥

अर्थात् अङ्गीभूत रस के आश्रित रहने वाले धर्मों को 'गुण' कहते हैं और अङ्गभूत शब्द तथा अर्थ में रहने वाले धर्म 'अलङ्कार' कहलाते हैं। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य भी इसी मत के समर्थक हैं।

गुण तथा अलङ्कारों का मम्मटाचार्य कृत भेद—

श्रीमम्मटाचार्य ने भी अपने काव्यप्रकाश में गुण तथा अलङ्कारों के भेद का निरूपण करने का प्रयत्न किया है। उसमें उन्होंने भट्टोद्भट के पूर्वोक्त 'अभेदवाद' का और वामनप्रदर्शित 'भेदनिरूपण' दोनों का खण्डन किया है। वह गुण और अलङ्कार दोनों का भेद मानते हैं। परन्तु वह वामन के समान गुणों का काव्यशोभाजनकत्व और अलङ्कारों का शोभातिशयहेतुत्व मान कर दोनों का भेद नहीं करते हैं। अपितु आनन्दवर्धनाचार्य के समान गुणों को रस का अचलस्थिति धर्म अर्थात् नियत धर्म या नित्य धर्म मान कर और अलङ्कारों को उसके विपरीत शब्द तथा अर्थ का अस्थिर धर्म मान कर गुण तथा अलङ्कारों का भेद करते हैं। उन्होंने गुणों का लक्षण करते हुए लिखा है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

अर्थात् रस के उत्कर्षाधायक और रस में अव्यभिचरित रूप से अवश्य रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं। इसके विपरीत, अलङ्कार अङ्गीभूत रस के नहीं अपितु उससे भिन्न शब्द-अर्थ के धर्म हैं। और वह नियम से रस के उपकारक भी नहीं होते। इसलिए 'गुणों' में 'अलङ्कारों' की गणना नहीं हो सकती है। अलङ्कारों का गुणों से भेद दिखाते हुए श्री मम्मटाचार्य ने स्पष्ट रूप से लिखा है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ॥

अर्थात् जो उस विद्यमान रस को अङ्ग अर्थात् शब्द और अर्थ के द्वारा

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः । ३, १, २ ।

तस्याः काव्यशोभाया अतिशयस्तदतिशयः, तस्य हेतवः । तु शब्दो व्यतिरेके । अलङ्काराश्च यमकोपमादयः । अत्र श्लोकौ—

नियम से नहीं अपितु कभी-कभी उपकृत करते हैं वे हारादि के समान अलङ्कार होते हैं । हार आदि अलङ्कारों की प्रायः तीन प्रकार की स्थिति देखी जाती है।

१. अलङ्कार्य स्त्री आदि में वास्तविक सौन्दर्य होने पर हारादि अलङ्कार उसके उत्कर्षाधायक होते हैं । २. सौन्दर्य न होने पर वह दृष्टिवैचित्र्य मात्र के हेतु होते हैं । इसी प्रकार काव्य में रस होने पर उपमादि अथवा अनुप्रासादि अलङ्कार उसके उत्कर्षाधायक होते हैं । जहां रस नहीं होता वहां उक्तिवैचित्र्य-मात्र रूप से प्रतीत होते हैं । और रस के विद्यमान होने पर भी कभी उसके उत्कर्षाधायक नहीं भी होते हैं । जैसे अत्यन्त अनिन्द्य सौन्दर्यशालिनी युवति को धारण कराए हुए ग्रामीण अलङ्कार उसके सौन्दर्य के अभिवर्धक नहीं होते।

इसलिए काव्यप्रकाशकार के मत में गुण तथा अलङ्कारों के भेद का मुख्य आधार यह है कि 'गुण रस के नियत धर्म हैं' और 'अलङ्कार शब्द तथा अर्थ के अनियत धर्म हैं' ।

प्रकृत 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के निर्माता वामन भी गुण तथा अलङ्कारों का भेद मानते हैं । परन्तु उनके मत में उस भेद का आधार आनन्दवर्धनाचार्य तथा मम्मटाचार्य से भिन्न कुछ और ही है ।

वामन का मत यह है कि काव्यशोभा के उत्पादक धर्मों का नाम 'गुण' है और उस शोभा के अतिशय-हेतुओं को 'अलङ्कार' कहते हैं । इसी आशय से 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।' यह गुणों का सामान्य लक्षण करने के बाद अलङ्कारों का उनसे भेद दिखाने वाला लक्षण 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' । अगले सूत्र में करते हैं—

उस [काव्यशोभा] के अतिशय के हेतु अलङ्कार होते हैं ।

उस काव्यशोभा का अतिशय तदतिशय [का अर्थ] हुआ । उसके हेतु [अलङ्कार होते हैं] तु शब्द [गुणों से अलङ्कारों का] भेद [प्रदर्शन] में [प्रयुक्त हुआ] है । यमक और उपमा आदि [शब्द तथा अर्थ के] अलङ्कार हैं । [गुण और अलङ्कारों का जो भेद हमने प्रतिपादित किया है इसके [समर्थन के] विषय में [निम्न लिखित] दो श्लोक [भी] हैं—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं,
स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः,
सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो,
वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं,
नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥

[शुद्ध अर्थात् अलङ्कारों से अमिश्रित गुण ओजः प्रसाद आदि जिस में हों वह] शुद्धगुण वाला वह काव्य भी युवति के [अलङ्कारविहीन शुद्ध] रूप के समान [रसिक जनों को] अत्यन्त रुचिकर होता है। और अत्यधिक [निरन्तराभिः] अलङ्कार रचनाओं से विभूषित रूप भी अत्यन्त आह्लाददायक होता है। [युवति में सौन्दर्य रूप गुण होने पर अलङ्कार हों या न हों दोनों अवस्थाओं में रसिकों को वह रूप रुचिकर होता ही है]।

[परन्तु] यदि स्त्री के [यौवन वन्ध्य जिसमें यौवन भी लावण्य को उत्पन्न न कर सकने के कारण व्यर्थ हो ऐसे] लावण्यशून्य शरीर के समान काव्य-वाणी [वचः] गुणों [ओज प्रसाद आदि] से शून्य हो तो निश्चय ही [उसके धारण किए हुए] लोकप्रिय [जनदयितानि] आभूषण भी भद्दे मालूम होने लगते हैं [दुर्भगत्वं संश्रयन्ते]।

इन श्लोकों का अभिप्राय यह हुआ कि गुणों के होने पर अलङ्कारों के बिना भी काव्य की शोभा हो सकती है और गुणों के अभाव में केवल अलङ्कारों से काव्य की शोभा नहीं होती। इसलिए अन्वय तथा व्यतिरेक से गुण ही काव्य-शोभा के उत्पादक हैं और अलङ्कार उस शोभा की वृद्धि के हेतु होते हैं ॥ २ ॥

गुण और अलङ्कारों का मुख्य भेद ग्रन्थकार ने बता दिया, परन्तु वामन के मत में गुण तथा अलङ्कारों का इसके अतिरिक्त एक भेद और है। वह यह है कि गुण काव्य के नित्य अर्थात् अपरिहार्य धर्म हैं और अलङ्कार नित्य या अपरिहार्य धर्म नहीं हैं। अर्थात् गुणों के बिना काव्य की शोभा नहीं हो सकती है। परन्तु अलङ्कारों के बिना काव्य की शोभा हो सकती है। इसी बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र में कहते हैं।

पूर्वे नित्याः । ३, १, ३ ।

पूर्वे गुणा नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ॥ ३ ॥

एवं गुणालङ्काराणां भेदं दर्शयित्वा शब्दगुणनिरूपणार्थमाह—

ओजः-प्रसाद-श्लेष-समता-समाधि-माधुर्य-सौकुमार्य-उदारता-ऽर्थव्यक्ति-कान्तयो बन्धगुणाः । ३, १, ४, ।

बन्धः पदरचना, तस्य गुणा बन्धगुणाः ओजःप्रभृतयः ॥ ४ ॥

[उन गुण तथा अलङ्कारों में से] प्रथम [अर्थात् गुण] नित्य हैं।

पूर्व [अर्थात्] गुण नित्य [काव्य में अपरिहार्य] हैं। उन [गुणों] के बिना [काव्य की] शोभा अनुपपन्न होने से ॥ ३ ॥

इस प्रकार गुण तथा अलङ्कारों के भेद का निरूपण करके शब्द-गुणों के निरूपण करने के लिए [सबसे पहिले उनका 'उद्देश' अर्थात् नाममात्रेण कथन करने के लिए अगला सूत्र] कहते हैं—

१. ओज, २. प्रसाद, ३. श्लेष, ४. समता, ५. समाधि, ६. माधुर्य, ७. सौकुमार्य, ८. उदारता, ६. अर्थव्यक्ति, और १०. कान्ति [नामक यह १०] बन्ध [अर्थात् रचना] के गुण हैं।

बन्ध अर्थात् पद-रचना उसके गुण बन्धगुण, ओज, प्रसाद आदि [१० प्रकार के बन्धगुण] होते हैं।

यहां ओज, प्रसाद, आदि को 'बन्ध' का गुण कहा है। 'बन्ध' का अर्थ पद-रचना है। अर्थात् ओज-प्रसाद आदि पद-रचना के गुण हैं। इस 'पद-रचना' के लिए 'सङ्घटना' शब्द का प्रयोग भी, साहित्यग्रन्थों में हुआ है। ध्वन्यालोककार ने इस अर्थ में मुख्य रूप से 'सङ्घटना' शब्द का ही प्रयोग किया है। उन्होंने 'सङ्घटना' तथा 'गुणों' के सम्बन्ध का विवेचन बहुत विस्तार के साथ किया है। इनके सम्बन्ध का निरूपण करते हुए भी उन्होंने 'अभेदवादी' तथा 'भेदवादी' दो पक्ष दिखलाए हैं। 'अभेदवादी' पक्ष में उन्होंने वामन के मत को रखा है। वामन पद-रचना को 'बन्ध' कहते हैं। और विशेष प्रकार की पद-रचना के लिए 'रीति' शब्द का पयोग करते हैं। प्रथम अधिकरण में 'विशिष्टपद-रचना रीतिः' यह रीति का लक्षण कर चुके हैं। 'पद-रचना की वह विशिष्टता क्या है इसका प्रतिपादन करते हुए अगले ही सूत्र में 'विशेषो गुणात्मा' लिख कर गुणरूपता—गुणात्मकता को ही पद-रचना का वैशिष्ट्य या

तान् क्रमेण दर्शयितुमाह—

गाढबन्धत्वमोजः । ३, १, ५ ।

बन्धस्य गाढत्वं यत् तदोजः । यथा—

'रीति' कहा है। इसलिए वामन के मत में पद-रचना या रीतियों को गुणात्मक माना गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'गुण' और 'रीति' अलग-अलग नहीं हैं। इसीलिए आनन्दवर्धनाचार्य ने वामन के मत को 'गुण' तथा 'सङ्घटना' का 'अभेदवादी' मत कहा है।

इस 'अभेदवादी' पक्ष के विपरीत दूसरा 'भेदवादी' पक्ष है जो 'सङ्घटना' तथा गुण दोनों को अलग-अलग भिन्न-भिन्न मानता है। इस 'भेदवादी' पक्ष में गुणों के 'सङ्घटना' के साथ सम्बन्ध के विषय में दो प्रकार के मत पाए जाते हैं। एक मत में 'गुण' 'सङ्घटना' के आश्रित रहते हैं। और दूसरे मत में 'सङ्घटना' गुणों के आश्रित रहती है। इन दोनों मतों को आनन्दवर्धन ने 'सङ्घटनाश्रया गुणाः' और 'गुणाश्रया वा सङ्घटना' इस रूप में प्रस्तुत किया है। इनमें से 'सङ्घटनाश्रया गुणाः' अर्थात् गुण, 'सङ्घटना' के आश्रित रहते हैं। यह पक्ष 'भट्टोद्भट' आदि का है। उन्होंने गुणों को सङ्घटना का धर्म माना है। धर्म सदा धर्मी के आश्रित रहता है। इसलिए 'गुण', 'सङ्घटना' के आश्रित रहते हैं। अर्थात् 'गुण' आधेय और 'सङ्घटना' आधार रूप है। इस प्रकार गुण और सङ्घटना का भेद है।

तीसरा पक्ष 'गुणाश्रया सङ्घटना' है अर्थात् सङ्घटना गुणों के आश्रित रहती है। यह आनन्दवर्धनाचार्य का अभिमत पक्ष है। इस प्रकार तीन प्रकार के विकल्प ध्वन्यालोककार ने दिखलाए हैं। ध्वन्यालोककार स्वयं 'रीति सम्प्रदाय' के मानने वाले नहीं हैं। वह 'रीति' को नहीं अपितु ध्वनि को काव्य का आत्मा मानते हैं और 'ध्वनि सम्प्रदाय' के प्रवर्तक हैं। फिर भी उन्होंने 'सङ्घटना' नाम से रीतियों का निर्देश कर गुणों के साथ उनका सम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न किया है। और तीनों का समन्वय करने का भी यत्न किया है ॥ ४ ॥

क्रम से उन [दसों गुणों के लक्षणादि] को दिखाने के लिए कहते हैं।

रचना की गाढ़ता [गाढ़ बन्धत्व] ओज [गुण कहलाता] है।

बन्ध [अर्थात् रचना] का जो गाढ़त्व है वह ओज [गुण कहलाता] है। [गाढत्व का अभिप्राय अवयवों अथवा अक्षरविन्यास का परस्पर संश्लिष्टत्व

विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति ।

न पुनः,

विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोलयन्ति ॥ ५ ॥

शैथिल्यं प्रसादः । ३, १, ६ ।

बन्धस्य शैथिल्यं शिथिलत्वं प्रसादः ॥ ६ ॥

नन्वयमोजो विपर्ययात्मा दोषस्तत् कथं गुण इत्याह—

है । संयुक्त अक्षरों और रेफशिरस्क वर्गों के प्रथम-द्वितीय, अथवा प्रथम-तृतीय अथवा तृतीय-चतुर्थ वर्णों के संयोग होने पर बन्ध की गाढ़ता अथवा ओज गुण माना जाता है] जैसे—

मकरन्द को कम्पित करते हुए [भौंरे आम्र आदि की] मञ्जरियों को नचाते हैं ।

[यहां 'मकरन्द' और 'मञ्जरीर्नर्तयन्ति' में बन्ध की गाढ़ता होने से ओज गुण माना है] ।

परन्तु यहां [नीचे के उदाहरण में, ओज गुण] नहीं है—

मधुधारा को कम्पित करते हुए मञ्जरियों को हिलाते हैं ।

[यहां 'मकरन्द' के स्थान पर 'मधुधारा' 'मञ्जरीर्नर्तयन्ति' की जगह 'मञ्जरीर्लोलयन्ति' कर देने से बन्ध की गाढ़ता समाप्त होकर शैथिल्य आजाता है । इसलिए इस परिवर्त्तन के कर देने पर रचना में ओज नहीं रहता है । अतः यह प्रत्युदाहरण दिया है] ॥ ५ ॥

अगले सूत्र में दूसरे गुण 'प्रसाद' का लक्षण करते हैं—

[रचना के] शैथिल्य [का नाम] प्रसाद [गुण] है ।

बन्ध [रचना] के शैथिल्य अर्थात् शिथिलत्व [का नाम] प्रसाद है ॥ ६ ॥

यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि 'प्रसाद' को गुण कैसे माना गया है क्योंकि 'बन्धगाढ़त्व रूप' 'ओज' के अभाव का नाम बन्ध-शैथिल्य या 'प्रसाद' होता है । अर्थात् बन्धगाढ़त्व रूप ओज का विरोधी होने से 'बन्ध-शैथिल्य' रूप 'प्रसाद' को काव्य का दोष मानना चाहिए, उसको गुण कैसे कहते हैं ? इसका उत्तर देने के लिए ग्रन्थकार अगले चार सूत्रों का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं ।

[प्रश्न] यह 'ओज' का विपर्यय रूप [शैथिल्य तो काव्य का] दोष है वह गुण कैसे हो सकता है । इस [प्रश्न] का उत्तर देने के लिए कहते हैं—

गुणः सम्प्लवात् । ३, १, ७ ।

गुणः प्रसादः । ओजसा सह सम्प्लवात् ॥ ७ ॥

न शुद्धः । ३, १, ८ ।

शुद्धस्तु दोष एवेति ॥ ८ ॥

ननु विरुद्धयोरोजःप्रसादयोः कथं सम्प्लव इत्याह—

स त्वनुभवसिद्धः । ३, १, ९ ।

स तु सम्प्लवस्त्वनुभवसिद्धः । तद्विदां रत्नादिविशेषवत् । अत्र श्लोकः—

[रचना शैथिल्य रूप] 'प्रसाद' गुण है [ओज के साथ] मिश्रित होने से ।

'प्रसाद' गुण [ही] है । ओज के साथ मिश्रण [सम्प्लव] होने से । [अर्थात जहां 'ओज' और 'प्रसाद' दोनों मिले जुले रहते हैं वहाँ 'प्रसाद' गुण होता है । और जहां ओज से सर्वथा रहित एक दम बन्ध-शैथिल्य होता है वह शुद्ध शैथिल्य गुण नहीं है । यही बात अगले सूत्र में कहते हैं] ॥ ७ ॥

शुद्ध [ओज से विहीन केवल बन्ध-शैथिल्य रूप प्रसाद] तो गुण नहीं [अपितु दोष ही] है ।

[बन्धगाढ़त्व रूप ओज से सर्वथा विहीन] शुद्ध [बन्ध-शैथिल्य] तो दोष ही है । [उसे हम गुण नहीं कहते हैं] ॥ ८ ॥

[इस पर फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि] विरुद्ध स्वभाव वाले ओज और प्रसाद का सम्प्लव [अर्थात् मिश्रण] कैसे हो सकता है ? इस [शङ्का] का समाधान करने] के लिए कहते हैं—

वह [बन्धगाढ़ता रूप ओज तथा बन्ध-शैथिल्य रूप प्रसाद का सम्प्लव अर्थात् मिश्रण] तो [सहृदय विद्वानों के] अनुभव [से] सिद्ध है ।

वह [गाढ़बन्ध रूप ओज तथा बन्धशैथिल्य रूप प्रसाद का] सम्प्लव [मिश्रण] तो उसको समझ सकने वालों [सहृदय विद्वानों] को उसी प्रकार अनुभवसिद्ध है जिस प्रकार रत्नों की विशेषता [रत्नों को पहिचानने वाले कुशल] जौहरियों को [अनुभव सिद्ध होती है ।] इस विषय में [निम्नलिखित] श्लोक भी है—

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः ।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः ॥ ६ ॥

साम्योत्कर्षौ च । ३, १, १० ।

साम्यमुत्कर्षश्चौजःप्रसादयोरेव । साम्यं यथा—

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे ।
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ॥

क्वचिदोजः प्रसादादुत्कृष्टम् । यथा—

व्रजति गगनं भल्लातक्याः फलेन सहोपमाम् ।

क्वचिदोजसः प्रसादस्योत्कर्षः । यथा—

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो
न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः ॥ १० ॥

करुण रस के नाटकों में [विरोधी] सुख-दुःख का सम्प्लव [मिश्रण, सह-स्थिति] जैसे [सहृदयों के] अनुभव से सिद्ध है उसी प्रकार ओज और प्रसाद का [सम्प्लव भी अनुभवसिद्ध है] ॥ ६ ॥

[ओज और प्रसाद का सम्प्लव ही नहीं उनका] साम्य और उत्कर्ष भी [उसी प्रकार अनुभवसिद्ध हैं] ।

ओज तथा प्रसाद का ही साम्य और उत्कर्ष भी [सहृदयों के अनुभव सिद्ध है] । साम्य [का उदाहरण] जैसे—

विषयों से विरक्त होकर वह [राजा दिलीप] श्वेत छत्र रूप राज चिन्ह यथाविधि [अर्थात् राज्याभिषेक की शास्त्रीय विधि द्वारा] अपने नवयुवक पुत्र [रघु] को देकर [स्वयं वन में चला गया । रघुवंश ३, ७०] ।

कहीं ओज प्रसाद से उत्कृष्ट होता है । जैसे—

आकाश [नीलिमा में] भल्लातकी [भिलावा] के फल के साथ सादृश्य को प्राप्त हो रहा है ।

कहीं ओज से प्रसाद का अधिक उत्कर्ष होता है । जैसे—

न नवीन [तत्काल बनाई हुई] फूलों की शय्या, न चन्द्रमा की किरणें, न सारे शरीर में लगाया हुआ चन्दन का लेप और न मणियों के हार [वियोगी जन के लिए शान्तिप्रद होते हैं] ॥ १० ॥

मसृणत्वं श्लेषः । ३, १, ११ ।

मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते ।
यथा—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा,
हिमालयो नाम नगाधिराजः ।

न पुनः—

सूत्रं ब्राह्ममुरःस्थले । भ्रमरीवल्गुगीतयः । तडित्कलिलमाकाशम् ।
इति । एवं तु श्लेषो भवति—

ब्राह्मं सूत्रमुरःस्थले । भ्रमरीमञ्जुगीतयः । तडिज्जटिलमाकाशम् ।
इति ॥ ११ ॥

मार्गाभेदः समता । ३, १, १२ ।

आगे तीसरे 'श्लेष' गुण का निरूपण करते हैं—

[शब्दनिष्ठ चिकनेपन] मसृणत्व को 'श्लेष' कहते हैं ।

जिसके होने पर बहुत से पद एक पद के समान [मिले हुए से] प्रतीत होते हैं वह 'मसृणत्व' [कहा जाता] है । जैसे—

उत्तर दिशा में देवतास्वरूप हिमालय नाम का पर्वतराज है ।

यहां 'अस्ति उत्तरस्यां दिशि' आदि अनेक पद अलग-अलग हैं क्योंकि उनमें समास नहीं है । परन्तु पढ़ते समय वह एक पद के समान प्रतीत होते हैं इसलिए अनेक पदों के 'एकपदवद्भासनात्मक' 'मसृणत्व' होने से यह 'श्लेष' गुण का उदाहरण है । आगे इसका प्रत्युदाहरण देते हैं—

परन्तु [निम्न उदाहरणों में मसृणत्व या 'श्लेष'] नहीं है—

उरःस्थल पर धारण किया हुआ यज्ञोपवीत । भ्रमरियों के मनोहर गान । बिजली से व्याप्त आकाश । [यह तीनों उदाहरण अलग-अलग वाक्य हैं । इनमें एकपदवद्भासनात्मक मसृणत्व न रहने से यहां 'श्लेष' गुण नहीं है । परन्तु यदि इनके पाठ को थोड़ा सा परिवर्तन करके] **ब्राह्मं सूत्रमुरःस्थले, भ्रमरीमञ्जुगीतयः और तडिज्जटिलमाकाशम्** [कर दिया जाय तो] **ऐसा [प्रयोग करने पर] तो 'श्लेष' हो जाता है ॥ ११ ॥**

आगे चतुर्थ गुण 'समता' का निरूपण करते हैं—

[काव्य में प्रारम्भ की हुई] रचना-शैली का [अन्त तक] अभेद

मार्गस्याभेदो मार्गाभेदः समता। येन मार्गेणोपक्रमस्तस्याऽत्याग इत्यर्थः। श्लोके प्रबन्धे चेति। पूर्वोक्तमुदाहरणम्। विपर्ययस्तु यथा—

प्रसीद चण्डि त्यज मन्युमञ्जसा
जनस्तवायं पुरतः कृताञ्जलिः।
किमर्थमुत्कम्पितपीवरस्तन-
द्वयं त्वया लुप्तविलासमास्यते ॥ १२ ॥

आरोहावरोहक्रमः समाधिः । ३, १, १३ ।

आरोहावरोहयोः क्रम आरोहावरोहक्रमः। समाधिः परिहारः।

'समता' [गुण कहलाता] है।

मार्ग [रचना-शैली] का अभेद [इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास करके] मार्गाभेद [पद बनता] है। जिस शैली से [काव्य रचना का] प्रारम्भ किया जाय [अन्त तक] उसको परित्याग न करना ['समता' गुण कहलाता है] यह अभिप्राय हुआ। [यह रचना की उपक्रान्त शैली का अपरित्याग] श्लोक और प्रबन्ध [सम्पूर्ण काव्य, दोनों] में [होना चाहिए]। पूर्वोक्त [अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा आदि] ही उदाहरण है। प्रत्युदाहरण [विपर्यय] तो [निम्नस्थ पद्य में है] जैसे—

हे क्रोधशीले तुम्हारा यह [जनः] दास [तुम्हारे] सामने हाथ जोड़े खड़ा हुआ है [इसलिए अब] मान जाओ और क्रोध को तुरन्त छोड़ दो। [क्रोध के आवेश में] हिलते हुए बड़े-बड़े दोनों स्तनों वाली तुम [मुख-मण्डल के] सौन्दर्य तथा विलास से रहित होकर [अब] क्यों बैठी हो ?

इस श्लोक में प्रारम्भ में 'त्यज मन्युमञ्जसा' इत्यादि कर्तृवाचक प्रयोग से श्लोक का प्रारम्भ किया गया है परन्तु उसकी समाप्ति भाववाच्य 'त्वया लुप्तविलासमास्यते' से हुई है। इसलिए यहां मार्ग का अभेद नहीं रहा, भेद हो गया है। अतः यहां 'समता' गुण नहीं पाया जाता है ॥ १२ ॥

पञ्चम गुण 'समाधि' का निरूपण करने के लिए कहते हैं—

आरोह [चढ़ाव] और अवरोह [उतार] के क्रम [अर्थात् क्रम से आरोह के बाद अवरोह और अवरोह के बाद आरोह] को 'समाधि' [गुण] कहते हैं।

आरोह और अवरोह का क्रम [इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास से]

आरोहस्यावरोहे सति परिहारः, अवरोहस्य वारोहे सतीति। तत्रारोह-पूर्वकोऽवरोहो यथा—

निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे।

अवरोहपूर्वस्त्वारोहो यथा—

नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव मज्जन्ति तरवः।

आरोहस्य क्रमोऽवरोहस्य च क्रम आरोहावरोहक्रमः। क्रमेणा-रोहणमवरोहणञ्चेति केचित्। यथा—

'आरोहावरोहक्रम' [पद बनता] है। [उसी को] 'समाधि' [अर्थात् पूर्व किए हुए आरोह अथवा अवरोह का] परिहार कहते हैं। आरोह का [उसके बाद] अवरोह के होने पर परिहार [रूप समाधि] और अवरोह का [उसके बाद] आरोह होने पर [परिहार अथवा 'समाधि' होता है]। उनमें आरोह-पूर्वक अवरोह [अर्थात् आरोह के बाद अवरोह का उदाहरण] जैसे—

रसास्वाद करके छोड़े हुए कुन्द [पुष्प] के मधु में रुचि न लेने वाला।

दीर्घ गुरु आदि अक्षरों के प्राचुर्य को आरोह और लघु आदि शिथिल-प्राय वर्णों के प्राचुर्य को 'अवरोह' कहते हैं। यहां 'निरानन्दः कौन्दे' में दीर्घादि गुरु अक्षरों का प्राचुर्य होने से 'आरोह' और 'मधुनि' आदि पदों में लघु अक्षरों के कारण 'अवरोह' पाया जाता है। पहिले 'आरोह' के बाद 'अवरोह' होने से यहां पहिले 'आरोह' का परिहार रूप 'समाधि' है। अतः यह 'अवरोह' यहां 'समाधि' गुण है। इसमें 'आरोह' पहिले और 'अवरोह' पीछे होने से यह 'आरोहपूर्वक अवरोह' का उदाहरण है।

'अवरोहपूर्वक आरोह' [का उदाहरण] तो [यह है कि] जैसे—

सदाचारहीन पुरुषों के व्यसनों में डूब जाने के समान वृक्ष [जल में] डूब रहे हैं।

इसमें 'नराः' आदि पदों में शैथिल्य होने से प्रारम्भ में 'अवरोह' और उसके बाद 'शीलभ्रष्टाः' आदि में गुरु अक्षरों के कारण 'आरोह' होने से 'अवरोह' का परिहार हो जाने से 'समाधि' गुण है। और वह अवरोहपूर्वक आरोह का उदाहरण है।

आरोह का क्रम और अवरोह का क्रम [इस प्रकार षष्ठी तथा द्वन्द्व समास करके] आरोह अवरोह का क्रम [यह पद बनता] है। [उसका अर्थ] क्रम से आरोह तथा अवरोह [यह भी] कुछ लोग करते हैं। जैसे—

निवेशः स्वः सिन्धोस्तुहिनगिरिवीथीषु जयति ॥ १३ ॥

न पृथगारोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात् । ३, १, १४ ।

न पृथक् समाधिगुणः । अरोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात् । ओजोरूपश्चारोहः, प्रसादरूपश्चावरोह इति ॥ १४ ॥

न सम्पृक्तत्वात् । ३, १, १५ ।

हिमालय के मार्गों में देवनदी गङ्गा की स्थिति सर्वोत्कर्ष से युक्त है। यहां 'निवेशः स्वः सिन्धोः' इस में सीढ़ी के समान धीरे-धीरे 'आरोह' और उसके बाद 'तुहिनगिरिवीथीषु' में क्रम से 'अवरोह' होने से यहां दूसरे प्रकार का 'समाधि' गुण है। इस द्वितीय प्रकार की व्याख्या का अभिप्राय यह हुआ कि क्रम से धीरे-धीरे 'आरोह' और उसी प्रकार क्रम से धीरे-धीरे 'अवरोह' का नाम 'समाधि' गुण है ॥ १३ ॥

इस पर प्रश्न यह होता है कि 'आरोह' बन्ध की गाढ़ता का और 'अवरोह' बन्ध के शैथिल्य का ही नामान्तर है। इसलिए वास्तव में आरोह 'ओज' रूप और 'अवरोह' 'प्रसाद' रूप पूर्वोक्त गुणों के ही अन्तर्गत हो जाता है। इसलिए उन से भिन्न इस 'समाधि' रूप तृतीय गुण को अलग मानने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रश्न को उठा कर उसका समाधान करने के लिए अगले प्रकरण का आरम्भ कर रहे हैं। समाधान का आशय यह है कि 'ओज' और 'प्रसाद' अलग-अलग गुण हैं किन्तु जहां वह नदी की दो धाराओं के समान मिलकर बहते हैं उसका नाम 'समाधि' है। जहां वह दोनों गुण स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग उपस्थित होते हैं वहां उनका अपना क्षेत्र होता है और जहां नदी की दो धाराओं के समान वह परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं वहां 'समाधि' रूप तृतीय गुण हो जाता है। यही कहते हैं—

['समाधि' वस्तुतः] पृथक् [गुण] नहीं है। [उसके लक्षणभूत] आरोह और अवरोह के [क्रमशः] 'ओज' और 'प्रसाद' रूप होने से।

'समाधि' पृथक् गुण नहीं है। आरोह और अवरोह के [क्रमशः] ओज और प्रसाद के रूप होने से। [उनमें से] आरोह 'ओज' रूप और अवरोह 'प्रसाद' रूप है ॥ १४ ॥

यह पूर्वपक्ष का सूत्र हुआ। इसका उत्तर अगले सूत्र में करते हैं—

[आपका कहना] ठीक नहीं है। [क्योंकि नदी की दो धाराओं के समान] मिले हुए ['ओज' और 'प्रसाद' का नाम 'समाधि'] होने से।

यदुक्तमोजःप्रसादरूपत्वमारोहावरोहयोस्तन्न, सम्पृक्तत्वात् । सम्पृक्तौ खल्वोजःप्रसादौ नदीवेणिकावद् वहतः ॥ १५ ॥

(१) अनैकान्त्याच्च । ३, १, १६ ।

न चायमेकान्तः, यदोजस्यारोहः प्रसादे चावरोह इति ॥ १६ ॥

जो यह कहा है कि 'आरोह' और 'अवरोह' का 'ओज' और 'प्रसाद' रूपत्व है [इसलिए 'समाधि' नामक तृतीय गुण अलग नहीं है ।] सो [यह आपका कथन] ठीक नहीं है । [समाधि गुण में उन दोनों के] सम्मिश्रित होने से । [समाधि गुण में वह] 'ओज' और 'प्रसाद' नदी की दो धाराओं के समान मिल कर बहते हैं ।

यहां फिर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ओज और प्रसाद की अलग-अलग स्थिति का ही नहीं अपितु उनके साम्य और उत्कर्ष का भी वर्णन आप कर चुके हैं । उसका भावार्थ यह हुआ कि पुष्प-गुच्छ के समान वे दोनों गुण साथ रहने पर भी अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं और अलग-अलग ओज और प्रसाद गुण ही कहलाते हैं, तभी उनका साम्य या उत्कर्ष हो सकता है । अब आप यह कहते हैं कि उन दोनों का मेल होने पर 'समाधि' नामक अलग नया गुण बन जाता है । इन दोनों विपरीत बातों की सङ्गति कैसे लगेगी ? इस प्रकार की शङ्का को ध्यान में रख कर ही ग्रन्थकार पहिले प्रश्न का दूसरे प्रकार से समाधान अगले सूत्र में करते हैं ।

पहिला प्रश्न यह था कि आरोह और अवरोह क्रमशः ओज और प्रसाद रूप हैं इसलिए 'आरोहावरोहक्रमः समाधिः' यह जो 'समाधि' का लक्षण करके आपने 'समाधि' नामक तीसरा गुण माना है सो ठीक नहीं है । इसका अगले सूत्र में यह उत्तर देते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि ओज में आरोह और प्रसाद में अवरोह अवश्य हो । अवरोहशून्य रचना में भी प्रसाद गुण पाया जा सकता है । इसलिए आरोह या अवरोह होने पर 'ओज' या 'प्रसाद' गुण अवश्य हो अथवा ओज और प्रसाद गुण होने पर आरोह या अवरोह अवश्य हो, यह नहीं कहा जा सकता है । आरोह और अवरोह में ओज तथा प्रसाद के अनैकान्तिक होने से 'आरोहावरोहक्रम' में समाधि नामक तृतीय गुण को मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यही बात कहते हैं ।

अनैकान्तिक होने से भी [आपका 'समाधि' को अलग गुण न मानना ठीक नहीं है । अतः 'समाधि' अलग गुण है]।

ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायां ताविति चेदभ्युपगमः । ३, १, १७ ।

यह [कोई आवश्यक] नियम नहीं है कि ओज में आरोह और प्रसाद में अवरोह अवश्य हो । [क्योंकि इस नियम का व्यभिचार मिलता है जैसे—]

उद्गच्छदच्छसुभगच्छविगुच्छकच्छम् ।

इत्यादि में आरोहशून्य होने पर भी 'ओज' गुण पाया जाता है । और

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।

इसमें अवरोह का प्रयोग न होने पर भी 'प्रसाद' गुण पाया जाता है । इसलिए जब 'आरोह' के बिना भी 'ओज' तथा 'अवरोह' के बिना भी 'प्रसाद' पाया जाता है तो 'आरोह' और 'अवरोह' के साथ 'ओज' और प्रसाद का अन्वय-व्यतिरेक न होने से तो आरोह और अवरोह के होने पर भी ओज और प्रसाद का अभाव और उनके स्थान पर उनसे भिन्न 'समाधि' नामक तृतीय गुण को मानने में कोई हानि नहीं है । यह इस सूत्र का आशय हुआ ।। १६ ।।

यहां पर जो वादी ने 'ओज' और 'प्रसाद' बिना आरोह या अवरोह के भी रहते हैं यह बात ऊपर दो उदाहरणों से दिखाई थी । इस पर यह कहा जा सकता है कि हर जगह 'ओज' अथवा 'प्रसाद' में आरोह अवरोह का होना आवश्यक नहीं है । परन्तु उनकी जब कभी तीव्रावस्था होती है तब आरोह या अवरोह होता है । सामान्यतः हर जगह 'ओज' और 'प्रसाद' में आरोह-अवरोह नहीं रहता । इस पर 'समाधि' को पृथक् गुण मानने वाले सिद्धान्त पक्ष का कहना यह है कि यह जो विशेषता है उसका कारण ही 'समाधि' गुण है । अर्थात् साधारणतः आरोह और अवरोह के बिना भी ओज और प्रसाद गुण रहते हैं । परन्तु कभी जब वह दोनों गुण तीव्रावस्था में पहुँचते हैं तब वहां आरोह अथवा अवरोह होता है । यह जो 'ओज' या 'प्रसाद' की विशेषावस्था है जिसे आप आरोह या अवरोह कह रहे हो इसी के कारण का नाम 'समाधि' गुण है । 'समाधि' के लक्षण 'आरोहावरोहक्रमः समाधिः' में 'क्रम' पद से गौणी लक्षणा द्वारा 'निमित्त' अर्थ का ग्रहण करना चाहिए । तब उस सूत्र का अर्थ होगा कि ओज और प्रसाद की तीव्रता रूप जो विशेष अवस्था है उसमें पाया जाने वाला जो आरोह या अवरोह उसका 'निमित्त' तृतीय 'समाधि' नामक गुण है । इसी बात को ग्रन्थकार अगले तीन सूत्रों में प्रतिपादित करते हैं ।

ओज और प्रसाद के किसी भाग में तीव्रावस्था होने पर वे [आरोह

ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायामारोहोऽवरोहश्चेत्येवं चेन्मन्यसे, अभ्युपगमः, न विप्रतिपत्तिः ॥ १७ ॥

विशेषापेक्षित्वात् तयोः । ३, १, १८ ।

स विशेषो गुणान्तरात्मा ॥ १८ ॥

आरोहावरोहनिमित्तं समाधिराख्यायते । ३, १, १६ ।

आरोहावरोहक्रमः समाधिरिति गौण्या वृत्त्या व्याख्येयम् ॥ १६ ॥

और अवरोह] होते हैं [सर्वत्र ओज और प्रसादमात्र में नहीं] यह कहो तो [उस कथन से समाधि नामक तृतीय गुण की सत्ता] मान [ही] लेते हैं।

ओज और प्रसाद के किसी भाग में तीव्रावस्था होने पर आरोह और अवरोह होता है यदि ऐसा मानते हैं तो [हमें भी] स्वीकार है [उसमें हमें भी कोई आपत्ति नहीं है। अथवा आप भी प्रकारान्तर से 'समाधि' गुण की सत्ता मानते हैं। उसमें आपको भी] कोई आपत्ति नहीं [हो सकती] है ॥ १७ ॥

[ओज तथा प्रसाद गुणों में] उन दोनों [आरोह तथा अवरोह की नियत स्थिति] को [किसी] विशेष [निमित्त] की अपेक्षा होने से।

और वह [आरोह अवरोह का निमित्त भूत] विशेष [समाधि रूप] अन्य गुण स्वरूप ही है। [अर्थात् ओज और प्रसाद गुण में जो कहीं तीव्रावस्था आती है उसका कोई विशेष कारण आवश्यक है। और वह विशेष निमित्त 'समाधि' गुण ही है अन्य कुछ नहीं] ॥ १८ ॥

उस आरोह तथा अवरोह का निमित्त [ही] समाधि [नामक तृतीय गुण] कहा जाता है।

आरोह और अवरोह का क्रम 'समाधि' [गुण कहलाता] है यह [जो समाधि का लक्षण किया था उसमें क्रम पद की] गौणी वृत्ति [लक्षणा] से [निमित्त अर्थपरक मान कर उस लक्षण सूत्र की] व्याख्या करनी चाहिए ॥ १६ ॥

इस पर फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि हमने जो यह कहा कि ओज और प्रसाद की अवस्था विशेष में आरोह और अवरोह होता है उसमें आपने आरोह के अभाव में भी ''उद्गच्छदच्छसुभगच्छविगुच्छकच्छम्' आदि उदाहरण में आरोह के अभाव में भी ओज तथा 'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते'

क्रमविधानार्थत्वाद्वा । ३, १, २० ।

पृथक्करणमिति । पाठधर्मत्वं च न सम्भवतीति 'न पाठधर्माः सर्वत्राहष्टेः' इत्यत्र वक्ष्यामः ॥ २० ॥

इत्यादि उदाहरण में अवरोह के बिना भी प्रसाद गुण दिखा कर अनैकान्तिकत्व दोष देकर ओज से भिन्न आरोह को और प्रसाद से भिन्न अवरोह को सिद्ध कर उन आरोह अवरोह के क्रम को 'समाधि' नाम से अलग गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि 'यत्र यत्रौजः तत्र तत्रारोहः' 'जहां-जहां ओज होता है वहां-वहां आरोह होता है' इस प्रकार का नियम नहीं है परन्तु 'यत्र यत्रारोहस्तत्र तत्रौजः' जहां-जहां आरोह होता है वहाँ-वहाँ ओज होता है इस प्रकार का नियम माना जा सकता है। उसका व्यभिचार न मिलने से उस नियम को अनैकान्तिक नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी बात आप ने यह कही थी कि ओज और प्रसाद की तीव्रावस्था में जो आरोह और अवरोह होता है उसको ओज और प्रसाद से भिन्न मान कर उसके निमित्त का नाम ही 'समाधि' नामक गुण है। यहां भी, अवस्था तथा अवस्थावान् का अभेद मानने पर ओज और आरोह के अभिन्न ही ठहरने से यह मार्ग भी उचित नहीं है। जब ओज और प्रसाद के निमित्त को 'समाधि' गुण नहीं कहते हैं, तब उनसे अभिन्न आरोह तथा अवरोह के निमित्त को अलग 'समाधि' गुण मानने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती है। इस प्रकार यहाँ दो तरह की शङ्काएं की जा सकती हैं।

इन दोनों शङ्काओं को ध्यान में रख कर ग्रन्थकार 'समाधि' गुण के मानने का दूसरा प्रयोजन 'क्रमविधान' को बतलाते है।

अथवा [आरोह और अवरोह में], क्रम के विधान के लिए [समाधि को पृथक् गुण माना है। यहां आरोह और अवरोह के परस्पर क्रम से तात्पर्य नहीं है अपितु आरोह स्थल में क्रम से आरोह और अवरोह स्थल में क्रम से अवरोह करना 'समाधि' गुण कहलाता है यह सूत्रकार का आशय है।]

[आरोह स्थल में एक साथ नहीं अपितु क्रम से आरोह और अवरोह स्थल में एक साथ नहीं अपितु क्रम से अवरोह को 'समाधि' गुण कहते हैं। इस प्रकार क्रम के बोधन के लिए समाधि गुण को] पृथक् किया गया है।

[इस पर शंका यह होती है कि यह क्रम तो पाठ का धर्म हो सकता है अर्थात् बोलने में जो उतार चढ़ाव होता है वह तो काव्य का गुण नहीं हो

पृथक्पदत्वं माधुर्यम् । ३, १, २१ ।

बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत् तन्माधुर्यम्। पृथक् पदानि यस्य सः पृथक्पदः, तस्य भावः पृथक्पदत्वम् । समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत् । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । विपर्ययस्तु यथा—

चलितशबरसेनादत्तगोश्रृङ्गचण्ड—
ध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादाः ॥ २१ ॥

सकता है । उसे आप काव्य-गुणों में क्यों गिना रहे हैं । इसका खण्डन करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं कि उस आरोह या अवरोह को] पाठ का धर्म नहीं कहा जा सकता है यह बात [हम इस अध्याय के अन्तिम सूत्र] 'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः' इस सूत्र में कहेंगे ।

यहां समाधि गुण को अलग सिद्ध करने का बहुत प्रयास ग्रन्थकार ने किया है परन्तु वह पूर्णतया सफल नहीं हुआ है । इसी लिए अन्य लोग इसको अलग गुण नहीं मानते हैं ॥ २० ॥

'माधुर्य' रूप चतुर्थ गुण के निरूपण के लिए ग्रन्थकार अगला सूत्र लिखते हैं—

[रचना के] पदों की पृथक्ता [अर्थात् समासरहित पदों के प्रयोग] को माधुर्य [गुण] कहते हैं ।

बन्ध [अर्थात् रचना] का जो पृथक्पदत्व है वह माधुर्य कहलाता है । जिसके पद पृथक् [अलग-अलग असमस्त] हैं वह [बन्ध] पृथक्पदः [बन्धः] हुआ और उसका भाव पृथक्पदत्व [कहलाता] है । यह समास की दीर्घता का निषेध करने वाला है । [इस माधुर्य गुण का] पूर्वोक्त ['अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' आदि श्लोक ही] उदाहरण है । [उसका विपर्यय] प्रत्युदाहरण जैसे [निम्न लिखित वाक्य]—

चलती हुई शबरसेना के बजाए हुए तुरही [गोश्रृङ्ग नामक वाद्य] की भयकर ध्वनि से चकित वराहों से व्याप्त [व्याकुल] विन्ध्याचल की तलहटी है ।

यहां 'चलित' से लेकर 'व्याकुला' तक एक लम्बा समस्त पद विशेषण रूप में दिया हुआ है । इसलिए यहां पृथक्पदत्व रूप 'माधुर्य' गुण नहीं है । इसलि यह प्रत्युदाहरण हुआ ॥ २१ ॥

अजरठत्वं सौकुमार्यम् । ३, १, २२ ।

बन्धस्याजरठत्वमपारुष्यं यत् तत् सौकुमार्यम् । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । विपर्ययस्तु यथा—

निदानं निर्द्वैतं प्रियजनसदृक्त्वव्यवसितिः ।
सुधासेकप्लोषौ फलमपि विरुद्धं मम हृदि ॥ २२ ॥

विकटत्वमुदारता । ३, १, २३ ।

बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता । यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदा-

सप्तम गुण 'सौकुमार्य' का निरूपण करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं—

[बन्ध की] अकठोरता सौकुमार्य [कहलाती] है ।

बन्ध [रचना शैली] का अजरठत्व [अर्थात्] अपारुष्य [कठोरता का अभाव] जो है वह 'सौकुमार्य' [गुण कहलाता] है । [इसका भी] पूर्वोक्त ['अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' आदि श्लोक ही] उदाहरण है । [उसका विपर्यय] प्रत्युदाहरण तो जैसे [निम्न श्लोक है]—

[वियोगावस्था में] प्रिय जन [प्रियतमा या प्रियतम-आदि के मुख, नेत्र, केश आदि] के सादृश्य की [चन्द्रमा, कमल, मयूरपिच्छ आदि में] स्थिति ही निश्चित [निर्द्वैतं असन्दिग्ध] रूप से [उसकी स्मृति और वियोग के उद्दीपन का निदानम्] कारण है । और [उसकी स्मृति से] सुधा सिञ्चन [तथा वियोग से हृदय का प्लोष अर्थात्] और दाह रूप विरुद्ध [दो प्रकार के] फल भी मेरे हृदय में उत्पन्न होते हैं । [अर्थात् चन्द्रमा कमल आदि को देख कर सादृश्यवश प्रियतमा के मुख आदि की स्मृति हो आती है उससे हृदय में आनन्द का सञ्चार होता है । परन्तु उसके साथ ही उसका वियोग हृदय को और अधिक जलाने लगता है] ।

इस पद्य की रचना में 'सौकुमार्य' नहीं अपितु 'पारुष्य' है । अतएव यह 'सौकुमार्य' गुण का उदाहरण नहीं अपितु प्रत्युदाहरण है ॥ २२ ॥

आठवें 'उदारता' नामक गुण का लक्षण अगले सूत्र में करते हैं—

[रचना शैली की] 'विकटता', 'उदारता' [कहलाती] है ।

रचनाशैली [बन्ध] की जो 'विकटता' है वह 'उदारता' [कहलाती]

नीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम् । लीलायमानत्वमित्यर्थः ।
यथा—

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां
झणिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलञ्च ॥

न पुनः—

चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीनां
झटिति रणितमासीन्मञ्जु चित्रञ्च तत्र ॥ २३ ॥

अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः । ३, १, २४ ।

है । जिसके होने पर [रचना के] पद नाच से रहे हैं इस प्रकार की वर्णों के विषय में [श्रोता] लोगों की भावना होती है वह 'विकटत्व' [कहलाता] है । [अर्थात् वर्णों का नृत्य के समान] लीलायमानत्व [ही विकटत्व अथवा उदारता है] यह अर्थ हुआ । [उसका उदाहरण] जैसे—

वहाँ नर्तकियों के अपने पैरों में पहिने हुए नूपुरों का विचित्र और सुन्दर शब्द होने लगा ।

इस श्लोक के पढ़ते समय उसके पद नाचते हुए से प्रतीत होते हैं । नाचने में जैसे जैसे उतार-चढ़ाव की विशेष प्रकार की गति होती है इसी प्रकार यहाँ झटिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलञ्च' आदि पदों को पढ़ते समय विशेष प्रकार की गति प्रतीत होती है । इस लिए यह 'विकटत्व' अथवा 'उदारता' का उदाहरण है ।

[परन्तु यदि इस श्लोक के पदों में परिवर्तन नीचे लिखे प्रकार से कर दिया जाय तो] फिर [वह गुण] नहीं रहेगा । [जैसे]—

नर्तकियों के चरण कमलों में पहिने हुए [लग्न] नूपुरों ने वहाँ विचित्र और सुन्दर शब्द किया ।

श्लोक के इन दोनों चरणों के ऊपर दिए हुए दोनों पाठों को पढ़ते समय उनके उच्चारण में स्पष्ट रूप से अन्तर प्रतीत होता है । उससे ही पदों के 'विकटत्व' अथवा 'उदारता' गुण का स्वरूप निर्णय हो जाता है ॥२३॥

अगले सूत्र में 'अर्थव्यक्ति' रूप नवम गुण का निरूपण करते हैं—

अर्थ की [स्पष्ट और तुरन्त] प्रतीति का हेतुभूत [शब्द गुण] अर्थव्यक्ति' [नाम से कहा जाता] है ।

यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । प्रत्युदाहरणन्तु भूयः सुलभञ्च ॥ २४ ॥

औज्ज्वल्यं कान्तिः । ३, १, २५ ।

बन्धस्योज्ज्वलत्वं नाम यदसौ कान्तिरिति। यदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते । यथा—

कुरङ्गीनेत्रालीस्तबकितवनालीपरिसरः ।

जहाँ [जिन शब्दों में] तुरन्त [और विस्पष्ट रूप से] अर्थ की प्रतीति कराने की [हेतुत्व] क्षमता होती है वह 'अर्थव्यक्ति' [नामक] गुण होता है । [इस अर्थव्यक्ति गुण का भी] पूर्वोक्त ['अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि श्लोक ही] उदाहरण हैं । [उसके विपरीत] प्रत्युदाहरण बहुत [हो सकते हैं] और सुलभ हैं । [इसलिए हम यहां उसका प्रत्युदाहरण अपने वृत्तिग्रन्थ में नहीं दे रहे हैं] ।

वास्तव में इस 'अर्थव्यक्ति' गुण के अभाव में १. असाधुत्व, २. अप्रतीतत्व, ३. अनर्थकत्व, ४. अन्यार्थत्व, ५. नेयार्थत्व, ६. यतिभ्रष्टत्व, ७. क्लिष्टत्व, ८. सन्दिग्धत्व और ९. अप्रयुक्तत्व आदि दोष हो जाते हैं । उन दोषों के निरूपण में जो उदाहरण दिए हैं वह सब इस 'अर्थव्यक्ति' के प्रत्युदाहरण हो सकते हैं । इस लिए उसके प्रत्युदाहरणों को अलग दिखलाने की आवश्यकता नहीं है । यह मान कर वृत्तिकार ने अलग प्रत्युदाहरण नहीं दिखाया है ॥२४॥

'कान्ति' नामक दशम गुण का लक्षण अगले सूत्र में करते हैं ।

[रचना शैली की] उज्ज्वलता [नवीनता का नाम] कान्ति [गुण] है ।

बन्ध की जो उज्ज्वलता [नवीनता] है वह ही कान्ति [नामक गुण] है । जिस [कान्ति] के अभाव में [यह श्लोक या काव्य] पुरानी नक़ल [छाया] है यह कहा जाता है । [इस कान्ति नामक गुण का उदाहरण] जैसे—

मृगियों के नेत्रों की पंक्ति से वनश्रेणी का किनारा [पुष्पों के] गुच्छों से युक्त सा [प्रतीत हो रहा] है ।

यहाँ 'कुरङ्गीनेत्राली' से 'वनालीपरिसरः' अर्थात् वन प्रान्त को, हरिणियों के नेत्रों-से फूलों के गुच्छों से भरा सा 'स्तबकित' सा कह कर जो वर्णन

विपर्ययस्तु भूयान् सुलभश्च ।

श्लोकाश्चात्र भवन्ति—

पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः ।
अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम् ॥ १ ॥

श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादञ्च प्रचक्षते ।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः ॥ २ ॥

यत्रैकपदवद्भावं पदानां भूयसामपि ।
अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥ ३ ॥

प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः ।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति गुणो मतः ॥ ४ ॥

किया है, वह कवि की अपनी नई कल्पना या नई सूझ है । यही उसका 'औज्ज्वल्य' गुण है । जहाँ कवि की कल्पना में कोई नूतनता नहीं रहती वहाँ लीकपिटाई सी प्रतीति होती है और कोई चारुता नहीं रहती ।

[इस औज्ज्वल्य के विपर्यय रूप] प्रत्युदाहरण बहुत और सुलभ हैं । [अतः उनको दिखलाने की आवश्यकता यहाँ नहीं है ।]

[इस प्रकार ग्रन्थकार ने सूत्र और वृत्ति द्वारा दस प्रकार के शब्द गुणों का प्रतिपादन कर दिया । अब उन्हीं दस गुणों को श्लोकों द्वारा दिखलाने के लिए कुछ संग्रह श्लोक स्वयं लिखते हैं] इस [अर्थात् शब्द गुणों के स्वरूप निरूपण] के विषय में [निम्नलिखित ११] श्लोक भी हैं । [इन ११ श्लोकों में क्रमशः उन्हीं दस 'शब्द-गुणों' का निरूपण किया गया है । जो इस प्रकार है]—

१. पद रचना की गाढ़ता को कवीश्वर लोग 'ओज' [नामक गुण] कहते हैं । इस [ओज गुण] से युक्त पद प्रायः [स्फूर्ति पैदा करने वाले] कानों के लिए रसायन के समान [स्फूर्तिदायक] होते हैं ।

२. ओज से मिश्रित [रचना के] शैथिल्य को 'प्रसाद' [गुण नाम से] कहते हैं । इस [प्रसाद गुण] के बिना वस्तुतः काव्य रचना का आनन्द ही नहीं आता है ।

३. जहाँ सन्धि के दिखाई न देने पर भी बहुत से पदों में एकपद के समान प्रतीति हो वह 'श्लेष' [नामक] परम गुण है ।

४. [श्लोक के] प्रत्येक पाद में और प्रत्येक श्लोक में एक-से मार्ग

आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत्र ।
समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती ॥ ५ ॥

बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यमुदितं बुधैः ।
अनेन हि पदन्यासाः कामं धारामधुच्युताः ॥ ६ ॥

यथा हि छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः ।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥ ७ ॥

बन्धस्याजरठत्वञ्च सौकुमार्यमुदाहृतम् ।
एतेन वर्जिता वाचो रूक्षत्वान्न श्रुतिक्षमाः ॥ ८ ॥

विकटत्वञ्च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम् ।
वैचित्र्यं न प्रपद्यन्ते यया शून्याः पदक्रमाः ॥ ९ ॥

का ग्रहण समता नामक गुण माना जाता है । उसका ज्ञान तथा उसकी पहिचान बड़ी कठिन है ।

५. जहां [श्लोकों के पादों की] यतियाँ क्रम से चढ़ती और उतरती हैं वह 'समाधि' नामक गुण होता है और उससे [कवि की] वाणी पवित्र होती है ।

६. रचना में पृथक् पदत्व [समासरहित पदों के प्रयोग] को विद्वान् लोग 'माधुर्य' [नामक गुण] कहते हैं । इस [माधुर्य] के होने से पद रचना मधुधारा की अत्यन्त वृष्टि करने वाली होती है ।

७. जैसे चित्र [निर्माण विद्या] के पण्डित [चित्र के सौन्दर्यापादक समस्त आवश्यक गुणों से युक्त] रेखा को चतुरतापूर्वक खींचते हैं इसी प्रकार बुद्धिमान् [कवि अपनी काव्य-] वाणी को समस्त [ओज प्रसाद आदि दसों] गुणों से गुम्फित करते हैं ।

८. रचना की कोमलता [अजरठता अपारुष्य] को 'सौकुमार्य' [गुण] कहा जाता है । इस [सौकुमार्य गुण] से रहित वाणी रूक्ष होने से [सहृदयों के] सुनने के योग्य नहीं होती है ।

९. बन्ध [रचना शैली] की 'विकटता' [पदों की नृत्यत्प्रायता] को 'उदारता' [नामक गुण] कहते हैं । जिस [उदारता] के बिना पदों की रचना [विचित्रता] सौन्दर्य को प्राप्त नहीं कर पाती है ।

पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः।
यत्रार्थव्यक्तिहेतुत्वात् सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः ॥ १० ॥
औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्ध्यं कवेर्वचः ॥ ११ ॥ २५॥

[1]नासन्तः सद्वेद्यत्वात् । ३, १, २६ ।

न खल्वेते गुणा असन्तः। संवेद्यत्वात् ॥२६॥

---

१०. जहाँ पदों की गति मानो पीछे हो और अर्थ की अभिव्यक्ति मानो पहिले हो जाय उसको अर्थ की तुरन्त और विस्पष्ट अभिव्यक्ति का हेतु होने से 'अर्थव्यक्ति' [नामक गुण] कहते हैं।

११. गुणों को जानने वाले विद्वान् [पदों के] औज्ज्वल्य को 'कान्ति' [नामक गुण] कहते हैं। उस [कान्ति गुण] से रहित कवि की वाणी पुराने चित्र के समान [अनाकर्षक] होती है ॥२५॥

इस प्रकार शब्द गुणों के स्वरूप, लक्षण आदि का प्रतिपादन करके अब शब्द गुणों की प्रामाणिकता का निरूपण करते हैं। यदि कोई यह शङ्का करे कि यह दस गुणों की आपने स्वयं यों ही कल्पना कर ली है वस्तुतः उनका कोई अस्तित्व नहीं है तो उसका समाधान करने के लिए अलग सूत्र लिखा है।

[यह दसों गुण] असत् नहीं हैं। सहृदयों के संवेद्य होने से।

यह [दसों गुण] असत् नहीं है सहृदयों द्वारा अनुभूत होने से

यहाँ मूल सूत्र में 'सद्वेद्यत्वात्' पाठ है और वृत्ति में 'संवेद्यत्वात्' पाठ पाया जाता है। परन्तु दोनों जगह एक-सा ही पाठ होना अधिक अच्छा है। इस लिए हमने दोनों जगह 'सद्वेद्यत्वात्' यही पाठ रखा है। उसका अर्थ 'सहृदय-संवेद्यत्वात् 'होता है ॥२६॥

इस पर शङ्का की जा सकती है कि प्रतीति होने मात्र से गुणों की सत्ता मानना अनिवार्य नहीं हो जाता है। हो सकता है कि शुक्ति में रजत-प्रतीति के समान उनकी प्रतीति भ्रान्त ही हो। इसका उत्तर करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं।

गुणों के जानने वालों सहृदयों के द्वारा संवेद्य होने पर भी [वह गुण] भ्रम मूलक ही हैं [ऐसी शङ्का हो तो] इसके [निवारण] के लिए कहते –

---

१ नासन्तः संवेद्यत्वात्।

तद्विदां संवेद्यत्वेऽपि भ्रान्ताः स्युरित्याह—

न भ्रान्ता निष्कम्पत्वात् । ३, १, २७ ।

न गुणा भ्रान्ताः । एतद्विषयायाः प्रवृत्तेर्निष्कम्पत्वात् ॥२७॥

[गुणों की अनुभूति] भ्रान्त नहीं है, अबाधित [निष्कम्प] होने से ।

[गुणों की अनुभूति] भ्रान्त नहीं है । इस [गुण] विषयक अनुभूति के अबाधित [निष्कम्प] होने से ।

भ्रम उस प्रतीति को कहते हैं जिसका बाध होता है । जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति अथवा शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है वह भ्रम है, क्योंकि भली प्रकार देखने पर उसका बाध भी हो जाता है । 'रज्जुरियं नायं सर्पः' अथवा 'शुक्तिरियं नेदं रजतम्' । 'यह रस्सी है सांप नहीं' या 'यह सीप है चांदी नहीं' इस प्रकार की उत्तरकालिक प्रतीति से पूर्व प्रतीति का बाध हो जाता है । इस लिए उस पूर्व प्रतीति को मिथ्या अथवा भ्रान्त प्रतीति कहा जाता है । परन्तु जिस प्रतीति का बाध नहीं होता उसको मिथ्या प्रतीति नहीं कहा जा सकता है । यहाँ वामन में बाध की जगह कम्प शब्द का प्रयोग किया है । इस लिए निष्कम्प का अर्थ अबाधित है । जो निष्कम्प अर्थात् अबाधित प्रतीति है उसको भ्रम नहीं कहा जा सकता है । गुणों की प्रतीति का बाध नहीं होता है अतएव अबाधित अथवा निष्कम्प प्रतीति होने के कारण वह भ्रान्त प्रतीति नहीं हो सकती है ॥२७॥

इस पर यह शङ्का हो सकती है कि यह सब गुण जो आपने दिखला वह तो पाठ के धर्म हैं । अर्थात् श्लोक आदि को पढ़ते समय जो आरोह-अवरोह आदि होता है उसको ही आप 'ओज', 'प्रसाद' आदि नाम से कह रहे हैं । इसलिए आपके अभिमत 'ओज', 'प्रसाद' आदि को अधिक से अधिक पाठ का धर्म माना जा सकता है । काव्य गुण की दृष्टि से उनका कोई मूल्य या महत्व नहीं है । इस शङ्का का उत्तर करने के लिए ग्रन्थकार ने अगले सूत्र की रचना की है । उत्तर का आशय यह है कि यह आरोहावरोह मूलक 'ओज', 'प्रसाद' आदि गुण केवल पाठ के धर्म नहीं अपितु वे बन्ध के अर्थात् काव्य रचना के गुण हैं । यदि केवल पाठ के धर्म होते तो जहाँ चाहें वहाँ सर्वत्र यथेष्ट आरोह या अवरोह कर देने से ही अव्यवस्थित रूप से ओज और प्रसाद का भान होने लगता । परन्तु ऐसा नहीं है । जहाँ वस्तुतः रचना में ओज नहीं है वहाँ पाठ में आरोह कर देने से भी ओज की प्रतीति नहीं हो सकती है । इसी प्रकार जहाँ

न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः । ३, १, २८ ।

नैते गुणाः पाठधर्माः, सर्वत्राहष्टेः । यदि पाठधर्माः स्युस्तर्हि विशेषानपेक्षाः सन्तः सर्वत्र दृश्येरन् । न च सर्वत्र दृश्यन्ते । विशेषापेक्षया, विशेषाणां गुणत्वाद् गुणाभ्युपगम एवेति ॥२८॥

इति पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'गुणविवेचने' तृतीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।
गुणालङ्कारविवेकः शब्दगुणविवेकश्च ।

—o—

रचना में शैथिल्य नहीं है वहाँ केवल पाठ अथवा उच्चारण में शैथिल्य ले आने से प्रसाद गुण नहीं हो जाता है । इस लिए इन ओज, प्रसाद आदि को पाठ-धर्म न मान कर काव्य के गुण के रूप में उनकी स्वतन्त्र सत्ता मानना अनिवार्य है । यही बात अगले सूत्र में कहते हैं ।

[ओज प्रसाद आदि गुण केवल] पाठ के धर्म नहीं हैं । [रचनागत ओज प्रसाद आदि के अभाव में] सर्वत्र [केवल पाठ मात्र से] न पाए जाने से ।

यह गुण [केवल] पाठ के धर्म नहीं हैं । सर्वत्र दिखाई न देने से । यदि वह [केवल] पाठ के धर्म होते तो बिना किसी विशेषता के सर्वत्र दिखाई देते । परन्तु सर्वत्र दिखाई नहीं देते हैं । किसी विशेषता की अपेक्षा से [उन ओज-प्रसाद आदि की प्रतीति होती है ऐसा मानने पर तो] विशेष के [ही] गुण रूप होने से गुणों को स्वीकार करना ही होना होगा । [इस लिए गुणों का मानना आवश्यक है यह ग्रन्थकार का अभिप्राय हुआ] ॥२८॥

श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में
'गुणविवेचन' नामक तृतीय अधिकरण में
प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

गुण और अलङ्कारों का भेद तथा गुणों का विवेचन
समाप्त हुआ ।

—o—

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
'काव्यालङ्कारदीपिकायां' हिन्दी व्याख्यायां
तृतीयाधिकरणे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

———

तृतीयाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

[अर्थगुणविवेचनम्]

सम्प्रत्यर्थगुणविवेचनार्थमाह—

त एवार्थगुणाः । ३, २, १ ।

त एवौजःप्रभृतयोऽर्थगुणाः ॥ १ ॥

शब्दार्थगुणानां वाच्यवाचकद्वारेण भेदं दर्शयति—

अर्थस्य प्रौढ़िरोजः । ३, २, २ ।

तृतीयाधिकरण का द्वितीय अध्याय

[अर्थ गुणों का विवेचन]

इस तृतीय अधिकरण के प्रथम अध्याय में दस प्रकार के शब्द-गुणों का निरूपण किया गया था। अब इस अध्याय में 'अर्थगुणों' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। इन अर्थगुणों के नाम और संख्या वही हैं जो पिछले शब्दगुणों के थे। हां, लक्षणों में कुछ भेद है। इसलिए इस अध्याय का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

अब अर्थगुणों के विवेचन के लिए कहते हैं—

वह [ओज, प्रसाद आदि दस] ही अर्थ गुण हैं।

[शब्दगुणों के रूप में जिनका निरूपण किया जा चुका है] वह ओज इत्यादि ही अर्थगुण [भी] हैं ॥ १ ॥

शब्द और अर्थगुणों का वाच्य-वाचक के द्वारा भेद दिखलाते हैं। [अर्थात् शब्द और अर्थगुणों के नाम एक समान होने पर भी उनमें भेद यह है कि शब्दगुणों के स्थल में प्रौढ़ि आदि, 'वाचक' अर्थात् शब्द के धर्म होते हैं और अर्थ गुणों में प्रौढ़ित्व आदि शब्द के नहीं अपितु अर्थ के धर्म होते हैं।]—

अर्थ की प्रौढ़ि 'ओज' [नामक अर्थगुण] है।

अर्थ की प्रौढ़ि अर्थात् प्रौढ़त्व [अर्थगत गुण] 'ओज' है। [यह अर्थ की

अर्थस्याभिधेयस्य प्रौढ़िः प्रौढ़त्वमोजः ।

पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढ़िर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च ॥

(१) पदार्थे वाक्यवचनं यथा—

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः ।

अत्र चन्द्रपदवाच्येऽर्थे 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' इति वाक्यं प्रयुक्तम् । पदसमूहश्च वाक्यमभिप्रेतम् । अनया दिशाऽन्यदपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा—

प्रौढ़ि पांच प्रकार की होती है । वह पांचों प्रकार के अर्थप्रौढ़ि के भेद निम्न श्लोक में इस प्रकार दिखाए हैं]—

१. [जिस अर्थ का प्रतिपादन केवल एक ही शब्द से किया जा सकता है उस] पद [से प्रतिपाद्य] अर्थ [के बोधन] में वाक्य की रचना, २. वाक्य के [प्रतिपाद्य] अर्थ [के बोधन] में [संक्षेप करके केवल एक] पद का कथन करना, ३. [इन दो प्रकारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार से अर्थ का] विस्तार, ४. [अथवा उक्त प्रकारों से भिन्न प्रकार से पदार्थ का] संक्षेप [समास] करना, और ५. [अर्थ का विशेष रूप से] साभिप्रायत्व [यह पांच प्रकार की अर्थगत] 'प्रौढ़ि' होती है ।

[आगे इन पांचों प्रकारों के उदाहरण देते हैं ।] पद के अर्थ [बोधन] में [लम्बे] वाक्य का कथन करना [यह जो प्रौढ़ि का पहिला भेद है उसका उदाहरण] जैसे—

अत्रि [ऋषि] के नेत्र से उत्पन्न ज्योति [अर्थात् चन्द्रमा] के समान ।

यहां 'चन्द्र' पद से वाच्य [चन्द्रमा रूप] अर्थ [के बोधन] में 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' [इतना लम्बा] वाक्य प्रयुक्त किया है ।

[यहां यह शङ्का हो सकती है कि 'तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इस लक्षण के अनुसार तिङन्त तथा सुबन्त पदों का समुदाय अथवा कारक से युक्त क्रिया को वाक्य कहते हैं । परन्तु 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' इस पद समुदाय में कोई क्रिया नहीं है इस लिए इस को वाक्य नहीं कह सकते हैं । इस शङ्का को मन में रख कर ग्रन्थकार कहते हैं कि यहां वाक्य का यह लक्षण अभिप्रेत नहीं है अपितु सामान्य रूप से] और [केवल] पद समूह [ही यहां] वाक्य [शब्द से] अभिप्रेत है । इस प्रकार [पदों के अर्थ में प्रयुक्त वाक्य] के अन्य [उदाहरण] भी समझ लेने चाहिएं । जैसे कि—

पुरः पाण्डुच्छायं तदनु कपिलिम्ना कृतपदं
ततः पाकोत्सेकादरुणगुणसंसर्गितवपुः।
शनैः शोषारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं,
वने वीतामोदं बदरमरसत्वं कलयति ॥

न चैवमतिप्रसङ्गः, काव्यशोभाकरत्वस्य गुणसामान्यलक्षणस्याव-स्थितत्वात्।

[बेर का फल निकलते समय] सबसे पहिले [सफ़ेद] पाण्डु छाया, वाला, उसके बाद पीलिमा से व्याप्त, उसके बाद पकने पर लालिमा युक्त स्वरूप वाला, उसके बाद सूखने लगने पर [स्थपुटो निम्नोन्नतः, विष्कम्भः आभोगः] नीचे ऊंचे स्वरूप वाला और अन्त में वन में ही गन्धहीन और रस-विहीन हो जाता है।

इसमें 'कपिल' इस पद के अर्थ बोधन करने के लिए 'कपिलिम्ना कृत-पदं' और 'अरुणं' इस पद के स्थान पर 'अरुणगुणसंसर्गितवपुः' यह पद समुदाय प्रयुक्त किया गया है। यह सब पद के अर्थ में वाक्यप्रयोग रूप प्रथम प्रकार की प्रौढ़ि के उदाहरण हैं।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि इस प्रकार पद मात्र से बोध्य अर्थ के लिए वाक्य के प्रयोग को आप अर्थगत 'प्रौढ़ि' मान कर 'ओज' गुण के अन्तर्गत मानते हैं तो अभी दोष निरूपण के प्रसङ्ग में 'व्यवहितार्थं क्लिष्टम्' 'क्लिष्टत्व' दोष का लक्षण करके 'दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' यह जो उसका उदाहरण दिया है यह कैसे सङ्गत होगा। वहाँ भी 'चन्द्र' इस पद से बोध्य अर्थ के लिए 'दक्षात्मजादयितवल्लभ' रूप पदसमूह का प्रयोग किया गया है। उस दोषस्थल में इस प्रौढ़ि गुण के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जावेगी। इस शङ्का के निवारण के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि--

और इस प्रकार ['दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' इत्यादि उदाहरणों में प्रौढ़ि रूप इस अर्थगुण के लक्षण की] अतिव्याप्ति नहीं समझनी चाहिए। [यहां अर्थात् 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिवद्यौः' इत्यादि उदाहरण में] काव्य-शोभाजनकत्व रूप गुण के सामान्य लक्षण के विद्यमान होने से।

और 'दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' इत्यादि उदाहरणों में अर्थ-प्रतीति के व्यवहित होने से गुण के सामान्य लक्षण से हीन और दोष लक्षण

वाक्यार्थे पदाभिधानं यथा 'दिव्येयं न भवति किन्तु मानुषी' इति वक्तव्ये 'निमिषति' इत्याहेति ।

अस्य वाक्यार्थस्य व्याससमासौ ।

के विद्यमान होने से उसमें गुण का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है। इन दोनों उदाहरणों में का परस्पर भेद सहृदय अथवा गुणदोष के विवेचन की विशेष क्षमता रखने वालों को ही प्रतीत हो सकता है सामान्य व्यक्ति को उन दोनों की स्थिति एक जैसी ही जान पड़ती है।

वाक्य के अर्थ में पद के कथन [का उदाहरण] जैसे—

'यह दिव्य अप्सरा नहीं है किन्तु मानुषी [स्त्री] है' [इतने लम्बे वाक्य द्वारा] यह कहने के स्थान पर [केवल] 'निमिषति' [पलक मारती है] यह कहता है।

देवलोक वासी देवता तथा अप्सराएं पलक नहीं मारते हैं और इस भूलोक के वासी मनुष्य स्त्री आदि पलक मारने वाले हैं। इस प्रकार का भेद कवि जनों में प्रसिद्ध है। इसलिए केवल 'निमिषति' कह देने से ही यह अर्थ निकल आता है कि यह दिव्य अप्सरा आदि नहीं अपितु मानुषी है। यह वाक्यार्थ के स्थान पर पद के प्रयोग रूप द्वितीय प्रौढ़ि भेद का उदाहरण है।

इस [ही प्रकार एक] वाक्य से प्रतिपादित अर्थ का व्यास और समास [अर्थात् अधिक विस्तार अथवा संक्षेप कर देना भी प्रौढ़ि रूप अर्थगुण] होते हैं।

उनमें से व्यास रूप अर्थगत प्रौढ़ि के तृतीय भेद का उदाहरण, निम्न-लिखित श्लोक में दिया गया है।

इस श्लोक में सुख और दुःख के नाना प्रकार के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। वह नाना सम्बन्ध मुख्यतया चार प्रकार के हो सकते हैं जिनको आगे दिखलाते हैं। उनमें से पहिला भेद यह है कि सुख और दुःख दोनों में से एक का भाव और दूसरे का अभाव हो। इस प्रकार 'न भवति' और 'भवति' का सम्बन्ध सुख और दुःख के साथ पर्याय से जोड़ने पर १. 'सुख का भाव' और 'दुःख का अभाव' २. 'सुख का अभाव' तथा 'दुःख का भाव' यह दो भेद 'भवति' 'न च भवति' से बनते हैं। उसके बाद तीसरा भेद वह होगा जिसमें सुख और दुःख दोनों का अस्तित्व हो उसको कवि ने श्लोक के तृतीय चरण में दिखलाया है। और चौथा भेद वह बनेगा जिसमें सुख और दुःख दोनों का ही अस्तित्व न हो। इसको कवि ने

पुरः पाण्डुच्छायं तदनु कपिलिम्ना कृतपदं
ततः पाकोत्सेकादरुणगुणसंसर्गितवपुः ।
शनैः शोषारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं,
वने वीतामोदं बदरमरसत्वं कलयति ॥

न चैवमतिप्रसङ्गः, काव्यशोभाकरत्वस्य गुणसामान्यलक्षणस्याव-स्थितत्वात् ।

[बेर का फल निकलते समय] सबसे पहिले [सफ़ेद] पाण्डु छाया, वाला, उसके बाद पीलिमा से व्याप्त, उसके बाद पकने पर लालिमा युक्त स्वरूप वाला, उसके बाद सूखने लगने पर [स्थपुटो निम्नोन्नतः, विष्कम्भः आभोगः] नीचे ऊंचे स्वरूप वाला और अन्त में वन में ही गन्धहीन और रस-विहीन हो जाता है ।

इसमें 'कपिल' इस पद के अर्थ बोधन करने के लिए 'कपिलिम्ना कृत-पदं' और 'अरुणं' इस पद के स्थान पर 'अरुणगुणसंसर्गितवपुः' यह पद समुदाय प्रयुक्त किया गया है । यह सब पद के अर्थ में वाक्यप्रयोग रूप प्रथम प्रकार की प्रौढ़ि के उदाहरण हैं ।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि इस प्रकार पद मात्र से बोध्य अर्थ के लिए वाक्य के प्रयोग को आप अर्थगत 'प्रौढ़ि' मान कर 'ओज' गुण के अन्तर्गत मानते हैं तो अभी दोष निरूपण के प्रसङ्ग में 'व्यवहितार्थं क्लिष्टम्' 'क्लिष्टत्व' दोष का लक्षण करके 'दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' यह जो उसका उदाहरण दिया है यह कैसे सङ्गत होगा । वहाँ भी 'चन्द्र' इस पद से बोध्य अर्थ के लिए 'दक्षात्मजादयितवल्लभ' रूप पदसमूह का प्रयोग किया गया है । उस दोषस्थल में इस प्रौढ़ि गुण के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जावेगी । इस शङ्का के निवारण के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

और इस प्रकार ['दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' इत्यादि उदाहरणों में प्रौढ़ि रूप इस अर्थगुण के लक्षण की] अतिव्याप्ति नहीं समझनी चाहिए । [यहां अर्थात् 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिवद्यौः' इत्यादि उदाहरण में] काव्य-शोभाजनकत्व रूप गुण के सामान्य लक्षण के विद्यमान होने से ।

और 'दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' इत्यादि उदाहरणों में अर्थ-प्रतीति के व्यवहित होने से गुण के सामान्य लक्षण से हीन और दोष लक्षण

(७) वाक्यार्थे पदाभिधानं यथा 'दिव्येयं न भवति किन्तु मानुषी' इति वक्तव्ये 'निमिषति' इत्याहेति ।

(३)(८) अस्य वाक्यार्थस्य व्याससमासौ ।

के विद्यमान होने से उसमें गुण का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है। इन दोनों उदाहरणों में का परस्पर भेद सहृदय अथवा गुणदोष के विवेचन की विशेष क्षमता रखने वालों को ही प्रतीत हो सकता है सामान्य व्यक्ति को उन दोनों की स्थिति एक जैसी ही जान पड़ती है ।

वाक्य के अर्थ में पद के कथन [का उदाहरण] जैसे—

'यह दिव्य अप्सरा नहीं है किन्तु मानुषी [स्त्री] है' [इतने लम्बे वाक्य द्वारा] यह कहने के स्थान पर [केवल] 'निमिषति' [पलक मारती है] यह कहता है ।

देवलोक वासी देवता तथा अप्सराएं पलक नहीं मारते हैं और इस भूलोक के वासी मनुष्य स्त्री आदि पलक मारने वाले हैं। इस प्रकार का भेद कवि जनों में प्रसिद्ध है। इसलिए केवल 'निमिषति' कह देने से ही यह अर्थ निकल आता है कि यह दिव्य अप्सरा आदि नहीं अपितु मानुषी है। यह वाक्यार्थ के स्थान पर पद के प्रयोग रूप द्वितीय प्रौढ़ि भेद का उदाहरण है।

इस [ही प्रकार एक] वाक्य से प्रतिपादित अर्थ का व्यास और समास [अर्थात् अधिक विस्तार अथवा संक्षेप कर देना भी प्रौढ़ि रूप अर्थगुण] होते हैं।

उनमें से व्यास रूप अर्थगत प्रौढ़ि के तृतीय भेद का उदाहरण, निम्न-लिखित श्लोक में दिया गया है ।

इस श्लोक में सुख और दुःख के नाना प्रकार के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। वह नाना सम्बन्ध मुख्यतया चार प्रकार के हो सकते हैं जिनको आगे दिखलाते हैं। उनमें से पहिला भेद यह है कि सुख और दुःख दोनों में से एक का भाव और दूसरे का अभाव हो। इस प्रकार 'न भवति' और 'भवति' का सम्बन्ध सुख और दुःख के साथ पर्याय से जोड़ने पर १. 'सुख का भाव' और 'दुःख का अभाव' २. 'सुख का अभाव' तथा 'दुःख का भाव' यह दो भेद 'भवति' 'न च भवति' से बनते हैं। उसके बाद तीसरा भेद वह होगा जिसमें सुख और दुःख दोनों का अस्तित्व हो उसको कवि ने श्लोक के तृतीय चरण में दिखलाया है। और चौथा भेद वह बनेगा जिसमें सुख और दुःख दोनों का ही अस्तित्व न हो। इसको कवि ने

व्यासो यथा—

अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः
सुखं वा दुःखं वा न भवति भवत्येव च ततः।
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति सुखदुःखं किमपि तत्
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं न च सुखम् ॥

श्लोक के चतुर्थ चरण में 'पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं न च सुखम्' कहकर प्रदर्शित किया है। इस प्रकार सुख दुःख के नानाविध सम्बन्ध को अत्यन्त विस्तारपूर्वक चार चरणों के इस श्लोक में दिखलाया है। यह अर्थगत प्रौढ़ि के तृतीय भेद 'व्यास' का उदाहरण है।

पहिले जो अर्थप्रौढ़ि के दो भेद किए थे यह तीसरा भेद उनसे बिल्कुल भिन्न है। पहिले भेद में एक पद में कह सकने योग्य अर्थ को बढ़ा कर अनेक पदों के समूह रूप वाक्य द्वारा कहा जाता है। इस तृतीय भेद में एकपद द्वारा कथन करने योग्य अर्थ का नहीं अपितु एक वाक्य द्वारा कथन करने योग्य अर्थ का अनेक वाक्यों में विस्तार किया जाता है। अर्थात् पहिले भेद में पद के अर्थ का विस्तार होता है और तृतीय भेद में वाक्य के अर्थ का विस्तार होता है। इसलिए प्रथम और तृतीय भेद विस्तारात्मक होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं।

इसी प्रकार की स्थिति द्वितीय और चतुर्थ भेद के विषय में समझनी चाहिए। द्वितीय भेद में वाक्य द्वारा कथन करने योग्य अर्थ को केवल एक पद द्वारा संक्षेप में कह दिया जाता है। यह वाक्य का समास संक्षेप रूप होता है। परन्तु चतुर्थ भेद अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को संक्षेप करके एक वाक्य में या छोटे-छोटे अनेक वाक्यों में कहा जाता है। इसलिए द्वितीय और चतुर्थ भेद भी परस्पर भिन्न हैं। इन दोनों भेदों के उदाहरण क्रमशः आगे देते हैं।

[उनमें से] व्यास [रूप तृतीय भेद का उदाहरण] जैसे—

यह सुख और दुःख का नाना प्रकार का सम्बन्ध होता है। [उनमें से पहले भेद में] १.सुख नहीं होता और दुःख होता है, अथवा [दूसरे भेद में] २.दुःख नहीं होता सुख होता है। उसके बाद [तीसरे भेद में] ३. सुख दुःख वह दोनों होते हैं। उसके बाद [चौथे भेद में] ४. न दुःख होता है और न सुख होता है।

समासो यथा—

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धञ्चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥

साभिप्रायत्वं यथा—

सोऽयं संप्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा ।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः ॥

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च सुबन्धुसाचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम् । एतेन—

समास [संक्षेप का उदाहरण] जैसे—

वह [सप्तर्षि] हिमालय से मंत्रणा करके फिर शिवजी से [दुबारा] मिल कर और उनको अर्थसिद्धि की सूचना देकर उनसे विदा ले स्वर्ग को चले गए ।

यहां बहुतसे वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य विषय को इस छोटे से श्लोक रूप एक वाक्य में कह दिया है । इसलिए यह समास रूप अर्थात् प्रौढ़ि गुण के चतुर्थ भेद का उदाहरण है । आगे इस अर्थप्रौढ़ि के पांचवें भेद 'साभिप्रायत्व' का उदाहरण देते हैं ।

साभिप्रायत्व [रूप अर्थप्रौढ़ि के पञ्चम भेद का उदाहरण] जैसे—

सो यह, विद्वानों को आश्रय देने वाला, चन्द्रमा के समान सुन्दर [अथवा चन्द्रप्रकाश नामक] चन्द्रगुप्त का पुत्र, नवयुवक होकर राजा हो गया है ।

[यह किसी प्राचीन कवि का पद्यांश वामन ने यहां उद्धृत किया है । इसमें] 'आश्रयः कृतधियां' इस पद के 'सुबन्धु' के साचिव्य के सूचनपरक होने से 'साभिप्रायत्व' है ।

यह पद्यांश ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से विशेष महत्व का है । इसमें किस राजा का वर्णन है इसके विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद उपस्थित हो गया है । परन्तु अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि गुप्तवंशी नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र 'समुद्रगुप्त' ही बौद्ध आचार्य 'वसुबन्धु' के आश्रयदाता के रूप में यहां वर्णित हैं । परन्तु दूसरे विद्वानों की दृष्टि में यह 'चन्द्रप्रकाश' नामक किसी अन्य ही राजा का वर्णन है जिसके सचिव सुबन्धु थे ।

रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः ।

इत्यत्र सुकेश्या इत्यस्य च साभिप्रायत्वं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

अर्थवैमल्यं प्रसादः । ३, २, ३ ।

अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपरिग्रहः प्रसादः । यथा—

सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी ।

विपर्ययस्तु—

उपास्तां हस्तो मे विमलमणिकाञ्चीपदमिदम् ।

काञ्चीपदमित्यनेनैव नितम्बस्य लक्षितत्वात् विशेषणस्याप्रयोजकत्वमिति ॥ ३ ॥

इस [पूर्वोक्त उदाहरण] से—

'सुकेशी के रतिकाल में खुले हुए केशपाश में'

इत्यादि [उदाहरण] में 'सुकेश्याः' इस [पद] के 'साभिप्रायत्व' की व्याख्या समझ लेनी चाहिए ॥ २ ॥

दूसरे अर्थगुण 'प्रसाद' का लक्षण अगले सूत्र में करते हैं—

अर्थ का नैर्मल्य [अर्थात् स्पष्टता] 'प्रसाद' [गुण कहलाता] है।

अर्थ का नैर्मल्य विवक्षित अर्थ के समर्पक [प्रयोजक] पद का प्रयोग 'प्रसाद' [नामक अर्थगुण] है। जैसे—

रूप और नवयौवन के आरम्भ से युक्त यह सवर्णा कन्या है। [यह अपने ही क्षत्रिय आदि वर्ण की होने से समान वर्ण वाली अथवा सुन्दर इस अर्थ का बोधक 'सवर्णा' पद कन्या की उपादेयता अर्थात् विवाहयोग्यता का सूचक है]।

इसका विपर्यय [अभाव होने पर 'अपुष्टार्थत्व' और 'अनर्थकत्व' दोष हो जाते हैं। उनमें से 'अपुष्टार्थत्व' का उदाहरण देते हैं] जैसे—

मेरा हाथ विमल मणियों की तगड़ी के इस स्थान को स्पर्श करे।

इसमें 'काञ्ची पद' इस [कथन] से ही नितम्ब का लक्षणा से बोध हो जाने से [काञ्ची के साथ दिए हुए विमलमणि] विशेषण अप्रयोजक [अविवक्षित अतएव अपुष्टार्थ] है। [अतः इस प्रत्युदाहरण में 'प्रसाद' गुण नहीं है] ॥ ३ ॥

तृतीय अर्थगुण श्लेष का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

घटना श्लेषः । ३, २, ४ ।

क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगो घटना । स श्लेषः । यथा—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीड़ानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥

शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेष्वस्य भूयान् प्रपञ्चो दृश्यते ॥ ४ ॥

['क्रम', 'कौटिल्य', 'अनुल्वणत्व' और 'उपपत्ति' के योग को 'घटना' कहते हैं ।] यह घटना 'श्लेष' [कहलाती] है ।

क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति का योग [ही यहां] घटना [कहलाती] है । वह [विशेष प्रकार से श्लिष्ट होने से] 'श्लेष' है । जैसे—

दोनों [अपनी] प्रियतमाओं [इन दोनों में से एक नायक की स्वकीया नायिका है और दूसरी सखी है जिसके प्रति नायक का प्रच्छन्न अनुराग है । अन्यथा यदि दोनों सपत्नी हों तो उनकी एकासनसंस्थिति सुसङ्गत नहीं होगी ।] को एक [ही] आसन पर इकट्ठी [बैठी] देखकर 'धूर्त' [नायक चुपके से] पीछे से आकर आदर से एक [अपनी स्वकीया पत्नी] की [दोनों] आँखें बन्द कर [आंखमिचौनी के] खेल का बहाना करता हुआ तनिक सी [अधिक नहीं अधिक गर्दन झुकाने से तो सन्देह हो जाता] गर्दन मोड़कर प्रेम से आनन्दित मन वाली और [अन्तर्हास] मुस्कराहट से सुशोभित कपोलों वाली [प्रच्छन्न अनुरागा] दूसरी [प्रियतमा] को चुम्बन करता है ।

इसमें 'क्रम' शब्द का अर्थ अनेक क्रियाओं की परम्परा है । जैसे यहां 'दृष्ट्वा, पश्चादुपेत्य, नयने पिधाय, विहितक्रीड़ानुबन्धच्छलः, वक्रितकन्धरः, चुम्बति' आदि क्रियाओं की परम्परा पाई जाती है । इसी को 'क्रम' कहते हैं । और इस सबके भीतर अनुस्यूत विदग्ध-चेष्टित को 'कौटिल्य' कहते हैं । अप्रसिद्ध वर्णन के विरह अर्थात् प्रसिद्ध वर्णन शैली को 'अनुल्वणत्व' कहते हैं । और युक्तिविन्यास का नाम 'उपपत्ति' है । इन सबका योग जिसमें हो उस रचना में अर्थगुण 'श्लेष' होता है । इस उदाहरण रूप श्लोक में दर्शनादि क्रियाओं का क्रम, उभयसमर्थनरूप 'कौटिल्य', लोकसंव्यवहार रूप 'अनुल्वणत्व', और 'एकत्रासनसंस्थिते, पश्चादुपेत्य, नयने पिधाय, वक्रितकन्धरः' इत्यादि उपपादक युक्ति रूप 'उपपत्ति' का योग होने से यह 'श्लेष' रूप अर्थगुण का उदाहरण होता है ।

अवैषम्यं समता । ३, २, ५ ।

अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता । क्वचित् क्रमोऽपि भिद्यते । यथा—

च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमाः
मलयमरुतः सर्पन्तीमे वियुक्तधृतिच्छिदः ।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम् ॥

ऋतुसन्धिप्रतिपादनपरे द्वितीये पादे क्रमभेदो, मलयमरुतामसाधारणत्वात् । एवं द्वितीयः पादः पठितव्यः—

शूद्रक आदि रचित [मृच्छकटिक आदि] प्रबन्धों [नाटकों अथवा काव्यों] में इस [प्रकार के श्लेष] का बहुत विस्तार पाया जाता है ॥ ४ ॥

चतुर्थ अर्थगुण 'समता' का अगले सूत्र में निरूपण करते हैं—

अवैषम्य [अर्थात् १. प्रक्रम के अभेद और २. सुगमत्व का नाम] 'समता' है।

अवैषम्य अर्थात् प्रक्रम का अभेद 'समता' [नामक अर्थगुण] है ।

इस 'प्रक्रमाभेद' रूप 'समता' को समझने के पहिले उसके विरोधी 'प्रक्रम-भेद' को समझना आवश्यक है । इसलिए पहिले 'प्रक्रमाभेद' रूप 'समता' का उदाहरण देने के बजाय उसके विरोधी 'प्रक्रम-भेद' का उदाहरण अथवा 'समता' के प्रत्युदाहरण की अवतारणा करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं ।

कहीं क्रम का भेद भी होता है । जैसे [निम्न श्लोक में 'प्रक्रम-भेद' पाया जाता है ।]—

[इस श्लोक में कवि शिशिर और वसन्त की 'ऋतुसन्धि' का वर्णन कर रहा है । शिशिर ऋतु में खिलने वाले] कुन्द [शिशिर के समाप्तप्राय होने से] फूलों से रहित हो गए हैं, और [वसन्त में खिलने वाले] वृक्षों में [ऋतु-सन्धि के कारण अभी] फूल निकल नहीं रहे हैं । [अभी उनका खिलना प्रारम्भ नहीं हुआ है] वियोगियों के धैर्य को नाश करने वाला मलय पवन चल रहा है । और सूर्य की किरणें सर्दी के वेग को नष्ट करने लगी हैं । परन्तु पसीना लाने वाली तीव्रता को [अभी] प्राप्त नहीं हुई हैं ।

ऋतु सन्धि [शिशिर और वसन्त की सन्धि] का प्रतिपादन करने वाले इस [श्लोक] में द्वितीय पाद में [वर्णित] मलय पवन के [वसन्त ऋतु का] विशेष [धर्म] होने से [उसका स्पष्ट वर्णन ऋतु सन्धि के विपरीत होने से]

मनसि च गिरं बध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः। इति ॥ ५ ॥

(६) सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति। ३, २, ६।

सुखेन गम्यते ज्ञायत इत्यर्थः। यथा—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि।

यथा वा—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्।

प्रत्युदाहरणं सुलभम् ॥ ६ ॥

प्रक्रम-भेद [रूप दोष] है। [अतएव यहां 'प्रक्रमाभेद' रूप 'समता' अर्थगुण के न होने से यह 'समता' गुण का प्रत्युदाहरण है। इसको 'समता' गुण का उदाहरण बनाने के लिए] द्वितीय चरण को इस प्रकार पढ़ना चाहिए—

यह कोकिल मन में बोलना चाहते हैं परन्तु [ऋतु सन्धि के कारण] अभी बाहर व्यक्त रूप से बोल नहीं रहे हैं ॥ ५ ॥

इस 'समता' गुण के लक्षण में जो 'अवैषम्य' पद का प्रयोग किया है उसकी दूसरी प्रकार की व्याख्या अगले सूत्र में करते हैं।

अथवा सुगमता [को] अवैषम्य [कहते] हैं।

[जो] सरलता से समझ में आ जावे [वह सुगम या अविषम कहलाता है] यह अभिप्राय है। जैसे—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि।

अथवा जैसे—

[वृक्ष के सूखे हुए] पीले पत्तों के बीच [नवीन कोमल] किसलय के समान [इन रूखे-सूखे] तपस्वियों के बीच घूंघट वाली [अतएव] जिसका सौन्दर्य स्पष्ट दिखाई नहीं देता ऐसी यह [शकुन्तला] कौन है ?

प्रत्युदाहरण [अर्थात् सुगमता रूप 'समता' के प्रत्युदाहरण रूप कठिन दुर्ज्ञेय श्लोक] सुलभ हैं। [पाठक उन्हें स्वयं समझ सकते हैं। इसलिए यहां नहीं दिखलाए हैं]।

कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के पञ्चम अङ्क में कण्व की आज्ञा से जब 'शारंगरव' और 'शारद्वत' शकुन्तला को लेकर राजा दुष्यन्त के यहां राजसभा में उपस्थित होते हैं। उस समय अवगुण्ठनवती अर्थात् घूंघट काढ़े हुए शकुन्तला को उन तपस्वियों के साथ देखकर राजा दुष्यन्त की यह उक्ति

अर्थदृष्टिः समाधिः । ३, २, ७ ।

अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः । समाधिकारणत्वात् समाधिः । अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ७ ॥

अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा । ३, २, ८ ।

यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिः सोऽर्थो द्विविधः । अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वेति । अयोनिरकारणः । अवधानमात्रकारण इत्यर्थः । अन्यस्य काव्यस्य छायाऽन्यच्छाया तद्योनिर्वा । तद्यथा—

सुगमता से समझ में आजाने के कारण 'समता' गुण का सुन्दर उदाहरण है।

समझ में साफ़ आ जावे फ़साहत इसको कहते हैं ।
अगर हो सुनने वालों पर बलाग़त इसको कहते हैं ॥ ६ ॥

पञ्चम अर्थगुण समाधि' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

अर्थ [विषयक] दृष्टि [विशेष] 'समाधि' [अर्थगुण] है ।

अर्थ का दर्शन दृष्टि [शब्द से अभिप्रेत] है [उसके] समाधिमूलक [समाधिः कारणं यस्य अर्थात् समाधि अथवा अवधान जिसका कारण है । इस प्रकार का बहुव्रीहि समास] होने से [कार्य कारण का अभेद मान कर समाधि अथवा अवधानमूलक अर्थदृष्टि को] 'समाधि' [कह दिया] है । एकाग्र [समाहित अवहित] चित्त ही अर्थों को [भली प्रकार] देख सकता है [इसलिए अर्थदृष्टि अवधान अथवा समाधिमूलक है इससे कार्य-कारण का अभेद मान कर उसी को 'समाधि' कह दिया है] यह बात पहले कह चुके हैं ॥ ७ ॥

[जिस अर्थ का दर्शन 'समाधि' कहलाता है वह] अर्थ 'अयोनि' अथवा 'अन्यच्छायायोनि' [भेद से] दो प्रकार का होता है ।

जिस अर्थ का दर्शन [ज्ञान] 'समाधि' [नामक अर्थगुण कहा जाता] है वह अर्थ दो प्रकार का होता है । [एक] अयोनि और [दूसरा] 'अन्यच्छायायोनि' । 'अयोनि' अर्थात् अकारण अर्थात् अवधानमात्रनिमित्तक [अर्थात् कवि किसी दूसरे कवि के वर्णन से स्फूर्ति पा कर नहीं, अपितु स्वयं जिस अर्थ का वर्णन करता है वह 'अयोनि' कहलाता है । इसके विपरीत] दूसरे [कवि] के काव्य की छाया अन्यच्छाया [पद से अभिप्रेत] है । वह [दूसरे के काव्य की छाया] जिस का योनि [कारण] है वह 'अन्यच्छायायोनि' [दूसरा भेद] है ।

(a) आश्वपेहि मम शीधुभाजनाद् यावदग्रदशनैर्न दश्यसे।
चन्द्र मद्दशनमण्डलाङ्कितः खं न यास्यसि हि रोहिणीभयात् ॥

(b) मा भैः शशाङ्क मम शीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि।
प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम् ॥

पूर्वस्य श्लोकस्यार्थोऽयोनिः।
द्वितीयस्य च छायायोनिरिति ॥ ८ ॥

जैसे [आगे दिए हुए दो उदाहरणों में से पहिला श्लोक कवि की नूतन कल्पना होने से पहले अर्थात् अयोनि भेद का उदाहरण है और उसके आधार पर लिखा गया दूसरा श्लोक 'अन्यच्छायायोनि' भेद का उदाहरण है]।

[शीधुभाजन मदिरा पात्र में प्रतिबिम्बित] हे चन्द्र ! मेरे इस मदिरा पात्र [को छोड़ कर यहाँ] से जल्दी भाग जाओ। जब तक [प्रिया का या प्रिय का मुख समझ कर] मैं तुम्हें अपने दान्तों से काट न लूँ [उसके पहले ही यहाँ से निकल जाओ तो अच्छा है। नहीं तो फिर] मेरे दांतों के चिन्हों से अङ्कित होकर [अपनी प्रिया] रोहिणी [को यह दन्तक्षत युक्त मुख कैसे दिखाओगे उस] के भय से [दुबारा यहाँ से लौट कर] आकाश को भी न जा सकोगे।

यह कवि की अपनी अनूठी कल्पना है। इसको 'अयोनि' अर्थ कहते हैं। इसकी छाया को लेकर दूसरे कवि ने जो दूसरा श्लोक इसी अभिप्राय का लिखा है वह 'अन्यच्छाया' के आधार लिखा जाने से 'अन्यच्छायायोनि' अर्थ का उदाहरण है। जैसे—

[मदिरापात्र में प्रतिबिम्बित] हे चन्द्र ! अब डरो मत मेरी इस मदिरा [पात्र] में राहु नहीं बैठा है, और रोहिणी आकाश में रहती है [वह भी मेरे मदिरा पात्र में स्थित तुमको देख नहीं सकती है] अरे कायर फिर क्यों डरता है। [अथवा] विदग्ध [रतिकेलि-चतुर प्रौढ़ा] वनिताओं के साथ [रतिकालीन] नव सङ्गमों के अवसर पर पुरुषों का मन चञ्चल [भयभीत] हो जाता है [इसलिए तुम्हारे] इस [डरने] में क्या आश्चर्य की बात है।

[इन दोनों श्लोकों में से] पहले श्लोक का अर्थ [कवि की स्वयं अनूठी

अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च । ३, २, ९ ।

यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिरिति स द्विधा, व्यक्तः सूक्ष्मश्च । व्यक्तः स्फुटः, उदाहृत एव ॥ ९ ॥

सूक्ष्मं व्याख्यातुमाह—

सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च । ३, २, १० ।

सूक्ष्मो द्विधा भवति भाव्यो वासनीयश्च । शीघ्रनिरूपणागम्यो भाव्यः । एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीय इति । भाव्यो यथा—

अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्ति
सोल्लासमाविरलसं वलितार्धतारम् ।
लीलागृहे प्रतिकलं किलकिञ्चितेषु
व्यावर्तमाननयनं मिथुनं चकास्ति ॥

कल्पना होने से] 'अयोनि' है और दूसरे का [श्लोक में उस पूर्व श्लोक की छाया का आश्रय होने से] 'छायायोनि' [अर्थ] है ॥ ८ ॥

अर्थ [प्रकारान्तर से] दो प्रकार का [और] होता है । एक व्यक्त [स्थूल, सर्वजनसंवेद्य] और [दूसरा] सूक्ष्म [सहृदयमात्रसंवेद्य] ।

जिस अर्थ का दर्शन 'समाधि' [रूप अर्थगुण कहलाता] है वह व्यक्त [स्थूल] और सूक्ष्म दो प्रकार का होता है । व्यक्त स्पष्ट [अर्थ] है । उसका उदाहरण [पूर्वोक्त 'आश्वपेहि' तथा 'मा भैः शशाङ्क' आदि दोनों श्लोक] दे ही चुके हैं ॥ ९ ॥

[दूसरे प्रकार के] सूक्ष्म [अर्थ] की व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

सूक्ष्म [अर्थ] 'भाव्य' और 'वासनीय' [दो प्रकार का] होता है ।

सूक्ष्म [अर्थ] दो प्रकार का होता है [एक] 'भाव्य' और [दूसरा] 'वासनीय' । सरसरी दृष्टि [शीघ्र निरूपण] से [ही] समझ में आजानेवाला 'भाव्य' [होता] है । और अत्यन्त ध्यान देने [एकाग्रता के प्रकर्ष] से समझने योग्य [अर्थ] 'वासनीय' [होता] है । 'भाव्य' [का उदाहरण] जैसे—

[रतिकाल में अपने लीलागृह में नायक-नायिका का जोड़ा] एक दूसरे से मिश्रित हो रही है सुन्दर दन्तकान्ति जिसकी, [इससे परस्पर सस्मित संल्लाप और अधरपान आदि सूचित होते हैं] सोल्लास [इससे हर्ष औत्सुक्य] तथा [आविरलसं] आलस्ययुक्त [इससे रतिश्रम अङ्गदौर्बल्य सूचित होते हैं] एवं [रतिक्रीड़ा की] प्रत्येक कला पर [आनन्द से] अर्धमुद्रित, और [नायिका के]

वासनीयो यथा—

अवहित्थवलितजघनं विवर्तितसम्मुखकुचतटं स्थित्वा ।
अवलोकितोऽहमनया दक्षिणकरकलितहारलतम् ॥ १० ॥

उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् । ३, २, ११ ।

उक्तेर्वैचित्र्यं यत्तन्माधुर्यमिति । यथा—

किलकिञ्चितों [क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम्] के अवसर पर [व्यावर्तमान] एक दूसरे की ओर घूमते हुए नेत्र वाला [नायक नायिका का] जोड़ा शोभित होता है ।

इस में नायक नायिका का मिथुन 'आलम्बन विभाव', लीलागृह 'उद्दीपनविभाव', अधरपान, अङ्गभङ्ग, स्मित, कम्प, नयनव्यावर्तन, भ्रूभेदादि 'अनुभाव', उल्लसित, उन्मीलित, हर्ष, औत्सुक्यादि, और 'किलकिञ्चित' से आक्षिप्त क्रोध, शोक, भय, गर्वादि 'सञ्चारीभाव' हैं । इन 'विभाव', 'अनुभाव' और 'सञ्चारी भाव' के संयोग से 'रति' रूप 'स्थायीभाव' 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया से रसिक जनों के चर्वणा का विषय बनकर रस पदवी को प्राप्त होता है । यह भावकों की अवधान रूप भावना का विषय होने से 'भाव्य' अर्थ का उदाहरण है ।

वासनीय [अर्थ का उदाहरण] जैसे—

आकार-गोपनपूर्वक ['अवहित्था आकारगुप्तिः अपनी दोनों'] जङ्घाओं को मिलाकर, कुचतटों को सामने की ओर करके और दाहिने हाथ से हार-लता को पकड़ कर उस [नायिका] ने मुझ को देखा ।

इस श्लोक में तुम्हारा सम्भोग दुर्लभ है, मेरा मन तुम्हीं में लगा हुआ है, मेरे दुरन्त सन्ताप की शान्ति में केवल यह हारलता ही दाक्षिण्य का अवलम्बन कर रही है इत्यादि रूप नायिका का स्वाभिप्राय प्रकाशन विशेष ध्यान देने से सहृदयों को अनुभव होता है इसलिए यह 'वासनीय' सूक्ष्म अर्थ का उदाहरण दिया है ॥ १० ॥

छठे अर्थगुण 'माधुर्य' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं ।

उक्ति-वैचित्र्य माधुर्य [कहलाता] है ।

उक्ति का जो वैचित्र्य है वह 'माधुर्य' [नामक अर्थगुण] है । जैसे—

अमृत [बड़ा] सरस [सुस्वादु] है इसमें कोई सन्देह नहीं । शहद भी और तरह का [अस्वादु] नहीं है [किन्तु मधुर और सुस्वादु ही है] । आम का

रसवदमृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात् ॥ ११ ॥

अपारुष्यं सौकुमार्यम् । ३, २, १२ ।

परुषेऽर्थे अपारुष्यं सौकुमार्यमिति । यथा 'मृतं' 'यशःशेषम्' इत्याहुः । 'एकाकिनं' 'देवताद्वितीयम्' इति । 'गच्छ' इति 'साधय' इति च ॥ १२ ॥

सुन्दर रस से भरा हुआ फल और भी मधुर [सुस्वादु] होता है [इसमें भी कोई सन्देह नहीं है] । परन्तु अन्य सब रसों को जानने वाला विद्वान् थोड़ी देर के लिए पक्षपात छोड़ [मध्यस्थ हो] कर ऐसी कोई वस्तु बतावे तो सही, जो प्रिया के अधर [पान] से अधिक स्वादु हो ।

यहाँ प्रिया का अधरपान समस्त उपमानों से अधिक आनन्ददायक है यह बात कवि कहना चाहता है परन्तु उसके कथन के लिए उसने जो मार्ग अवलम्बन किया है वह उक्ति के वैचित्र्य का द्योतक है इसी को 'माधुर्य' नामक अर्थगुण कहते हैं । इस 'माधुर्य' का विरोधी एक ही रूप से अर्थ की आवृत्ति रूप होने से 'एकार्थ, अथवा 'पुनरुक्त' दोष होगा । अथवा एकार्थ शब्दों के पुनः पुनः श्रवण के कष्टजनक होने से 'कष्टत्व' भी हो सकता है ॥११॥

सातवें अर्थगुण 'सौकुमार्य' का अगले सूत्र में निरूपण करते हैं—

कठोरता का अभाव [कठोर अर्थ के कथन में भी कठोरता न आने देना] 'सौकुमार्य' [अर्थगुण] है ।

परुष अर्थ [के निरूपण] में पारुष्य न आने देना 'सौकुमार्य' [नामक अर्थगुण कहलाता] है । जैसे 'मर गया' [इस अप्रिय परुष अर्थ] को 'यशःशेष' [जिसकी कीर्ति ही शेष रह गई है, शरीर शेष नहीं रहा] इस प्रकार [सुकुमारता से] कहते हैं । [अथवा] 'एकाकी' को 'देवताद्वितीय' [परमात्मा जिसका सहायक है] यह [कहते हैं] । [अथवा] 'जाओ' [इस विदासूचक परुष अर्थ को, अपने काम को] 'सिद्ध करो' इस प्रकार [सुकुमार रूप से] कहते हैं । [यही 'सौकुमार्य' नामक अर्थगुण है] ॥ १२ ॥

अग्राम्यत्वमुदारता । ३, २, १३ ।

ग्राम्यत्वप्रसङ्गे अग्राम्यत्वमुदारता । यथा—

त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायां परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।
अयि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वां
अतः शेषं चेत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥

विपर्ययस्तु—

स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।
इति निगद्य शनैरनुमेखलं मम करं स्वकरेण रुरोध सा ॥ १३ ॥

ग्राम्यता के अभाव का नाम 'उदारता' [अर्थगुण] है ।

ग्राम्यता के प्रसङ्ग में अग्राम्यत्व को 'उदारता' कहते हैं । जैसे—

महाकवि भवभूति के मालतीमाधव नाटक में मालती के प्रति कामन्दकी की यह उक्ति 'उदारता' का उदाहरण है। माधव तुमको चाहता है, तुम भी उसको प्यार करो और उसके साथ विवाह कर लो, इस ग्राम्य अर्थ को कवि ने बड़े सुन्दर अग्राम्य ढंग से वर्णन किया है इसलिए वह 'उदारता' रूप अर्थगुण का उदाहरण होता है।

[हे मालति] तुम ऐसी अपूर्व सुन्दरी हो और वह [माधव भी] सौन्दर्य के लिए [जगत् में] प्रसिद्ध है । तुम्हीं दोनों कलाओं की सीमा को प्राप्त हो रहे हो [तुम दोनों से अधिक और कोई कलाविशारद नहीं है] । सौभाग्य से तुम दोनों का जोड़ा अत्यन्त [एक दूसरे के] अनुरूप [और सुन्दर] है । [ऐसा सुन्दर जोड़ा मिलने के बाद] जो कुछ [विवाह आदि कर्म] शेष रह गया है वह भी यदि सम्पन्न हो जाय तो [सचमुच] गुणित्व की विजय माननी होगी ।

[इस उदारता गुण के] विपर्यय [का उदाहरण] तो [निम्न श्लोक है]—

जब तक यह पास के [जागने वाले] लोग [अपना काम समाप्त करके] सोवें तब तक [इनके दिखलाने के लिए] मुझे सो ही जाने दो तो तुम्हारा क्या बिगड़े [यह लोग देख लेंगे इसलिए जरा इन लोगों को सो जाने दो फिर निःशङ्क होकर जो चाहे सो करना] धीरे से [मेरे कान में] ऐसा कह कर [उसकी] मेखला की ओर [बढ़ते हुए] मेरे हाथ को उसने अपने हाथ से रोक दिया ।

वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः । ३, २, १४ ।

वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यदसावर्थव्यक्तिः । यथा—

पृष्ठेषु शङ्खशकलच्छविषु च्छदानां
राजीभिरङ्कितमलक्तकलोहिनीभिः ।
गोरोचनाहरितबभ्रु बहिःपलाश
मामोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य ॥

यथा वा—

इस श्लोक में कोई कामी अपने मित्र से रात्रि की रहस्य-वार्ता की चर्चा कर रहा है। उसके वर्णन करने की शैली एक दम ग्राम्यतायुक्त है । अतएव इसको 'उदारता' रूप अर्थगुण के प्रत्युदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है ॥ १३ ॥

नवम अर्थगुण 'अर्थव्यक्ति' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं ।

वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता 'अर्थव्यक्ति' [कहलाती] है ।

वस्तुओं अर्थात् [वर्ण्य] पदार्थों के स्वभाव की जो स्पष्टता है वह 'अर्थव्यक्ति' [नामक अर्थ गुण] है । जैसे—

समस्त विशेषताओं का वर्णन कर देने से अर्थ की जो करतला-मलकवत् स्पष्ट प्रतीति होने लगती है, उसको 'अर्थव्यक्ति' कहते हैं जैसे अगले श्लोक में प्रातः सूर्योदय के समय तालाब में खिलते हुए कमलों का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है कि—

शंख के टुकड़े के समान [शुभ्र] कान्ति वाली [दलों] पंखुड़ियों के पिछले भाग में [सूर्य की लाल-लाल किरणों के पड़ने के कारण, अलक्तक] महावर के समान लाल रेखाओं से अङ्कित गोरोचना के समान हरित और बाहर की ओर भूरे पत्रों से युक्त कुमुद तालाब के जल में सुगन्ध फैला रहा है ।

इसमें कुमुदों के विकास का ऐसा सुन्दर और स्पष्ट वर्णन कवि ने किया है इसलिए वह 'अर्थव्यक्ति' नामक अर्थगुण का उदाहरण है । इसी का दूसरा उदाहरण और देते हैं ।

अथवा जैसे—

प्रथममलसैः पर्यस्ताग्रैः स्थितं पृथुकेसरैः
विरलविरलैरन्तःपत्रैर्मनाङ् मिलितं ततः।
तदनु वलनामात्रं किञ्चिद् व्यधायि बहिर्दलैः
मुकुलनविधौ वृद्धाब्जानां बभूव कदर्थना ॥ १४ ॥

दीप्तरसत्वं कान्तिः। ३, २, १५।

दीप्ता रसा श्रृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः। यथा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत् प्रत्युत पाणिसम्पुटगलन्नीवीनितम्बं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः॥

जो कमल के फूल कई दिन तक खिल कर पुराने पड़ चुके हैं उनका मुरझाना एक कदर्थनामात्र है उस कदर्थना का स्फुट वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

पहिले [सूर्योदय के समय अलस] शक्ति हीन बड़ी-बड़ी [कमलों की] केसरों का अग्रभाग नीचे झुक गया, उसके बाद अत्यन्त विरली-विरली पंखुड़ियाँ [एक दूसरे से] मिलीं। उसके बाद [फूल की] बाहरी पंखुड़ियाँ केवल तनिक सी मुड़कर रह गयीं [पूरी बन्द नहीं हो सकीं इस प्रकार] बन्द होने की प्रक्रिया में पुराने कमलों की [बड़ी] कदर्थना हुई ॥ १४ ॥

अर्थगुणों में अन्तिम दशम गुण 'कान्ति' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

[रचना का] दीप्तरसत्व 'कान्ति' [नामक अर्थगुण कहलाता] है।

जिस [रचना] के श्रृङ्गार आदि रस दीप्त हों वह दीप्तरस हुई। उसका भाव दीप्तरसत्व 'कान्ति' [नामक अर्थगुण] है। जैसे—

सायङ्काल के समय शपथपूर्वक [तुमको छोड़कर और कहीं नहीं जाऊंगा इस प्रकार की शपथ खाते हुए और] पैरों पड़े प्रिय को [मानिनी] कान्ता ने दुत्कार दिया। जब तक खिन्न मन वह वासभवन से दो तीन कदम भी नहीं गया था कि उसके बदले [नायिका ने स्वयं] खुले जाते हुए अपने नारे को पकड़े हुए दौड़कर नमस्कार कर स्वयं ही उसको पकड़ लिया। अहो प्रेम की विचित्र महिमा है।

एवं रसान्तरेष्वप्युदाहार्यम् ।

अत्र श्लोकाः—

गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते ।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ॥ १ ॥
सुप्तिङ्संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत् ।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ॥ २ ॥
गुणानां दशतामुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम् ।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः ॥ ३ ॥ १५ ॥

इसमें विप्रलम्भपूर्वक सम्भोगश्रृङ्गार का दीप्त वर्णन है इसलिए यह 'कान्ति' नामक अर्थगुण का उदाहरण है।

इसी प्रकार अन्य [वीर बीभत्स आदि] रसों में भी [दीप्तरसत्व के] उदाहरण समझ लेने चाहिएं।

इस विषय में [संग्रह] श्लोक [इस प्रकार] हैं—

गुणों की स्फुटता और पूर्णता को 'काव्य पाक' कहते हैं और 'आम्रपाक' के साथ उसकी उपमा दी जाती है।

जिसमें सुप् तिङ् का संस्कारमात्र सार [तत्व] हो और वस्तु गुण [अर्थ गुण] क्लिष्ट [अस्फुट] हो वह काव्य 'वृन्ताक पाक' [कद्दू के पाक के समान पाक वाला] होता है और [सहृदय] लोग उस से घबड़ाते हैं।

जिस [काव्य] का अर्थ [वर्ण्य वस्तु] दशों [प्रकार के शब्द गुणों तथा अर्थगुणों] से रहित हो वह [काव्य] व्यर्थ है। ['दाडिमानि दश' आदि पदों को व्याकरण महाभाष्यकार ने अनर्थक पदों का उदाहरण दिया है। उसी की ओर संकेत करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि] दस अनार इत्यादि [अनर्थक पदों] के समान वह [कवि की निर्गुण] वाणी [काव्य] विचार के भी योग्य नहीं है ॥ १५ ॥

यहां वामन ने काव्यपाकों की जो चर्चा उठाई है उसके विषय में राजशेखर ने बहुत विस्तार के साथ विचार किया है। 'काव्यमीमांसा' में पाकों का वर्णन करते हुए राजशेखर ने नौ प्रकार के काव्यपाकों का वर्णन इस प्रकार किया है—

स [पाकः] च कविग्रामस्य काव्यमभ्यसतो नवधा भवति। तत्र (१) आद्यन्त-

इति पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'गुणविवेचने' तृतीयाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
अर्थगुणविवेचनम् ।
समाप्तञ्चेदं 'गुणविवेचनं' तृतीयमधिकरणम् ।।

—०—

योरस्वादु पिचुमन्दपाकम्, २ आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्, ३ आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्, ४. आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्ताकिपाकम्, ५ आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्, ६. आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम्, ७. आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्, ८. आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्, ९. आद्यन्तयोः स्वादु नारिकेलपाकमिति ।

तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः, प्रथमे त्याज्याः । वरमकवि पुनः कुकविः स्यात् । कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम् । मध्यमाः संस्कार्याः । संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षति । द्वादशवर्णमपि सुवर्णपावकन्यायेन हेमीभवति । शेषाः ग्राह्याः । स्वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते । न मुक्तामणेः शाणस्तारतायै प्रभवति । अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाकमामनन्ति तत्र पलालधूननेन अन्नकणलाभवत् सुभाषितलाभः ।

राजशेखर ने इन नौ प्रकार के पाकों में से १, ४, ७, अर्थात् १ पिचुमन्दपाक, ४ वार्ताकपाक और ७ क्रमुकपाक इन तीन को त्याज्य, २, ५, ८ अर्थात् २ बदरपाक, ५ तिन्तिडीकपाक और ८ त्रपुसपाक इन तीन को संस्कार्य तथा ३, ६, ९ अर्थात् ३ मृद्वीकापाक, ६ सहकारपाक और ९ नारिकेलपाक इन तीन को उपादेय माना है । वामन ने इन नौ में से केवल आम्रपाक और वृन्ताकपाक इन दो का ही उल्लेख किया है ।

श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में
गुणविवेचन नामक तृतीयाधिकरण में द्वितीयाध्याय समाप्त हुआ ।
'अर्थगुणविवेचन' समाप्त हुआ ।
और यह 'गुणविवेचन' नामक तृतीय अधिकरण समाप्त हुआ ।

—०—

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
'काव्यालङ्कारदीपिकायां' हिन्दीव्याख्यायां
तृतीयाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।
समाप्तञ्चेदं 'गुणविवेचनं' नाम तृतीयमधिकरणम् ।

—:०:—

'आलङ्कारिकं' नाम चतुर्थमधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः

[शब्दालङ्कारविचारः]

गुणनिर्वर्त्या काव्यशोभा । तस्याश्चातिशयहेतवोऽलङ्काराः । तन्निरूपणार्थमालङ्कारिकमधिकरणमारभ्यते । तत्र शब्दालङ्कारौ द्वौ यमकानुप्रासौ क्रमेण दर्शयितुमाह—

पदमनेकार्थमक्षरं वाऽऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम् । ४, १, १ ।

चतुर्थ अधिकरण का प्रथम अध्याय

[शब्दालङ्कारों का विचार]

तृतीय अधिकरण के प्रारम्भ में 'गुण' तथा 'अलङ्कार' का भेद निरूपण करते हुए वामन ने लिखा था कि 'काव्यःशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा' 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' अर्थात् काव्य शोभा के उत्पादक धर्मों को 'गुण' और उस काव्य शोभा की वृद्धि के हेतुभूत धर्मों को 'अलङ्कार' कहते हैं। उस तृतीय अधिकरण के साथ इस चतुर्थ अधिकरण की सङ्गति जोड़ते हुए यहां ग्रन्थकार उसका स्मरण दिला कर इस अलङ्कार निरूपणपरक चतुर्थ अधिकरण का प्रारम्भ करते हैं। इस अधिकरण में तीन अध्याय रखे हैं। प्रथम अध्याय में 'शब्दालङ्कारों' का द्वितीय अध्याय में केवल 'उपमा' का, और तृतीय अध्याय में शेष अर्थालङ्कारों का वर्णन किया गया है।

काव्य की शोभा गुणों से उत्पन्न होती है और अलङ्कार उसकी वृद्धि के हेतु होते हैं। [यह हम तृतीय अधिकरण के प्रारम्भ में कह चुके हैं। इसलिए काव्य शोभा के उत्पादक 'गुणों' के निरूपण के बाद अब उस शोभा के बढ़ाने वाले, अतिशयहेतु] उन [अलङ्कारों] के निरूपण के लिए [यह चतुर्थ] आलङ्कारिक अधिकरण प्रारम्भ करते हैं। [उसमें भी इस प्रथमाध्याय में केवल शब्दालङ्कारों का निरूपण करना है।] उनमें से [शब्दालङ्कार मुख्य रूप से दो हैं।] यमक और अनुप्रास रूप दोनों शब्दालङ्कारों को क्रम से दिखलाने के लिए [पहिले यमक को] कहते हैं—

स्थान नियम के साथ अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं।

सूत्र में दिया हुआ अनेकार्थ विशेषण केवल पद का है अक्षर का नहीं। क्योंकि पद ही अनेकार्थ हो सकता है। यमक पद का अर्थ 'यम्यते गुण्यते आवर्त्यते पदमक्षरं वेति यमः'। बहुल ग्रहण से कर्म में 'घ' प्रत्यय करके 'यम' शब्द बना है। उससे स्वार्थ में 'क' प्रत्यय करके 'यम एव यमकम्' इस प्रकार यमक पद की व्युत्पत्ति होती है। जिससे भिन्नार्थक एक अथवा अनेक पदों की आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि एक अथवा अनेक पूरे पदों की आवृत्ति होती है तो उन दोनों का अर्थ अवश्य भिन्न होना चाहिए। समानार्थ पदों की आवृत्ति इस यमकालङ्कार का विषय नहीं है। जहां पूर्ण पद की आवृत्ति न होकर उसके किसी एक देश की आवृत्ति हो उसको अक्षर की आवृत्ति कहा जायगा। यह एकदेश भूत अक्षर सार्थक न होने से अनर्थक हैं इसलिए सूत्र का अनेकार्थ विशेषण इस अक्षर आवृत्ति के साथ सङ्गत नहीं होता है। केवल पदों के साथ अन्वित होता है।

भामह ने अपने काव्यालङ्कार में यमक का लक्षण इस प्रकार किया है—

[1] तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते॥

अर्थात् सुनने में समान प्रतीत होने वाले और अर्थ से भिन्न वर्णों की पुनरुक्ति या आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं।

इस लक्षण में पदों की आवृत्ति का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु 'भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्' से पद की प्रतीति हो जाती है। क्योंकि केवल वर्ण सार्थक नहीं होते। पद ही सार्थक होते हैं। इस प्रकार वर्णों की आवृत्ति में, आवृत्त वर्णों की चार प्रकार की स्थिति होसकती है— १. जहां दोनों सार्थक हों। इस दशा में दोनों पद होंगे और उनको सामानार्थक नहीं अपितु भिन्नार्थक ही होना चाहिए। २. दूसरी दशा में दोनों अनर्थक होंगे। यह पदों की नहीं अपितु केवल वर्णों की आवृत्ति कहलावेगी। ३. तीसरे रूप में प्रथम अंश सार्थक और उत्तर भाग अनर्थक हो सकता है। इसमें पहिला सार्थक भाग पद होगा और दूसरा अनर्थक भाग पदांश अथवा वर्ण रूप होगा। ४. चौथी स्थिति में पूर्वभाग अनर्थक और उत्तर भाग सार्थक हो सकता है। इसमें सार्थक उत्तर भाग पद और अनर्थक पूर्वभाग पदांश रूप वर्ण

---

[1] भामह काव्यालङ्कार २, १७।

पदमनेकार्थं भिन्नार्थमेकमनेकं वा, तद्वदक्षरमावृत्तं स्थाननियमे सति यमकम्। स्वावृत्या सजातीयेन वा कात्स्न्यैकदेशाभ्यामनेकपादव्याप्तिः स्थाननियम इति।

अथवा अक्षर कहलावेगा। इस प्रकार पदों अथवा वर्णों की आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं। परन्तु जहां पदों की आवृत्ति हो वहां उन दोनों की भिन्नार्थकता अपरिहार्य है। इसलिए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने यमक का लक्षण करते हुए लिखा है—

[1] सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥

'यमक' के लक्षण में प्राचीन भामह तथा नवीन विश्वनाथ आदि दोनों के लक्षणों से प्रकृत ग्रन्थकार वामन के लक्षण में यह विशेषता है कि इन्होंने अपने लक्ष्य में स्थान-नियम का विशेष रूप से उल्लेख किया है। और उन स्थानों का विस्तारपूर्वक विवेचन भी किया है। अन्य भामह आदि आचार्यों ने इस स्थान नियम को स्वयं समझ लेने योग्य मान कर न उस का उल्लेख अपने लक्षण में ही किया है और न उसका अधिक विस्तार ही किया है।

अनेकार्थ अर्थात् भिन्न अर्थ वाला एक पद अथवा अनेक पद, और उसी के समान [एक अथवा अनेक] अक्षर स्थान नियम के होने पर आवृत्त होने से 'यमक' [नामक शब्दालङ्कार कहलाते] हैं। [यमक के प्रयोजक पद की] अपनी वृत्ति [उपस्थिति] से अथवा [दो भिन्न-भिन्न पदों के अंशों से मिलकर एक पद जैसा प्रतीति होने वाले] सजातीय के साथ सम्पूर्ण रूप से अथवा एक देश से अनेक पादों में व्याप्ति को स्थान नियम [कहा जाता] है। [इसका अभिप्राय यह हुआ कि आवृत्त पदों की स्थिति एक पाद में न होकर मुख्यतः अनेक पादों में होनी चाहिए। यह भी वामन का विशेष सिद्धान्त है। परन्तु यदि एकपादस्थ आवृत्ति को यमक न माना जाय तो]—

[2] अथ समाववृते कुसुमैर्नवै—स्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्।
यमकुवेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम्॥

---

[1] साहित्य-दर्पण १०, ८।

[2] रघुवंश ६, २४।

यानि त्वेकपादभागवृत्तीनि यमकानि दृश्यन्ते तेषु श्लोकान्तरस्थ-संस्थानयमकापेक्षयैव स्थाननियम इति ॥ १ ॥

स्थानकथनार्थमाह—

पादः पादस्यैकस्यानेकस्य चादिमध्यान्तभागाः स्थानानि ।
४, १, २ ।

पादः, एकस्य च पादस्यादिमध्यान्तभागाः, अनेकस्य च पादस्य त एव, स्थानानि । पादयमकं यथा—

असज्जनवचो यस्य कलिकामधुगर्हितम् ।
तस्य न स्याद् विषतरोः कलिकामधु गर्हितम् ॥ १ ॥

इत्यादि अथवा [1]'द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्' इत्यादि उदाहरणों में यमक का यह लक्षण नहीं जावेगा क्योंकि वह अनेक पादों में नहीं किन्तु एक ही पाद में है। इसलिए इस प्रकार के उदाहरणों में लक्षण की सङ्गति करने और अव्याप्ति हटाने के लिए वृत्तिकार कहते हैं—

और जो [कहीं-कहीं] एक [ही] पाद के भाग में स्थित यमक दिखाई देते हैं उनमें अन्य श्लोकों में समुचित स्थान पर [अर्थात् भिन्न-भिन्न पादों में] स्थित यमकों की अपेक्षा से [उनके सजातीय होने से गौणी वृत्ति लक्षणा के द्वारा] स्थाननियम [अनेकपाद व्याप्ति समझी जा सकती] है ॥ १ ॥

[यमक में पद आदि की आवृत्ति कहां करनी चाहिए उसके उचित] स्थानों के कथन [करने] के लिए [अगला सूत्र] कहते हैं—

[एक सम्पूर्ण] पाद, और एक अथवा अनेक पाद के आदि, मध्य, अन्त भाग [यमक में आवृत्ति के उचित] स्थान हैं।

पाद, और एक पाद के आदि, मध्य, अन्त भाग तथा अनेक पादों के वे ही [आदि मध्य, अन्त, भाग यमक के उचित] स्थान हैं।

[समस्त] पाद [की आवृत्ति रूप] यमक [का उदाहरण] जैसे—

असज्जन [दुष्ट पुरुष] के कलि [युग अथवा पाप] की इच्छाओं को पूर्ण करने वाले [कामधुक्] वचन जिसके लिए [अर्हित] पूज्य [मान्य] हैं उसके लिए विषवृक्ष की कलिकाओं का मधु भी गर्हित [निन्दित त्याज्य] नहीं होगा ॥ १ ॥

---

[1] रघुवंश ६, २६ ।

एकपादस्थादिमध्यान्तयमकानि—

हन्त हन्तररातीनां धीर धीरर्चिता तव ।
कामं कामन्दकीनीतिरस्या रस्या दिवानिशम् ॥ २ ॥

इस उदाहरण में 'कलिकामधुगर्हितम्' इस पूरे पाद की आवृत्ति है और उसका अर्थ भिन्न-भिन्न है । एक जगह 'कलि-कामधुक्' और 'अर्हितम्' पदच्छेद होता है । और दूसरी जगह 'कलिकामधु गर्हितम्' पदच्छेद होता है । भिन्नार्थक अनेक पदों की आवृत्ति होने से यमक है । और वह आवृत्ति श्लोक के एक सम्पूर्ण पाद की है इसलिए यह 'पादयमक' का उदाहरण है ।

इसमें द्वितीय पाद, चतुर्थ चरण के स्थान पर आवृत्त हुआ है । वह तृतीय पाद के स्थान पर भी आवृत्त हो सकता है । इसी प्रकार प्रथम पाद की २, ३, ४ पाद के स्थान पर तीन प्रकार की आवृत्ति, और तृतीय पाद की चतुर्थ पाद के स्थान पर की एक प्रकार की आवृत्ति कुल छः, और एक भेद इस प्रकार का जिस में प्रथम चरण ही चारों चरणों के रूप में आवृत्त हो इन सब को मिला कर 'पाद यमक' के सात भेद हो सकते हैं । दो प्रकार की पाद की आवृत्ति यह भी हो सकती है कि प्रथम पाद द्वितीय स्थान पर और तृतीयपाद चतुर्थ स्थान पर आवृत्त हो । अथवा प्रथम पाद चतुर्थ के स्थान पर और द्वितीय पाद तृतीय के स्थान पर आवृत्त हो । इन दो को और जोड़ देने से नौ प्रकार के 'पाद यमक' हो सकते हैं । उनमें से दिङ्मात्र प्रदर्शन के लिए 'पाद यमक' का केवल एक उदाहरण यहां दिया गया है ।

एक [ही] पाद के आदि, मध्य और अन्त में स्थित [पदों की आवृत्ति रूप] यमक [के तीन उदाहरण] जैसे—

हे शत्रुओं के नाश करने वाले [हन्तः अरातीनां=हन्तररातीनां] वीर तुम्हारी [धीः अर्चिता=धीरर्चिता] बुद्धि [बड़ी अर्चिता] अच्छी है । कामन्दकी [नामक] नीति शास्त्र इस [तुम्हारी बुद्धि] के लिए रात दिन [सदैव] यथेष्ट [रस्या] आस्वादन करने योग्य है ॥ २ ॥

इस उदाहरण में चारों पादों के आदि में हन्त हन्तः, २ धीर, धीरर्चिता, ३ कामं कामन्दकी, ४ रस्या [नीतिरस्या] रस्या की आवृत्ति पाई जाती है । इसलिए यह 'पादादि यमक' का उदाहरण है । पाद के मध्य भाग में आए हुए 'यमक' का अगला उदाहरण देते हैं—

वसुपरासु परासुमिवोज्झती-ष्वविकलं विकलङ्कशशिप्रभम् ।
प्रियतमं यतमन्तुमनीश्वरं रसिकतासिकतास्विव तासु का ॥ ३ ॥
सुदृशो रसरेचकितं चकितं भवतीक्षितमस्ति मितं स्तिमितम् ।
अपि हासलवस्तबकस्तव क-स्तुलयेन्ननु कामधुरां मधुराम् ॥ ४ ॥
(३) पादयोरादिमध्यान्तयमकानि यथा—

[यतमन्तुं=यत उपरत मन्तुरपराधो यस्य तं] निरपराध, निष्कलङ्क शशी के समान सुन्दर, अविकलाङ्ग किन्तु ऐश्वर्यरहित [अनीश्वर निर्धन] प्रियतम [पुरुष] को मृतक [परागता असवः प्राणा यस्य तं परासुं] के समान छोड़ देने वाली, [अतएव] बालू के समान [स्नेहहीन], धन की लोभी [वसुपरासु], उन [वेश्याओं] में क्या रसिकता हो सकती है ॥ ३ ॥

इस श्लोक में चारों चरणों में पादों के मध्य भाग में [वसु] परासु परासु [मिव], २. [ष्व] विकलं विकलं [कशशिप्रभम्], ३. [प्रि] यतमं यतमं [तुमनीश्वरं], ४. [र] सिकता-सिकता [स्विव] पदों की आवृत्ति की गई है । अतएव यह 'पादमध्यवर्ती-यमक' का उदाहरण है । 'पादान्तवर्ती-यमक' का अगला उदाहरण देते हैं—

[भवति अर्थात् त्वयि] तुम्हारे प्रति [उस] सुन्दरी [सुदृशः] का [रसेन अनुरागविशेषेण रेचकितं पूर्णं रसरेचकितं] अनुराग पूर्ण, चकित, ['चकितं भयसम्भ्रमः' कोई और देख न ले इस प्रकार के भय संभ्रम से पूर्ण] चुपचाप [स्तिमितं निभृतम्] और तनिक सा [मितं क्षीणम्] कटाक्ष [भी] है । और पुष्पगुच्छ के समान [हास्यलवस्तवक] मन्द मुस्कान भी है । इसलिए तुम्हारी [आनन्दमयी] मधुर कामधुरा को कौन [उठा] हटा सकता है । [कोई नहीं हटा सकता । अथवा कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता है] ॥ ४ ॥

इस श्लोक के चारों चरणों के अन्त में १. [रे] चकितं चकितं, २. [अ] स्ति मितं स्तिमितं, ३. [हासलव] स्तबक स्तव कः, और ४. [का] मधुराम् मधुराम् पदों की आवृत्ति होने से यह 'पादान्तवर्ती-यमक' का उदाहरण हुआ ।

३. दो पादों के आदि, मध्य और अन्त [में स्थित] यमक [के तीन उदाहरण आगे देंगे । उनमें से सबसे पहिले दो पादों के आदि में स्थित यमक का उदाहरण देते हैं] जैसे—

भ्रमर द्रुमपुष्पाणि भ्रम रत्यै पिबन् मधु ।
का कुन्दकुसुमे प्रीतिः काकुन्दत्वा विरौषि यत् ॥ ५ ॥

अप्यशक्यं तया दत्तं दुःखं शक्यान्तरात्मनि ।
वाष्पो वाहीकनारीणां वेगवाही कपोलयोः ॥ ६ ॥

सपदि कृतपदस्त्वदीक्षितेन स्मितशुचिना स्मरतत्वदीक्षितेन ।
भवति वत जनः सचित्तदाहो न खलु मृषा कुत एव चित्तदाहो ॥७॥

हे भ्रमर ! कुन्द के फूल में ही ऐसी कौन सी [विशेष] प्रीति है जो [कुन्द का फूल शिशिर ऋतु में ही खिलता है । शिशिर की समाप्ति के बाद वसन्त ऋतु आने पर उसका खिलना बन्द हो जाता है । इसलिए अब वसन्त ऋतु में जब कुन्द-कुसुम नहीं खिलता है तब 'काकुं दत्वा=ध्वनिविकारं कृत्वा 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः'] ध्वनि बिगाड़ कर रोता [विकृतं रौषि विरौषि] फिर रहा है [वसन्त ऋतु में इतने सारे फूल खिल रहे हैं] जा रति [आनन्द] के लिए उनका मधुपान करता हुआ [अन्य] पेड़ों के फूलों पर मंडरा ॥५॥

यहां प्रथम दो चरणों के आदि में 'भ्रमर भ्रमर [त्यै]' पद की और अन्तिम दोनों चरणों के आदि में 'का कुन्द और काकुं द [त्वा]' पदों की आवृत्ति होने से यह दो पादों के आदि में उपस्थित यमक का उदाहरण हुआ। दो पादों के मध्यवर्ती यमक का उदाहरण आगे देते हैं ।

उस [रानी] ने [शकियों शकाख्यजनपदस्त्रीणां] 'शक'-देश वासिनी स्त्रियों के अन्तरात्मा में असह्य [अशक्य] दुःख दिया और वाहीक देश की स्त्रियों के कपोलों पर वेगवाही आंसुओं का प्रवाह दिया ॥६॥

इसमें प्रथम चरण और द्वितीय चरण के मध्य में '[अ] शक्यं शक्यां [तरात्मनि]' पदों की और तृतीय तथा चतुर्थ चरणों के मध्य में 'वाहीक [वेग] वाही क [पोलयोः]' पदों की आवृत्ति होने से यह दो पादों के मध्य में स्थित यमक का उदाहरण है । दो पादों के अन्त में रहने वाले यमक का उदाहरण आगे देते हैं—

स्मित से शुभ्र और काम तत्व की दीक्षा लिये हुए तुम्हारे कटाक्ष का पात्र हुआ पुरुष चित्तदाह युक्त हो जाता है । [जब तुम्हारे केवल देखने मात्र से चित्तदाह होने लगता है तब] किसी से भी चित्तदाह हो सकता है यह कहना मिथ्या नहीं है ॥७॥

एकान्तरपादान्तयमकम् यथा—

उद्वेजयति भूतानि यस्य राज्ञः कुशासनम्।
सिंहासनवियुक्तस्य तस्य क्षिप्रं कुशासनम् ॥ ८ ॥

एवमेकान्तरपादादिमध्ययमकान्यूह्यानि।

इस श्लोक के प्रथम द्वितीय चरणों के अन्त में '[कृतपदस्] त्वदीक्षितेन, और [स्मर त] त्वदीक्षितेन' पदों की तथा तृतीय चतुर्थ चरण के अन्त में 'चित्तदाहो' पदों की आवृत्ति होने से दो पादों के अन्त में स्थित यमक का उदाहरण है।

एक पाद के अन्तर से पादान्त में स्थित यमक [का उदाहरण] जैसे—

जिस राजा का बुरा शासन [प्रजा] जनों को दुःखदायक होता है। सिंहासन वियुक्त होकर [सिंहासन को छोड़ कर] उसको शीघ्र ही कुशों पर बैठना [वन-वन मारा-मारा फिरना] होता है ॥ ८ ॥

इस श्लोक में 'एकान्तरित-पादान्त-यमक' है। क्योंकि द्वितीय और चतुर्थ चरण के अन्त में 'कुशासनम्' पद की आवृत्ति है। इस सूत्र के उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में भी ि तीय और चतुर्थ चरण में आवृत्ति दिखलाई थी। परन्तु वह समस्त पद की आवृत्ति थी और यहां केवल पादान्त की आवृत्ति है यह उन दोनों का भेद है।

इसी प्रकार 'एकान्तरित-पादादि-यमक' का निम्न उदाहरण हो सकता है।

करोऽतिताम्रो रामाणां तंत्रीताडनविभ्रमम्।
करोति सेर्व्यं कान्ते च श्रवणोत्पलताडनम् ॥

इसमें प्रथम और तृतीय चरण के आरम्भ में 'करोऽति' और 'करोति' पद होने से यह 'एकान्तरित-पादादि-यमक' का उदाहरण है। 'एकान्तरित-पादमध्य-यमक' का निम्न उदाहरण हो सकता है—

यान्ति यस्यान्तिके सर्वेऽप्यन्तकान्तमुपाधयः।
तं शान्तचितवृत्तान्तं गौरीकान्तमुपास्महे ॥

इस श्लोक के द्वितीय और चतुर्थ चरण के मध्य में 'कान्त' पद की आवृत्ति होने से यह 'एकान्तरित-पादमध्यायमक' का उदाहरण है।

इस प्रकार 'एकान्तरित पाद' के आदि और मध्य यमकों [के उदाहरणों] को [स्वयं] समझ लेना चाहिए।

समस्तपादान्तयमकं यथा—

नतोन्नतभ्रूगतिबद्धलास्यां विलोक्य तन्वीं शशिपेशलास्याम् ।
मनः किमुत्ताम्यसि चञ्चलास्यां कृती स्मराज्ञा यदि पुष्कला स्याम् ॥६॥

एवं समस्तपादादिमध्ययमकानि व्याख्यातव्यानि । अन्ये च जातिसङ्करभेदाः सुधियोत्प्रेक्ष्याः ।

समस्त [चारों] पादों के अन्त में यमक [का उदाहरण] जैसे—

हे चञ्चल मन ! नत और उन्नत भौंहों की गति से लास्य [नृत्य] युक्त, चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली, इस तन्वी को देख कर क्यों उत्तेजित हो रहा है । यदि इस [तन्वी] में कामदेव की आज्ञा पुष्कल मात्रा में आजावे [काम का पूर्ण वेग से प्रभाव हो जावे] तो [इसके साथ सम्भोग आदि का अवसर प्राप्त हो सकने से] मैं कृतार्थ हो जाऊं ॥६॥

इस श्लोक के चारों चरणों में 'लास्यां' पद आता है इसलिए यह 'समस्त पादान्त यमक' है ।

इसी प्रकार समस्त पादों के आदि और मध्य [में स्थित] यमकों की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए । और भी [इन भेदों के] सङ्कर से उत्पन्न भेद बुद्धिमान् [पाठक] स्वयं समझ ले ।

समस्त पादों के आदि में होने वाले यमक के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिया जा सकता है—

सारसाऽलंकृताकारा सारसामोदनिर्भरा ।
सारसालवृतप्रान्ता सा रसाढ्या सरोजिनी ॥

इसमें चारों पादों के आदि में 'सारसा' की आवृत्ति होने से यह 'समस्तपादादियमक' का उदाहरण है । 'समस्तपादमध्ययमक' के लिए निम्न उदाहरण दिया जा सकता है—

स्थिरायते यतेन्द्रियो न भूयते यतेर्भवान् ।
अमायते यतेऽप्यभूत् सुखाय ते यतेऽक्षयम् ॥

इस श्लोक के चारों पादों के मध्य में 'तेयते' की आवृत्ति की गई है। इसलिए यह 'समस्तपादमध्य यमक' का उदाहरण हो सकता है । अन्य सङ्कर जातिभेद के लिए निम्न उदाहरण दिया जा सकता है—

सनाकवनितं नितम्बरुचिरं, चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम् ।
मता फणावतोऽवतो रसपरा, परास्तवसुधा सुधाऽधिवसति ॥

अक्षरयमकन्त्वेकाक्षरमनेकाक्षरञ्च। एकाक्षरं यथा—

नानाकारेण कान्ताभ्रूराराधितमनोभुवा ।
विविक्तेन विलासेन ततक्ष हृदयं नृणाम् ॥ १० ॥

एवं स्थानान्तरयोगेऽपि द्रष्टव्यः ।

सजातीयनैरन्तर्यादस्य प्रकर्षो भवति । स चायं हरिप्रबोधे दृश्यते । यथा—

इस प्रकार पादयमकों का निरूपण कर चुकने के बाद अब आगे अक्षर-यमकों का निरूपण करते हैं।

अक्षर यमक एकाक्षर और अनेकाक्षर [भेद से दो प्रकार का] होता है। [उनमें से] एकाक्षर [यमक का उदाहरण] जैसे—

काम की आराधना करने वाली कान्ता की भौहों ने नाना प्रकार के सुन्दर विलास से [अपने देखने वाले प्रिय] लोगों के हृदय को चीर दिया ॥ १० ।

इस श्लोक के प्रथम चरण के आदि में 'नाना' पद के रूप में 'नकार' की आवृत्ति, द्वितीय चरण के आदि में उसी प्रकार 'राराधित' में 'रकार' की आवृत्ति, तृतीय चरण के आदि में 'विविक्तेन' पद में 'वि' की आवृत्ति और अन्तिम चतुर्थ चरण के आदि में 'ततक्ष' पद में 'तकार' की आवृत्ति होने से यह 'एकाक्षर यमक' का उदाहरण है। वैसे तो यह अनुप्रास का उदाहरण होता, परन्तु इस आवृत्ति में स्थान का नियम है, चारों पादों के आदि में नियमित रूप से यह वर्ण की आवृत्ति हुई है इसलिए यह 'एकाक्षर यमक' का ही उदाहरण है, अनुप्रास का नहीं।

इसी प्रकार स्थानान्तर [अर्थात् पाद के मध्य अथवा अन्त] के योग में भी [यह 'एकाक्षर यमक' हो सकता है उसे] समझ लेना चाहिए।

स्थानान्तरयोग का उदाहरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

सभासु राजन्नसुराहतैर्मुखैर्महीसुराणां वसुराजितैः स्तुताः।
न भासुरा यान्ति सुरान्न ते गुणाः प्रजासु रागात्मसु राशितां गताः ॥

सजातीय [एक वर्ग के अथवा 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार सवर्णसंज्ञक वर्णों] के निरन्तर स्थित होने पर इस ['एकाक्षर यमक' या 'अनुप्रास'] का [अधिक] प्रकर्ष होता है। इस प्रकार का [सजातीय नैरन्तर्ययुक्त] यमक हरिप्रबोध [नामक काव्य] में देखा जाता है। जैसे—

[1] विविधधववना नागगर्द्धर्द्धनाना
वि-विततगगनाऽनाममज्जज्जनाऽना ।
रुरुशललना नावबन्धुन्धुनाना
मम हि हिततनाऽनानन-स्व-स्वनाऽना ॥ ११ ॥

अनया च वर्णयमकमालया पदयमकमाला व्याख्याता ॥ २ ॥

[हरि-प्रबोध के इस श्लोक में हरि विष्णु, हलधर बलराम से समुद्र के समीप की भूमि का वर्णन कर रहे हैं । समुद्र के किनारे की भूमि कैसी है कि] नाना प्रकार के अर्जुन ['धवो वृक्षे नरे पत्यावर्जुने च द्रुमान्तरे'] के वन जिस में हैं, [विविधानि धवानामर्जुनानां वनानि यस्यां सा विविधधववना । नागाः कुञ्जराः सर्पा वा तान् गृध्यन्ति अभिलषन्तीति नागगर्द्धाः । तथाविधा ऋद्धाः समृद्धा ये नानाविधा वयःपक्षिणः तैर्विततं व्याप्तं गगनं यस्याः सा नागगर्द्धर्द्धनाना-वि-विततगगना ।] हाथियों [पर बैठने] अथवा [खाने के लिए] सर्पों के अभिलाषी जो [मयूर आदि] नाना प्रकार के पक्षी उनसे व्याप्त है आकाश जिसका, और [अनाममज्जज्जना = न विद्यते नामो नमनं यस्मिन् कर्मणि तत्तथा मज्जन्तो जना यस्यां सा अनाममज्जज्जना] जिसमें बिना झुके लोग नहा सकते हैं, और [अना = न विद्यते नरो यस्यां सा अना अथवा अनिति प्राणिति स्फुरतीति अना] जिसमें कोई मनुष्य नहीं है [अर्थात् निर्जन] अथवा [अनिति प्राणिति स्फुरतीति अना] सजीव सी [रुरुशशललना = रुरूणां मृगाणां शशानां च ललनं विलासो यस्यां सा रुरुशशललना] मृगों और शशकों के विलास से युक्त, [और नावबन्धुन्धुनाना नौ = आवयोः अबन्धुं शत्रुं धुनाना] हम दोनों [कृष्ण और बलराम] के शत्रुओं का नाश करने वाली [हि = यतः, हिततना = आवयोर्हितं तनोतीति हिततना] क्योंकि अथवा निश्चय से [हमारे] हित को करने वाली, [और अनानन-स्व-स्वनाऽना = न विद्यते आननं यस्यासौ अनाननः, स्व आत्मीयः स्वन एव अनः प्राणनं यस्याः सा अनानन-स्व-स्वनाऽना] मुख रहित [मुख से उच्चारण न किया जाने वाली] जो अपनी [पृथिवी के भीतर की] आवाज, वही जिसका जीवन है [ऐसी समुद्र के समीप की पृथिवी है] ॥११॥

इस श्लोक में सब जगह सजातीय अक्षरों का नैरन्तर्य पाया जाता है इसलिए यह 'एकाक्षर यमक' के प्रकर्ष का उदाहरण है ।

इस वर्ण यमक की माला से [उसी के समान सम्भावित] पदयमक-माला की भी व्याख्या हो गई ॥ २ ॥

भङ्गादुत्कर्षः । ४, १, ३ ।

उत्कृष्टं खलु यमकं भङ्गाद् भवति ॥ ३ ॥

शृङ्खला परिवर्तकश्चूर्णमिति भङ्गमार्गः । ४, १, ४ ।

एते खलु शृङ्खलादयो यमकभङ्गानां प्रकारा भवन्ति ॥ ४ ॥

वर्णविच्छेदचलनं शृङ्खला । ४, १, ५ ।

वर्णानां विच्छेदो वर्णविच्छेदः । तस्य चलनं यत् सा शृङ्खला । यथा 'कलिकामधु' शब्दे 'काम' शब्दविच्छेदे 'मधु' शब्दविच्छेदे च तस्य चलनम् । लि-म-वर्णयोर्विच्छेदात् ॥ ५ ॥

यमक की ही कुछ अन्य विशेषताओं को सूचित करने के लिए अगले सूत्र में कहते हैं—

भङ्ग से [यमक का अधिक] उत्कर्ष होता है ।

[पदों में] भङ्ग [विच्छेद कर देने] से निश्चय ही यमक [अधिक] उत्कृष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

उस भङ्ग के भेदों को दिखलाने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं ।

१ शृङ्खला, २ परिवर्तक और ३ चूर्ण-[यह तीन] भङ्ग के प्रकार हैं ।

यह शृङ्खला आदि [तीन] यमक के भङ्ग के प्रकार होते हैं ॥ ४ ॥

उनकी क्रम से व्याख्या कहते हैं—

वर्णों के विच्छेद का [क्रमशः आगे] सरकना 'शृङ्खला' [कहलाता] है ।

वर्णों का विच्छेद वर्णविच्छेद [पद का अर्थ] है । उस [वर्णविच्छेद] का चलना [आगे सरकना] जो है वही 'शृङ्खला' [नामक भङ्ग का एक प्रकार] है । जैसे [पिछले पृष्ठ पर उद्धृत 'कलिकामधुर्गर्हितम्' वाले उदाहरण में] 'कलिकामधु' शब्द में [पहिले कलि कामधक् यह पदच्छेद करने पर कलि पद से] काम शब्द को अलग करने पर ['लि' पर वर्ण-विच्छेद होता है । 'फिर 'कलिका मधु' ऐसा पदच्छेद करने पर वह विच्छेद 'लि' से सरक कर 'का' पर आ जाता है । इसलिए] और मधु शब्द के विच्छेद करने पर उस [वर्ण विच्छेद का लि से का की ओर] चलन होता है । [क्योंकि 'कलिकामधु' में बीच के 'का' का एक ओर] 'लि' और [दूसरी ओर] 'म' से विच्छेद होने से [यह वर्ण विच्छेद के चलन की एक 'शृङ्खला' बन जाती है । इसलिए

सङ्गविनिवृत्तौ स्वरूपापत्तिः परिवर्तकः । ४, १, ६ ।

अन्यवर्णसंसर्गः सङ्गः । तद्विनिवृत्तौ स्वरूपस्यान्यवर्णतिरस्कृतस्यापत्तिः प्राप्तिः परिवर्तकः । यथा 'कलिकामधुगर्हितम्' इत्यत्र 'अर्हितम्' इति पदं गकारस्य व्यञ्जनस्य सङ्गाद् 'गर्हितं' इत्यन्यस्य रूपमापन्नम् । तत्र व्यञ्जनसङ्गे विनिवृत्ते स्वरूपमापद्यते अर्हितमिति । अन्यवर्णसंक्रमेण भिन्नरूपस्य पदस्य ताद्रूप्यविधिरयमिति तात्पर्यार्थः । एतेनेतरावपि व्याख्यातौ ॥ ६ ॥

इस प्रकार के वर्णविच्छेद होने पर यमक भङ्ग का 'शृङ्खला' नामक विशेष भेद होता है] ॥ ५ ॥

यमक भङ्ग के दूसरे 'परिवर्तक' नामक भेद का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

[पास के किसी सम्बद्ध अक्षर से] सङ्ग के छूट जाने पर [उस वर्ण के सङ्ग के कारण विकृत हुए वर्ण की जो सङ्ग के हटने से पुनः अपने] स्वरूप की प्राप्ति [है वह वर्ण की विकृति से स्वरूप भूत प्रकृति की ओर परिवर्तित हो जाने से] 'परिवर्तक' [नामक 'यमक-भङ्ग' का उदाहरण होता] है ।

अन्य वर्ण का संसर्ग [यहां] सङ्ग [पद से अभिप्रेत] है । उसके छूट जाने पर अन्य वर्ण [के संसर्ग के कारण] से तिरस्कृत [प्रतीत न होने वाले वर्ण के अपने] स्वरूप की प्राप्ति [जिस भङ्ग प्रकार में हो जाती है उसे] 'परिवर्तक' [कहा जाता] है । जैसे [पृ० १६३ पर उद्धृत पूर्वोक्त] 'कलिकामधुर्गाहितम्' इस [उदाहरण] में 'अर्हितम्' यह पद व्यञ्जन रूप गकार के सङ्ग से [अपने अर्हित श्रेष्ठ पूज्य अर्थ प्रतिपादक स्वरूप को छोड़ कर] 'गर्हितम्' इस [प्रकार के] अन्य के रूप को प्राप्त हो गया है । उस ['गर्हितम्'] में से [गकार रूप] व्यञ्जन का सङ्ग हट जाने पर [वह 'गर्हितम्' पद] 'अर्हितम्' इस रूप में अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है । [इसलिए यह 'परिवर्तक' नामक दूसरे 'यमक भङ्ग' का उदाहरण है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि] अन्य भिन्न वर्ण के संसर्ग से भिन्न रूप [हुए] पद का [उस अन्य वर्ण के संसर्ग के छूट जाने पर पुनः] अपने उस [मूल] रूप की प्राप्ति का यह विधान ['परिवर्तक' नाम से प्रसिद्ध] है, यह तात्पर्यार्थ हुआ । ['परिवर्तक' की] इस [व्याख्या] से ['परिवर्तक' के [सम्भावित] अन्य दोनों भेद [अर्थात् १. विच्छेदयुक्त अनेक पदों के मिलाने

पिण्डाक्षरभेदे स्वरूपलोपश्चूर्णम् । ४, १, ७ ।

पिण्डाक्षरस्य भेदे सति पदस्य स्वरूपलोपश्चूर्णम् । यथा—

योऽचलकुलमवति चलं, दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनां कान्तः ।
साग्नि बिभर्ति च सलिलं, दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनाङ्कान्तः ॥ १२ ॥

से स्वरूप की प्राप्ति और २. भिन्न-भिन्न दो हलों अर्थात् व्यञ्जनों के मिलाने से स्वरूपलाभ रूप] भी व्याख्यात हो गए [यह समझना चाहिए] ।

वे परिवर्तक के और दो भेद जिनका वृत्तिकार यहां संकेत कर रहे हैं इस प्रकार हो सकते हैं कि एक में विच्छेदयुक्त अनेक पदों के मिला देने पर और दूसरे में अलग-अलग स्थित दो व्यञ्जन वर्णों के मिला देने पर जो स्वरूप लाभ हो सकता है ये दोनों भी यमक भङ्ग के 'परिवर्तक' के उदाहरण हो सकते हैं । यह अन्तिम भेद अगले 'चूर्ण' नामक भेद से विपरीत बनेगा ॥ ६ ॥

'यमक भङ्ग' के तृतीय भेद 'चूर्ण' का निरूपण करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं—

संयुक्ताक्षर [पिण्डाक्षर] को अलग कर देने पर [पद का] स्वरूप का लोप [हो जाना] 'चूर्ण' [नामक यमक भेद का तृतीय प्रकार] है ।

संयुक्ताक्षर [पिण्डाक्षर] का विश्लेष हो जाने पर पद के स्वरूप का लोप 'चूर्ण' [नामक यमक भेद का तृतीय प्रकार] है । जैसे—

[इस श्लोक में कवि समुद्र का वर्णन कर रहा है । समुद्र कैसा है उसका पहला विशेषण है 'दूरसमुन्मुक्तशुक्-तिमीनां कान्तः' । इसका अर्थ होगा 'दूरे समुन्मुक्ता शुक् शोको येन सः दूरसमुन्मुक्तशुक्' और 'तिमीनां मत्स्यानां कान्तः प्रियः' । अर्थात्] शोक रहित और मछलियों का प्रिय [समुद्र है । यही पाद इस श्लोक के चतुर्थ चरण के भी रूप में 'दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनां कान्तः' इस रूप में आवृत्त हुआ है । वहां उस का अर्थ करते समय 'दूरसम्' और 'उन्मुक्तशुक्ति-मीनाङ्कान्तः' इस प्रकार दो पद अलग-अलग हो जायेंगे । उसके 'उन्मुक्तशुक्ति-मीनाङ्कान्तः' इस अंश का अर्थ 'उन्मुक्ता उद्गतमुक्ताः शुक्तयः उन्मुक्तशुक्तयः' जिन शुक्तियों में से मोती निकल गए हैं या ऊपर निकल रहे हैं । इस प्रकार की शुक्तियां और मीन अर्थात् मछलियां अङ्क अर्थात् चिह्न हैं जिसमें, ऐसा जिसका अन्त अर्थात् प्रान्त भाग है । इस प्रकार का समुद्र है । अर्थात्] बाहर निकले हुए मोतियों वाली शुक्तियों और मछलियों से अङ्कित तट वाला समुद्र 'दूरसम्' अर्थात् खारी, और 'साग्नि' अर्थात् बड़वानल युक्त, 'सलिलं' जल को

अत्र शुक्तिपदे क्तीति पिण्डाक्षरं, तस्य भेदे शुक्तिपदं लुप्यते ककार-तिकारयोरन्यत्र संक्रमात्। दूरसमुन्मुक्तशुक्, अचलकुलं, तिमीनां कान्तः समुद्रः।

अत्र श्लोकाः—

अखण्डवर्णविन्यासचलनं शृङ्खलाऽमला।
अनेन खलु भङ्गेन यमकानां विचित्रता ॥ १३ ॥

यदन्यसङ्गमुत्सृज्य नेपथ्यमिव नर्तकः।
शब्दस्वरूपमारोहेत् स ज्ञेयः परिवर्तकः ॥ १४ ॥

धारण करता है। और जो [समुद्र पर्वतों के पङ्ख काटने वाले इन्द्र के भय से] [चलं] 'कांपते' हुए, ['अचलं' अर्थात् समुद्र के भीतर छिप कर बैठे हुए शरणागत-मैनाक] पर्वत की ['अवति'] रक्षा करता है ॥ १२ ॥

यहां [द्वितीय चरण के] शुक्ति पद में 'क्ति' यह संयुक्ताक्षर है। इस को विभक्त कर देने पर शुक्ति पद का लोप हो जाता है। ककार [का शुक् उन्मुक्तशुक् पद में] और तिकार ['ति' अक्षर] का [तिमीनां पद में] अन्यत्र ['शुक्' तथा 'तिमीनां' पदों में] संक्रम हो जाने से [शुक्ति पद रहता ही नहीं है। उसका लोप हो जाता है। 'चूर्ण' हो जाता है। इसलिए यह 'चूर्ण' नामक यमक भेद का उदाहरण होता है। इसके पदों का अन्वय इस प्रकार होता है] 'दूर-समुन्मुक्तशुक्' शोक को दूर छोड़ देने वाला और 'तिमीनां कान्तः' मछलियों का प्रिय समुद्र अचल कुल [मैनाकादि पर्वत समूह] को ['अवति' रक्षा करता है]

इस [यमकभङ्ग के तीनों प्रकारों] के विषय में [निम्नलिखित संग्रह] श्लोक [भी] हैं—

अखण्ड [पूर्ण] वर्णों के विन्यास का [पदच्छेद के अवसर पर इधर-उधर] सरक जाना [शृङ्खला जैसी रचना का जनक हो जाने से] शुद्ध 'शृङ्खला' [कहलाता] है। इस [शृङ्खला रूप] भङ्ग से यमकों की विचित्रता [प्रतीत होने लगती] है ॥ १३ ॥

जैसे [नाटक में] नट [अन्य रामादि के] वेश को छोड़ कर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है इस प्रकार जो वर्ण [वैरूप्यापादक] अन्य [वर्ण] के सङ्ग को छोड़ कर [अपने असली] शब्द स्वरूप को प्राप्त हो जावे उस [यमक भेद] को 'परिवर्तक' [नामक दूसरा भङ्गभेद] समझना चाहिए ॥ १४ ॥

पिण्डाक्षरस्य भेदेन पूर्वापरपदाश्रयात् ।
वर्णयोः पदलोपो यः स भङ्गश्चूर्णसंज्ञकः ॥ १५ ॥

अप्राप्तचूर्णभङ्गानि यथास्थानस्थितान्यपि ।
अलकानीव नात्यर्थं यमकानि चकासति ॥ १६ ॥

विभक्तिपरिणामेन यत्र भङ्गः क्वचिद् भवेत् ।
न तदिच्छन्ति यमकं यमकोत्कर्षकोविदाः ॥ १७ ॥

आरूढं भूयसा यत्तु पदं यमकभूमिकाम् ।
दुष्येच्चेन्न पुनस्तस्य युक्तानुप्रासकल्पना ॥ १८ ॥

संयुक्ताक्षर को तोड़ने से दोनों संयुक्त वर्णों के [क्रमशः] पूर्व और उत्तर पदों में मिल जाने से जो [संयुक्ताक्षर जन्य] पद का लोप हो जाता है उस भङ्ग को 'चूर्ण' नामक भङ्ग समझना चाहिए ॥ १५ ॥

जैसे 'चूर्ण-भङ्ग' [केशपाश की रचना विशेष] से रहित होने पर अपने उचित स्थान पर रहने पर भी केश शोभित नहीं होते इसी प्रकार 'चूर्ण-भङ्ग' [नामक यमक भेद] के बिना उचित स्थान पर स्थित होने पर भी यमक अधिक शोभाजनक नहीं होते हैं ॥ १६ ॥

जहाँ कहीं विभक्तियों के विपरिणाम से भङ्ग बनता हो यमक के उत्कर्ष को जानने वाले [विद्वान्] उस को [उत्कृष्ट] यमक नहीं मानते हैं ॥१७॥

जो पद बहुत दूर तक यमकरूपता को प्राप्त होकर भी दूषित हो जाय [यमक न बन सके] उसको फिर अनुप्रास का उदाहरण मानना भी उचित नहीं है ॥१८॥

इसका उदाहरण दण्डी ने इस प्रकार दिया है—

कालकालगलकालकालमुखकालकाल,
कालकालघनकालकाललपनकालकाल ।
कालकालसितकालका ललनिकालकाल-
कालका, लगतु कालकाल कालकालकाल ॥

इस उदाहरण में कालकाल की अत्यधिक आवृत्ति हो जाने से रसास्वाद में सरलता के स्थान पर व्यवधान उपस्थित हो जाता है । इसलिए 'आरूढं भूयसा यत्तु पदं यमकभूमिकाम्' जो पद अति मात्रा में यमक भूमिका में पहुंच जाय अर्थात् यमक प्रयोजक पद की अतिमात्रा में आवृत्ति हो जाय और

विभक्तीनां विभक्तत्वं संख्यायाः कारकस्य च ।
आवृत्तिः सुप्तिङन्तानां मिथश्च यमकाद्भुतम् ॥ १६ ॥

इसलिए वह आवृत्ति दोषयुक्त हो जाय 'दुष्येच्चेत्' तो फिर उस को अनुप्रास का भी उदाहरण नहीं मानना चाहिए। 'न पुनस्तस्य युक्तानुप्रासकल्पना'। यदि उससे काव्य की शोभा की वृद्धि होती हो तो वह यमक ही हो सकता है। परन्तु जब वह यमकसदृश होने पर भी अतिमात्रा में प्रयुक्त होने से दोषाधायक हो गया है, तब वह अनुप्रास रूप अलङ्कार भी नहीं हो सकता है, यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

सुबन्त अथवा तिङन्त [पदों की] की अलग-अलग अथवा मिलकर भी [ऐसी] आवृति जिसमें विभक्तियों, संख्या [वचन] और कारकों का भेद हो उसको 'यमकाद्भुत' [अथवा 'अद्भुत यमक' अलङ्कार] कहते हैं ॥ १६ ॥

इनके क्रम से उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं—

विश्वप्रमात्रा भवता जगन्ति,
व्याप्तानि मात्रापि न मुञ्चति त्वाम् ।

विश्व के प्रमाता आपसे सारे जगत् व्याप्त हैं। उसका कोई भी अंश आप से रहित नहीं है। इस उदाहरण में 'विश्वप्रमात्रा' और 'मात्रापि' इन दोनों में 'मात्रा' इस अंश की आवृत्ति होने से यह 'यमकाद्भुत' का उदाहरण होता है।

इसी प्रकार—

एताः सन्नाभयो बाला यासां सन्नाभयः प्रियः ।

इस उदाहरण में 'सन्नाभयः' इस पद की आवृत्ति है। परन्तु पहली जगह 'एताः सन्नाभयो बालाः' में 'सन्नाभयः' पद बहुवचनान्त 'एताः बालाः' का विशेषण है। और दूसरी जगह 'सन्नाभयः' पद, एकवचनान्त 'प्रियः' का विशेषण है। दोनों पदों में प्रथमा विभक्ति ही होने से यह विभक्ति भेद का नहीं अपितु संख्याभेद रहते हुए पद की आवृत्ति का उदाहरण है। 'सन्नाभयः बालाः' में 'सन्नाभयः' का अर्थ सुन्दर नाभि वाली बालाएं है।

इसी प्रकार—

यतस्ततः प्राप्तगुणः प्रभावे,
यतस्ततश्चेतसि भासतेऽयम् ।

शेषः सरूपोऽनुप्रासः । १, १, ८ ।

पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्विधमक्षरं च शेषः। सरूपोऽन्येन प्रयुक्तेन तुल्यरूपोऽनुप्रासः।

इस उदाहरण में 'यतस्ततः' पद की आवृत्ति है। यह पद सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय करके बना है। इसमें पहली जगह पञ्चम्यर्थ में और दूसरी जगह सप्तम्यर्थ में 'तसि' प्रत्यय हुआ है। इसलिए यह 'कारक भेद' का उदाहरण है साक्षात् विभक्ति का प्रयोग न होकर 'तसिल्' प्रत्यय के द्वारा प्रयोग होने से विभक्ति-भेद का उदाहरण नहीं है। इसी प्रकार—

सरति सरति कान्तस्ते ललामो ललामः।

यह सुबन्त और तिङन्त पदों की मिश्रित आवृत्ति का उदाहरण है। इसमें 'सरति सरति' तथा 'ललामो ललामः' पदों की आवृत्ति है। इनमें 'सरति सरति' पदों में से एक 'सरति' पद शतृप्रत्ययान्त 'सरत्' शब्द का सप्तम्यन्त या सति सप्तमी का रूप है और दूसरा तिङन्त का लट् लकार का रूप होने से सुबन्त और तिङन्त की मिथः आवृत्ति का उदाहरण है। इसी प्रकार 'ललामो ललामः' में एक 'ललामः' पद प्रथमा का एकवचन और दूसरा लट् लकार के उत्तम पुरुष का बहुवचन होने से यह भी सुबन्त तथा तिङन्त पदों की मिथः आवृत्ति का उदाहरण है।

इन उदाहरणों में यदि केवल विभक्तिविपरिणाममात्र मानें तो ऊपर दिये हुए श्लोक के अनुसार यमकत्व की हानि माननी होगी। परन्तु केवल विभक्तिविपरिणाम न मान कर प्रकृति का भी भेद मानते हैं तो यमकाद्‌भुत अलङ्कार होता है। यह यमकत्वहानि और यमकाद्‌भुत का भेद समझना चाहिये॥ ७॥

इस प्रकार यमक का निरूपण कर चुकने के बाद दूसरे शब्दालङ्कार का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

[यमक से भिन्न] अन्य सारूप्य को 'अनुप्रास' कहते हैं।

यमक में स्थान नियत होता है। और आवृत्त पदों में भिन्नार्थकता अनिवार्य होती है। इसलिए शेष अनुप्रास से तात्पर्य अनियत स्थान तथा एकार्थ अथवा अनेकार्थक पदों की आवृत्ति से है। इसी को वृत्तिकार कहते हैं।

एकार्थक और अनेकार्थक [दोनों प्रकार के] और अनियत स्थान वाले पद तथा उसी प्रकार के अनियत स्थान वाले अक्षर शेष [पद से अभि-

ननु च 'शेषोऽनुप्रासः' इत्येतावदेव सूत्रं कस्मान्न कृतम् । आवृत्तिशेषोऽनुप्रास इत्येव हि व्याख्यास्यते ।

सत्यम् । सिद्धत्येवा वृत्तिशेषे किं त्वव्याप्तिप्रसङ्गः । विशेषार्थं च सरूप-ग्रहणम् । कात्स्न्र्येनैवावृत्तिः कात्स्न्र्यैकदेशाभ्यां तु सारूप्यमिति ॥८॥

प्रेत] हैं । [इस प्रकार जो शेष] सरूप [अर्थात्] अन्य प्रयुक्त [हुए पद] के तुल्य रूप [पद को] अनुप्रास [कहा जाता] है । [अर्थात् एकार्थ अथवा अनेकार्थ स्थानानियत पद के अन्य प्रयुक्त हुए पद के साथ सादृश्य अथवा आवृत्ति को 'अनुप्रास' कहते हैं । यह 'अनुप्रास' का लक्षण हुआ] ।

[प्रश्न] 'शेषोऽनुप्रासः' इतना ही सूत्र क्यों नहीं बनाया । [यमक से भिन्न] शेष [अन्य प्रकार] की आवृत्ति को 'अनुप्रास' कहते हैं । यह इस प्रकार की उस सूत्र की व्याख्या हो जावेगी ।

[उत्तर] आपका कथन ठीक है । आवृत्ति शेष अनुप्रास होता है [यह लक्षण] बन ही सकता है । किन्तु [उतना लक्षण रखने से] अव्याप्ति की सम्भावना हो सकती है । [इसलिए] विशेष [रूप से अव्याप्ति दोष रहित अनुप्रास का लक्षण करने] के लिए [सूत्र में] 'सरूप' पद का ग्रहण किया है । [इस 'सरूप' पद के ग्रहण करने से भेद यह हो जाता है कि यमक में अभिप्रेत आवृत्ति स्वर-व्यञ्जन संघात की] सम्पूर्ण रूप से 'आवृत्ति' होती है और [अनुप्रास में स्वरव्यञ्जन संघात रूप] सम्पूर्ण अथवा एकदेश [दोनों प्रकार] से सारूप्य हो सकता है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यमक में पूर्ण रूप से स्वर-व्यञ्जन-सङ्घात की आवृत्ति आवश्यक है । परन्तु अनुप्रास में स्वरभेद होने पर भी केवल व्यञ्जन की भी आवृत्ति हो सकती है । यही यमक और अनुप्रास का भेद है । इसी लिए श्री विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में इन दोनों के लक्षण इस प्रकार किए हैं —

[1] सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥

अर्थात् सार्थक होने पर भिन्नार्थक स्वरव्यञ्जनसङ्घात की उसी क्रम से आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं । इसके विपरीत—

[2] अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।

स्वर का भेद होने पर शब्द का साम्यमात्र अनुप्रास कहलाता है ॥ ८ ॥

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ८ । [2] साहित्यदर्पण १०, ७ ।

अनुल्वणो वर्णाऽनुप्रासः श्रेयान् । ४, १, ६ ।

वर्णानामनुप्रासः स खल्वनुल्वणोऽलीनः श्रेयान् । यथा—

क्वचिन्मसृणमांसलं क्वचिदतीव तारास्पदं
प्रसन्नसुभगं मुहुः स्वरतरङ्गलीलाङ्कितम् ।
इदं हि तव वल्लकीरणितानिर्गमैगुम्फितं
मनो मदयतीव मे किमपि साधु सङ्गीतकम् ॥ २० ॥

उल्वणस्तु न श्रेयान् । यथा—

वल्लीबद्धोर्ध्वजूटोद्भटमटति रटत्कोटिकोदण्डदण्डम् ॥ २१ ॥

इति ॥ ६ ॥

हलका [अनुल्वण, अनुग्र] वर्णों का अनुप्रास [अधिक] अच्छा होता है ।

वर्णों का अनुप्रास वर्णानुप्रास [षष्ठी तत्पुरुष समास से कहलाता] है । वह अनुल्वण अर्थात् [लीन] हलका [होने पर] अच्छा होता है । जैसे [निम्न उदाहरण में]—

कहीं स्निग्ध और गम्भीर, कहीं अत्यन्त उच्च फिर [कहीं] स्पष्ट और सुन्दर स्वरतरङ्गों [के उतार-चढ़ाव] की लीला से युक्त, वीणा की निकलती हुई ध्वनि से मिला हुआ, वह तुम्हारा सुन्दर सङ्गीत मेरे मन को मस्त [अत्यन्त आह्लादित] सा करता है ॥ २० ॥

इस श्लोक के प्रथम चरण में 'मसृणमांसलम्' दूसरे चरण में 'स्वरतरङ्ग लीलाङ्कितम्', तृतीय चरण में 'निर्गमैगुम्फिम्' तथा चतुर्थ चरण में 'मनो मद-यतीव मे', तथा 'साधु सङ्गीतकम्' इन पदों में अनुल्वण अनुप्रास पाया जाता है इसलिए वह उत्तम अनुप्रास का उदाहरण है ।

उग्र [वर्णानुप्रास] तो अच्छा नहीं होता । जैसे [निम्नाङ्कित उदाहरण में]—

जिस [धनुष] के [दोनों] किनारे [प्रत्यञ्चा के आघात से] शब्दाय-मान हैं इस प्रकार चाप-दण्ड को लिये हुए और लता से जटाओं को ऊपर बांधे हुए भयंकर रूप से घूम रहा है ॥ २१ ॥

इस उदाहरण में सारे पद में उग्र वर्णानुप्रास पाया जाता है । वह काव्य का शोभाधायक न होने से अधिक अच्छा नहीं समझा जाता है । अन्य लोगों ने अनुल्वण अनुप्रास का निम्न उदाहरण दिया है ।

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥ ६ ॥

पादानुप्रासः पादयमकवत् । ४, १, १० ॥

ये पादयमकस्य भेदास्ते पादानुप्रासस्येत्यर्थः । तेषामुदाहरणानि यथा—

कविराजमविज्ञाय कुतः काव्यक्रियाऽऽदरः ।
कविराजं च विज्ञाय कुतः काव्यक्रिया-दरः ॥ २२ ॥

पाद यमक के समान पादानुप्रास [भी होता] है ।

जो पाद यमक के [अनेक] भेद [पहले ४, १, २ में किए] हैं वे पादानुप्रास के [भी भेद हो सकते] हैं यह तात्पर्य है । उनके [कुछ] उदाहरण [नीचे देते हैं] जैसे—

[गुरु के रूप में किसी कविराट्] श्रेष्ठ कवि को जाने बिना [सत्कवियों की उपासना किए बिना] काव्य निर्माण में आदर कैसे प्राप्त हो सकता है । और [किसी-किसी] कविराज [सत्कवि] को [गुरु रूप में] प्राप्त करके काव्य निर्माण में दर अर्थात् भय कहां रह सकता है । [दरत्रासौ भीतिर्भीः साध्वसं भयम्] ॥२२॥

इस उदाहरण में समस्त पादों के वर्णों की आवृत्ति है । नवीन आचार्यों ने इस प्रकार के अनुप्रास को 'लाटानुप्रास' कहा है । 'लाटानुप्रास' का लक्षण कहते हुए साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ ने लिखा है—

[1] शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः ।
लाटानुप्रास इत्युक्तोऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥

अर्थात् जहाँ तात्पर्य मात्र के भेद से शब्द तथा अर्थ दोनों की पुनरुक्ति हो उसको 'लाटानुप्रास' कहते हैं । यह अनुप्रास एक-पदगत भी हो सकता है और अनेक-पदगत भी । एक-पदगत लाटानुप्रास का उदाहरण—

स्मेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते ।
पश्य निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पवशगं प्रियम् ॥

अथवा 'नयने तस्यैव नयने च' इत्यादि उदाहरण दिए गए हैं । इन दोनों उदाहरणों में 'नयने' पद की आवृत्ति है परन्तु उसके तात्पर्य में दोनों

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ७ ।

आखण्डयन्ति मुहुरामलकीफलानि
बालानि बालकपिलोचनपिङ्गलानि ॥ २३ ॥

जगह भेद है। इसलिए यह 'लाटानुप्रास' का उदाहरण है। अनेक पद विषयक लाटानुप्रास का उदाहरण निम्न श्लोक दिया गया है—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥

जिसकी दयिता पास नहीं है उसके लिए चन्द्रमा भी दावाग्नि के समान सन्ताप दायक है और जिसकी प्रिया उसके पास है उसके लिए दावाग्नि भी चन्द्रमा के समान शीतल और आनन्द दायक है। ठीक इसी प्रकार का प्रकृत उदाहरण वामन ने दिया है।

कविराजमविज्ञाय कुतः काव्यक्रियादरः।
कविराजं च विज्ञाय कुतः काव्यक्रियादरः ॥

छोटे बन्दर [बालकपि] के नेत्रों के समान [कुछ लाल और पीले रङ्ग के] पिङ्गल वर्ण छोटे-छोटे आंवलों के फलों को [तोते आदि] बार-बार काट रहे हैं ॥ २३ ॥

इस उदाहरण में 'फलानि', 'बालानि' और 'पिङ्गलानि' इन तीनों स्थलों पर 'लानि' इन अक्षरों की आवृत्ति होने से यह दूसरा अनुप्रास का भेद होता है। नवीन आचार्य इस प्रकार के अनुप्रास को वृत्त्यनुप्रास नाम से कहते हैं। विश्वनाथ ने वृत्त्यनुप्रास का लक्षण करते हुए लिखा है—

[1]अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद् वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥

अर्थात् अनेक व्यञ्जनों की एक ही प्रकार से अर्थात् केवल स्वरूप से, क्रम से नहीं, अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार उसी स्वरूप, और उसी क्रम से आवृत्ति, अथवा एक ही वर्ण की एक ही बार आवृत्ति होने पर 'वृत्त्यनुप्रास' कहलाता है। जैसे—

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूतांकुरा
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः कथङ्कथमपि ध्यानावधानक्षण—
प्राप्तप्राणसमा समागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥

---

[1]साहित्यदर्पण। १०, ४।

वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधरा: शक्रसङ्काश काशा:
काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगता: श्रीनदीहंसहंसा: ।
हंसाभोऽम्भोदमुक्त: स्फुरदमलरुचिर्मेदिनीचन्द्र चन्द्र:
चन्द्राङ्क: शारदस्ते जयकृदुपनतो विद्विषां काल काल: ॥ २४ ॥

इस उदाहरण में 'रसोल्लासैरमी' इस अंश में 'र' तथा 'स' का एकधा अर्थात् केवल स्वरूप से साम्य है क्रम से नहीं । पहले 'रसो' में 'र' पूर्व और 'स' पीछे प्रयुक्त हुआ है । उसकी आवृत्ति रूप 'ल्लासैरमी' में यह क्रम बदल गया है । उसमें 'स' का पहले और 'र' का पीछे प्रयोग हुआ है । इसलिए यह केवल 'एकधा' साम्य का उदाहरण है । दूसरे चरण में 'कोकिलकाकलीकलकलै:' इस भाग में 'क' तथा 'ल' की स्वरूपत: और क्रमश: भी आवृत्ति हुई है इसलिए यह 'अनेकधा' साम्य का उदाहरण है । प्रथम चरण में 'मकार' की एक बार और धकार की अनेक बार आवृत्ति हुई है । इस प्रकार यह वृत्त्यनुप्रास का उदाहरण है । वामन के प्रकृत उदाहरण में 'लानि' इन दो वर्णों की स्वरूपत: और क्रमश: दोनों प्रकार की आवृत्ति हुई है । इसलिए 'कोकिलकाकलीकलकलै:' वाले अंश के समान यह भी 'वृत्त्यनुप्रास' का उदाहरण है ।

विश्वनाथ ने अनुप्रास का तीसरा भेद 'अन्त्यानुप्रास' नाम से किया है । उसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

[1]व्यञ्जनं चेद् यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोजित्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥

पहले स्वर के साथ यदि व्यञ्जन की यथावस्थ आवृत्ति हो तो वह 'अन्त्यानुप्रास' कहलाता है । इसका उदाहरण साहित्यदर्पण में निम्न श्लोक दिया है—

केश: काशस्तबकविकास: काय: प्रकटितकरभविलास: ।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं त्यजति न चेत: काममनल्पम् ॥

श्री वामन ने जो अगला उदाहरण दिया है वह इसी प्रकार का उदाहरण है अतएव उसको नवीन आचार्यों के शब्दों में 'अन्त्यानुप्रास' का उदाहरण कहा जा सकता है ।

हे [शक्रसंकाश] इन्द्र तुल्य राजन् सफेद पुष्पों को धारण किए हुए

---

[1]साहित्यदर्पण । १०, ६ ।

कुवलयदलश्यामा मेघा विहाय दिवं गताः
कुवलयदलश्यामो निद्रां विमुञ्चति केशवः।
कुवलयदलश्यामा श्यामालताद्य विजृम्भते
कुवलदलश्यामं चन्द्रो नभः प्रविगाहते ॥ २५ ॥

काश [इस शरद् ऋतु में खिले हुए] नदियों के [स्वच्छ सफेद] वस्त्रों के समान प्रतीत होते हैं। हे राज्यलक्ष्मी रूप नदी के हंस [तुल्य राजन्] उनके [वर्षा के बाद पानी हट जाने से निकले हुए] नये किनारों पर [विचरने वाले] हंस काश के समान [स्वच्छ एवं सुन्दर] शोभित होते हैं। हे पृथ्वी के चन्द्र [स्वरूप राजन्] बादलों से मुक्त हुआ, चमकती हुई निर्मल कान्ति से युक्त चन्द्रमा हंस के समान शोभित हो रहा है। [इस प्रकार] हे शत्रुओं के विनाश करने वाले [विद्विषां काल] तुम्हारी विजय [यात्रा को सफल] करने वाला चन्द्र से युक्त शरत्काल आ गया है ॥ २४ ॥

इस श्लोक के चारों चरणों के अन्त में 'संकाश काशाः', [नदी] 'हंस हंसाः', [मेदिनी] 'चन्द्र चन्द्रः', और [विद्विषां] 'काल कालः' इस प्रकार की आवृत्ति होने से वामन ने इसे 'समस्तपादान्त अनुप्रास' का उदाहरण दिया है। पादान्त के पदों को ही अगले चरण के आदि में उपादान किए जाने से उसको 'मुक्तपदग्रह' नामक अनुप्रास भेद भी कहा जा सकता है।

'समस्तपादान्त अनुप्रास' के समान 'समस्त पादादि अनुप्रास' का भी वामन अगला उदाहरण देते हैं।

नील कमल [कुवलय] की पंखुड़ियों के समान काले मेघ [आज इस शरद् ऋतु में] आकाश को छोड़ कर [कहीं] चले गए। कुवलय दल के समान श्याम वर्ण विष्णु [वर्षा ऋतु बीत जाने से] निद्रा छोड़ [कर उठ] रहे हैं। कुवलय दल के समान श्याम वर्ण प्रियङ्गु [श्यामा] की लता आज फूल रही है। और कुवलय दल के समान नील आकाश में [शरद् का स्वच्छ] चन्द्रमा फिर दिखाई दे रहा है ॥ २५ ॥

इस श्लोक के चारों चरणों के आदि में 'कुवलयदलश्याम' इस एक ही पद की तीनों लिङ्गों में आवृत्ति की गई है इसलिए यह 'समस्त पदादि अनुप्रास' का उदाहरण है।

नवीन आचार्यों ने इस प्रकार के भेद न करके १. छेकानुप्रास, २. वृत्त्यनुप्रास, ३. श्रुत्यनुप्रास, ४. अन्त्यानुप्रास और ५. लाटानुप्रास इस

एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥ १० ॥

इति पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'आलङ्कारिके' चतुर्थेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।
शब्दालङ्कारविचारः ॥

—०—

प्रकार के पांच भेद किए हैं। वामन के भेदों के साथ उनका केवल आंशिक समन्वय सम्भव है पूर्ण समन्वय सम्भव नहीं है।

इस प्रकार [अनुप्रास के] अन्य [भेद] भी समझने चाहिएं ॥ १० ॥

इति श्री पण्डितवरवामनविरचित काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में
चतुर्थ 'आलङ्कारिक' अधिकरण में प्रथम अध्याय समाप्त हुआ
शब्दालङ्कार विचार समाप्त हुआ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
'काव्यालङ्कारदीपिकायां' हिन्दीव्याख्यायां
चतुर्थे 'आलङ्कारिकाधिकरणे' प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

'आलङ्कारिक' नाम्नि चतुर्थेऽधिकरणे

द्वितीयोऽध्यायः

[उपमाविचारः]

सम्प्रत्यर्थालङ्काराणां प्रस्तावः । तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते ।

उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा । ४, २, १ ।

'चतुर्थ अधिकरण' का द्वितीय अध्याय

उपमा विचार ।

चतुर्थाधिकरण 'आलङ्कारिक अधिकरण' है । इसमें अलङ्कारों का निरूपण कर रहे हैं । इस अधिकरण के पिछले प्रथम अध्याय में शब्दालङ्कारों का निरूपण किया गया था । उनके बाद अब अर्थालङ्कारों का निरूपण करना है । अर्थालङ्कारों में सर्वप्रधान और सबका मूलभूत 'उपमालङ्कार' है । इसलिए सबसे पहिले उस 'उपमालङ्कार' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं । इस अधिकरण के इस द्वितीय अध्याय में केवल उपमालङ्कार का विवेचन किया जायगा । उपमालङ्कार के साथ ही उपमा सम्बन्धी दोषों का भी निरूपण ग्रन्थकार ने इसी अध्याय में किया है । अन्य नवीन आचार्यों ने उपमा के दोषों का निरूपण दोष-निरूपण वाले परिच्छेद में किया है । परन्तु वामन ने दोष के प्रकरण में उपमा दोषों का निरूपण नहीं किया है बल्कि यहाँ उपमा के निरूपण के प्रसङ्ग में ही उसके दोषों का निरूपण किया है । दोष-निरूपण के प्रसङ्ग में उन्होंने इसका निर्देश भी कर दिया था कि उपमा के दोषों का निरूपण उपमा के प्रसङ्ग में करेंगे । तदनुसार इस अध्याय में उपमालङ्कार और उसके दोषों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

अब अर्थालङ्कारों [के निरूपण] का अवसर है । और उन [अर्थालङ्कारों] का मूल उपमा है इसलिए उस ही का [प्रथम] विचार किया जाता है ।

गुण के लेश से उपमान के साथ उपमेय का साम्य उपमा [कहलाता] है ।

उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम् । यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम् । उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यं यदसावुपमेति ।

ननूपमानमित्युपमेयमिति च सम्बन्धिशब्दावेतौ, तयोरेकतरोपादानेनैवान्यतरसिद्धिरिति । यथा [1]'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इत्यत्रोपमितग्रहणमेव कृतं नोपमानग्रहणमिति । तद्वदत्रोभयग्रहणं न कर्तव्यम् ।

सत्यम् । तत् कृतं लोकप्रसिद्धिपरिग्रहार्थम् । यदेवोपमेयमुपमानञ्च लोकप्रसिद्धं तदेव परिगृह्यते नेतरत् । न हि यथा 'मुखं कमलमिव' इति, तथा 'कुमुदमिव' इत्यपि भवति ॥ १ ॥

जिस अधिक [उत्कृष्ट] गुण वाले के साथ [न्यून गुण वाला] अन्य [पदार्थ] उपमित अर्थात् सादृश्य को प्राप्त होता है वह [अधिक गुण वाला पदार्थ] 'उपमान' [कहलाता] है । और जो न्यून गुण वाला [पदार्थ] उपमित [अर्थात् सादृश्य को प्राप्त] होता है वह [न्यून गुण वाला पदार्थ] 'उपमेय' [कहलाता] है । 'उपमान' [अधिक गुण वाले] के साथ 'उपमेय' [न्यून गुण वाले] का गुणलेश से [प्रयुक्त] जो साम्य [का कथन] है वह उपमा अलङ्कार कहलाता] है ।

[प्रश्न] 'उपमान' और 'उपमेय' यह दोनों [तो] सम्बन्धि-शब्द हैं । [इसलिए 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' इस नियम के अनुसार] उन दोनों में से किसी एक के ग्रहण से ही दूसरे की सिद्धि हो सकती है । इस लिए जैसे [पाणिनि मुनि ने अपने] 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र में [केवल] 'उपमित ' [उपमेय] का ग्रहण किया है 'उपमान' का नहीं इसी प्रकार यहाँ भी [उपमान उपमेय] दोनों का ग्रहण न करना चाहिए ।

[उत्तर] ठीक है । [दोनों के बजाय केवल किसी एक का ग्रहण करने से भी काम चल सकता है किन्तु विशेष रूप से] लोकप्रसिद्धि के परिग्रह के लिए ही उस [उपमान उपमेय दोनों के ग्रहण] को किया है । [इसका अभिप्राय यह है कि] जो उपमान और उपमेय लोकप्रसिद्ध हों उन्हीं का ग्रहण [उपमा

---

१ अष्टाध्यायी २, १, ५६ ।

गुणबाहुल्यतश्च कल्पिता । ४, २, २ ।

गुणानां बाहुल्यं गुणबाहुल्यम् । तत उपमानोपमेययोः साम्यात् कल्पितोपमा । कविभिः कल्पितत्वात् कल्पिता । पूर्वा तु लौकिकी ।

ननु कल्पितायाः लोकप्रसिद्ध्यभावात् कथमुपमानोपमेयनियमः ?

के लिए] करना चाहिए अन्य [लोकप्रसिद्धि के विपरीत उपमान उपमेय] का [ग्रहण] नहीं [करना चाहिए] । जैसे कमल के समान मुख [लोकप्रसिद्धि के अनुसार] यह [उपमा] होती है इस प्रकार कुमुद के समान [मुख] यह भी [उपमा लोकप्रसिद्ध न होने से] नहीं होती । [इस प्रकार लोकप्रसिद्धि के विपरीत उपमान उपमेय का ग्रहण उपमा में न किया जाय इस बात के सूचन के लिए सूत्रकार ने उपमान और उपमेय दोनों पदों का ग्रहण किया है । यह अभिप्राय हुआ] ॥ १ ॥

वामन ने उपमा के दो भेद किए हैं एक 'लौकिकी' और दूसरी 'कल्पिता' । लौकिकी उपमा में उपमान और उपमेय दोनों लोकप्रसिद्ध ही होने चाहिएं । लोकप्रसिद्धि के विपरीत उपमान अथवा उपमेय नहीं होने चाहिएं । परन्तु कल्पिता उपमा में तो उपमान लोकप्रसिद्ध नहीं अपितु केवल कविकल्पित होता है । उसी कल्पिता उपमा का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं ।

और गुणों के बाहुल्य से [कल्पित उपमान बना कर] कल्पिता [उपमा] होती है ।

गुणों का बाहुल्य [इस प्रकार के षष्ठी तत्पुरुष समास से] गुणबाहुल्य [कहलाता] है । उस [गुणबाहुल्य] से उपमान उपमेय के साम्य [के वर्णन] से कल्पिता उपमा होती है । कवियों के द्वारा कल्पित होने से [वह] कल्पिता [उपमा कहलाती] है । [इस कल्पिता उपमा से भिन्न] पहिली [पूर्व प्रदर्शित उपमा] लौकिकी [उपमा कहलाती] है ।

[प्रश्न] कल्पिता [उपमा] के [कविकल्पित होने के कारण] लोकप्रसिद्धि के अभाव से [उसमें] उपमान उपमेय का नियम कैसे बनेगा ? [अर्थात् लौकिकी उपमाओं में तो लोकप्रसिद्धि से ही उपमान और उपमेय का निर्णय हो जाता है । परन्तु कल्पिता उपमा तो केवल कवि की कल्पना पर निर्भर होती है । लोकप्रसिद्धि का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता । फिर उसमें यह 'उपमान' है यह 'उपमेय' है इस प्रकार का नियम कैसे निश्चित हो सकेगा । यह प्रश्नकर्ता का आशय है] ।

गुणबाहुल्यस्योक्तोत्कर्षापकर्षकल्पनाभ्याम् । तद्यथा—

उद्गर्भहूणतरुणीरमणोपमर्द-भुग्नोन्नतिस्तननिवेशनिभं हिमांशोः ।
बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारगौरैर्विष्णोः पदं प्रथममग्रकरैर्व्यनक्ति ॥ १ ॥

[उत्तर] गुण बाहुल्य से उक्त उत्कर्ष और अपकर्ष की कल्पना से [उपमान उपमेय भाव का निर्णय होगा। जिसमें गुणबाहुल्य मूलक उत्कर्ष है वही उपमान और जिसमें गुणबाहुल्य की अपेक्षा से अपकर्ष है वही उपमेय कहलावेगा।] जैसे—

व्यक्तगर्भा हूण तरुणी के [रमण] पति के द्वारा किए गए [उपमर्द] गाढ़ आलिङ्गन से [भुग्नोन्नति] दबा [पिचका] हुआ जो [उस तरुणी का] स्तन, उसके सन्निवेश के समान [अधिक फैला हुआ गोल और बीच में कृष्ण-वर्ण] चन्द्रमा का बिम्ब, पके हुए बिस काण्ड [भसींडे या मृणालदण्ड] के समान पीत और शुभ्र उदयकालीन [अग्र] किरणों से आकाश [विष्णोः पदं] को प्रकाशित कर रहा है ॥ ११ ॥

इस उदाहरण में चन्द्रबिम्ब की उपमा 'उद्गर्भहूणतरुणी' के 'रमणोपमर्दभुग्नोन्नतिस्तन' से की गई है। चन्द्रबिम्ब उपमेय है और 'हूण तरुणी' का 'स्तन' उपमान है। इस प्रकार का उपमान-उपमेयभाव लोक में कहीं प्रसिद्ध नहीं है। केवल कवि की कल्पना से कल्पित हुआ है। इसलिए यह 'कल्पिता' उपमा है, लौकिकी नहीं। उदय होता हुआ चन्द्रमा लाल होता है। हूण देशवासी अर्थात् पठान लोगों का वर्ण अत्यधिक लाल होता है। इसलिए किसी अन्य तरुणी के बजाय कवि ने विशेषकर 'हूण-तरुणी' का ग्रहण किया है। उदय होते हुए चन्द्रमा का बिम्ब लाल होने के साथ बड़ा भी अधिक होता है। और साधारण तरुणी की अपेक्षा 'व्यक्तगर्भा तरुणी' का स्तन अधिक बड़ा होता है इसलिए कवि ने केवल 'हूण तरुणी' के बजाय 'उद्गर्भ हूण-तरुणी' का ग्रहण किया है। स्तन का आकार चक्रवाक पक्षी के समान कहा जाता है परन्तु उदय होते हुए चन्द्रमा का बिम्ब थाली के समान चपटा होता है। अतएव उस चन्द्रमा का उपमान बनने के लिए स्तन को चपटा गोल करने की आवश्यकता है। इसलिए कवि ने उसे पति के गाढ़ालिङ्गन 'रमणोपमर्द' से 'भुग्नोन्नति' अर्थात् दबा कर थाली के समान गोल किया है। चन्द्रमा के बीच में काला चिन्ह होता है। स्तन के गाढ़ालिङ्गन में दब जाने पर उसके बीच में भी कुछ काला भाग चन्द्र-कलङ्क के समान दिखाई देने लगेगा। इस प्रकार उदय कालीन चन्द्रमा का उक्त प्रकार के स्तन के साथ सादृश्य दिखाकर अपनी कल्पना के वश से उस

सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम् ॥ २॥
अभिनवकुशसूचिस्पर्धि कर्णे शिरीषम् । इति ॥ ३ ॥

स्तन को चन्द्रमा का उपमान बनाया है। अतएव यह कल्पिता उपमा का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार का कल्पिता उपमा का दूसरा उदाहरण कालिदास के रघुवंश से देते हैं।

तुरन्त मूंडे गए मत्त हूण की ठोड़ी के समान नारङ्गी [का फल] है ॥ २ ॥

इसमें नारङ्गी की उपमा 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक' से दी गई है। नारङ्गी का रङ्ग गहरा लाल होता है। हूण देश के रहने वाले पठानों का रङ्ग भी लाल होता है। परन्तु वह अपने स्वाभाविक रूप में कदाचित् नारङ्गी के रङ्ग की बराबरी न कर सके इसलिए कवि ने उसके साथ 'मत्त' पद विशेषण रूप से और जोड़ा है। 'मदमत्त' की अवस्था में चेहरे पर लालिमा अधिक आजाती है। इसलिए 'मत्त हूण' के 'चिबुक' को 'उपमान' बनाया है। उसमें भी दाढ़ी बनवाने के तुरन्त बाद और भी अधिक लालिमा हो जाती है इसलिए और विशेष कर इसलिए कि मुण्डन के बाद जो रोमकूप दिखाई देने लगते हैं, उनसे उस 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक' का नारङ्गी के साथ साम्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इसलिए कवि ने उसी के साथ नारङ्ग फल की उपमा दी है। इसमें 'नारङ्गकम्' उपमेय है और 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक' उपमान है। यह उपमा भी लोकप्रसिद्धि के आधार पर नहीं अपितु केवल कविकल्पना के आधार पर स्थित है। इसलिए यह भी 'कल्पिता' उपमा का ही उदाहरण है। इसी प्रकार का 'कल्पिता' उपमा का तीसरा उदाहरण देते हैं।

नई कुशसूची से स्पर्धा करने वाला [कुशसूची के समान] शिरीष [का पुष्प] कान में [धारण किया हुआ] है ॥ ३ ॥

इस में शिरीष पुष्प की उपमा कुशसूचि से दी है। शिरीष के पुष्प में कुश के अग्रभाग के समान पतली-पतली सूचियां (सुइयाँ) सी लटकती रहती हैं। इसलिए कवि ने उसके साथ शिरीष पुष्प की उपमा दी है। 'शिरीष पुष्प' 'उपमेय' है और 'कुशसूची' 'उपमान' है। यह उपमा भी लोकप्रसिद्ध न होने से कविकल्पना के ऊपर आश्रित और कल्पिता उपमा है। अतः इसे भी कल्पिता उपमा के उदाहरणों में रखा गया है। आगे इस प्रकार की कल्पिता उपमा का चौथा उदाहरण और देते हैं।

इदानीं प्लक्षाणां जरठदलविश्लेषचतुर-
स्तिभीनामाबद्धस्फुरितशुकचञ्चूपुटनिभम् ।
ततः स्त्रीणां हन्त क्षममधरकान्तिं तुलयितुं
समन्तान्निर्याति स्फुटसुभगरागं किसलयम् ॥ ४ ॥ २ ॥

तद्द्वैविध्यं पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात् । ४, २, ३ ।

इस समय [वसन्त ऋतु में] पुराने पत्तों के गिर जाने से [जरठदलानां जीर्णपर्णानां विश्लेषेण चतुरा मनोज्ञाः स्तिभयोऽङ्कुरा येषां तेषाम् ।] सुन्दर लगने वाले [नवीन] अंकुरों से युक्त [‘स्तिभिश्च स्तिभिगः शुङ्गोऽप्यंकुरोऽकुर एव च’ इति हलायुधः] बरगदों [प्लक्ष] के, बन्द किन्तु फड़कती हुई [तनिक सी खुली हुई] सी तोते की चोंच के समान स्पष्ट और सुन्दर राग वाले [किसलय] नए कोमल पत्ते चारों ओर निकल रहे हैं। जिससे [वह] स्त्रियों के अधर कान्ति की बराबरी करने में समर्थ होते हैं ॥४॥

इसमें स्त्रियों की अधर कान्ति उपमेय है और बरगद के नवीन किसलय उपमान हैं। वैसे तो सामान्यतः अधर की उपमा किसलय राग से दी ही जाती है। ‘अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू’ आदि उदाहरणों में कालिदास आदि महाकवियों ने किसलय से अधर की उपमा दी है। इसलिए यह लौकिक उपमा का ही उदाहरण होना चाहिए था। परन्तु इसमें सीधी तरह से उपमा न देकर कवि ने अनेक विशेषण जोड़ कर अपनी कल्पना का भी परिचय दिया है। इसलिए वामन ने इसको ‘कल्पिता उपमा’ का उदाहरण माना है। इन चारों और इसी प्रकार के अन्य सब उदाहरणों में कवि की कल्पना का प्राधान्य होने से कविकल्पित अंश में ही गुणों का उत्कर्ष भी माना जाता है। अतएव गुणों के उत्कर्ष के कारण कविकल्पित ‘हूणतरुणीस्तन’ ‘मत्तहूणचिबुक’, आदि अंश उपमान और दूसरे अंश उपमेय माने जाते हैं। इस प्रकार गुणबाहुल्य के उत्कर्ष और अपकर्ष से उपमान उपमेय भाव की कल्पना कल्पिता उपमा में की जा सकती है। यह जो वामन ने कहा था उसकी पुष्टि इन चारों उदाहरणों द्वारा की गई है ॥ २ ॥

इस प्रकार उपमा के लौकिकी और कल्पिता यह दो प्रकार के भेद इन दो सूत्रों में दिखाए हैं। दूसरे प्रकार से उपमा के ‘पदार्थवृत्ति’ उपमा और ‘वाक्यार्थवृत्ति’ उपमा इस प्रकार के दो भेद ग्रन्थकार और दिखाते हैं।

वह [उपमा] ‘पदार्थवृत्ति’ और वाक्यार्थवृत्ति’ होने से दो प्रकार की होती है।

तस्या उपमाया द्वैविध्यं, पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात् । एका पदार्थवृत्तिः, अन्या वाक्यार्थवृत्तिरिति । पदार्थवृत्तिर्यथा—

हरिततनुषु बभ्रुत्वग्विमुक्तासु यासां
कनककणसधर्मा मान्मथो रोमभेदः ॥ ५ ॥

वाक्यार्थवृत्तिर्यथा—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६ ॥ ३ ॥

उस उपमा के दो प्रकार होते हैं । पद [पदार्थ] और वाक्य के अर्थ में रहने के भेद से [अर्थात्] एक पदार्थ में रहने वाली [पदार्थवृत्ति] और दूसरी वाक्यार्थ में रहने वाली [वाक्यार्थवृत्ति] होती है । [उनमें से] पदार्थवृत्ति [उपमा का उदाहरण] जैसे [निम्न लिखित श्लोक में है]—

जिनका मटैली खाल से रहित हरित देहों पर स्वर्णकण के समान मन्मथ सम्बन्धी रोमाञ्च [रोमभेद दिखाई देता] है ॥५॥

वाक्यार्थ वृत्ति [उपमा का उदाहरण] जैसे—

कन्धे पर लम्बा हार धारण किए और लाल चन्दन का अङ्गराग लगाए यह पाण्ड्य [देश का राजा] प्रातःकालीन [लाल-लाल] बालातप से रक्त शिखर वाले और झरने के प्रवाह से युक्त पर्वतराज के समान सुशोभित हो रहा है ।

इस उदाहरण में पाण्ड्य देश के राजा की उपमा कालिदास ने अद्रिराज से दी है । परन्तु वह केवल पाण्ड्य और अद्रिराज का ही उपमेय उपमान भाव नहीं है, अपितु पाण्ड्य के साथ 'अंसार्पितलम्बहारः' और 'हरिचन्दनेन क्लृप्ताङ्गरागः' यह दो विशेषण जुड़े हुए हैं । इसलिए उसके साम्य को पूर्ण करने के लिए अद्रिराज रूप उपमान में भी 'बालातपरक्तसानुः' और 'सनिर्झरोद्गारः' यह दो विशेषण जोड़े गए हैं । अन्यथा उन दोनों का उपमानोपमेय भाव अपूर्ण ही रहता । इस प्रकार अनेक पदों में व्याप्त—अनेक पदों में पूर्ण—होने के कारण 'वाक्यार्थवृत्ति' उपमा कहलाती है । इसके विपरीत प्रथम उदाहरण में उपमा का सम्बन्ध इतना व्यापक नहीं है । वह केवल 'कनककणसधर्मा रोमभेदः' में समाप्त हो गई है । इसलिए वह वाक्यार्थवृत्ति नहीं अपितु 'पदार्थवृत्ति' उपमा का उदाहरण है । यद्यपि उपमा में उपमान, उपमेय, सादृश्य और उपमा वाचक इवादि पदों की स्थिति आवश्यक होने से उसका सम्बन्ध अनेक पदों से होता

सा पूर्णा लुप्ता च । ४, २, ४ ।

सा उपमा पूर्णा लुप्ता च भवति ॥ ४ ॥

गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा । ४, २, ५ ।

गुणादिशब्दानां सामग्र्ये साकल्ये पूर्णा । यथा—

कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् ॥ ७ ॥ इति ॥ ५ ॥

ही है । वह केवल एक पद में समाप्त नहीं हो सकती है । फिर भी यह उमान उपमेयादि अनेक पद मिल कर भी पूर्ण वाक्य नहीं होते हैं । इसलिए इस प्रकार की उपमा को 'पदार्थवृत्ति' उपमा ही कहा है । जहाँ यह सब मिलकर पूरा वाक्य बन जाता है वहां उपमा को 'वाक्यार्थवृत्ति' उपमा कहा जाता है । इसी से 'पाण्डयोऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादि श्लोक में वाक्यार्थवृत्ति उपमा है ॥३॥

पहिले उपमा के 'लौकिकी' और 'कल्पिता' यह दो भेद किए थे । उसके बाद प्रकारान्तर से उसके 'पदार्थवृत्ति' और 'वाक्यार्थवृत्ति' यह दो भेद किए हैं। इसके बाद तीसरे प्रकार से उपमा के 'पूर्णा' और 'लुप्ता' उपमा इस प्रकार के दो भेद करते हैं । वामन के पहिले दोनों प्रकारों को उत्तरवर्ती आचार्यों ने विशेष महत्व नहीं दिया है । परन्तु इस 'पूर्णा' और 'लुप्ता' उपमा वाले भेद को उत्तरवर्ती आलङ्कारिक आचार्यों ने अपनाया है ।

वह [उपमा] पूर्णा और लुप्ता [दो प्रकार की] होती है ।

वह उपमा पूर्णा और लुप्ता [भेद से दो प्रकार की] होती है ॥ ४ ॥

१. गुण [अर्थात् उपमान उपमेय का साधारण धर्म], २. द्योतक [अर्थात् उपमा का द्योतक इवादि शब्द], ३. उपमान [चन्द्र आदि] और ४. उपमेय [मुखादि, इन चारों के वाचक] शब्दों के पूर्ण [रूप से उपस्थित] होने पर पूर्णा [उपमा] होती है ।

गुणादि [१. साधारण धर्म, २. उपमावाचक इवादि शब्द, ३. उपमान और ४. उपमेय इन चारों के वाचक] शब्दों के पूर्ण [रूप से उपस्थित] होने पर 'पूर्णा' [उपमा होती] है । जैसे—

यह मुख कमल के समान सुन्दर है ।

इस उदाहरण में १. 'कमल' 'उपमान', २.'मुख' 'उपमेय', ३. 'मनोज्ञ' यह इन दोनों का 'साधारण धर्म', तथा ४. 'इव' यह उपमा 'वाचक' पद है । इन चारों के उपस्थित होने से यह 'पूर्णोपमा' का उदाहरण है ॥ ५ ॥

लोपे लुप्ता । ४, २, ६ ।

गुणादिशब्दानां वैकल्ये लोपे लुप्ता । गुणशब्दलोपे यथा 'शशीव राजा' इति । द्योतकशब्दलोपे यथा 'दूर्वाश्यामेयम्' । उभयलोपे यथा 'शशिमुखी' इति । उपमानोपमेयलोपस्तु उपमाप्रपञ्चे द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥

---

५. जहाँ इन चारों में से किसी एक की भी कमी हो वही लुप्तोपमा का उदाहरण हो जायगा । लुप्तोपमा में कहीं एक का, कहीं दो का और कहीं तीन का भी लोप हो सकता है । उन सब दशाओं में 'लुप्तोपमा' ही मानी जावेगी । आगे ग्रन्थकार 'लुप्तोपमा का' निरूपण करते है ।

[उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और वाचक शब्द इन चारों में से किसी का भी] लोप होने पर 'लुप्ता' [उपमा] होती है ।

गुणादि [१. उपमान, २. उपमेय, ३. साधारण धर्म तथा ४. वाचक] शब्दों के वैकल्य अर्थात् लोप होने पर 'लुप्ता' [उपमा] होती है । [उन में से] गुण [साधारण धर्म बोधक] शब्द के लोप होने पर ['धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण] जैसे—

चन्द्रमा के समान राजा ।

इस उदाहरण में 'राजा' 'उपमेय', 'शशी' 'उपमान' और 'इव' 'उपमा-वाचक, शब्द यह तीन तो उपस्थित हैं परन्तु साधारण धर्म का बोधक कोई शब्द नहीं है । इसलिए यह 'धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण है ।

वामन ने यद्यपि पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा का अधिक विस्तार नहीं किया है परन्तु विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने उनका बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । पूर्णोपमा के ६ और लुप्तोपमा के २१ भेद करके उन्होंने उपमा के २७ भेद दिखलाए हैं । जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

[1]सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।
उपमेयं चोपमानं च भवेद् वाच्यं, इयं पुनः ॥ १५ ॥
श्रौती यथेव वा शब्दो इवार्थो वा वतिर्यदि ।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥ १६ ॥
द्वे तद्धिते समासेऽथ वाक्ये, पूर्णा षडेव तत् ।

अर्थात् पूर्णोपमा के पहिले 'श्रौती' और 'आर्थी' यह दो भेद होते हैं ।

---

[1]साहित्यदर्पण १०, १६-१७ ।

और उसमें से प्रत्येक के 'तद्धितगत', 'समासगत' और 'वाक्यगत' यह तीन भेद हो जाने से पूर्णोपमा के ६ भेद हो जाते हैं। 'श्रौती' तथा 'आर्थी' उपमा के भेद और उसके कारण का प्रदर्शन करने के लिए विश्वनाथ ने लिखा है—

यथा, इव, वा, आदयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसम्बन्धं बोधयन्तीति तत्सद्भावे श्रौत्युपमा। एवं [1]'तत्र तस्येव' इत्यनेन इवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

तुल्यादयस्तु 'कमलेन तुल्यं मुखम्' इत्यादौ उपमेय एव, 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादौ उपमान एव, 'कमलं मुखं च तुल्यम् इत्यादौ उभयत्रापि विश्राम्यन्तीति अर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे आर्थी। एवं च [2]'तेन तुल्यं [क्रिया चेद् वतिः]' इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

इसका भावार्थ यह हुआ कि यथा, इव, वा, यह उपमावाचक शब्द उपमान के अनन्तर प्रयुक्त होते हैं जैसे 'चन्द्रमिव मुखम्' आदि स्थलों पर इवादि वाचक शब्दों का प्रयोग सदा उपमान के बाद होता है और उनके सुनने मात्र से साधर्म्य की प्रतीति हो जाती है। इसलिए इन शब्दों के प्रयोग करने पर 'श्रौती' उपमा माननी चाहिए। तुल्यादि शब्दों का प्रयोग नियत रूप से उपमान के साथ ही नहीं होता है अपितु स्थानभेद से उपमान, उपमेय, दोनों के साथ हो सकता है। जैसे 'कमलेन तुल्यं मुखम्' में तुल्य पद का प्रयोग 'उपमान' रूप कमल के बाद हुआ है। परन्तु इसी को बदल कर 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' ऐसा प्रयोग भी किया जा सकता है उस दशा में तुल्य शब्द का सम्बन्ध 'उपमेय' रूप मुख के साथ होता है। और तीसरे प्रकार से 'कमलं मुखं च तुल्यं' इस प्रकार का प्रयोग करने पर तुल्य का दोनों के साथ सम्बन्ध होता है। अतएव तुल्यादि शब्दों का प्रयोग होने पर झटिति सादृश्य की प्रतीति न होकर अर्थानुसन्धान से सादृश्य की प्रतीति होती है। इसलिए इनके प्रयोग में 'आर्थी' उपमा होती है।

उपमान और उपमेय के सादृश्य के बोधन का एक और प्रकार भी है जिसमें 'वति' प्रत्यय करके 'चन्द्रवन्मुखम्' इस रूप में सादृश्य का बोध कराया जाता है। इस 'वति' प्रत्यय का विधान पाणिनि मुनि ने अपने व्याकरण में दो जगह किया है। एक तो [1]'तत्र तस्येव' इस सूत्र में और दूसरा [2]'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' इस सूत्र में। इनमें से 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से जहां 'वति' प्रत्यय होता है वह 'इव' के अर्थ में होता है। और 'इव' के प्रयोग में होने वाली

---

[1] अष्टाध्यायी, ५, १, ११६। [2]अष्टाध्यायी ५, १, ११५।

उपमा 'श्रौती' उपमा कहलावेगी। इसके विपरीत 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' इस सूत्र से होने वाला 'वति' प्रत्यय 'तुल्यार्थ' में होता है। इस तुल्य पद के प्रयोग होने पर जैसे 'आर्थी' उपमा कही जाती है इसी प्रकार 'तुल्यार्थ' में किए 'वति' प्रत्यय के योग में भी 'आर्थी' उपमा ही कही जाती है।

इस प्रकार पूर्णोपमा के पहिले श्रौती तथा आर्थी दो भेद करके फिर उन दोनों के तद्धित, समास तथा वाक्यगत तीन भेद करने से 'पूर्णोपमा' के छः भेद हो जाते हैं। इन छहों भेदों के उदाहरण दो श्लोकों में दिए हैं। श्रौती उपमा के तीनों भेदों के उदाहरण इस श्लोक में दिए हैं—

सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य, कुम्भाविव स्तनौ पीनौ
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले ॥

इस उदाहरण में 'अम्भोरुहस्य इव इति अम्भोरुहवत्' यहां 'तत्र तस्येव' सूत्र से 'वति' प्रत्यय किया गया है इसलिए यह 'तद्धितगत श्रौती' उपमा का उदाहरण है। 'कुम्भौ इव' यह 'समासगत श्रौती' उपमा का उदाहरण है। 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक के अनुसार यहां समास होने पर भी विभक्ति का लोप नहीं हुआ है। 'शरदिन्दु र्था' यह 'वाक्यगत श्रौती' उपमा का उदाहरण है। इन तीनों उदाहरणों में उपमान, उपमेय आदि चारों धर्म विद्यमान होने से यह सब 'पूर्णोपमाएं' हैं। 'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य' इस उदाहरण में 'मुख' उपमेय, 'अम्भोरुह' उपमान, 'सौरभ' साधारण धर्म, तथा 'वति प्रत्यय' उपमावाचक है। इसलिए यह पूर्णोपमा है। 'कुम्भौ इव स्तनौ पीनौ' इस उदाहरण में 'स्तन' उपमेय, 'कुम्भ' उपमान, 'पीनत्व' साधारण धर्म और 'इव' उपमा वाचक शब्द है। इन चारों के विद्यमान होने से यह भी पूर्णोपमा है। 'हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले' इस उदाहरण में 'वदनं' उपमेय, 'शरदिन्दुः' उपमान, 'मदयति' साधारण धर्म और 'यथा' उपमावाचक शब्द है। इन चारों के विद्यमान होने से यह भी पूर्णोपमा का उदाहरण है। इस प्रकार तद्धितगत, समासगत और वाक्यगत तीनों प्रकार की श्रौती पूर्णोपमा के उदाहरण इस श्लोक में आगए हैं।

आर्थी पूर्णोपमा के तीनों भेदों के उदाहरण निम्न श्लोक में मिल सकते हैं।

मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः ॥

इस उदाहरण में 'मधुरः सुधावदधरः' यह 'तद्धितगत आर्थी' पूर्णोपमा का उदाहरण है। 'सुधया तुल्यं' इस वि ह में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' इस सूत्र से तृतीयान्त सुधा पद से 'वति' प्रत्यय होकर 'सुधावत्' प्रयोग बनता है। इसलिए यह 'तद्धितगत आर्थी' उपमा का उदाहरण है। यहां 'अधर' उपमेय, 'सुधा' उपमान, 'मधुरत्व' साधारणधर्म और 'वति' उपमावाचक प्रत्यय है। इन चारों के विद्यमान होने से यह पूर्णोपमा है। 'पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः'। इस अंश में 'पाणिः' उपमेय, 'पल्लव' उपमान, 'पेलवः' साधारणधर्म, और 'तुल्यः' उपमावाचक पद है। इन चारों के विद्यमान होने से पूर्णोपमा हुई। यहां [1]'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' इस सूत्र से विकल्प से षष्ठी विभक्ति होकर [2]'षष्ठी' इस सूत्र से समास होकर 'पल्लवस्य तुल्यः पल्लवतुल्यः' यह पद बनता है। इसलिए यह 'समासगत आर्थी' पूर्णोपमा का उदाहरण है। और 'चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः, इस अंश में 'लोचन' उपमेय, 'चकितमृगलोचन' उपमान, 'चपलत्व' साधारण धर्म और 'सदृशी' उपमावाचक शब्द है। इन चारों के उपस्थित होने से यह 'वाक्यगत आर्थी पूर्णोपमा' का उदाहरण है।

इस प्रकार नवीन आचार्यों ने पूर्णोपमा के १. वाक्यगत श्रौती, २. वाक्यगत आर्थी, ३. समासगत श्रौती, ४. समासगत आर्थी, ५. तद्धितगत श्रौती, तथा ६. तद्धितगत आर्थी इस प्रकार ६ भेद किए हैं। परन्तु वामन इस विस्तार में नहीं गए हैं। उन्होंने केवल सामान्य रूप से पूर्णोपमा का निर्देशमात्र किया है।

इसी प्रकार वामन ने लुप्तोपमा का भी केवल निर्देशमात्र किया है। उसका विस्तार नहीं दिखलाया है। परन्तु विश्वनाथ आदि ने उसका विस्तार दिखलाने का प्रयत्न किया है। ऊपर जो पूर्णोपमा के छः भेद किए हैं उनमें से 'तद्धितगत श्रौती' को छोड़कर शेष पांच भेद 'धर्मलुप्ता' के भी हो सकते हैं। यह विश्वनाथ ने प्रतिपादन किया है—

[3]पूर्णावद् धर्मलोपे सा विना श्रौतीं तु तद्धिते।

धर्मलुप्ता के उन पाँचों भेदों के उदाहरण निम्न श्लोक में मिल सकते हैं—

मुखमिन्दुर्यथा, पाणिः पल्लवेन समः प्रिये।
वाचः सुधा इव, ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यो, मनोऽश्मवत्।

---

[1]अष्टाध्यायी २, ३, ७२। [2]अष्टा० २, २, ८। [3]साहित्यदर्पण १०, १८।

१. 'मुखमिन्दुर्यथा' में 'मुख' उपमेय, 'इन्दु' उपमान, 'यथा' उपमावाचक शब्द यह तीन तो हैं परन्तु साधारण धर्म का प्रदर्शक कोई शब्द नहीं है इसलिए यह 'वाक्यगत श्रौती धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण है। २. 'पाणिः पल्लवेन समः' इस में 'पाणिः' उपमेय, 'पल्लव' उपमान, 'समः' उपमावाचक शब्द है परन्तु साधारण धर्म का बोधक कोई शब्द नहीं है। इसलिए यह 'धर्मलुप्ता' का उदाहरण हुआ। और यहां उपमावाचक शब्द 'समः' है इसलिए यह 'आर्थी धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण हुआ। ३. 'वाचः सुधा इव' इस भाग में 'वाचः' उपमेय, 'सुधा' उपमान, 'इव' उपमावाचक शब्द है धर्मबोधक कोई शब्द नहीं है। 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक के अनुसार 'इव' शब्द के साथ समास होने से यह 'समासगत धर्मलुप्ता श्रौती' का उदाहरण हुआ। 'ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः' में 'ओष्ठ' उपमेय, 'बिम्ब' उपमान, 'तुल्यः' उपमावाचक शब्द है परन्तु साधारण धर्म का बोधक शब्द नहीं है और उपमावाचक 'तुल्य' शब्द है। इसलिए यह 'आर्थी धर्मलुप्ता' का उदाहरण हुआ। 'मनोऽश्मवत्' इस भाग में 'मनः' उपमेय, 'अश्मा' उपमान, 'वत्' उपमावाचक है, परन्तु साधारणधर्म का बोधक कोई शब्द नहीं है। और 'वति' प्रत्यय 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' इस सूत्र से हुआ है इसलिए यह 'तद्धितगत आर्थी धर्मलुप्ता' का उदाहरण है।

धर्मलुप्ता के पांच भेद तो यह हुए। इनके अतिरिक्त पांच भेद और भी होते हैं।

> आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि।
> कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः॥

'इन पांचों प्रकार की' धर्मलुप्ता के उदाहरण निम्नाङ्कित एक ही श्लोक में दिखाए गए हैं,

> अन्तःपुरीयसि रणेषु, सुतीयसि त्वं
> पौरं जनं, तव सदा रमणीयते श्रीः।
> दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र-
> सञ्चारमत्र भुवि सञ्चरसि क्षितीश॥

यहाँ 'अन्तःपुरे इव आचरसि' इस विग्रह में 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिक से अधिकरण में 'क्यच्' प्रत्यय होकर 'अन्तःपुरीयसि' रूप बनता है। इसमें 'रण' उपमेय, 'अन्तःपुर' उपमान, 'इव' उपमावाचक शब्द तो हैं परन्तु उपमान-उपमेय के साधारण धर्म 'स्वच्छन्दविहार' का उपादान नहीं किया गया है

इसलिए यह 'आधार क्यच् मूलक धर्मलुप्ता' का उदाहरण है। इसी प्रकार 'सुतमिव आचरसि' इस विग्रह में द्वितीयान्त सुत से [1]'उपमानादाचारे' इस सूत्र से 'क्यच्' प्रत्यय होकर 'सुतीयसि' प्रयोग बनता है। यहाँ भी 'पौर जन' उपमेय, 'सुत' उपमान, 'इव' उपमा वाचक का तो उपादान है परन्तु 'प्रेमपात्रत्व' रूप 'साधारण धर्म' का उपादान न होने से यह 'कर्मविहित क्यच्गत धर्मलुप्ता' का उदाहरण है। 'तव सदा रमणीयते श्रीः' इस भाग में 'रमणी इवाचरति' इस विग्रह में '[2]कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इस सूत्र से 'क्यङ्' प्रत्यय होकर 'रमणीयते' पद बनता है। इसमें 'श्री' उपमेय, 'रमणी' उपमान, 'इव' उपमावाचक शब्द यह तीनों तो हैं परन्तु 'अनन्यभावेन सुखसाधनत्व' रूप 'साधारण धर्म' का दर्शक कोई शब्द न होने से यह 'क्यङ् प्रत्ययगत धर्मलुप्ता' का तीसरा उदाहरण हुआ। अगले चरण में 'अमृतद्युतिरिव दृष्टः' इस विग्रह में 'अमृतद्युति' पद उपपद रहते दृश् धातु से '[3]उपमाने कर्मणि च' इस सूत्र से 'णमुल्' प्रत्यय होकर [4]'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' सूत्र से उसी दृश धातु का अनुप्रयोग होकर 'अमृतद्युतिरिव दृष्टः इति अमृतद्युतिदर्शं दृष्टः' यह प्रयोग बनता है। इसलिए यहाँ 'राजा' उपमेय, 'अमृतद्युति' चन्द्रमा उपमान, 'इव' उपमावाचक यह तीनों तो हैं परन्तु 'आह्लादकत्व' रूप 'साधारण धर्म' नहीं पाया जाता है। इसलिए यह 'कर्म णमुल्गत धर्मलुप्ता' का उदाहरण है। इसी प्रकार अगले 'इन्द्र इव संचरसि' इस विग्रह में उपमानभूत इन्द्रउपपद होने पर सम् पूर्वक 'चर' धातु से कर्ता में णमुल् होकर और पूर्ववत् अनुप्रयोग होकर 'इन्द्रसञ्चारं सञ्चरसि' प्रयोग बनता है। इसमें भी 'राजा' उपमेय, 'इन्द्र' उपमान, 'इव' उपमावाचक शब्द यह तीनों तो हैं परन्तु 'परमैश्वर्ययुक्तत्व' रूप साधारण धर्म के न होने से यह 'कर्ता में णमुल्प्रत्ययमूलक धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण हुआ।

इस प्रकार धर्मलुप्ता के कुल दस भेद और पूर्णा के ६ भेद कुल १६ भेद यहां तक हुए। इनके अतिरिक्त लुप्ता के ११ भेद और होते हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है :—

---

[1] अष्टाध्यायी ३, १, ११०।

[2] अष्टाध्यायी ३, १०, ११।

[3] अष्टाध्यायी ३, ४, ४५।

[4] अष्टाध्यायी ३, ४, ४६।

स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु । ४, २, ७ ।

स्तुतौ निन्दायां तत्त्वाख्याने चास्याः प्रयोगः । स्तुतिनिन्द्योर्यथा—

स्निग्धं भवत्यमृतकल्पमहो कलत्रं
हालाहलं विषमिवापगुणं तदेव ॥

उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः ।	उपमान लुप्ता २
औपम्यवाचिनो लोपे समासे क्विपि च द्विधा ॥	वाचकलुप्ता २
द्विधा वाक्ये समासे च लोपे धर्मोपमानयोः ।	धर्मोपमानलुप्ता २
क्विप् समासगता द्वेधा धर्मवादिविलोपने ॥	धर्मवाचकलुप्ता २
उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि ।	उपमेयलुप्ता १
धर्मोपमेयलोपेऽन्या	धर्मोपमेयलुप्ता १
त्रिलोपे च समासगा ।	त्रिलोपलुप्ता १
	११
धर्मलुप्ता पूर्वपरिगणित	१०
लुप्तोपमा के कुल भेद	२१

पूर्णोपमा के कुल	६ भेद
लुप्तोपमा के कुल	२१ भेद
उपमा के कुल	२७ भेद

तेनोपमायाः भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः ॥

इस प्रकार वामन ने उपमा के पूर्णा और लुप्ता केवल यह दो मौलिक भेद दिखाए थे । परन्तु उनके उत्तरवर्ती नवीन आचार्यों ने उनका विस्तार कर २७ भेदों का प्रतिपादन किया है ॥ ६ ॥

इस प्रकार उपमा के भेदों का निरूपण करके ग्रन्थकार आगे उपमा के प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं ।

प्रशंसा, निन्दा तथा यथार्थता [के प्रदर्शन करने] में [उपमा का प्रयोग होता है] ।

१. स्तुति, २. निन्दा, और तत्त्व का कथन करने में इस [उपमा] का प्रयोग [होता] है । [उनमें से] स्तुति तथा निन्दा में [उपमा के प्रयोग का उदाहरण] जैसे—

स्नेहयुक्त पत्नी अमृत के समान होती है । परन्तु [स्नेह आदि] गुणों से रहित वही [पत्नी] हालाहल विष के समान हो जाती है ।

तत्त्वाख्याने यथा—

तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले ।
यस्तन्वि तारकन्यासः शकटाकारमाश्रितः ॥ ७ ॥

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में पत्नी की उपमा अमृत से दी गई है । वह उसकी प्रशंसा की द्योतक है । और उत्तरार्द्ध में उसकी उपमा हालाहल विष से दी गई है । यही उसकी निन्दा का द्योतक है । अतएव इस एक ही श्लोक में स्तुति और निन्दा रूप उपमा के दोनों प्रकार के प्रयोजनों का उदाहरण मिल जाता है । तीसरे भेद तत्त्वाख्यान का उदाहरण आगे देते हैं :—

तत्त्वाख्यान [यथार्थता के कथन] में [उपमा के प्रयोग का उदाहरण] जैसे—

हे तन्वि, इस ज्योतिर्मण्डल में जो तारों की रचना [शकट] गाड़ी के आकार को धारण किए हुए है उसी को रोहिणी समझो ।

यहां तारकन्यास की उपमा शकटाकार से दी है । परन्तु यह सादृश्य उनकी स्तुति अथवा निन्दा के लिए नहीं, अपितु केवल रोहिणी के यथार्थ स्वरूप के प्रदर्शन अथवा 'तत्त्वाख्यान' के लिए ही किया गया है । अतएव यह तत्त्वाख्यानपरक उपमा का उदाहरण है ॥ ७ ॥

इस प्रकार उपमा के भेदों और उपमा के प्रयोजनों का प्रतिपादन करने के बाद, उपमा में सम्भावित दोषों का निरूपण करने के लिए अगले प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं । वामन ने उपमा के दोषों को यहां उपमा के प्रकरण में दिखलाया है । परन्तु उनके उत्तरवर्त्ती नवीन आचार्यों ने इन दोषों को सामान्य दोषों के अन्तर्गत ही माना है । उनका अलग निरूपण नहीं किया है । विश्वनाथ ने लिखा है—

[1] एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भवः ।

परन्तु वामन उपमालङ्कार के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए जैसे अन्य अलङ्कारों से अलग एक अध्याय में उसी का निरूपण करते हैं । इसी प्रकार उन्होंने उपमा के दोषों का भी अलग निरूपण किया है; अन्य दोषों के साथ नहीं । आगे ग्रन्थकार उन्हीं उपमा-दोषों का निरूपण करते हैं ।

---

[1] साहित्यदर्पण ७, १६ ।

हीनत्वाधिकत्वलिङ्गवचनभेदासादृश्या-
सम्भवास्तद्दोषाः । ४, २, ८ ।

तस्या उपमाया दोषा भवन्ति । हीनत्वम्, अधिकत्वम्, लिङ्गभेदो, वचनभेदो, असादृश्यम्, असम्भव इति ॥ ८ ॥

तान् क्रमेण व्याख्यातुमाह—

जातिप्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम् । ४, २, ९ ।

जात्या प्रमाणेन धर्मेण चोपमानस्य न्यूनता या तद्धीनत्वमिति । जातिन्यूनत्वरूपं हीनत्वं यथा—

चाण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ।

प्रमाणन्यूनत्वरूपं हीनत्वं यथा—

---

१. हीनत्व, २. अधिकत्व, ३. लिङ्गभेद, ४. वचनभेद, ५. असादृश्य और ६. असम्भव [यह छः] उस [उपमा] के दोष हैं ।

उस उपमा के [छः प्रकार के] दोष होते हैं—१. हीनत्व, २. अधिकत्व, ३. लिङ्गभेद, ४. वचनभेद, ५. [उपमान और उपमेय का] असादृश्य तथा ६. असम्भवत्व यह [छः प्रकार के दोष होते हैं] ॥ ८ ॥

उनकी क्रम से व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

उपमान की जाति, परिमाण और धर्म की न्यूनता 'हीनत्व' [कहलाती] है ।

जाति से, परिमाण से या धर्म से जो उपमान की न्यूनता है उसको 'हीनत्व' [दोष] कहते हैं । जातिन्यूनत्व रूप हीनत्व [का उदाहरण] जैसे—

तुम [सैनिकों] ने चाण्डालों के समान बड़ा साहस किया ।

इसमें युष्मत्पदवाच्य 'वीर पुरुष' उपमेय, और 'चाण्डाल' उपमान है । 'चाण्डाल' जाति की दृष्टि से हीन व्यक्ति है । उसके साथ वीरों की उपमा देने से उनकी स्तुति नहीं होती अपितु अपमान होता है । इसलिए उपमान-भूत 'चाण्डाल' में जातिगत न्यूनता होने के कारण यह 'जातिगत हीनत्व' का उदाहरण हुआ ।

परिमाणन्यूनत्व रूप हीनत्व [का उदाहरण] जैसे—

वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ।

उपमेयादुपमानस्य धर्मतो न्यूनत्वं यत् तद्धर्मन्यूनत्वम् । तद्रूपं हीनत्वं यथा—

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥

अत्र मौञ्जी प्रतिवस्तु तडिन्नास्त्युपमाने, इति हीनत्वम् । न च

वह सूर्य अग्नि की चिनगारी के समान चमक रहा है ।

इस उदाहरण में 'सूर्य' की उपमा 'अग्नि की चिनगारी' से दी गई है । अग्नि की चिनगारी उपमान है, और सूर्य उपमेय है । उपमानभूत चिनगारी परिमाण में उपमेय रूप सूर्य की अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ है । इसलिए उपमान में परिमाणगत न्यूनता होने से यह 'हीनत्व' दोष का उदाहरण है ।

उपमेय से उपमान का जो धर्मगत न्यूनत्व है वह धर्मन्यूनत्व [रूप उपमा दोष] है । उस [धर्मन्यूनत्व] रूप हीनत्व [का उदाहरण] जैसे—

कृष्णमृग के चर्म को धारण किए हुए और [मौञ्जी] मूंज की बनी हुई मेखला से युक्त वह [नारद] मुनि नीले मेघ से घिरे हुए [आश्लिष्ट] सूर्य के समान सुशोभित हुए ।

इस में 'मुनि' उपमेय और 'अंशुमान् अर्थात् सूर्य' उपमान है । मुनि सूर्य के समान शोभित हुए मुख्य वाक्यार्थ है । परन्तु उपमेय और उपमान दोनों में कुछ विशेषण जुड़े हुए हैं । उपमेय रूप मुनि मौञ्जी से युक्त और कृष्णमृग के चर्म को धारण किए हुए हैं । और उपमानभूत सूर्य 'नीलजीमूतभागाश्लिष्ट' है । इस प्रकार उपमेय में दो धर्म विशेषण रूप से जुड़े हुए हैं और उपमान में केवल एक धर्म विशेषण रूप से जुड़ा है । मुनि के कृष्णाजिन पट के समान उपमानभूत सूर्य में 'नीलजीमूत' का योग तो है परन्तु मुनि तो कृष्णाजिन पट के साथ मौञ्जी को भी धारण किए हुए हैं । इसी प्रकार नील-जीमूत के साथ तडित् का सम्बन्ध भी वर्णन कर दिया जाता तो उपमान और उपमेय दोनों में धर्मों की समानता हो जाती । परन्तु तडित् का वर्णन यहां नहीं है अतएव उपमान में उपमेय की अपेक्षा धर्मगत न्यूनता होने से यह 'हीनत्व' का उदाहरण है । यही बात वृत्तिकार आगे कहते हैं ।

यहां मौञ्जी के सदृश कोई प्रतिवस्तु उपमान [भूत सूर्य] में नहीं [वर्णित] है इसलिए [उपमेय की अपेक्षा उपमान में न्यूनता होने के कारण]

कृष्णाजिनपटमात्रस्योपमेयत्वं युक्तम्, मौञ्ज्या व्यर्थत्वप्रसङ्गात् । ननु नीलजीमूतग्रहणेनैव तडित्प्रतिपाद्यते । तन्न । व्यभिचारात् ॥ ९ ॥

अव्यभिचारे तु भवन्ती प्रतिपत्तिः केन वार्यते तदाह—

धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यस्य संवित् साहचर्यात् । ४, २, १० ।

धर्मयोरेकस्यापि धर्मस्य निर्देशेऽन्यस्य धर्मस्य संवित् प्रतिपत्तिर्भवति । कुतः । साहचर्यात् । सहचरितत्वेन प्रसिद्धयोरवश्यमेकस्य निर्देशेऽन्यस्य प्रतिपत्तिर्भवति । तद्यथा—

'हीनत्व' [दोष] है । [इस हीनत्व दोष को बचाने के लिए यदि यह कहा जाय कि] कृष्णाजिन पटमात्र [युक्त मुनि] उपमेय है, [तो] यह [कहना] उचित नहीं है । 'मौञ्ज्या' [लाञ्छितः] इस [विशेषण] के व्यर्थ हो जाने से । [केवल कृष्णाजिनपटयुक्त मुनि ही उपमेय नहीं है अपितु उनके साथ 'मौञ्ज्या लाञ्छितः' यह विशेषण भी जुड़ा हुआ है । उसका प्रतिरूप उपमान में कुछ नहीं है इसलिए यह धर्म-न्यूनतामूलक 'हीनत्व' दोष है ही] ।

[इस हीनत्व दोष के परिहार के लिए दूसरा मार्ग निकालने के लिए पूर्वपक्षी फिर प्रश्न करता है कि] 'नीलजीमूत' के ग्रहण से ही [उसकी सहचारिणी] 'तडित्' का प्रतिपादन हो जाता है [इसलिए उपमान में धर्मन्यूनत्व नहीं रहता ।] वह [आपका कथन भी] ठीक नहीं है । [तडित् से रहित नील मेघ भी दिखाई देते हैं । इसलिए तडित् तथा नीलमेघ का] व्यभिचार होने से [इस प्रकार से भी धर्मन्यूनता का परिहार नहीं हो सकता है अतएव यहां तो धर्मन्यूनतामूलक हीनत्व दोष है ही] ॥ ९ ॥

[किन्तु इसके अपवाद स्वरूप अविनाभूत धर्मों में] व्यभिचार न होने पर तो [केवल एक के ग्रहण से दूसरे की अशाब्द] होती हुई प्रतीति का कौन निषेध कर सकता है [अर्थात् कोई निषेध नहीं कर सकता है । और हम भी निषेध नहीं करते हैं] यह [बात अगले सूत्र में] कहते हैं ।

[अविनाभूत अर्थात् धूम और वह्नि के समान नित्यसम्बद्ध] दो धर्मों में से एक का भी निर्देश होने पर दूसरे [अनिर्दिष्ट धर्म] की [अशाब्द] प्रतीति साहचर्य के कारण होती है ।

[अविनाभूत या नित्यसम्बद्ध] दो धर्मों में से [किसी] एक धर्म के निर्देश होने पर भी ['एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' इस नियम के

निवृष्टेऽपि बहिर्घने न विरमन्त्यन्तर्जरद्वेश्मनो
लूतातन्तुततिच्छिदो मधुपृषत्पिङ्गाः पयोबिन्दवः ।
चूडाबर्बरके निपत्य कणिकाभावेन जाताः शिशो-
रङ्गास्फालनभग्ननिद्रगृहिणीचित्तव्यथादायिनः ॥

अनुसार अनिर्दिष्ट] अन्य धर्म की संवित् अर्थात् ज्ञान [प्रतिपत्ति] होता है। क्यों [होता है यह प्रश्न हो तो उसका उत्तर देते हैं]। साहचर्य के कारण। [अविनाभूत या नित्य] सहचरित [अविनाभूत] रूप से, प्रसिद्ध दो धर्मों में से एक का कथन होने पर दूसरे का ज्ञान अवश्य होता है जैसे [निम्नलिखित श्लोक में]—

[इस श्लोक में किसी ग़रीब के, टूटे छप्पर या छत वाले घर का वर्णन कवि करता है । जिसमें] बाहर वर्षा बन्द हो जाने पर भी [निर्गतं वृष्टं वर्षणं यस्मात् तादृशे सत्यपि घने—बाहर बादल के वृष्टिशून्य हो जाने पर भी] जीर्ण [छत के] घर के भीतर [छत अथवा छप्पर में लगे हुए धुएं के कारण उससे मिल कर] शहद के समान पीले [और गोल-गोल] तथा [घर में लगे हु] मकड़ियों के जालों [पर गिरती हुई उन] को तोड़ देने वाली, जल की] [गोल-गोल] बून्दें [गिरने से] रुकती नहीं हैं। [और रात्रि में माता के पास सोए हुए बालक के] चूड़ा या बालों में कणिका रूप से गिरकर उस [बालक] के अङ्गों [हाथ या सिर] के हिलाने से जगी हुई गृहिणी [बालक की माता] के चित्त को कष्ट देने वाली हो जाती हैं।

यहां [छत पर से टपकने वाली पानी की बून्दों की उपमा शहद की बून्दों से दी गई है। पानी की बूंदें उपमेय और 'मधुविन्दु' उपमान है । इन दोनों उपमान और उपमेयों का साधर्म्य केवल [पिङ्गत्व] पीलापन दिखलाया गया है। शहद की बूंद पीली सी होती है और छत के जाले आदि में लगने के कारण जल की बूंदें भी शहद की बूंद के समान पीली हो गई हैं । यही 'मधुपृषत्पिङ्गाः पयोबिन्दवः' इस उपमा का भावार्थ है। शहद और जल की बूंदों का 'पिङ्गत्व' रूप सादृश्य तो कवि ने दिखलाया है परन्तु उसके साथ ही वह दोनों ही बूंदें गोल होती हैं इसलिए उनका 'वर्तुलत्व' रूप साधर्म्य भी है। जिसको यहां शब्दतः कहा नहीं गया है। परन्तु शहद की बूंद में पिङ्गत्व के साथ वृत्तत्व 'वर्तुलत्व' भी अवश्य रहता है। इसलिए उसके कहे बिना भी

अत्र मधुपृषतां वृत्तत्वपिङ्गत्वे सहचरिते। तत्र पिङ्गशब्देन पिङ्गत्वे प्रतिपन्ने वृत्तत्वप्रतीतिर्भवति।

एतेन 'कनकफलकचतुरस्रं श्रोणिबिम्बम्' इति व्याख्यातम्। कनकफलकस्य गौरत्वचतुरस्रत्वयोः साहचर्याच्चतुरस्रत्वश्रुत्यैव गौरत्वप्रतिपत्तिरिति।

ननु च यदि धर्मन्यूनत्वमुपमानस्य दोषः, कथमयं प्रयोगः—

उसकी प्रतीति होजाती है। यह इस उदाहरण के देने का अभिप्राय है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार वृत्तिभाग में स्पष्ट करते है।

यहां शहद की बूंदों के वृत्तत्व और पिङ्गत्व [गोलाई और पीलापन] सहचरित [धर्म] हैं। [इसलिए] उस में पिङ्ग शब्द से पिङ्गत्व के ग्रहण हो जाने पर [उससे सहचरित, अविनाभूत] वृत्तत्व [गोलाई] की प्रतीति भी होती है।

इसी [उदाहरण की व्याख्या] से [नायिका का] 'नितम्ब देश सोने की तख्ती के समान चौरस है।' इस [उदाहरण] की भी व्याख्या हो गई [समझनी चाहिए]। सोने की पट्टी में गौरत्व और [चतुरस्रत्व] चौरसपन का [अविनाभाव रूप] साहचर्य होने से [यहां केवल] 'चतुरस्रत्व' की [शब्दतः] श्रुति से ही [न कहे गए] 'गौरत्व' [रूप नित्य सहचरित धर्म] की प्रतीति होजाती है।

ऊपर ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि यदि उपमेय की अपेक्षा उपमान में धर्मों की न्यूनता हो तो 'हीनत्व' दोष आ जाता है। इस पर पूर्वपक्षी यह शङ्का करता है कि—

[प्रश्न] यदि धर्म की न्यूनता उपमान का दोष है तो [निम्नलिखित श्लोक में उपमान की धर्मन्यूनता का] यह प्रयोग कैसे हुआ—

यह श्लोक शरद् ऋतु के वर्णन के प्रसङ्ग में से लिया गया है। वर्षा ऋतु में मोर बोलते हैं, कमल नष्ट हो जाते हैं, और सूर्य मेघों में छिपा रहता है। इसके विपरीत शरद् ऋतु आने पर सूर्य चमकने लगता है, कमल तालाबों में खिलने लगते हैं पर मोरों की केका ध्वनि अब सुनाई नहीं देती है। मोरों की केका ध्वनि के विलीन होने का वर्णन करने के लिए कवि ने एक उपमा दी है। जैसे पतिव्रता स्त्रियां पति के बाहर चले जाने अथवा मर जाने से पति-विहीन होने पर अपने घर में ही लीन हो जाती हैं बाहर नहीं निकलती हैं।

सूर्यांशुसम्मीलितलोचनेषु दीनेषु पद्मानिलनिर्मदेषु ।
साध्व्यः स्वगेहेष्विव भर्तृहीनाः केका विनेशुः शिखिनां मुखेषु ॥

अत्र बहुत्वमुपमेयधर्माणामुपमानात् ।

न, विशिष्टानामेव मुखानामुपमेयत्वात् । तादृशेष्वेव केकाविनाशस्य सम्भवात् ॥ १० ॥

इसी प्रकार वर्षा ऋतु के बीत जाने पर मोरों की केका ध्वनि उनके मुखों में ही लीन हो गई । इसी बात को कवि कहता है—

[शरद् ऋतु में] सूर्य की किरणों [के असह्य होने] से मुंदी हुई आंखों वाले और कमलों [को स्पर्श करके आने वाली शरत्काल] की वायु से मद रहित [अतएव] दीन मयूरों के मुखों में [उनकी] केका [ध्वनि] इस प्रकार लुप्त [णश् अदर्शने] हो गई जैसे भर्तृविहीना पतिव्रता स्त्रियां अपने घरों में ही लीन हो जाती हैं [बाहर नहीं निकलतीं । इसी प्रकार मोरों की केका ध्वनि उनके मुखों में ही लीन हो गई बाहर नहीं निकल रही है]।

[शङ्का] इस ['साध्व्यः स्वगेहेष्विव भर्तृहीनाः'] में उपमान की अपेक्षा उपमेय के धर्मों का बहुत्व [१. 'सूर्यांशुसम्मीलितलोचनेषु, २. 'पद्मानिलनिर्मदेषु' और ३. 'दीनेषु' इन तीन विशेषण युक्त होने से] है। [अर्थात् उपमान में धर्मन्यूनता होने से इसको भी 'हीनत्व' दोष ग्रस्त मानना चाहिए]।

[उत्तर—ग्रन्थकार इस प्रश्न का उत्तर देते हैं] यह कहना ठीक नहीं है। [यहां तीनों विशेषणों से विशिष्ट मुखों का ही उपमेयत्व है । उसी प्रकार के ['सूर्यांशुसम्मीलितलोचनेषु' आदि तीनों विशेषणों से युक्त] मुखों में केका ध्वनि का विनाश सम्भव होने से [यह दोष नहीं है]।

ग्रन्थकार का यह समाधान असङ्गत सा प्रतीत होता है । प्रश्नकर्ता ने भी यही कहा था कि यहां उपमेय अनेक धर्मों से विशिष्ट है परन्तु उपमान उन धर्मों से विशिष्ट नहीं है इसलिए उपमान में धर्मन्यूनता होने के कारण यहां दोष मानना चाहिए । समाधान करते समय यह दिखलाना चाहिए था कि उपमान भी उन धर्मों से युक्त है इसलिए कोई दोष नहीं है । अर्थात् उपमेय के जो तीन विशेषण दिये गए हैं उनको उपमान पक्ष में भी लगाने का प्रयास किया जाता तब तो इसका समाधान हो सकता है । परन्तु ग्रन्थकार उस मार्ग का अवलम्बन न करके कुछ और ही बात कह रहे हैं । यह तो 'आम्रान्

तेनाधिकत्वं व्याख्यातम् । ४, २, ११ ।

तेन हीनत्वेनाधिकत्वं व्याख्यातम् । जातिप्रमाणधर्माधिक्यमधिकत्वमिति । जात्याधिक्यरूपमधिकत्वं यथा—

विशन्तु विष्टयः शीघ्रं रुद्रा इव महौजसः ।

प्रमाणाधिक्यरूपं यथा—

पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः ॥

पृष्टः कोविदारानाचष्टे' के समान बात हुई । इसलिए यह उत्तर ठीक नहीं है ॥ १० ॥

उपमागत हीनत्व दोष की व्याख्या कर चुकने के बाद ग्रन्थकार दूसरे उपमादोष 'अधिकत्व' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

इस [हीनत्व दोष की व्याख्या] से अधिकत्व [दोष] की व्याख्या [भी] हो गई [समझना चाहिए] ।

उस हीनत्व [की व्याख्या] से अधिकत्व की व्याख्या हो गई । [अर्थात् जैसे हीनत्व तीन प्रकार का होता है इसी प्रकार] जाति, प्रमाण और धर्म के [उपमेय की अपेक्षा उपमान में] अधिक होने पर अधिकत्व [दोष] होता है । जात्याधिक्य रूप अधिकत्व [का उदाहरण] जैसे—

रुद्र [शिव] के समान महापराक्रमी कहार ['विष्टिः कारौ कर्मकरे' इति वैजयन्ती] शीघ्र भीतर आ जावें ।

यहाँ 'कहार' उपमेय है 'रुद्र' उपमान है । 'महौजसत्व' साधारण धर्म तथा 'इव' उपमा वाचक शब्द है । इन चारों के विद्यमान होने से यह पूर्णोपमा है । इसमें 'उपमानभूत रुद्र' में 'उपमेयभूत कहार' की अपेक्षा जातिगत आधिक्य होने से 'अधिकत्व' दोष है । यों तो उपमान में उपमेय की अपेक्षा आधिक्य होता ही है परन्तु वह मर्यादा से अधिक नहीं होना चाहिए । शिव से कहार की उपमा देने में मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया गया है । इसलिए दोष है ।

प्रमाणाधिक्य रूप [अधिकत्व दोष का उदाहरण] जैसे—

तुम्हारी नाभि पाताल के समान [गहरी], स्तन पहाड़ के समान

धर्माधिक्यरूपं यथा—

सरश्मि चञ्चलं चक्रं दधद् देवो व्यराजत।
सवाडवाग्निः सावर्तः स्रोतसामिव नायकः ॥

सवाडवाग्निरित्यस्योपमेयेऽभावाद् धर्माधिक्यमिति ।

[ऊँचे] और यह वेणी दण्ड [केशपाश] यमुना की धारा के समान [काले] हैं।

[इन तीनों उपमाओं में उपमान में परिमाणगत आधिक्य है। पाताल से नाभि की, और पर्वत से स्तन की उपमा देना अत्यन्त असङ्गत है। इसलिए उपमान में मर्यादा को अतिक्रमण करने वाला परिमाणगत आधिक्य होने के कारण 'अधिकत्व' रूप उपमा-दोष है]।

धर्माधिक्य रूप [अधिकत्व दोष का उदाहरण] जैसे—

रश्मियों से युक्त चञ्चल चक्र को धारण किए विष्णु, वडवानल और [आवर्त] भंवर से युक्त [नदीपति] समुद्र के समान सुशोभित हुए।

इसमें 'विष्णु' उपमेय और 'समुद्र' उपमान है। विष्णु चक्र को धारण किए है, और समुद्र आवर्त युक्त है। चक्र के दो विशेषण 'सरश्मि' और 'चञ्चल' उपमेय पक्ष में हैं। पर उपमान पक्ष में केवल 'सवाडवाग्नि' एक विशेषण है वह भी चक्रस्थानीय 'आवर्त' का नहीं अपितु स्वयं उपमानभूत समुद्र का। इसलिए वास्तव में यहाँ उपमानगत धर्म की न्यूनता प्रतीत होती है। परन्तु ग्रन्थकार ने इसे उपमानगत धर्माधिक्य का उदाहरण दिया है। उसकी सङ्गति इस प्रकार लगती है कि उपमेय पक्ष में 'सरश्मि' तथा 'चञ्चल' यह दोनों विशेषण केवल चक्र के हैं। मुख्य उपमेयभूत देव का केवल एक विशेषण है। परन्तु उपमान पक्ष में मुख्य उपमानभूत समुद्र के दो विशेषण हैं। इनमें से उपमान के आवर्त के स्थान पर उपमेय पक्ष में चक्र है। परन्तु उपमान के दूसरे विशेषण 'सवाडवाग्नि' के स्थान पर उपमेय पक्ष में कोई धर्म दिखाई नहीं देता। इसलिए यह उपमानगत धर्माधिक्य का उदाहरण हो सकता है। इसी बात को वृत्तिकार स्पष्ट करते हैं।

सवाडवाग्नि इस [उपमानगत धर्म के समकक्ष किसी धर्म] के उपमेय [देव पक्ष] में न होने से [उपमान में] धर्म का आधिक्य है। [अतएव यहाँ 'अधिकत्व' रूप उपमा दोष विद्यमान है]।

अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति ॥ ११ ॥

इस प्रकार ग्रन्थकार ने 'हीनत्व' और 'अधिकत्व' दोष की यह व्याख्या की है कि उपमान की जाति, प्रमाण और धर्मगत न्यूनता होने पर 'हीनत्व' तथा अधिकता होने पर 'अधिकत्व' दोष होता है। अर्थात् 'हीनत्व' तथा 'अधिकत्व' दोनों जगह उपमान में ही धर्म आदि की न्यूनता या अधिकता गिनी गई है। उपमेय-गत हीनता या अधिकता का विचार नहीं किया गया है। इससे किसी के मन में यह शङ्का हो सकती है कि उपमेयगत हीनत्व और अधिकत्व के आधार पर ही दो दोष और भी मानने चाहिएँ। इस प्रकार उपमा दोषों की संख्या ६ के स्थान पर आठ हो जानी चाहिए। इस शङ्का का समाधान ग्रन्थकार अगली पंक्ति में यह करते हैं कि उपमान की अधिकता तभी होगी जब उपमेय में हीनता हो। इसी प्रकार उपमान में हीनता तभी होगी जब उपमेय में आधिक्य हो। इसलिए उपमानगत हीनता और अधिकता में ही उपमेयगत हीनता और अधि-कता का अन्तर्भाव हो जाने से उसके प्रतिपादन के लिए अलग दोष दिखलाने की आवश्यकता नहीं है और उपमा के छः दोष मानना ही उचित है। आठ दोष मानने की आवश्यकता नहीं है। इसी बात को वृत्ति में कहते हैं।

इन दोनों दोषों के विपर्यय [अर्थात् उपमेयगत हीनत्व तथा उपमेयगत अधिकत्व] नामक दोष का इन्हीं [उपमानगत हीनत्व तथा अधिकत्व] में अन्तर्भाव हो जाने से अलग ग्रहण [प्रतिपादन] करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हमारे मत में [ऊपर गिनाए हुए] छः [ही उपमा के] दोष हैं [अधिक नहीं]।

इस प्रकार वामन ने हीनत्व और अधिकत्व नाम से जो उपमा के दोष प्रतिपादन किए हैं उनको वामन के उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि अलग मानने की आवश्यकता नहीं समझते हैं। विश्वनाथ ने इन दोनों दोषों का अन्तर्भाव 'अनुचितार्थता' दोष में कर लिया है। इसलिए न केवल इन दोनों का अपितु असादृश्य तथा असम्भव दोषों का भी अनुचितार्थत्व दोष में अन्तर्भाव करते हुए वह लिखते हैं—

[1]"उपमायामसादृश्यासम्भवयोः, जातिप्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोः, अर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम्।" ॥ ११ ॥

---

[1] साहित्यदर्पण ७-१६।

उपमानोपमेययोर्लिङ्गव्यत्यासो लिङ्गभेदः । ४, २, १२ ।

उपमानस्योपमेयस्य च लिङ्गयोर्व्यत्यासो विपर्ययो लिङ्गभेदः । यथा—

सैन्यानि नद्य इव जग्मुरनर्गलानि ॥ १२ ॥

इष्टः पुन्नपुंसकयोः प्रायेण । ४, २, १३ ।

इस प्रकार हीनत्व तथा अधिकत्व इन दो प्रकार के उपमा-दोषों का निरूपण करने के बाद ग्रन्थकार लिङ्गभेद रूप तृतीय उपमा-दोष का प्रतिपादन अगले सूत्र में करते हैं ।

उपमान और उपमेय के लिङ्ग का परिवर्तन लिङ्गभेद [दोष] है ।

उपमान और उपमेय के लिङ्ग का परिवर्तन बदल जाना लिङ्गभेद [उपमा-दोष कहलाता] है । जैसे—

सेनाएँ नदियों के समान अबाधित रूप से चलने लगीं ।

इस उदाहरण में 'सैन्यानि' उपमेय है और 'नद्यः' उपमान है । 'अनर्गल गमन' उनका साधारण धर्म है और 'इव' उपमावाचक शब्द है । इन चारों के होने से यह पूर्णोपमा का उदाहरण है परन्तु इसमें उपमेय रूप 'सैन्यानि' पद नपुंसकलिङ्ग का और उपमानभूत 'नद्यः' पद स्त्रीलिङ्ग का है । इस लिङ्गभेद हो जाने के कारण यहाँ 'लिङ्गभेद' नामक उपमा-दोष हो जाता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार लिङ्गभेद दोष का साधारण निरूपण किया । परन्तु कहीं-कहीं इसका अपवाद भी पाया जाता है अर्थात् इस प्रकार का लिङ्गभेद होने पर भी दोष नहीं माना जाता है । इस प्रकार के अपवादों को अगले दो सूत्रों में दिखलाते हैं ।

पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग का [लिङ्ग विपर्यय] प्रायः इष्ट होता है । [अर्थात् उपमान और उपमेय में से एक पुंलिङ्ग हो और दूसरा नपुंसक लिङ्ग हो इस प्रकार का लिङ्गभेद प्रायः इष्ट होता है अर्थात् दोष नहीं माना जाता है ।]

पुन्नपुंसकयोरुपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदः प्रायेण वाहुल्येनेष्टः । यथा 'चन्द्रमिव मुखं पश्यति' इति । 'इन्दुरिव मुखं भाति', एवम्प्रायन्तु नेच्छन्ति ॥ १३ ॥

लौकिक्यां समासाभिहितायामुपमाप्रपञ्चे । ४, २, १४ ।

लौकिक्यामुपमायां समासाभिहितायामुपमायामुपमाप्रपञ्चे चेष्टो लिङ्गभेदः प्रायेणेति । लौकिक्यां यथा 'छायेव स तस्याः', 'पुरुष इव स्त्री' इति ।

पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग उपमान और उपमेय का लिङ्गभेद बहुधा इष्ट होता [दोष नहीं माना जाता] है । जैसे 'चन्द्रमिव मुखं पश्यति'-चन्द्रमा के समान मुख को देखता है । यहाँ [उपमानभूत 'चन्द्र' शब्द पुलिङ्ग है और उपमेयभूत मुख शब्द नपुंसक लिङ्ग है । ऐसा लिङ्गभेद होने पर भी कवियों में इस प्रकार का बहुल प्रयोग होने के कारण उसको दोष नहीं माना जाता । उस प्रकार का प्रयोग कवियों को इष्ट है परन्तु उसी के आधार पर] 'इन्दुरिव मुखम्' इस प्रकार के प्रयोग को प्रायः [कवि गण] पसन्द नहीं करते हैं । [इसमें भी 'इन्दु' शब्द पुंलिङ्ग और 'मुखम्' शब्द नपुंसक लिङ्ग है । परन्तु इस प्रयोग को कविगण नहीं पसन्द करते हैं । इसलिये इसमें लिङ्गभेद दोष होगा । इसी के बोधन के लिए अपवाद सूत्र में 'प्रायेण' पद का ग्रहण किया है] ॥ १३ ॥

इसी प्रकार लिङ्गभेद दोष के और भी अपवाद अगले सूत्र में दिखलाते हैं ।

१. लौकिकी [उपमा] में, २. समासाभिहित [उपमा] में और ३. उपमा के [प्रतिवस्तूपमा आदि अन्य] भेदों में [भी लिङ्गभेद इष्ट है । दोष नहीं होता है] ।

लौकिकी उपमा में, समासाभिहित उपमा में और उपमा के [प्रतिवस्तूपमा आदि] भेदों में लिङ्गभेद प्रायः इष्ट होता है । [दोष नहीं होता] । जैसे लौकिकी [उपमा] में 'स तस्याः छाया इव' वह [पुरुष] उस [स्त्री] की छाया के समान है । [इसमें उपमेय 'सः' पुंल्लिङ्ग और उपमानभूत 'छाया' स्त्रीलिङ्ग है । परन्तु यह लिङ्गभेद दोष नहीं माना जाता । [अथवा इसी का दूसरा उदाहरण जैसे यह] स्त्री पुरुष के समान है । [यहाँ उपमेय 'स्त्री' स्त्री-

समासाभिहितायां यथा—'भुजलता नीलोत्पलसदृशी' इति।
उपमाप्रपञ्चे यथा—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥

एवमन्यदपि प्रयोगजातं द्रष्टव्यम्॥ १४॥

लिङ्ग में और उपमान पुरुष पुलिङ्ग में है। परन्तु यहाँ भी लिङ्गभेद को दोष नहीं माना जाता है। इसका कारण यह है कि लोक में इस प्रकार के प्रयोग के प्रचुर मात्रा में पाए जाने से इस प्रकार के प्रयोग को इष्ट ही मानना पड़ता है]।

समासाभिहित [उपमा] में [लिङ्गभेद की अदोषता का उदाहरण] जैसे—'भुजलता नीलोत्पलसदृशी' [इस उदाहरण में उपमेय 'भुजलता' स्त्रीलिङ्ग है और उपमानभूत 'नीलोत्पल' नपुंसकलिङ्ग है। परन्तु 'नीलोत्पलसदृशी' इस समास में आ जाने से नीलोत्पल का नपुंसकत्व दब जाता है इसलिए वह दोष बाधक नहीं रहता है]।

उपमा के [प्रतिवस्तूपमा आदि] भेदों में लिङ्गभेद की अदोषता का उदाहरण] जैसे—

महलों में भी दुर्लभ यह शरीर यदि आश्रमवासी [इस शकुन्तला रूप] जन का हो सकता है [यदि एक तपस्विनी वनवासिनी को भी रानियों से बढ़ कर इस प्रकार का अलौकिक देह-सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है] तो [निश्चय ही] वन की [जंगली] लताओं से उद्यान की लताएँ तिरस्कृत हो गईं।

कालिदास के शकुन्तला नाटक में शकुन्तला को देखकर यह राजा दुष्यन्त की उक्ति है। इसमें 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है। 'प्रतिवस्तूपमा' का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है :—

[1]प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्॥

इस प्रकार [प्रतिवस्तूपमा के उदाहरणभूत] अन्य प्रयोग भी समझ लेने चाहिएँ॥ १४॥

इस प्रकार लिङ्गभेद और उसके अपवाद स्थलों को दिखलाने के बाद ग्रन्थकार चतुर्थ उपमादोष 'वचनभेद' की व्याख्या अगले सूत्र में करते हैं।

---

[1]साहित्यदर्पण १०,५०।

तेन वचनभेदो व्याख्यातः । ४, २, १५ ।

तेन लिङ्गभेदेन वचनभेदो व्याख्यातः । यथा—

पास्यामि लोचने तस्याः पुष्पं मधुलिहो यथा ।। १५ ।।

अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम् । ४, २, १६ ।

अप्रतीतैरेव गुणैर्यत् सादृश्यं तदप्रतीतगुणसादृश्यम् । यथा—

ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ।

काव्यस्य शशिना सह यत् सादृश्यं तदप्रतीतैरेव गुणैरिति ।

उस [लिङ्गभेद रूप दोष के निरूपण] से वचनभेद [रूप उपमा-दोष] की व्याख्या [भी] हो गई।

उस लिङ्गभेद से वचनभेद की व्याख्या [भी] हो गई [अर्थात् उपमान और उपमेय में यदि वचन का भेद हो तो वहां वचनभेद नामक उपमा-दोष होता है] । जैसे—

भौंरों के समान उस [नायिका] के नेत्रों का [पान] चुम्बन करूंगा।

यहाँ 'पास्यामि' पद से उपमेय में एकवचन सूचित होता है परन्तु उपमानभूत 'मधुलिहः' पद बहुवचनान्त है। इसलिए उपमेय में एकवचन तथा उपमान में बहुवचन होने से यहां वचनभेद नामक उपमा-दोष होता है ।। १५।।

अगले सूत्र में 'असादृश्य' रूप पञ्चम उपमादोष का निरूपण करते हैं—

[लोक में] प्रतीत न होने वाले गुणों से सादृश्य [दिखलाना] असादृश्य [रूप उपमा-दोष] है।

प्रतीत न होने वाले गुणों से ही जो सादृश्य दिखलाया जावे वह अप्रतीत-गुणसादृश्य [पद का अर्थ हुआ और] असादृश्य [नामक उपमादोष कहलाता] है। जैसे—

फैली हुई अर्थ रूप रश्मियों से युक्त काव्य [रूप] चन्द्रमा को ग्रथित करता [बनाता—निर्माण करता] हूं।

[इस उदाहरण में] काव्य का चन्द्रमा के साथ जो सादृश्य [दिखलाया गया] है वह अनुभव में न आने वाले [अप्रतीतैरेव] गुणों से ही [दिखलाया गया] है इसलिए [यहां असादृश्य रूप उपमा-दोष है]

ननु चार्थानां रश्मितुल्यत्वे सति काव्यस्य शशितुल्यत्वं भविष्यति।

नैवम् । काव्यस्य शशितुल्यत्वे सिद्धेऽर्थानां रश्मितुल्यत्वं सिद्ध्यति। न ह्यर्थानां रश्मीनां च कश्चित् सादृश्यहेतुः प्रतीतो गुणोऽस्ति। तदेवमितरेतराश्रयदोषो दुरुत्तर इति ॥ १६ ॥

असादृश्यहता ह्युपमा तन्निष्ठाश्च कवयः । ४, २, १७ ।

असादृश्येन हता असादृश्यहता उपमा। तन्निष्ठा, उपमानिष्ठाश्च कवयः इति ॥ १७ ॥

[प्रश्न] अर्थ में रश्मितुल्यता मान लेने पर [उस प्रतीत सादृश्य के आधार पर] काव्य में शशितुल्यता हो जावेगी [अतः दोष नहीं रहेगा]।

[उत्तर] आपका यह कहना ठीक नहीं है [क्योंकि अर्थ में रश्मि-तुल्यता—रश्मि-सादृश्य भी तो अप्रतीत है। उस अर्थ के रश्मि के साथ सादृश्य का उपादान करने के लिए आप यह कहोगे कि] काव्य की शशितुल्यता सिद्ध हो जाने पर अर्थों की रश्मितुल्यता सिद्ध हो जावेगी [इस प्रकार तो अन्यो-न्याश्रय दोष होगा। काव्य में शशितुल्यता होने पर अर्थों की रश्मितुल्यता होगी और अर्थों की रश्मितुल्यता सिद्ध होने पर काव्य की शशितुल्यता होगी। यह अन्योन्याश्रय दोष हो जावेगा। क्योंकि] अर्थों और रश्मियों के सादृश्य का कोई हेतु रूप गुण प्रतीत नहीं होता है । इसलिए [जिस शैली से आप काव्य का शशि के साथ सादृश्य का उपपादन करना चाहते हैं उसमें] अन्योन्याश्रय दोष का समाधान नहीं हो सकता है। [अतएव इस उदाहरण में असादृश्य रूप उपमा दोष है।] ॥ १६ ॥

उपमा अलङ्कार का जीवन ही सादृश्य पर अवलम्बित है। सादृश्य ही उपमा का सार है। इसलिए यदि उपमा में भी सादृश्य का यथोचित निर्वाह न किया जाय तो सादृश्यविहीन उपमा ही कहां रहती है। इस प्रकार असादृश्य-मूलक उपमा भी नहीं बनती और उसका अवलम्बन करने वाले कवि का भी गौरव नष्ट होता है। इस बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र में दिखलाते हैं :—

सादृश्य के अभाव में उपमा नष्ट हो जाती है और उस [सादृश्य-विहीन उपमा] में लगे हुए [उस प्रकार को सादृश्यविहीन उपमा का प्रयोग

उपमानाधिक्यात् तदपोह इत्येके । ४, २, १८ ।

उपमानाधिक्यात् तस्याऽसादृश्यस्याऽपोह इत्येके मन्यन्ते । यथा—

कर्पूरहारहरहाससितं यशस्ते ।

करने वाले] कवि भी मारे जाते हैं [यश और प्रतिष्ठा से वञ्चित रहते हैं] ॥ १७ ॥

इस प्रकार के असादृश्य दोष के निवारण के लिए कुछ लोग यह कहते हैं कि जहां एक उपमान से सादृश्य प्रतीत नहीं होता है वहां यदि अनेक उपमान रख दिए जावें तो वह प्रतीत न होने वाला सादृश्य स्फुट रूप से प्रतीत होने लगता है और वह असादृश्य दोष नहीं रहता । जैसे—यश की उपमा कोई कर्पूर से दे तो शायद काव्य और शशि के सादृश्य के समान कर्पूर और यश का सादृश्य भी प्रतीत न हो । परन्तु उसी सादृश्य के स्पष्टीकरण के लिए यदि केवल कर्पूर के बजाय उसी प्रकार के अनेक उपमान एक साथ जोड़ कर 'कर्पूरहारहर हाससितं यशस्ते' कहा जाय तो अनेक उपमानों से उनका शुक्लता रूप सादृश्य स्पष्ट हो जायगा ।

परन्तु सिद्धान्त पक्ष में आचार्य वामन इस बात से सहमत नहीं हैं । उनके मत में जहां एक उपमान से सादृश्य स्पष्ट नहीं होता है तो उस प्रकार के अनेक उपमानों से भी उसकी पुष्टि नहीं हो सकती है । 'कर्पूरहारहरहाससितं यशस्ते' । इस उदाहरण में 'यश' का 'कर्पूर' आदि के साथ सादृश्य तो 'सितं' पद से स्वयं उपात्त है । वह अनेक उपमानों के कारण प्रतीत नहीं होता है अपितु शब्दतः प्रतिपादित होने से ही प्रतीत होता है । इसलिए उपमानों के आधिक्य से असादृश्य दोष का अपोह या परिमार्जन हो जाता है यह कहना ठीक नहीं है ।

इसी विषय का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने अगले दो सूत्र लिखे हैं । पहिले सूत्र में पूर्वपक्ष दिखाया है और दूसरे सूत्र में उसका उत्तर दिया है ।

उपमानों [की संख्या] के आधिक्य से उस [अप्रतीत-सादृश्यमूलक असादृश्य रूप उपमादोष] का परिमार्जन [अपोह-दूरीकरण] हो जाता है यह कुछ लोग कहते हैं ।

उपमान के [संख्याकृत] आधिक्य से उस असादृश्य [रूप उपमादोष] का [अपोह] परिमार्जन [दूरीकरण] हो जाता है ऐसा कुछ विद्वान् मानते

कर्पूरादिभिरुपमानैर्बहुभिः सादृश्यं यशसः सुस्थापितं भवति। तेषां शुक्लगुणातिरेकात् ॥ १८ ॥

नापुष्टार्थत्वात् । ४, २, १६ ।

उपमानाधिक्यात् तदपोह इति यदुक्तं तन्न । अपुष्टार्थत्वात् । एकस्मिन्नुपमाने प्रयुक्ते उपमानान्तरप्रयोगो न कश्चिदर्थविशेषं पुष्णाति । तेन

'बलसिन्धुः सिन्धुरिव क्षुभितः'

इति प्रत्युक्तम् ।

हैं । जैसा—तुम्हारा यश कर्पूर, [मुक्ता] हार, और शिवहास के समान शुभ्र है ।

[इस उदाहरण में] कर्पूर आदि अनेक उपमानों से यश का [उनके साथ शुक्लातिशय रूप] सादृश्य भली प्रकार स्थापित होता है । उन [कर्पूर, मुक्ताहार और हरहास-शिवहास्य] में शुक्ल गुण का बाहुल्य होने से [यश में भी उसी प्रकार का शुक्लातिशय है यह बात प्रतीत होती है । इस प्रकार उपमान के आधिक्य से असादृश्य का अपोह हो जाता है यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय हुआ] ॥ १८ ॥

इस पूर्वपक्ष का उत्तर अगले सूत्र में करते हैं ।

[आपका कहना] ठीक नहीं है । [उपमानों की संख्या में आधिक्य कर देने पर भी] अर्थ की पुष्टि [सम्भव] न होने से ।

उपमान [की संख्या में] का आधिक्य होने से उस [अप्रतीत गुण-मूलक असादृश्य रूप उपमा-दोष] का परिमार्जन [अपोह, दूरीकरण] हो जाता है यह जो [पूर्वपक्षी ने] कहा है, वह ठीक नहीं है। [उपमानों की संख्यावृद्धि से] अर्थ की पुष्टि न होने से। एक उपमान के प्रयुक्त होने पर [यदि सादृश्य स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता है तो उसी प्रकार के] अन्य उपमानों का प्रयोग भी किसी अर्थविशेष का पोषक नहीं होता । [उन उपमानों की उस संख्यावृद्धि से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है] इसलिए—

'सैन्यसागर, सागर के समान क्षुब्ध हो गया ।'

यह [उदाहरण भी] खण्डित हो गया ।

इसका अभिप्राय यह है कि इस उदाहरण में बल अर्थात् सैन्य की उपमा सिन्धु अर्थात् सागर से दी गई है। अर्थात् 'बल' उपमेय है और 'सिन्धु' उपमान है । परन्तु सिन्धु रूप उपमान का दो बार प्रयोग किया गया है। इसलिए इसमें

ननु सिन्धुशब्दस्य द्विः प्रयोगात् पौनरुक्त्यम् ।

न । अर्थविशेषात् । बलं सिन्धुरिव वैपुल्याद् बलसिन्धुः । सिन्धुरिव क्षुभितः इति क्षोभसारूप्यात् । तस्मादर्थभेदान्न पौनरुक्त्यम् । अर्थपुष्टिस्तु नास्ति । सिन्धुरिव क्षुभित इत्यनेनैव वैपुल्यं प्रतिपत्स्यते । उक्तं हि [1]"धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यस्य संवित् साहचर्यात्" ॥ १६ ॥

उपमान का संख्यागत आधिक्य हुआ इसलिए यहाँ असादृश्य रूप उपमा-दोष नहीं होता है। अर्थात् यहाँ असादृश्य के अपोह या निवारण के लिए ही सिन्धु रूप उपमान का दो बार प्रयोग किया गया है। यह पूर्व पक्ष का आशय हुआ। उत्तर पक्ष का कहना यह है कि यहाँ सिन्धु शब्द के दुबारा प्रयोग से अर्थ की कोई पुष्टि नहीं होती है इसलिए सिन्धु शब्द का दुबारा प्रयोग व्यर्थ और दोष-ग्रस्त ही है।

इस पर शङ्का यह होती है कि अच्छा यदि सिन्धु शब्द के प्रयोग में दोष है तो वह पुनरुक्ति दोष हो सकता है। असादृश्य दोष नहीं हो सकता है। इसका भी सिद्धान्त पक्ष की ओर से खण्डन किया जा रहा है। उसका अभि-प्राय यह है कि यहाँ सिन्धु शब्द का दो बार प्रयोग होने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं होता है क्योंकि उन दोनों के अर्थ में भेद है। पहिली बार के प्रयोग से 'बलं सिन्धुरिव बलसिन्धुः' इस से बल की विपुलता सूचित होती है। और 'सिन्धु-रिव क्षुभितः' इस अंश से क्षोभ बाहुल्य सूचित होता है इसलिए अर्थभेद होने से पुनरुक्ति दोष तो नहीं है। किन्तु अपुष्टार्थता दोष अथवा तन्मूलक असादृश्य दोष ही कहा जा सकता है।

[प्रश्न] 'सिन्धु' शब्द का ['बलसिन्धुः सिन्धुरिव क्षुभितः' इस उदा-हरण में] दो बार प्रयोग होने से [इस श्लोक के अंश में] पुनरुक्ति दोष हो सकता है।

[उत्तर] नहीं [यहाँ पुनरुक्ति दोष] अर्थभेद के कारण नहीं हो सकता है। 'बलं सिन्धुरिव' [इस विग्रह में] विपुलता [के सूचित] होने से 'बल-सिन्धु' [बल अर्थात् सैन्य की विशालता को बोधित करता है] और 'सिन्धु-रिव क्षुभितः' में [यह दूसरी बार सिन्धु शब्द का प्रयोग] क्षोभरूपता [का सूचक होने] से। [उन दोनों में अर्थभेद है] इसलिए अर्थभेद होने से [सिन्धु रूप उपमान का दो बार प्रयोग होने पर भी] पुनरुक्ति नहीं है। किन्तु [उस

---

[1] काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४, २, १०।

अनुपपत्तिरसम्भवः ४, २, २० ।

अनुपपत्तिरनुपपन्नत्वमुपमानस्यासम्भवः । यथा—

चकास्ति वदनस्यान्तः स्मितच्छायाविकासिनः ।
उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका ॥

चन्द्रिकायामुन्निद्रत्वमरविन्दस्येत्यनुपपत्तिः । नन्वर्थविरोधोऽयमस्तु किमुपमादोषकल्पनया । न । उपमायामतिशयस्येष्टत्वात् ॥ २० ॥

दो बार के प्रयोग से] अर्थ की पुष्टि नहीं होती है । [इन दोनों में से पहली बार का सिन्धु शब्द का प्रयोग व्यर्थ है क्योंकि] 'सिन्धुरिव क्षुभितः' इससे ही [सैन्य की] विपुलता [और क्षोभ दोनों] की प्रतीति [प्रतिपत्ति] हो जावेगी । जैसा कि 'धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यस्य संवित् साहचर्यात्' [४, २, १० सूत्र में अभी] कह चुके हैं । [समुद्र का वैपुल्य और क्षोभ दोनों सहचरित धर्म हैं । उनमें से 'सिन्धुरिव क्षुभितः' कह कर जब क्षोभ का प्रतिपादन करते हैं तो उसके साथ वैपुल्य भी स्वयं प्रतीत हो जाता है । अतएव वैपुल्य सूचन के लिए प्रथम सिन्धु शब्द का प्रयोग व्यर्थ है और अपुष्टार्थ दोषग्रस्त है] ॥ १६ ॥

अगले दो सूत्रों में छठे उपमा-दोष 'असम्भव' का निरूपण करते हैं ।

[उपमान की] अनुपपत्ति [ही] 'असम्भव' [नामक उपमा-दोष] है ।

अनुपपत्ति [अर्थात्] उपमान का अनुपपन्नत्व 'असम्भव' [नामक छठा उपमा-दोष] है । जैसे—

खिले हुए कमल के भीतर सुन्दर चाँदनी के समान [नायिका के] खिले हुए मुख के भीतर मुस्कराहट की छाया चमक रही है ।

[इस उदाहरण में खिले हुए कमल के भीतर चाँदनी का वर्णन है । परन्तु चाँदनी में तो कमल खिलता ही नहीं । कमल तो दिन में खिलता है रात्रि में नहीं । ऐसे में चाँदनी का सम्बन्ध बताना अनुपपन्न है । क्योंकि] चाँदनी [खिलने के समय अर्थात् रात्रि] में कमल का खिलना अनुपपन्न है [इसलिए इस उपमा में असम्भवत्व दोष है] ।

[प्रश्न] यहाँ अर्थ-विरोध [नामक सामान्य दोष] मान लो, [असम्भव नामक] उपमा-दोष की कल्पना से क्या लाभ ?

[उत्तर] यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि [इस प्रयोग से कवि को अपनी] उपमा में विशेषता [प्रतिपादन करना] इष्ट है । [इसलिए इसको सामान्य दोष न मान कर उपमा-दोष ही कहना चाहिए] ॥ २० ॥

कथं तर्हि दोष इत्यत आह—

न विरुद्धोऽतिशयः । ४, २, २१ ।

विरुद्धस्यातिशयस्य संग्रहो न कर्तव्य इति, अस्य सूत्रस्य तात्पर्यार्थः ।
तानेतान् षडुपमा-दोषान् ज्ञात्वा कविः परित्यजेत् ॥ २१ ॥

इति पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'आलङ्कारिके' चतुर्थेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
उपमाविचारः ।

—०—

[प्रश्न] यदि 'उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका' कह कर कवि अपनी उपमा में कुछ वैशिष्टय प्रतिपादन कर रहा है] तो फिर [यह] दोष कैसे होगा । [तब तो वह दोष नहीं गुण होगा । आप उसको दोष कैसे कहते हैं ?]

[उत्तर] विरुद्ध अतिशय [का प्रदर्शन] नहीं [करना] चाहिए ।

[अनुभव अथवा प्रकृति के] विरुद्ध अतिशय का वर्णन नहीं करना चाहिए । [यहाँ कवि ने उपमा में अतिशय लाने के लिए प्रकृतिविरुद्ध बात का संग्रह अपनी उपमा में कर दिया है इसलिए यह दोष हो गया है और वह उपमा दोष ही है] यह इस सूत्र का तात्पर्य है ॥

इन छः प्रकार के उपमा-दोषों को जान कर कवि उनका परित्याग [करने का प्रयत्न] करे ॥ २१ ॥

इति श्री पण्डितवरवामनविरचित काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में
चतुर्थ 'आलङ्कारिक' अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।
उपमा-विचार समाप्त हुआ ।

—००—

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
'काव्यालङ्कारदीपिकायां' हिन्दीव्याख्यायां
चतुर्थे 'आलङ्कारिकाधिकरणे' द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

—•—

'आलङ्कारिक' नाम्नि चतुर्थेऽधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः
[उपमाप्रपञ्चविचारः]

चतुर्थाधिकरण में तृतीयाध्याय
[उपमा-प्रपञ्च का विचार]

चतुर्थ अधिकरण के प्रथम अध्याय में अनुप्रास तथा यमक रूप दो शब्दालङ्कारों का और द्वितीयाध्याय में उपमालङ्कार का विचार करने के बाद अब इस तीसरे अध्याय में वामन अपने अभिमत अलङ्कारों का निरूपण प्रारम्भ करने जा रहे हैं। इन सब अलङ्कारों को वह उपमा का ही प्रपञ्चमात्र मानते हैं। इसलिए इस अध्याय में उन्होंने उपमा के प्रपञ्चभूत इन अलङ्कारों के निरूपण की प्रतिज्ञा की है। वामन के अभिमत इन अलङ्कारों की संख्या ३० है। उनका संग्रह काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति के टीकाकार गोपेन्द्र त्रिपुरहर-भूपाल ने इस प्रकार किया है—

प्रतिवस्तुप्रभृतय उद्दिश्यन्ते यथाक्रमम्।	
प्रतिवस्तु समासोक्तिरथाप्रस्तुतशंसनम्॥	३
अपह्नुती रूपकञ्च श्लेषो वक्रोक्त्यलंकृतिः।	४
उत्प्रेक्षाऽतिशयोक्तिश्च सन्देहः सविरोधकः॥	४
विभावनाऽनन्वयः स्यादुपमेयोपमा ततः।	३
परिवृत्तिः क्रमः पश्चाद् दीपकं च निदर्शना॥	४
अर्थान्तरस्य न्यसनं व्यतिरेकस्ततः परम्।	२
विशेषोक्तिरथ व्याजस्तुतिर्व्याजोक्त्यलंकृतिः॥	३
स्यात्तुल्ययोगिताक्षेपः सहोक्तिश्च समासतः।	३
अथ संसृष्टिभेदौ द्वौ उपमारूपकं तथा॥	३
उत्प्रेक्षावयवश्चेति विज्ञेयोऽलंकृतिक्रमः।	१
	३० + उपमा

इस प्रकार वामन ने ३० प्रकार के अर्थालङ्कारों का निरूपण किया है। अनुप्रास तथा यमक दो प्रकार के शब्दालङ्कार इन से भिन्न हैं। उनको भी जोड़ देने पर वामनाभिमत काव्यालङ्कारों की कुल संख्या ३२ होवेगी।

अलङ्कारों की संख्या के विषय में प्राचीन समय से आलङ्कारिक आचार्यों

में बहुत मतभेद रहा है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक केवल इन चार ही अलङ्कारों का वर्णन किया है। वामन ने ३० अर्थालङ्कार और २ शब्दालङ्कार मिला कर कुल ३२ अलङ्कारों का निरूपण किया है। दण्डी ने ३५ ही अलङ्कारों का निरूपण किया है। परन्तु इनके पूर्ववर्ती भामह ने ३९ प्रकार के और उद्भट ने ४० प्रकार के अलङ्कारों का वर्णन किया है। इनके उत्तरवर्ती रुद्रट ने ५२ प्रकार के, उसके आगे काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने ६७, उनके बाद जयदेव ने अपने 'चन्द्रालोक' में १०० और उनके भी व्याख्याकार अप्पय दीक्षित ने अपने 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ में १२४ अलङ्कारों का निरूपण किया है। इस प्रकार, भरतमुनि के प्रारम्भिक चार अलङ्कारों से बढ़कर अप्पय दीक्षित के समय में अलङ्कारों की संख्या १२४ तक पहुँच गई है। हमने अपने 'साहित्य-मीमाँसा' नामक ग्रन्थ में अलङ्कारों की इस संख्यावृद्धि का निरूपण इस प्रकार से किया है—

[1]दृष्टा वेदेऽप्यलङ्कारास्तूपमारूपकादयः ।
भूतोपमादिभेदेन यास्केनापि निरूपिताः ॥ १ ॥
शिलालेनटसूत्राणामुल्लेखः पाणिनिकृतः ।
सूचयत्यस्य शास्त्रस्य प्रत्नतां पाणिनेरपि ॥ २ ॥
तथापि प्रत्नं भरतात् साहित्यं नोपलभ्यते ।
तस्मात् तदादि विज्ञेया धारा साहित्यिकी त्वियम् ॥ ३ ॥
यथोत्तरं च धाराणां ग्रन्थानां च प्रवेशतः ।
सरितामिव वेगेन वर्द्धतेऽस्याः कलेवरम् ॥ ४ ॥
उपमा रूपकञ्चैव दीपकं यमकं तथा ।
चत्वार एवालङ्कारा भरतेन निरूपिताः ॥ ५ ॥
वामनेन च द्वात्रिंशद् भेदास्तस्य निरूपिताः ।
पञ्चत्रिंशद्विधश्चायं दण्डिना प्रतिपादितः ॥ ६ ॥
नवत्रिंशद्विधः पूर्वं भामहेन प्रदर्शितः ।
चत्वारिंशद्विधश्चैव उद्भटेन प्रकीर्तितः ॥ ७ ॥
द्विपंचाशद्विधः प्रोक्तो रुद्रटेन ततः परम् ।
सप्तषष्टिविधः प्रोक्तः प्रकाशे मम्मटेन च ॥ ८ ॥

---

1. साहित्य-मीमांसा ।

सम्प्रत्युपमाप्रपञ्चो विचार्यते। कः पुनरसावित्याह—

प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः । ४, ३, १ ।

प्रतिवस्तु प्रभृतिर्यस्य स प्रतिवस्तुप्रभृतिः। उपमायाः प्रपञ्च उपमा-प्रपञ्च इति ॥ १ ॥

शतधा जयदेवेन विभक्तो, दीक्षितेन च।
कृता भेदाः पुनस्तस्य सशतं चतुर्विंशतिः ॥ ६ ॥

इस प्रकार साहित्यशास्त्र के आकर ग्रन्थों में भी अलङ्कारों की संख्या के विषय में बहुत भेद पाया जाता है। इन आचार्यों में से प्रकृत ग्रन्थकार श्री वामन ने दो शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त ३० अर्थालङ्कारों को माना है। इस अध्याय में उन्हीं ३० अर्थालङ्कारों का वर्णन है।

अब उपमा के प्रपञ्च [भूत ३० प्रकार के अर्थालङ्कारों] का विचार किया जाता है। वह [उपमा प्रपञ्च] कौन सा [कौन कौन से अलङ्कार इस उपमा प्रपञ्च में सम्मिलित होते] हैं यह [प्रथम सूत्र में] कहते हैं।

प्रतिवस्तु [प्रतिवस्तूपमा] इत्यादि [आगे कहे जाने वाले ३० अलङ्कार] उपमा का प्रपञ्च [कहे जाते] हैं।

प्रतिवस्तु [प्रतिवस्तूपमा] जिस के आदि में है वह [तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास मान कर प्रतिवस्तूपमा सहित ३० अर्थालङ्कार] 'प्रतिवस्तु-प्रभृति' हुए। उपमा का प्रपञ्च [विस्तार] उपमा प्रपञ्च [यह षष्ठी तत्पुरुष समास से] है। [प्रतिवस्तु प्रभृति वह ३० अर्थालङ्कार हम अभी ऊपर दिखला चुके हैं] ॥१॥

अगले सूत्र से इस उपमा-प्रपञ्च का निरूपण प्रारम्भ करते हुए सबसे पहिले 'प्रतिवस्तूपमा' का लक्षण करते हैं। 'प्रतिवस्तूपमा' उपमा का ही प्रपञ्च है इसलिए उपमा के अन्य भेदों से उसका जो विशेष भेद है उसको दिखलाते हुए उसका लक्षण करेंगे। अभी पिछले अध्याय में पदार्थ और वाक्यार्थवृत्ति उपमा के दो भेद किए थे। उनमें से 'प्रतिवस्तूपमा' और 'वाक्यार्थ उपमा' में बहुत कुछ सादृश्य होने से उन दोनों के विशेष भेद को प्रदर्शित करने की आवश्यकता समझ कर ग्रन्थकार 'वाक्यार्थ उपमा' से 'प्रतिवस्तूपमा' का भेद दिखाते हुए उसका लक्षण करते हैं—

वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेदं दर्शयितुमाह—

उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु । ४, ३, २ ।

समानं वस्तु वाक्यार्थः । तस्य न्यासः समानवस्तुन्यासः । उपमेयस्यार्थाद् वाक्यार्थस्योक्तौ सत्यामिति । अत्र द्वौ वाक्यार्थौ, एको वाक्यार्थ उपमायामिति भेदः । तद्यथा—

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥ २ ॥

वाक्यार्थ उपमा का प्रतिवस्तु [उपमा] से भेद दिखलाने के लिए कहते हैं—

उपमेय का कथन होने पर [उसके] समान [अन्य] वस्तु का वर्णन प्रतिवस्तु [प्रतिद्वन्द्वि वस्तु, 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार कहलाता] है ।

[उपमेय का कथन होने पर] समान वस्तु [जिसके वर्णन को प्रतिवस्तु उपमा अलङ्कार कहेंगे वह] वाक्यार्थ [रूप] होनी चाहिए [पदार्थ रूप नहीं] । उस [वाक्यार्थ रूप समान वस्तु] का न्यास [वर्णन] समानवस्तु न्यास हुआ । उपमेय [यहाँ भी उपमेय पदार्थ रूप नहीं अपितु] वाक्यार्थ रूप का कथन होने पर [जो उपमानभूत वाक्यार्थ रूप समान वस्तु का न्यास है वह प्रतिवस्तु-उपमा अलङ्कार कहलाता है] यह तात्पर्य है । यहाँ [प्रतिवस्तु उपमा में उपमेय और उपमान दोनों] दो वाक्यार्थ [रूप] हैं । और 'वाक्यार्थोपमा' में उपमान और उपमेय मिल कर] एक [वाक्यार्थ] होता है । यह [उपमा तथा प्रतिवस्तूपमा का] भेद है । जैसे—

देवी भाव [पटरानी पद] को प्राप्त हुई यह सामान्य रानी रूप परिवार पद को कैसे प्राप्त हो सकती है । देवता के रूप से अङ्कित रत्न [रत्नों के समान] उपभोग के योग्य नहीं होता ।

इस उदाहरण में देवीभाव अर्थात् पटरानी पद पर अभिषिक्त यह नायिका सामान्य परिवार जनों के समान सामान्य व्यवहार के योग्य नहीं है । यह सारा वाक्यार्थ उपमेय रूप है जैसे देवता के रूप से अंकित रत्न सामान्य रत्नों के समान उपभोग के योग्य नहीं होता । यह सारा वाक्यार्थ उपमान है । पहले उपमेयभूत वाक्यार्थ को यदि वस्तु कहा जाय तो उपमानभूत दूसरा वाक्यार्थ 'प्रतिवस्तु' होगी । इस प्रकार उपमेयभूत वाक्यार्थ रूप वस्तु के कथन

प्रतिवस्तुनः समासोक्तेर्भेदं दर्शयितुमाह ।

अनुक्तौ समासोक्तिः । ४, ३, ३ ।

उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः । संक्षेपवचनात समासोक्तिरित्याख्या ! यथा—

श्लाघ्या ध्वस्ताध्वगग्लानेः करीरस्य मरौ स्थितिः ।
धिङ् मेरौ कल्पवृक्षाणामव्युत्पन्नार्थिनां श्रियः ॥ ३ ॥

करने पर जो उसके समान उपमानभूत प्रतिवस्तु का वर्णन है । इसलिए यह प्रतिवस्तु उपमा अलङ्कार है । साहित्य दर्पणकार ने प्रतिवस्तूपमा का लक्षण इस प्रकार किया है ।—

[1] प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥ २ ॥

प्रतिवस्तु [उपमा] से समासोक्ति का भेद दिखलाने के लिए [समासोक्ति का लक्षण] कहते हैं—

[उपमेय के] न कहे जाने पर [जो समानवस्तु का न्यास करना है वह] समासोक्ति [कहलाती] है ।

उपमेय [भूत वाक्यार्थ] के न कथन होने पर समान वस्तु [उपमान] का न्यास [वर्णन] करना समासोक्ति [नामक अर्थालङ्कार कहलाता] है । [समासेन] संक्षेप से [उक्तिः] कथन करने से समासोक्ति यह [अन्वर्थ] नाम है । [इस समासोक्ति का उदाहरण] जैसे—

मरुभूमि में पथिकों की श्रान्ति [थकावट] को दूर करने वाले करील की स्थिति [भी] श्लाघनीय है परन्तु याचकों की इच्छा का अनुभव [और पूर्ति] न करने वाले कल्पवृक्षों की सुमेरु पर्वत पर स्थिति को धिक्कार है ।

यहाँ करील की मरुस्थल में स्थिति की प्रशंसा, और कल्पवृक्षों की सुमेरु पर्वत पर स्थिति की निन्दा करने से उनके उपमेयभूत बिना कहे भी परोपकारप्रवण निर्धन की प्रशंसा और परोपकारविमुख धनिकों की निन्दा संक्षेप से कही गई है । इसलिए यह समासोक्ति अलङ्कार है । यहाँ परोपकारप्रवण निर्धन व्यक्ति उपमेय है परन्तु उसके कहे बिना उसके उपमानभूत मरुस्थल में स्थित करील का कथन किया गया है । इसी लिए यहाँ समासोक्ति अलङ्कार

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ५० ।

है। नवीन विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इस समासोक्ति अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार से किया है—

[1]समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रकृतेऽन्यस्य वस्तुनः॥

अर्थात् तुल्य कार्य, लिङ्ग अथवा विशेषणों से प्रकृत उपमेय में अन्य उपमान के व्यवहार का समारोप जहां किया जाय उसको समासोक्ति अलङ्कार कहते हैं। उनके मतानुसार यह समासोक्ति का उदाहरण नहीं होगा। क्योंकि इस में अन्य के व्यवहार समारोप का वर्णन नहीं है।

साहित्यदर्पण में कार्य के अनुसार समासोक्ति का निम्न उदाहरण दिया गया है—

व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाहः॥

(1) यहां गन्धवाह अर्थात् वायु में कार्यसाम्य से हठकामुक के व्यवहार का समारोप दिखलाया गया है अतः समासोक्ति अलङ्कार है।

(ii) लिङ्ग साम्य में समासोक्ति का उदाहरण जैसे—

असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत् सर्वं नो सन्ध्यां भजते रविः॥

यहां पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग मात्र से रवि में नायक और सन्ध्या में नायिका के व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति अलङ्कार माना है।

(iii) विशेषण साम्य में समासोक्ति का उदाहरण यह दिया गया है—

विकसितमुखीं रागासङ्गाद् गलत्तिमिरावृतिं
दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः।
जरठलवली-पाण्डुच्छायः शुचा परिदुर्बलः
श्रयति हरितं हन्त प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः॥

यहां विशेषणों के श्लिष्ट साम्य से चन्द्रमा में नायक-व्यवहार, पूर्वदिशा में नायिका-व्यवहार, सूर्य में प्रतिनायक और पश्चिम दिशा में प्रतिनायिका व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति अलङ्कार है।

इस प्रकार वामन के और नवीन आचार्यों के समासोक्ति के लक्षण और उदाहरण में पर्याप्त भेद पाया जाता है। वामन ने लक्षण करते समय मुख्यतः

---

१ साहित्यदर्पण १०, ५६।

समासोक्तेरप्रस्तुतप्रशंसाया भेदं दर्शयितुमाह—

किञ्चिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा । ४, ३, ४ ।

उपमेयस्य किञ्चिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासे अप्रस्तुतप्रशंसा । यथा—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि काचनेयं
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

प्रतिवस्तूपमा और समासोक्ति का भेद दिखलाने का ध्यान रखते हुए प्रतिवस्तूपमा में 'उपमेयस्योक्तौ' और समासोक्ति में 'उपमेयस्य अनुक्तौ' जोड़कर यह लक्षण किया है। इस प्रकार अगला अप्रस्तुतप्रशंसा का वामन का लक्षण भी इसी से मिलता-जुलता है। उपमेय की सर्वथा अनुक्ति में समान वस्तु का न्यास समासोक्ति, और किञ्चिदुक्ति में अप्रस्तुतप्रशंसा, तथा पूर्णतः उक्ति में प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होते हैं।

समासोक्ति से अप्रस्तुतप्रशंसा का भेद दिखलाने के लिए [अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण] कहते हैं—

[उपमेय की लिङ्गमात्रेण एक देश की] किञ्चिदुक्ति में अप्रस्तुतप्रशंसा [नामक अलङ्कार] होता है।

उपमेय का थोड़ा सा लिङ्गमात्र से कथन करने पर समान वस्तु का न्यास होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। जैसे—

[नदी के किनारे स्नानार्थ आई हुई किसी तरुणी को देखकर किसी रसिकजन की यह उक्ति है। इसमें युवति को स्वयं नदी रूप में वर्णन किया गया है।] यहाँ [नदी तट पर] यह नयी कौन-सी लावण्य की नदी दिखाई दे रही है जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैरते हैं, जिसमें हाथी की गण्डस्थली [नायिका का नितम्ब] उभर रही है और जहाँ कुछ और ही प्रकार के [जंघा रूप] कदली काण्ड और [बाहु रूप] मृणालदण्ड हैं।

यहाँ लावण्य पद से एकदेश से उपमेयभूत मुख, नेत्र आदि का कथन कर अप्रस्तुत उत्पलादि पदार्थों की प्रशंसा की गई है।

अप्रस्तुतस्यार्थस्य प्रशंसनमप्रस्तुतप्रशंसा ॥४॥

अपह्नुतिरपि ततो भिन्नेति दर्शयितुमाह—

अप्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा करना अप्रस्तुतप्रशंसा [शब्द का अर्थ] है ।

विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने इस अप्रस्तुतप्रशंसा का विवेचन बहुत विस्तार से किया है । उन्होंने इसके पाँच भेद माने हैं—

[1] क्वचिद् विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः ।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात् समम् ॥ ५८ ॥
अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् । ॥ ५६ ॥

अर्थात् १. सामान्य से विशेष की, २. विशेष से सामान्य की प्रतीति, ३. कार्य से कारण की और ४. कारण से कार्य की प्रतीति और ५. अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति होने पर पाँच प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा होती है ।

(१) पदाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥

इसमें हमारी [पाँड़वों की] अपेक्षा धूल भी अच्छी है [जो पैर से दबने पर उड़ कर सिर पर जा बैठती है] यह विशेष बात कहनी चाहिए थी परन्तु उसका काम सामान्य नियम को कह कर निकाला गया है । अतएव यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा का प्रथम भेद हुआ ।

(२) स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥

यहाँ ईश्वर की इच्छा से कहीं अहितकारी भी हितकारी और कहीं हितकारी भी अहितकारी हो जाता है इस सामान्य कथन के अवसर पर अमृत का विष और विष का अमृत होना रूप विशेष कहा गया है इसलिए यहाँ दूसरे प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा हुई ।

इसी प्रकार अन्य भेदों के भी उदाहरण दिये गए हैं ॥ ४ ॥

अपह्नुति भी उस [प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार] से भिन्न है इसको दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में अपह्नुति अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

---

१ साहित्यदर्पण १० । ५८-५९ ।

समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः । ४, ३, ५ ।

समेन तुल्येन वस्तुना वाक्यार्थेनाऽन्यस्य वाक्यार्थस्यापलापो निन्हवो यस्तत्त्वाध्यारोपणाय असावपह्नुतिः । यथा—

न केतकीनां विलसन्ति सूचयः प्रवासिनो हन्त हसत्ययं विधिः ।
तडिल्लतेयं न चकास्ति चञ्चला पुरः स्मरज्योतिरिदं विवर्तते ॥

वाक्यार्थयोस्तात्पर्यात् ताद्रूप्यमिति न रूपकम् ॥ ५ ॥

तुल्य वस्तु [उपमान] से अन्य [उपमेय] का अपलाप [निषेध] करना अपह्नुति [अलङ्कार कहलाता] है ।

सम अर्थात् तुल्य वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ [भूत उपमान] से अन्य वाक्यार्थ [रूप उपमेय] का अपलाप अर्थात् निषेध. निह्नव, [अतत् तद्भिन्न में] जो तत्त्व के आरोपण के लिए किया जाय वह अपह्नुति [अलङ्कार] होता है । जैसे—

यह केतकी की सूचियाँ नहीं दिखाई दे रही हैं अपितु प्रवासियों [वियोगियों] पर दैव हँस रहा है । और यह चञ्चला विद्युल्लता नहीं शोभित हो रही है अपितु सामने काम की ज्योति [विवर्त रूप में] दिखाई दे रही है ।

इसमें 'केतकी-सूचियों का विलास' और 'तडिल्लता का विलास' यह दोनों उपमेय हैं उन पर उपमानभूत 'विधिहास' और 'स्मर-ज्योति' का आरोप कर उन दोनों यथार्थ वस्तुओं का अपलाप किया गया है । और 'केतकी-सूचियों' पर 'विधिहास' का तथा 'तडिल्लता' पर 'स्मर-ज्योति' का आरोप किया गया है । इसलिए यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि इसी प्रकार अन्य में अन्य का आरोप रूपक में भी किया जाता है तो अपह्नुति और रूपक में क्या भेद है । इस शङ्का के समाधान के लिए वृत्तिकार कहते हैं कि रूपक में तो पदार्थों का शाब्द ताद्रूप्य होता है परन्तु अपह्नुति में शाब्द ताद्रूप्य नहीं अपितु वाक्यार्थों के तात्पर्य से अर्थतः ताद्रूप्य का आक्षेप कराया जाता है । यही इन दोनों का भेद है ।

[यहाँ प्रकृत उदाहरण में] वाक्यार्थों के तात्पर्य से ताद्रूप्य होता है इसलिए रूपक नहीं है । [रूपक के लिए पदार्थों का शाब्द ताद्रूप्य अपेक्षित होता है इसलिए यहाँ रूपक नहीं है अपितु अपह्नुति ही है] ।

रूपकं कीदृशमित्याह—

उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्। ४, ३, ६।

उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वस्याभेदस्यारोपणमारोपो रूपकम्। उपमानोपमेययोरुभयोरपि ग्रहणं लौकिक्याः कल्पितायाश्चोपमायाः प्रकृतित्वमत्र विज्ञायेतेति। यथा—

विश्वनाथ ने अपह्नुति का लक्षण इस प्रकार किया है—

[१] प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः।

कहीं अपह्नव या प्रकृत का निषेध पहिले होता है और अन्य की स्थापना अथवा आरोप पीछे होता है और कहीं अन्य का आरोप पहिले हो जाता है और प्रकृत का निषेध पीछे होता है। इन दोनों प्रकारों के उदाहरण इस प्रकार दिए हैं—

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः॥

एतद्विभाति चरमाचलचूलचुम्बि-
हिण्डीरपिण्डरुचि शीतमरीचिबिम्बम्।
उज्ज्वालितस्य रजनीं मदनानलस्य
धूमं दधत् प्रकटलाञ्छनकैतवेन॥ ५॥

अपह्नुति के प्रसङ्ग में रूपक की चर्चा आगई है। अन्तिम पंक्ति में रूपक से अपह्नुति का भेद दिखलाया है इसलिए स्वाभाविक रूप से रूपक के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसलिए अगले सूत्र में रूपक का लक्षण करते हैं—

रूपक कैसा होता है, यह कहते हैं—

उपमान के साथ उपमेय के गुण का साम्य होने से [उपमेय में उपमान के] अभेद [तत्त्व] का आरोप रूपक [अलङ्कार कहलाता] है।

उपमान के साथ उपमेय के गुणों का सादृश्य होने से [उपमेय में उपमान के] तत्त्व अर्थात् अभेद का आरोपण अर्थात् आरोप रूपक [अलङ्कार कहलाता] है। लौकिक और कल्पित [दोनों प्रकार की] उपमाओं का [यहां] रूपक में [प्रकृतित्व] कारणत्व है इस बात के सूचित करने के लिए [इस सूत्र

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः
असावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥

मुखचन्द्रादीनान्तूपमासमासान्न चन्द्रादीनां रूपकत्वं युक्तमिति ॥ ६ ॥

में] उपमान और उपमेय दोनों का ग्रहण किया गया है । [रूपक का उदाहरण] जैसे—

[महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित का यह श्लोक है । रामचन्द्र सीता के विषय में कह रहे हैं] यह [सीता] घर में लक्ष्मी और नेत्रों में अमृत की शलाका है । इस का यह [शीतल] स्पर्श शरीर में प्रचुर चन्दन रस [का लेप] और [इस सीता का] यह शीतल एवं चिकना बाहु गले में मोतियों का हार है । इसकी कौन-सी चीज प्रिय नहीं है [सब कुछ ही प्रिय है ।] यदि कुछ असह्य [या अप्रिय] है तो केवल विरह असह्य है ।

इसमें 'इयं' इस सर्वनाम से सीता का निर्देश कर उसमें 'लक्ष्मीत्व' और 'अमृतवर्तित्व' का, इसके स्पर्श में 'चन्दनरसत्व' का, और बाहु में 'मुक्ताहारत्व [मौक्तिकसरत्व]' का आरोप किया गया है इसलिए यह रूपक का उदाहरण है ।

इस प्रकार उपमान और उपमेय के व्यास [अलग-अलग] होने पर रूपक का यह उदाहरण दिया । परन्तु कहीं-कहीं समास में रूपक होता है और कहीं समास में रूपक नहीं होता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए वृत्तिकार ने अगली पंक्ति लिखी है ।

'मुखचन्द्र' इत्यादि [उदाहरणों] में तो [[1]'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से] उपमा समास होने से [मुख आदि पर] चन्द्र आदि का [आरोप रूप] रूपकत्व [मानना] उचित नहीं है । [इसलिए 'मुखचन्द्रं' आदि प्रयोगों में रूपक नहीं अपितु उपमा अलङ्कार मानना उचित है] ।

इस का अभिप्राय यह है कि वामन 'मुखचन्द्र' पद में उपमा अलङ्कार ही मानते हैं । परन्तु अन्य नवीन आचार्यों ने साधक या बाधक प्रमाणों के होने पर ऐसे स्थलों पर उपमा अथवा रूपक दोनों में से यथायोग्य अलङ्कार मानने

---

१. अष्टाध्यायी २, १, ५६ ।

रूपकाच्छ्लेषस्य भेदं दर्शयितुमाह—

स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः । ४, ३, ७ ।

का निर्णय किया है । उपमा मानने में 'मुखं चन्द्र इव' इस विग्रह में '[1]उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से समास होकर 'मुखचन्द्रः' पद बनता है। और रूपक मानने के अवसर पर 'मुखमेव चन्द्रः' इस विग्रह में '[2]मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्र से समास होकर 'मुखचन्द्रः' यह प्रयोग बनता है । इसलिए 'मुखचन्द्रः' में समास-भेद से उपमा और रूपक दोनों अलङ्कार हो सकते हैं । तब कहां रूपक माना जाय और कहां उपमा मानी जाय इसका निर्णय अन्य साधक अथवा बाधक प्रमाणों के आधार पर ही हो सकता है।

जैसे यदि 'मुखचन्द्रं चुम्बति' इस प्रकार का प्रयोग हो तो चुम्बन चन्द्रमा का नहीं अपितु मुख का ही सम्भव है इसलिए 'मुखं चन्द्र एव' इस प्रकार समास न करके 'मुखं चन्द्र इव' इस प्रकार का उपमित समास करना ही उचित होगा । इसलिए 'चुम्बन' रूप उपमा के साधक और रूपक के बाधक प्रमाण के होने से 'मुखचन्द्रं चुम्बति' इसमें उपमालङ्कार ही मानना उचित है ।

इसके विपरीत यदि 'मुखचन्द्रः प्रकाशते' इस प्रकार का प्रयोग हो तो प्रकाश रूप धर्म मुख्यतः चन्द्रमा में ही बन सकता है मुख में नहीं, इसलिए ऐसे स्थल पर 'मुखं चन्द्र एव' इस प्रकार का [2] 'मयूरव्यंसकादयश्च' सूत्र से समास करके रूपकालङ्कार मानना ही उचित है । क्योंकि वहां प्रकाश रूप धर्म रूपक का साधक और उपमा का बाधक है । जहां साधक अथवा बाधक प्रमाण नहीं होता है वहां किसी एक पक्ष में निर्णय करने का हेतु विद्यमान न होने से इन दोनों का सन्देह-मूलक सङ्कर अलङ्कार माना जाता है । जैसे 'मुखचन्द्रं पश्यामि' यहां देखना धर्म मुख में भी रह सकता है और चन्द्र में भी । उसके आधार पर किसी एक पक्ष में निर्णय नहीं किया जा सकता है । अतएव नवीन आचार्यों ने ऐसे स्थल में सन्देहसङ्कर अलङ्कार माना है । इस प्रकार वामन ने 'मुखचन्द्र' में उपमा-समास मान कर केवल उपमा का निर्णय किया है परन्तु नवीन आचार्यों के मत ने साधक-बाधक प्रमाणों के आधार पर कहीं उपमा, कहीं रूपक और कहीं उपमा-रूपकमूलक सन्देह-सङ्कर अलङ्कार का निरूपण, किया है।। ६ ।।

रूपक से श्लेष का भेद प्रदर्शित करने के लिए [अगले सूत्र में] श्लेष का लक्षण] कहते हैं—

तन्त्र [अनेकोपकारकारि सकृदुच्चारणं तन्त्रम्] से प्रयोग होने पर

---

१. अष्टाध्यायी २, १, ५ । २. अष्टाध्यायी २, १, ७२ ।

उपमानोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वारोपः। तन्त्रप्रयोगे तन्त्रेणोच्चारणे सति श्लेषः। यथा—

आकृष्टामलमण्डलाग्ररुचयः सन्नद्धवक्षःस्थलाः
सोष्माणो व्रणिता विपक्षहृदयप्रोन्माथिनः कर्कशाः।
उद्वृत्ता गुरवश्च यस्य शमिनः श्यामायमानानना:
योधा वारवधूस्तनाश्च न ददुः क्षोभं स वोऽव्याज्जिनः॥ ७॥

[उपमान और उपमेय के] धर्मों में वह [तत्त्वारोप] श्लेष [कहलाता] है।

उपमान और उपमेय के गुण, क्रिया और शब्द रूप धर्मों में वह तत्त्वारोप तन्त्र से प्रयोग, तन्त्र से उच्चारण [एक बार उच्चारण से अनेक अर्थ के बोध रूप अनेकोपकारकारित्व को तन्त्र कहते हैं] होने पर श्लेष [अलङ्कार कहलाता] है। जैसे—

जिस जितेन्द्रिय [महावीर] 'जिन' में वारवधुओं [वेश्याओं] के स्तनों ने अथवा [प्रतिपक्षी] योद्धाओं ने किसी प्रकार का [कामविकार अथवा भय रूप] क्षोभ उत्पन्न नहीं किया वह 'जिन' [महावीर भगवान्] तुम्हारी रक्षा करें। [यह मुख्य वाक्यार्थ है। श्लोक के शेष सारे पद विशेषण रूप हैं और वह सब विशेषण श्लेष से 'वारवधूस्तनाः' तथा 'योधाः' दोनों पक्षों में लगते हैं। एक बार उच्चारण किए हुए उन विशेषणों से अनेक अर्थों का बोधन ही तन्त्र कहलाता है। दोनों पक्षों में वे विशेषण इस प्रकार लगेंगे] आकृष्ट अर्थात् म्यान से निकाले हुए मण्डल अर्थात् खड्ग के अग्रभाग में जिनकी रुचि है ऐसे वीर योधा और 'आकृष्टा अर्थात् स्वीकृता' धारिता धारण की हुई है मण्डल [स्तन-मण्डल] के अग्र-भाग पर कान्ति जिन्होंने ऐसे [वारवधुओं के स्तन], सन्नद्ध अर्थात् कवचयुक्त है वक्षःस्थल जिनका ऐसे योधा, और सन्नद्ध अर्थात् विशाल है [आश्रयभूत] वक्षःस्थल जिनका [ऐसे स्तन], ऊष्मा अर्थात् दर्प से युक्त योधा, और 'सोष्माणः' अर्थात् गर्मी से युक्त स्तन, व्रणिता अर्थात् शस्त्र-जन्य व्रणों से युक्त वीर, और नखक्षत रूप व्रणों से युक्त स्तन, विपक्ष अर्थात् शत्रु के हृदय अर्थात् वक्षःस्थल का उन्मथन करने वाले वीर, और विपक्ष अर्थात् सपत्नियों के अथवा अपने सम्बद्ध पुरुषों के मन को मथन करने वाले वारवधुओं के स्तन, और कर्कश कठोर योधा तथा स्तन, उद्वृत्त मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले उद्धत [वीर] तथा गोल और ऊंचे उठे हुए [स्तन] गुरु अर्थात् महान् [वीर] और स्थूल [स्तन] ने जिन महावीर भगवान् में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं किया वह [महावीर जिन] तुम्हारी रक्षा करें]।

साहित्यदर्पणकार ने इस पर बहुत विस्तार से विचार किया है। उन्होंने पहिले श्लेष के आठ भेद किए हैं—

[1] शिलष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।
वर्ण-प्रत्यय-लिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि॥ ११॥
श्लेषाद् विभक्तिवचनानां भाषाणामष्टधा च सः॥

इस प्रकार १. वर्ण श्लेष, २. प्रत्यय श्लेष, ३. प्रकृति श्लेष, ४. लिङ्ग-श्लेष, ५. पद श्लेष, ६. विभक्ति श्लेष, ७. वचन श्लेष, ८. भाषा श्लेष इस प्रकार आठ भेद करने के बाद फिर सभङ्ग, अभङ्ग तथा सभङ्गाभङ्ग श्लेष रूप से तीन भेद और किए हैं।

पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः।

इनका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित् कायः पुरास्त्रीकृतः,
यश्चोद्वृतभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यञ्च नामामराः,
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो माधवः॥

इस श्लोक में शिव और विष्णु दोनों की स्तुति की गई है। 'सर्वदो-माधवः' इस पद का यदि 'सर्वदा उमाधवः' ऐसा पदच्छेद करते हैं तो सर्वदा उमापति, पार्वतीपति, शिव तुम्हारी रक्षा करें यह अर्थ होता है। और यदि 'सर्वदः माधवः' ऐसा पदच्छेद करें तो सब कुछ देने वाले माधव अर्थात् विष्णु' तुम्हारी रक्षा करें ऐसा अर्थ होता है। इस प्रकार 'सर्वदो माधवः' इस पद में सभङ्ग तथा अभङ्ग दोनों प्रकार का उभयात्मक श्लेष माना जाता है। इसी प्रकार 'येन ध्वस्तमनोभवेन' का पदच्छेद भी दोनों पक्षों में अलग-अलग होता है। शिव पक्ष में 'ध्वस्तः विनाशितः मनोभवः कामः येन' इस प्रकार का समास होकर 'ध्वस्त- मनोभवेन' यह एक पद बनता है। परन्तु विष्णुपक्ष में 'येन अभवेन अजन्मना अनः शकटं शकटासुरः ध्वस्तः' जिस अजन्मा ने शकट अर्थात् शकटासुर का नाश का किया इस प्रकार का पदच्छेद होता है। इसलिए यहां भी सभङ्गश्लेष है। परन्तु 'अन्धकक्षयकरः' इस पद का पदच्छेद दोनों जगह समान रहता है। अर्थ में भेद हो जाता है। शिवपक्ष में 'अन्धक' का अर्थ अन्धकासुर होता है। अन्धकासुर के मारने वाले शिव तुम्हारी रक्षा करें।

---

१. साहित्यदर्पण १०, ११।

और विष्णु-पक्ष में अन्धक का अर्थ यादव, और क्षय का अर्थ विनाश अथवा निवासस्थान, गृह, होता है। विष्णु या कृष्ण यादवों के विनाश करने वाले भी हैं और उनके निवास गृहों के बनाने, यादवों को बसाने वाले भी हैं। इस प्रकार 'अन्धकक्षयकरः' में पदों का अलग-अलग विच्छेद न होने से यह अभङ्ग श्लेष का उदाहरण है। इस प्रकार इस श्लोक में सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार का श्लेष पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त नवीन ग्रन्थों में शब्दश्लेष और अर्थश्लेष की भी विवेचना की गई है। कुछ लोग सभङ्ग श्लेष को शब्द श्लेष और अभङ्गश्लेष को अर्थ श्लेष मानते हैं। सभङ्गश्लेष में दो भिन्न प्रयत्न से उच्चार्य 'सर्वदा उमाधवः' और 'सर्वदः माधवः' इत्यादि भिन्न-भिन्न शब्दों का 'जतुकाष्ठन्याय' से श्लेष होता है। अर्थात् जैसे लकड़ी में जतु अर्थात् लाख चिपक जाती है इस प्रकार दो भिन्न शब्द मिलकर चिपक कर एक शब्द के रूप में 'सर्वदोमाधवः' इत्यादि रूप में एक शब्द से प्रतीत होने लगते हैं। इसलिए यहां 'सभङ्गश्लेष' स्थल में 'शब्द श्लेष' होता है। और अभङ्ग श्लेष के 'अन्धकक्षयकरः' इत्यादि स्थलों में 'एकवृन्तगतफलद्वय न्याय' से दो अर्थ एक शब्द में जुड़े हुए होते हैं। इसलिए 'अभङ्ग श्लेष' को अर्थ श्लेष कहना चाहिए। यह कुछ लोगों का मत है।

परन्तु साहित्यदर्पणकार सभङ्गता और अभङ्गता को शब्द और अर्थ-श्लेष का भेदक नहीं मानते हैं। उनका कहना यह कि शब्दालङ्कार अथवा अर्थालङ्कार का निर्णय सर्वत्र अन्वय-व्यतिरेक से होता है। जहां शब्द को बदल-कर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर अलङ्कार न रहे उस अलङ्कार का प्रयोजक वह शब्द विशेष ही है ऐसा मानना होगा। अतः वहां श्लेष शब्दा-लङ्कार होगा। और जहां शब्द का परिवर्तन करके उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर भी अलङ्कार की स्थिति में भेद न पड़े अर्थात् श्लेष अलङ्कार ज्यों का त्यों बना रहे, उस श्लेष को अर्थालङ्कार कहेंगे। प्रकृत श्लोक में 'अन्धकक्षयकरः' में यद्यपि अभङ्गश्लेष है परन्तु उसके 'अन्धक' पद को बदल कर यदि 'यादवक्षयकरः' पद रख दिया जाय तो फिर वहां दूसरे अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इसलिए यहां श्लेष की स्थिति 'अन्धक' पद के कारण ही है अतः यहां 'शब्दश्लेष' ही है। 'अर्थश्लेष' वहीं होगा जहाँ शब्दों का परिवर्तन कर देने पर भी श्लेष की हानि न होती हो। जैसे—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिः तुलाकोटेः खलस्य च ॥

यथा च गौणस्यार्थस्यालङ्कारत्वं तथा लाक्षणिकस्यापीति दर्शयितुमाह—

सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः । ४, ३, ८ ।

बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम् । तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरसाविति । यथा—

तुलाकोटि अर्थात् तराजू की डण्डी और खल अर्थात् दुष्ट पुरुष दोनों की वृत्ति एक सी है । दोनों जरा से तोला, माशा, रत्ती, में नीचे झुक जाते हैं और तनिक में ऊपर चढ़ जाते हैं । यहां 'उन्नतिमायाति' 'आयात्यधोगतिम्' इन दोनों के अर्थ तुलाकोटि और खल पक्ष में अलग होते हैं । तुलाकोटि पक्ष में डण्डी का ऊपर नीचे होना उन शब्दों से अभिप्रेत है और खल पक्ष में अनुकूलता-प्रतिकूलता उन शब्दों से अभिप्रेत है । इसलिए वह दोनों श्लिष्ट शब्द हैं । परन्तु उन शब्दों को बदल कर 'नीचैर्गच्छति' 'उपरि च गच्छति' या इसी के समानार्थक कोई अन्य शब्द रख दिए जावें तो भी वहां अलङ्कार की स्थिति में कोई भेद नहीं पड़ता है । अतएव वहां अर्थालङ्कार रूपश्लेषहोता है । इस प्रकार शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार रूप से भी श्लेष का भेद किया गया है ।

सूत्र की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने 'उपमानोपमेयस्य धर्मेषु गुण-क्रियाशब्दरूपेषु' लिखा है । इसका अर्थ यह हुआ कि गुण और क्रिया के साम्य के अतिरिक्त केवल शब्दसाम्य के आधार पर भी रूपक का प्रयोग होता है । शब्द-साम्य का उदाहरण—

सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुविम्बमिव ।

यह दिया गया है । यहां 'पुरं' उपमेय है और 'सुधाँशुविम्वं' उपमान है । इन दोनों का साम्य 'सकलकलम्' हैं । चन्द्रमा पक्ष में 'सकलकलम्' का अर्थ सम्पूर्ण कलाओं से युक्त यह है, और पुरम्' के पक्ष में उसका अर्थ 'कलकल सहित' शब्द सहित हैं' ॥ ७ ॥

जैसे [रूपक के मुखचन्द्र आदि उदाहरणों में मुख में चन्द्रत्व आदि रूप] गौण अर्थ का अलङ्कारत्व होता है उसी प्रकार लाक्षणिक अर्थ का भी [अलङ्कारत्व] हो सकता है, इस बात को दिखलाने के लिए कहते हैं—

सादृश्य से लक्षणा 'वक्रोक्ति' [कहलाती है] ।

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः ।
'वैपरीत्यात् क्रियायोगात्, लक्षणा पञ्चधा मता' ॥

'उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवञ्च निमिमील मुहूर्तात् ।'

अत्र नेत्रधर्मावुन्मीलननिमीलने सादृश्याद् विकाससङ्कोचौ लक्षयतः ।

'इह च निरन्तरनवमुकुलपुलकिता हरति माधवी हृदयम् ।
मदयति च केसराणां परिणतमधुगन्धि निःश्वसितम् ॥'

अत्र निःश्वसितमिति परिमलनिर्गमं लक्षयति ।

'संस्थानेन स्फुरतु सुभगः स्वार्चिषा चुम्बतु द्याम् ।'

'आलस्यमालिङ्गति गात्रमस्याः' ।

इत्यादि वचनों के अनुसार] लक्षणा के अनेक कारण होते हैं । उन [अनेक कारणों] में सादृश्य [नामक कारण] से [की गई] लक्षणा [ही] 'वक्रोक्ति' [नामक अलङ्कार] है । जैसे—

[प्रातःकाल के समय सूर्योदय होते ही] तनिक देर में तालाबों के कमल खिल गए और क्षण भर में कैरव बन्द हो गए ।

यहां नेत्र के धर्म उन्मीलन तथा निमीलन सादृश्य से [कमलों के] विकास तथा सङ्कोचन को लक्षणा से बोधित करते हैं । [अतएव सादृश्यमूलक लक्षणा होने से 'वक्रोक्ति' अलङ्कार है । इसी का दूसरा उदाहरण देते हैं]

यहां [उद्यान में] ऊपर से नीचे तक [निरन्तर] नवीन कलियों से [लदी हुई] पुलकित माधवी [लता दर्शकों के] हृदय को हरण कर रही है और केसर [वृक्षविशेष] का पके मधु की गन्ध से युक्त निश्वास मत्त सा कर देता है ।

यहां [इस उदाहरण में] निःश्वसित [मुख्य रूप से प्राणी का धर्म है परन्तु वह सादृश्यनिमित्तक लक्षणा से] सुगन्ध के निकलने को लक्षित करता है । [इसी प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण हो सकते हैं जिनमें सादृश्य से लक्षणा का आश्रय लिया जाता है । उनमें से पांच उदाहरण आगे देते हैं] ।

अपने संस्थान [आकार कलेवर] से सुन्दर रूप से प्रकाशित हो और अपनी कान्ति से आकाश का चुम्बन करे । [इसमें 'चुम्बन' पद सादृश्य लक्षणा से स्पर्श को लक्षित करता है] ।

आलस्य उसके शरीर का आलिङ्गन कर रहा है । [इसमें आलस्य का शरीर को आलिङ्गन करना लक्षणा से शरीर में आलस्य की व्याप्ति को सूचित करता है] ।

'परिम्लानच्छायामनुवदति दृष्टिः कमलिनीम् ।'
'प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।'
'ऊरुद्वन्द्वं तरुणकदलीकाण्डसब्रह्मचारि ।'

इत्येवमादिषु लक्षणार्थो निरूप्यत इति । लक्षणायाञ्च झटित्यर्थ-प्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षत इति ।

असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः । यथा—

'जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः ।'

अत्र 'छेदः' सामीप्याद् द्रव्यं लक्षयति । तस्यैव गौरत्वोपपत्तेः ॥ ८ ॥

[दुःखित नायिका की] दृष्टि मुरझाई हुई कमलिनी के समान है । [यहां 'अनुवदति' पद सादृश्य लक्षणा से कमलिनी के साथ समानता का सूचक है] ।

प्रातःकाल के समय में खिले हुए कमलों के सुगन्ध के साथ मैत्री के कारण कषाय [वायु चल रहा है । इसमें 'मैत्री' पद सादृश्य लक्षणा से संसर्ग को लक्षित करता है] ।

[नायिका की] दोनों जंघाएं तरुण कदली काण्ड की सहाध्यायिनी हैं । [यहां 'सब्रह्मचारि' पद लक्षणा से सादृश्य को लक्षित करता है] ।

इत्यादि [उदाहरणों] में [धर्म की प्रतीति के लिए] लक्षणा से अर्थ का कथन किया जाता है । लक्षणा के होने पर तुरन्त अर्थ की प्रतीति की क्षमता आ जाती है यही लक्षणा का रहस्य [लक्षणा अथवा वक्रोक्ति अलङ्कार मानने वाले] कहते हैं ।

असादृश्य [सादृश्य से भिन्न] निमित्तक लक्षणा 'वक्रोक्ति' नहीं कहलाती । जैसे—

पुराने [पके हुए] कमल की जड़ [भसीण्डे, मृणालदण्ड] के टुकड़े के समान [गौर] सफेद किरणों से ।

यहां 'छेद' [पद] सामीप्य [अर्थात् धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध] से [खण्डरूप] द्रव्य को लक्षित करता है । उस [खण्ड रूप द्रव्य] में ही गौरत्व सम्भव होने से [इसका अभिप्राय यह है कि 'छेद' शब्द मुख्य रूप से छेदन-क्रिया का बोधक है । परन्तु यहां वह छेदन-क्रिया का आधारभूत या कर्मभूत

जो टुकड़ा रूप द्रव्य है उसको सामीप्य अर्थात् धर्मधर्मिभावनिमित्तक लक्षणा रूप सम्बन्ध से लक्षित करता है। यहां सादृश्य-मूलक लक्षणा न होने से वक्रोक्ति अलङ्कार नहीं है]।

साहित्यदर्पणकार आदि ने वक्रोक्ति का लक्षण बिलकुल अन्य ही प्रकार से किया है। साहित्यदर्पण में लिखा है—

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा॥

अर्थात् वक्ता के द्वारा अन्य अर्थ में प्रयुक्त किए गए शब्दों का 'श्लेष' अथवा 'काकु' अर्थात् भिन्न प्रकार के बोलने के लहजे [भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।] के द्वारा अन्य अर्थ कल्पना कर लेना 'वक्रोक्ति' अलङ्कार कहलाता है। जैसे—

के यूयं, स्थल एव सम्प्रति वयं, प्रश्नो विशेषाश्रयः;
किं ब्रूते विहगः स वा फणिपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः।
वामा यूयमहो विडम्बरसिक कीदृक् स्मरो वर्तते;
येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्वेव योषिद्भ्रमः॥

इसमें प्रश्नकर्ता यह पूछता है कि 'के यूयं', आप कौन हैं? अर्थात् उसने परिचय के लिए स्वरूपविषयक प्रश्न किया है। परन्तु उत्तर देने वाला 'के' इस शब्द को जल वाचक 'कः' शब्द का रूप मान कर 'के यूयं' का अर्थ 'तुम जल में हो' यह अर्थ ले लेता है, और उसी के अनुसार उत्तर देता है कि नहीं हम तो जल में नहीं, 'स्थल एव सम्प्रति वयम्' इस समय तो हम स्थल पर ही हैं। इस पर पहिला प्रश्नकर्ता फिर कहता है कि 'प्रश्नो विशेषाश्रयः' हमारा प्रश्न आपके विशेष स्वरूप के विषय में आपके स्वरूप की जिज्ञासापरक है। उत्तर देने वाला फिर उस 'विशेष' शब्द का वक्ता के अर्थ से भिन्न 'विः' पक्षी अर्थात् 'गरुड़' अथवा 'शेष', 'शेषनाग' अर्थ ले लेता है और पूछता है कि इनमें से किस के विषय में प्रश्न कर रहे हैं।

इस प्रकार किसी वक्ता के अन्यार्थक शब्दों का उसके अभिप्राय से भिन्न अर्थ का ग्रहण कर लेना 'वक्रोक्ति' कहलाता है। यह वक्रोक्ति कहीं 'श्लेष' के कारण होती है और कहीं 'काकु' अर्थात् बोलने के लहजे से भी हो सकती है। इस प्रकार नवीन आचार्यों का 'वक्रोक्ति' अलङ्कार का लक्षण वामन के 'वक्रोक्ति' लक्षण से बिलकुल भिन्न है।

'वक्रोक्तिजीवितम्' के रचयिता 'राजानक कुन्तक' ने 'वक्रोक्ति' पद का

रूपकवक्रोक्तिभ्यामुत्प्रेक्षाया भेदं दर्शयितुमाह—

अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा । ४, ३, ९ ।

अतद्रूपस्यातत्स्वभावस्य, अन्यथाऽतत्स्वभावतया, अध्यवसान-मध्यवसायः । न पुनरध्यारोपो लक्षणा वा । अतिशयार्थमिति भ्रान्ति-ज्ञाननिवृत्त्यर्थम् ।

प्रयोग इन दोनों से बिलकुल भिन्न अर्थ में किया है । उनके मत से 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'—वक्रोक्ति ही काव्य का जीवितस्वरूप प्राणस्वरूप है । उनके यहां काव्य के चमत्कृतिकारक तत्व को ही वक्रोक्ति कहते हैं । इस प्रकार वक्रोक्ति शब्द के अनेक अर्थ साहित्यशास्त्र में पाए जाते हैं । उनमें से प्रकृत ग्रन्थकार 'वामन' सादृश्यनिमित्तक लक्षणा को ही वक्रोक्ति कहते हैं ॥ ८ ॥

रूपक और वक्रोक्ति से उत्प्रेक्षा [अलङ्कार] का भेद दिखाने के लिए [अगले सूत्र में उत्प्रेक्षा का लक्षण] कहते हैं—

जो वस्तु जैसी नहीं है उसका अतिशय [द्योतन] के लिए अन्यथा [अपने वास्तविक स्वरूप से भिन्न रूप में] सम्भावना करना उत्प्रेक्षा [अलङ्कार कहलाता] है ।

अतद्रूप अर्थात् [जो वस्तु] वैसी [कल्पित रूप सदृश] नहीं है उसको उसके [अपने वास्तविक] स्वभाव से भिन्न [कल्पित अथवा सम्भावित] रूप में अध्यवसान अर्थात् अध्यवसाय [सम्भावना 'उत्कटैककोटिकः संशयः सम्भावना' जिस में एक कोटि उत्कट अधिक सम्भावित हो ऐसे संशय को सम्भावना कहते हैं ।] न कि [रूपक के समान] अध्यारोप, अथवा [वक्रोक्ति के समान] लक्षणा [उत्प्रेक्षा अलङ्कार कहलाता है] अतिशयार्थ यह [पद] भ्रान्ति ज्ञान की निवृत्ति के लिए [सूत्र में रखा गया] है ।

किसी वस्तु का अतद्रूप में अर्थात् जैसी वह नहीं है उस रूप में अध्य-वसान निश्चय करना तो सामान्यतः 'भ्रम' कहलाता है जैसे अतद्रूप अरजतरूप शुक्ति में रजत की प्रतीति 'भ्रम' कहलाता है । 'उत्प्रेक्षा' में भी अतद्रूप में अध्य-वसान किया जाता है इसलिए वह भी 'भ्रम' रूप हुई । यह शङ्का हो सकती है । इसकी निवृत्ति के लिए सूत्रकार ने 'अतिशयार्थं' पद का प्रयोग किया है । अर्थात् जहां वक्ता वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ भी किसी प्रकार के अतिशय-द्योतन के लिए अतद्रूप में उसकी 'सम्भावना' 'उत्कटैककोटिक संशय' करता है

सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति। एनां चेवादिशब्दा द्योतयन्ति। यथा—

उसको 'उत्प्रेक्षा' कहते हैं। भ्रम स्थल में वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होकर उसकी अन्यथा प्रतीति होती है। सादृश्यलक्षणा, गौणी, अथवा सादृश्य के कारण अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग निश्चयात्मक रूप से होता है, सम्भावना रूप से नहीं। इसलिए वह भी उत्प्रेक्षा से भिन्न है। भ्रम-स्थल में रस्सी को देखकर उसमें सर्प की प्रतीति होती है और वह निश्चयात्मक प्रतीति होती है। 'सिंहो माणवकः' इत्यादि गौण व्यवहारों के स्थलों में भी माणवक अर्थात् बच्चे के लिए 'सिंह' शब्द का प्रयोग निश्चयात्मक रूप से ही होता है। भ्रम और गौण दोनों व्यवहारों में अन्य के लिए अन्य शब्द का निश्चयात्मक रूप से प्रयोग होता है। परन्तु उन दोनों में अन्तर यह है कि भ्रम स्थल में यथार्थ और अयथार्थ का भेद ज्ञात नहीं होता है। अज्ञानपूर्वक अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है। परन्तु गौण व्यवहार में दोनों का भेद ज्ञात होते हुए भी गुण-सादृश्य से अतिशयद्योतन के लिए ज्ञानपूर्वक अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह भ्रम और गौण व्यवहार का भेद हुआ। इसका विवेचन करते हुए श्री शङ्कराचार्य ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' के 'शारीरिक' भाष्य में लिखा है—

"यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ् मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः, क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः सम्पन्नः सिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ।"

गौणी तथा उत्प्रेक्षा दोनों में अतिशय के द्योतन के लिए अतत्स्वरूप वस्तु में उसके अपने यथार्थ स्वरूप से भिन्न रूप का व्यवहार किया जाता है। परन्तु उन दोनों में भेद यह है कि गौण व्यवहार में होने वाला प्रयोग निश्चयात्मक रूप का होता है। और उत्प्रेक्षा में निश्चयात्मक नहीं अपितु उत्कटैककोटि रूप सम्भावना मात्र अभिप्रेत होती है।

यह उत्प्रेक्षा [प्रकृत उपमेय की परात्मना अर्थात् उपमानात्मना सम्भावना] सादृश्य के कारण होती है इसलिए [सादृश्य के द्योतक] इवादि शब्द [उपमा के समान] इस [उत्प्रेक्षा] को [भी] द्योतित करते हैं। जैसे—

वामन से प्राचीन भामह, और नवीन विश्वनाथ ने 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार के लक्षण इस प्रकार किए हैं—

स वः पायादिन्दुर्नवविसलताकोटिकुटिलः
स्मरारेर्यो मूर्ध्नि ज्वलनकपिशे भाति निहितः ।
स्रवन्मन्दाकिन्याः प्रतिदिवससिक्तेन पयसा
कपालेनोन्मुक्तः स्फटिकधवलेनाङ्कुर इव ॥ ९ ॥

उत्प्रेक्षैवातिशयोक्तिरिति केचित्, तन्निरासार्थमाह—

सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्तिः । ४, ३, १० ।

सम्भाव्यस्य धर्मस्य तदुत्कर्षस्य च कल्पनाऽतिशयोक्तिः । यथा—

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥ १० ॥

नवीन [विसलता] मृणाल-दण्ड के अग्रभाग के समान टेढ़ा [वक्र], कामदेव के शत्रु [शिव] के, [तृतीय नेत्र की] अग्नि से पीत वर्ण हुए मस्तक पर स्थित, [शिव के मस्तक से] बहती हुई गङ्गा के जल से प्रतिदिन सींचे जाते हुए, कपाल से निकले हुए [स्फटिकवत् धवल] सङ्गमर्मर के समान सफेद अंकुर के समान चन्द्रमा तुम्हारी रक्षा करे ।

भामह ने उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार किया है—

[1]अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह ।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥

विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार किया है—

[2]भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ॥

इवादि शब्द जैसे उपमा के वाचक होते हैं इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के भी द्योतक होते हैं । जैसा कि दण्डी ने कहा है—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः ।
उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृशः ॥९॥

कुछ लोग कहते हैं कि उत्प्रेक्षा ही [का नाम] अतिशयोक्ति है । उन के खण्डन के लिए [अगले सूत्र में अतिशयोक्ति का लक्षण] कहते हैं—

सम्भाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति है ।

सम्भाव्य धर्म की और उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति [कहलाती] है । जैसे—

यदि [नीले] आकाश में अलग अलग आकाश गङ्गा के जल की

---

[1] भामह काव्यालङ्कार २. ९१ । [2] सा० द० १०. ४० ।

यथा वा—

मलयजरसविलिप्ततरतनुनवहारलताविभूषिताः
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥१०॥

[दो] धाराएं गिरें तो, मुक्ता-माला धारण किए हुए तमाल के समान नील वर्ण उसके वक्षःस्थल की उपमा उस [आकाश गङ्गा की दोनों ओर गिरती हुई दो धाराओं से युक्त नील आकाश] से दी जा सकती है ।

यहाँ सम्भाव्य धर्म के रूप में दोनों ओर आकाश गङ्गा की धाराओं से युक्त आकाश की कल्पना की गई है और उससे मुक्तामाला धारण किए हुए वक्षःस्थल का सम्भाव्य उत्कर्ष दिखलाया गया है । अर्थात् केवल उसी से उस वक्षःस्थल की उपमा हो सकती है अन्य किसी से नहीं । इस प्रकार के अतिशय का वर्णन करने से इसको अतिशयोक्ति कहा जाता है । इस उदाहरण में सम्भाव्य धर्म की कल्पना की गई थी । परन्तु उसका दूसरा उदाहरण इस प्रकार का हो सकता है जिसमें सम्भाव्य धर्म की नहीं अपितु केवल उसके उत्कर्ष की कल्पना की जाय । इस प्रकार का उदाहरण आगे देते हैं—

अथवा जैसे—

[मलयज] चन्दन के रस से शरीर का लेपन किये हुई [होने से शुभ्र वर्ण], नवीन मुक्ता-हार से विभूषित, अत्यन्त स्वच्छ हाथी दांत के दन्तपत्रों [आभूषण विशेष] से मुख को अलंकृत किये हुई और सुन्दर सफेद वस्त्र धारण किये हुई अभिसारिकाएं चन्द्रमा के, खिली हुई [शुभ्र] ज्योत्स्ना से पृथिवी को शुभ्र कर देने पर [उस शुभ्र चांदनी रात में अपने शुभ्र वेष के कारण] न दिखाई देती हुई अतएव निर्भय होकर अपने प्रिय के घर को जाती हैं ।

यहाँ चन्दनरस, हार-लता आदि से युक्त शुभ्र वेष में चांदनी से उसका उत्कर्ष कल्पित किया जाता है, जिसके कारण चांदनी रात में अभिसारिकाओं की अलग प्रतीति नहीं होती है ।

साहित्यदर्पणकार ने अतिशयोक्ति के पांच भेद किये हैं । उसके लक्षण और भेदों का निरूपण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है—

[1] सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ४६ ।

'विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः ।' उपमेय का निगरण अर्थात् अनुपादान अथवा तिरस्कार करके विषयी उपमान के साथ उसका अभेद प्रतिपादन करना 'अध्यवसाय' कहलाता है। उसके सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है। उसके पांच भेद इस प्रकार किये हैं—

[1] भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ।
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ॥

अर्थात् [वास्तविक] १. भेद में अभेद का और २. अभेद में भेद का, इसी प्रकार ३. असम्बन्ध में सम्बन्ध का और ४. सम्बन्ध में असम्बन्ध का वर्णन तथा ५. कार्य-कारण के क्रम में परिवर्तन अर्थात् कारण से पूर्व कार्य का वर्णन यह पाँच प्रकार की अतिशयोक्ति होती है।

भेद में अभेद वर्णन का उदाहरण—

कथमुपरि कलापिनः कलापो, विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।
कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥

इसमें किसी सुन्दरी के मुख का वर्णन करते हुए उपमेय भूत केशपाश, मस्तक, नेत्र, नासिका, और ओष्ठ का ग्रहण न करके उपमानों के साथ भेद होने पर भी अभेद दिखलाते हुए केशपाश को ही 'कलापिनः कलापः,' मस्तक को 'अष्टमीन्दुखण्ड', नेत्रों को 'कुवलययुगल', नासिका को 'तिल पुष्प' और अधर को 'प्रवाल' कह कर भेद में अभेद दिखलाते हुए अतिशयोक्ति की है।

इसी प्रकार अभेद में भेद का उदाहरण—

अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः ।
तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥

आदि दिये हैं। वामन का 'उभौ यदि व्योम्नि' वाला उदाहरण 'असम्बन्धे सम्बन्ध-रूपा' अतिशयोक्ति का उदाहरण कहा जा सकता है।

भामह ने अतिशयोक्ति को बहुत महत्व दिया है। उन्होंने लिखा है—

[2] निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥ ८१ ॥
स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः ।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥ ८२ ॥

---

[1] साहित्यदर्पण १०,४७ । [2] भामह काव्यालङ्कार २, ८१-८२ ।

सन्देहाद्विरोधोऽपि प्राप्तावसर इत्याह—

विरुद्धाभासत्वं विरोधः । ४, ३, १२ ।

अर्थस्य विरुद्धस्येवाभासत्वं विरुद्धाभासत्वं विरोधः । यथा—

पीतं पानमिदं त्वयाद्य दयिते मत्तं ममेदं मनः
पत्राली तव कुङ्कुमेन रचिता रक्ता वयं मानिनि ।

किमयं शशी न स दिवा विराजते, कुसुमायुधो न धनुरस्य कौसुमम् ।
इति विस्मयाद् विमृशतोऽपि मे मतिस्त्वयि वीक्षिते न लभतेऽर्थनिश्चयम् ॥

साहित्यदर्पणकार ने संशय के तीन भेद किये हैं १. एक शुद्ध संशय अर्थात् अन्त तक संशय ही बना रहे । २. दूसरा निश्चयगर्भ अर्थात् जिसके बीच-बीच में निश्चय होता जाय और ३. तीसरा निश्चयान्त अर्थात् जिसके अन्त में निश्चय हो । वामन का पूर्वोक्त उदाहरण शुद्ध संशय का उदाहरण कहा जा सकता है क्योंकि उसमें अन्त तक निश्चय की स्थिति नहीं आई है । भामह का पूर्वोक्त उदाहरण निश्चयगर्भ संशय का उदाहरण कहा जा सकता है क्योंकि उसके बीच-बीच में निश्चय होता जाता है । इन दो के अतिरिक्त तीसरा निश्चयान्त भेद भी होता है । साहित्यदर्पण में इनका निरूपण करते हुए लिखा है—

[1] सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ॥११॥

न्याय दर्शन में 'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मविमर्शः संशयः' इस प्रकार का संशय का लक्षण किया गया है । सन्देहालङ्कार में भी एक धर्मी में अनेक विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होने से संशय होता है । इसलिए संशय के साथ ही विरोध का संसर्ग होने से संशय के बाद विरोधालङ्कार का निरूपण करते हैं—

सन्देह [विरुद्धनानाधर्मविमर्शरूप होने] से विरोध का भी अवसर प्राप्त होता है इसलिए [अगले सूत्र में 'विरोधालङ्कार' का लक्षण] कहते हैं—

विरुद्ध [न होते हुए विरुद्ध] के समान प्रतीति को विरोध [अलङ्कार] कहते हैं ।

[विरुद्ध न होते हुए भी] विरुद्ध अर्थ सा प्रतीत होना विरुद्धाभासत्व या विरोध [अलंकार] है । जैसे—

हे प्रिये आज तुमने मदिरा का पान किया है और मेरा मन [तुमको देख

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ३६ ।

त्वं तुङ्गस्तनभारमन्थरगतिर्गात्रेषु मे वेपथुः,
त्वन्मध्ये तनुता ममाधृतिरहो मारस्य चित्रा गतिः ॥

यथा वा—

सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः,
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम् ।
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥ १२ ॥

कर] मत्त हो रहा है । हे मृगनयनि, कुंकुम से तुम्हारे [मुखादि के ऊपर] पत्राली [अलङ्कार विशेष] बनाई गई है परन्तु [उसको देखकर] हम रक्त [अनुरागयुक्त] हो रहे हैं । ऊँचे स्तनों के भार से तुम मन्थर गति वाली हो परन्तु [उसको देखकर सात्विक भाव रूप] कम्प मेरे शरीर में हो रहा है । तुम्हारी कमर पतली है [लेकिन उसको देखकर] मेरा धैर्य च्युत हुआ जा रहा है । अहो कामदेव की लीला बड़ी विचित्र है ।

अथवा जैसे—

वह बाला है लेकिन अप्रगल्भता [जो उस बाला में होनी चाहिए थी वह] हम में हो रही है । वह स्त्री है [परन्तु उसको देख कर] कातरता हमको हो रही है । वह ऊँचे और मोटे स्तनों को धारण करती है और हम खेदयुक्त हो रहे हैं । वह भारी नितम्बों से युक्त है परन्तु [उसके बदले] हम [उसको छोड़ कर] जाने में असमर्थ हो रहे हैं । अन्य [नायिका रूप] जन के दोषों से हम असमर्थ हो रहे हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

वामन के ये विरोधालङ्कार के उदाहरण आदि नवीन आचार्यों के उदाहरणों से बिल्कुल भिन्न हैं । साहित्यदर्पण में इनको विरोध के बजाय 'असङ्गति' अलङ्कार का उदाहरण माना है । वामन ने असङ्गति नाम का अलङ्कार अलग नहीं माना है । परन्तु नवीन आचार्यों ने 'असङ्गति' को विरोध से भिन्न एक स्वतन्त्र अलङ्कार मान कर उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

[१] कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।

अर्थात् कार्य और कारण की भिन्नदेशता में 'असङ्गति' अलङ्कार होता है । वामन ने विरोध अलङ्कार के जो दो उदाहरण दिए हैं उन दोनों में कार्य-कारण की भिन्नदेशता ही दिखलाई गई है । इसलिए नवीन मत में वह 'विरोध' के नहीं अपितु 'असङ्गति' अलङ्कार के उदाहरण हैं ।

विरोधाद् विभावनाया भेदं दर्शयितुमाह—

नवीन आचार्यों ने विरोध का लक्षण भी वामन की अपेक्षा भिन्न रूप से किया है और दस भेद करते हुए लिखा है—

[1]जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः।
विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः॥

जाति, गुण, क्रिया, तथा द्रव्य इन चारों का बोध शब्दों से होने के कारण महाभाष्यकार ने 'चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः' लिख कर चार प्रकार से शब्दों का विभाग किया है। इनका परस्पर विरोध आभासित होने पर विरोध या विरोधाभास अलङ्कार होता है। इन में जाति आदि चारों का, चारों के साथ विरोध हो सकता है इसलिए जाति गत विरोध के चार भेद हुए। इसी प्रकार गुणों का भी जाति आदि चारों के साथ विरोध हो सकता है। परन्तु जाति के साथ जो गुण का विरोध है उसकी गणना जाति सम्बन्धी विरोध के भेदों में हो चुकी है अतएव गुणगत विरोधों की गणना करते समय दुबारा उसको जोड़ना उचित नहीं है। इसलिए गुणगत विरोध के तीन भेद माने जाते हैं। इसी प्रकार क्रियागत विरोध के दो भेद और द्रव्यगत विरोध का केवल एक भेद होता है। इस प्रकार सब मिलकर विरोध के ४+३+२+१=१० भेद होते हैं। इनके उदाहरण निम्न प्रकार के दिये गए हैं—

[2]तव विरहे मलयमरुद् दावानलः शशिरुचोऽपि सोष्माणः।
हृदयमलिरुतमपि भिन्ते नलिनीदलमपि निदाघरविरस्याः॥
सततं मुसलासङ्गात् बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते।
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः॥
अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव॥१२॥

विरोधालङ्कार के निरूपण के बाद विभावना अलङ्कार का निरूपण करते हैं—

विरोध [अलङ्कार] से विभावना [अलङ्कार] का भेद दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में विभावना अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

---

[1],[2] साहित्यदर्पण १०, ६८।

क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्ध तत्फलव्यक्तिर्विभावना । ४, ३, १३ ।

क्रियायाः प्रतिषेधे तस्या एव क्रियायाः फलस्य प्रसिद्धस्य व्यक्ति-र्विभावना । यथा—

अप्यसज्जनसाङ्गत्ये न वसत्येव वैकृतम् ।
अक्षालितविशुद्धेषु हृदयेषु मनीषिणाम् ॥ १३ ॥

[कारण रूप] क्रिया का निषेध होने पर [उसके] प्रसिद्ध फल की उत्पत्ति [का वर्णन] विभावना [अलङ्कार कहलाता] है ।

[कारण रूप] क्रिया का निषेध होने पर उस ही क्रिया के प्रसिद्ध फल की अभिव्यक्ति [का वर्णन] विभावना [अलङ्कार कहलाता] है । जैसे—

असज्जनों की सङ्गति होने पर भी बुद्धिमान् पुरुषों के बिना धोये ही निर्मल हृदयों में विकार नहीं होता [रहता] है ।

भामह के विभावना के लक्षण तथा उदाहरण भी लगभग इसी प्रकार के हैं—

[1]क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ॥
अपीतमत्ताः शिखिनो दिशोऽनुत्कण्ठिताकुलाः ।
नीपोऽविलिप्तसुरभिरभ्रष्टकलुषं जलम् ॥

साहित्यदर्पणकार ने विभावना के उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता दो प्रकार के भेद करते हुए विभावना का लक्षण इस प्रकार किया है—

[2]विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ॥

वामन ने जो इस विभावना अलङ्कार का उदाहरण दिया है उसमें 'अक्षालितविशुद्धेषु' बिना धोए हुए भी स्वच्छ हृदयों में इस अंश में तो विभा-वना स्पष्ट है । परन्तु 'असज्जनों की सङ्गति होने पर भी विकृति नहीं होती ।' इस अंश में या तो 'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः' कारण रहने पर कार्य की उत्पत्ति न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार माना जायगा या फिर उसे भी

---

[1] भामह काव्यालङ्कार २, ७७-७८ ।
[2] साहित्यदर्पण १०, ६६ ।

विरुद्धप्रसङ्गेनानन्वयं दर्शयितुमाह—

एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः । ४, ३, १४ ।

एकस्यैवार्थस्योपमेयत्वमुपमानत्वं चाऽनन्वयः । यथा—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥ १५ ॥

क्रमेणोपमेयोपमा । ४, ३, १५ ।

यदि विभावना का ही उदाहरण मानना है तो उसकी सङ्गति इस प्रकार से लगानी होगी कि हृदय में विकार नहीं होता है यह कार्य है। इसका कारण असज्जनों की सङ्गति का न होना है। उस कारण का अभाव असज्जन-सङ्गति का होना है। इस प्रकार यहाँ कारणभूत असज्जन-सङ्गति के अभाव का निषेध अर्थात् असज्जन सङ्गति का भाव होने पर भी, उसके अभाव में विकार का अभाव रूप कार्य हो रहा है इसलिए यहाँ विभावना अलङ्कार माना जा सकता है। इस व्याख्या से एक बात यह सामने आती है कि साहित्यदर्पण-कार ने काव्यप्रकाश के काव्य लक्षण का खण्डन करते हुए 'यः कौमारहरः' इत्यादि उदाहरण में विभावना और विशेषोक्ति की अस्फुटालङ्कारता का जो खण्डन किया है वह उचित नहीं है ॥ १३ ॥

विरुद्ध [और उससे सम्बद्ध विभावना] के प्रसङ्ग से अनन्वय [अलङ्कार] को दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में अनन्वय अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

एक के [ही] उपमान और उपमेय [दोनों] होने पर 'अनन्वय' होता है।

एक ही पदार्थ के उपमेयत्व और उपमानत्व [के वर्णन] को अनन्वय [अलङ्कार कहते] हैं। जैसे [निम्न श्लोक में]—

आकाश आकाश के समान और सागर सागर के समान हैं। [उनकी कोई दूसरी उपमा नहीं हो सकती है। इसी प्रकार] राम और रावण का युद्ध राम और रावण के [युद्ध] के समान [ही] है। [इससे अन्य किसी के सदृश नहीं है यह असादृश्य प्रतिपादित होता है] ॥ १४ ॥

[आगे] क्रम से उपमेयोपमा का वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

क्रम से [एक ही अर्थ का उपमेयत्व और उपमानत्व वर्णित होने पर] 'उपमेयोपमा' [अलङ्कार होता] है।

एकस्यैवार्थस्योपमेयत्वमुपमानत्वं च क्रमेणोपमेयोपमा। यथा—

खमिव जलं जलमिव खं हंस इव शशी शशीव हंसोऽयम्।
कुमुदाकारास्तारा ताराकाराणि कुमुदानि ॥ १५ ॥

इयमेव परिवृत्तिरित्येके तन्निरासार्थमाह—

समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः। ४, ३, १६।

समेन विसदृशेन वार्थेन अर्थस्य परिवर्तनं परिवृत्तिः। यथा—

आदाय कर्णकिसलयमियमस्मै चरणमरुणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादन्योन्यमवञ्चितं मन्ये।

एक ही अर्थ का उपमेयत्व और उपमानत्व क्रम से [वर्णित] होने पर उपमेयोपमा अलङ्कार होता है। जैसे—

जल आकाश के समान [स्वच्छ] है और आकाश जल के समान [निर्मल] है। चन्द्रमा हंस के समान [शुभ्र] है और हंस चन्द्रमा के समान [धवल] है। ताराएं कुमुदों के समान और कुमुद ताराओं के [आकार] समान हैं।

अनन्वय में भी एक ही अर्थ का उपमान और उपमेय भाव होता है और उपमेयोपमा में भी। परन्तु उन दोनों का अन्तर यह है कि अनन्वय में 'गगनं गगनाकारं' आदि उदाहरणों में एक ही पदार्थ का एक ही साथ उपमान तथा उपमेय भाव होता है। परन्तु उपमेयोपमा में दोनों का उपमान उपमेय भाव एक साथ नहीं अपितु क्रम से होता है। 'खमिव जलं' में 'जल' उपमेय और 'ख' उपमान है पर दुबारा 'जलमिव खं' में 'जल' उपमान हो जाता है और 'आकाश' उपमेय हो जाता है ॥ १५ ॥

कुछ लोग इस [उपमेयोपमा] को ही परिवृत्ति [नाम से भी] कहते हैं। उनके खण्डन के लिए [अगले सूत्र में परिवृत्ति अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

समान अथवा असमान [वस्तुओं] से परिवर्तन को परिवृत्ति [अलङ्कार] कहते हैं।

समान अर्थ से अथवा असमान अर्थ से [अन्य] अर्थ के परिवर्तन को परिवृत्ति [अलङ्कार] कहते हैं। जैसे—

यह [नायिका] कान के [अरुण] किसलय को लेकर उसको अरुण चरण अर्पण करती है। [किसलय तथा चरण के] दोनों के सम विनिमय से

यथा वा—

[1]विहाय साहारमहार्यनिश्चया विलोलदृष्टिः प्रविलुप्तचन्दना ।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ १६ ॥

अथवा जैसे—

उस दृढ़ निश्चय वाली और चन्दन [आदि शृङ्गार या लेपन द्रव्य] से रहित चपलनयनी [पार्वती] ने [शिव प्राप्ति की तपस्या के लिए] भोजन छोड़ कर [निराहार व्रत करके] प्रातःकालीन सूर्य के समान अरुण वर्ण और स्तनों की उठान के कारण [वक्षः स्थल पर] जिसकी सन्धि खुली जा रही है इस प्रकार के वल्कल [वस्त्र] को धारण किया ।

इन दोनों उदाहरणों में से पहले उदाहरण में सम से विनिमय और दूसरे में विसदृश से विनिमय दिखलाया गया है । पहले श्लोक में चरण, किसलय के समान है इसलिए उन दोनों का साम्य होने से समविनिमय का उदाहरण है । नायिका ने कर्ण किसलय लेकर उसको चरण अर्पण किया किस प्रकार किया इसके उपपादन के लिए कामशास्त्र के 'प्रसारितक' नामक करण विशेष का निर्देश टीकाकार ने किया है । वात्स्यायन 'काम-सूत्र' में—

नायकस्यांसे एको द्वितीयः प्रसारित इति प्रसारितकम् ।

यह 'प्रसारितक' का लक्षण किया है । 'रति-रहस्य' में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

प्रियस्य वक्षोऽसंतलं शिरोधरां नयेत सव्यं चरणं नितम्बिनी ।
प्रसारयेद् वा परमायतं पुनर्विपर्ययः स्यादिति हि प्रसारितम् ॥

कामशास्त्र के इस 'प्रसारित' नामक करण के द्वारा चरण और कर्ण किसलय का विनिमय हो सकता है ।

दूसरे श्लोक में भोजन का परित्याग कर उसके बदले में वल्कल को धारण किया यह जो विनिमय दिखलाया गया है । उसमें वल्कल तथा भोजन में कोई साम्य नहीं है । इसलिए वह विसदृश विनिमय का उदाहरण है ।

भामह ने इस परिवृत्ति अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—

[2]विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥

---

[1] कुमारसम्भव ५, ८ में 'विहाय' के स्थान पर 'विमुच्य' पाठ है ।

[2] भामह काव्यालङ्कार ३, ३६ ।

उपमेयोपमायाः क्रमो भिन्न इति दर्शयितुमाह—

उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः । ४, ३, १७ ।

---

[1]प्रदाय वित्तमर्थिभ्यः स यशोधनमदितः ।
सतां विश्वजनीनानामिदमस्खलितं व्रतम् ।। ४० ।।

अर्थात् भामह के अनुसार परिवृत्ति अलङ्कार के साथ 'अर्थान्तरन्यास' भी अवश्य रहना चाहिए। इसी बात को बोधन करने के लिए उन्होंने परिवृत्ति के लक्षण में स्पष्ट रूप से 'अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिः' यह लिख दिया है। और उसका उदाहरण भी उसी प्रकार का दिया है। परन्तु वामन तथा उत्तरवर्ती आचार्यों ने परिवृत्ति के साथ 'अर्थान्तरन्यास' का होना आवश्यक नहीं माना है। साहित्यदर्पणकार ने परिवृत्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

[2]परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ।

अर्थात् परिवृत्ति या विनिमय सम, न्यून और अधिक तीनों के साथ हो सकता है। वामन ने जिस 'विसदृश' इस एक भेद के अन्तर्गत न्यून और अधिक दोनों का संग्रह कर लिया था, साहित्यदर्पणकार ने न केवल उसको न्यून और अधिक करके दो भागों में विभक्त कर दिया है। अपितु उस 'विसदृश' की जिसमें न्यून और आधिक्य की नहीं अपितु केवल भेद की ही प्रधानता थी न्यूनाधिकपरक व्याख्या करके कुछ नूतनता भी प्रदर्शित की है। तीनों प्रकार की परिवृत्ति के उदाहरण इस प्रकार दिए हैं—

दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम ।
मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः ।।

इसके प्रथम चरण में सम से और द्वितीय चरण में न्यून से विनिमय दिखलाया है।

तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ।
येन जर्जरकलेवरव्ययात् क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ।।

इसमें अधिक से विनिमय किया गया है।

[पूर्व कहे हुए] उपमेयोपमा [अलङ्कार] से 'क्रम' [यथासंख्य अलङ्कार] भिन्न है इस बात को दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में 'क्रम' जिसे अन्य लोग 'यथासंख्य' नाम से कहते हैं, का लक्षण] कहते हैं—

उपमान और उपमेयों का क्रम से सम्बन्ध [प्रदर्शित करना] 'क्रम' [नामक अलङ्कार होता] है।

---

[1] भामह काव्यालङ्कार ३, ४० । [2] साहित्यदर्पण १०, ८१ ।

उपमेयानामुपमानानां चोद्देशिनामनुद्देशिनां च क्रमसम्बन्धः क्रमः। यथा—

तस्याः प्रबन्धलीलाभिरालापस्मितदृष्टिभिः।
जीयन्ते वल्लकीकुन्दकुसुमेन्दीवरस्रजः॥ १७॥

पूर्व कहे हुए [उद्देशिनां] उपमेय और [अनुद्देशिनां] बाद में कहे गए [उपमानों] का जो क्रम से सम्बन्ध [करना] है वह 'क्रम' [नामक अलङ्कार] है। जैसे—

उसके आलाप, स्मित और दृष्टि रूप निरन्तर चलने वाली लीलाओं से, वीणा [वल्लकी], कुन्दकुसुम और नीलकमलों की मालाओं को जीत लिया गया है।

यहां प्रथम चरण में आलाप, स्मित और दृष्टि रूप तीन उपमेय कहे गए हैं। उत्तरार्द्ध में 'वल्लकी', 'कुन्दकुसुम' और 'इन्दीवरस्रजः' तीन उपमान कहे गए हैं। इन उपमेय और उपमानों में प्रथम उपमेय आलाप का प्रथम उपमान वल्लकी के साथ, द्वितीय उपमेय स्मित का द्वितीय उपमान कुन्दकुसुम के साथ और तृतीय उपमेय दृष्टि का तृतीय उपमान इन्दीवरस्रक् के साथ अन्वय होने से यहां 'क्रम' नामक अलङ्कार कहलाता है।

वामन ने इसको 'क्रम' नाम से कहा है। उनके पूर्ववर्ती भामह आदि और उत्तरवर्ती विश्वनाथ, मम्मट आदि ने उसको 'यथासंख्य' नाम से व्यवहृत किया है। भामह के भी पूर्ववर्ती कोई 'मेधावी' नामक आचार्य उत्प्रेक्षा के लिए 'संख्यान' नाम का व्यवहार करते थे। परन्तु भामह उनका खण्डन करके 'संख्यान' अथवा 'यथासंख्य' को उत्प्रेक्षा से भिन्न अलङ्कार बतलाते हुए लिखते हैं—

[1] यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्॥ ८८॥
भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते॥ ८९॥
पद्मेन्दुभृङ्गमातङ्गपुंस्कोकिलकलापिनः।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिवाणीबालैस्त्वया जिताः॥ ९०॥

साहित्यदर्पण में 'यथासंख्य' के लक्षण, उदाहरण इस प्रकार दिए हैं—

[2] यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।

---

[1] भामह काव्यालंकार २, ८८-९०। [2] साहित्यदर्पण १०, १९।

भूष्यन्ते प्रमदवनानि बालपुष्पैः, कामिन्यो मधुमदमांसलैर्विलासैः ।
ब्राह्मणाः श्रुतिगदितैः क्रियाकलापैः, राजानो[1] विदलितवैरिभिः प्रतापैः ॥

वाष्पः पथिककान्तानां जलं जलमुचां मुहुः ।
विगलत्यधुना दण्डयात्रोद्योगे महीभुजाम् ॥

क्रीडोद्यान [प्रमद वन] बाल-पुष्पों [नवीन पुष्पों] से, कामिनियां मदिरा के मद से प्रचुरता को प्राप्त हुए हाव-भावों से, ब्राह्मण लोग वेदविहित [यज्ञादि के] क्रिया कलापों से और राजा लोग शत्रुओं को नष्ट [विदलित] कर देने वाले प्रतापों से सुशोभित होते हैं ।

इस में 'प्रमदवनानि', 'कामिन्यः', 'ब्राह्मणाः' और 'राजानः' इन चारों में परस्पर उपमानोपमेय भाव है और उन सबके साथ सामान्य धर्म के रूप में 'भूष्यन्ते' इस क्रिया का सम्बन्ध होता है । इसलिए यह दीपक का उदाहरण है । और वह चारों वाक्यों में सम्बद्ध होने वाली एक क्रिया यहां आदि वाक्य में पाई जाती है इसलिए यह 'आदि दीपक' का उदाहरण हुआ । अगला उदाहरण 'मध्य दीपक' का देते हैं—

राजाओं की [दण्डयात्रा] विजय-यात्रा की तैयारी [उद्योग] के समय [शरद् ऋतु] में पथिकों [भागते हुए शत्रुओं] की स्त्रियों के आंसू, [मुहुः विगलति] बार-बार गिरते हैं । और मेघों का जल बार-बार नष्ट हो जाता है—[रुक जाता है] ।

विजय यात्रा वर्षा ऋतु के बाद, शरद् ऋतु में प्रारम्भ होती थी । वर्षाकाल में मेघों से जल बरसता है और वियोगियों की स्त्रियों की आंखों से आंसू टपका करते हैं । परन्तु उसकी समाप्ति हो जाने पर मेघों से जल और वियोगियों की आंखों से आंसुओं का बरसना बन्द हो गया है । यह कवि का अभिप्राय है । इसलिए 'विगलति' का अर्थ यहां प्रवाहित होना नहीं अपितु नष्ट होना करना चाहिए । [गलनं वाष्पजलयोः स्यन्दनं दण्डयात्रोद्योगे नाशः] अथवा बादलों से जल का गिरना बन्द हो जाता है परन्तु जिनको दण्ड देने के लिए यात्रा हो रही है डर के मारे भागते हुए उन शत्रुओं की स्त्रियों की आँखों से आंसू बहना जारी हो जाता है । यह अर्थ भी हो सकता है उस दशा में 'विगलति' का अर्थ एक जगह नष्ट होना और दूसरी जगह गिरना या जारी होना होगा ।

इस उदाहरण में दोनों वाक्यों में सम्बद्ध होने वाली 'विगलति' क्रिया

---

[1] **विरलित पाठ भी पाया जाता है ।**

गुरुशुश्रूषया विद्या मधुगोष्ठ्या मनोभवः।
उदयेन शशाङ्कस्य पयोधिरभिवर्धते ॥ १६ ॥

दोनों वाक्यों के आदि या अन्त में न होकर मध्य में आई है इसलिए यह 'मध्य दीपक' का उदाहरण है। अन्त-दीपक का तीसरा उदाहरण आगे देते हैं।

गुरुओं की सेवा से विद्या, मदिरा [पान की] गोष्ठी से कामदेव, और चन्द्रमा के उदय से समुद्र बढ़ता है।

इस में तीनों वाक्यों के साथ अन्वित होने वाली एक क्रिया 'अभिवर्धते' वाक्य के अन्त में प्रयुक्त हुई है। अतः यह अन्त दीपक का उदाहरण है।

भामह ने भी इसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त तीन प्रकार के दीपक-भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है—

[1]आदि मध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा ॥२५॥
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्।
त्रिभिर्निदर्शनैश्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा ॥२६॥
मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभंगुरम्।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ॥२७॥
मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलंकुरुते मधुः।
हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः ॥२८॥
चीरीमतीरण्यानीः सरितश्शुष्यदम्भसः।
प्रवासिनां च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति ॥२९॥

वामन ने 'उपमानोपमेययोरेका क्रिया दीपकम्' यह लक्षण किया है। इसके अनुसार उपमान-उपमेय वाक्यों में एक क्रिया के योग में 'दीपक' होता है। परन्तु साहित्यदर्पणकार आदि इस क्रिया-दीपक के अतिरिक्त कारक-दीपक भी मानते हैं। 'कारक-दीपक' का अभिप्राय यह है कि अनेक क्रियाओं में एक ही कारक का अन्वय हो। साहित्यदर्पण में 'दीपक' का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

[2]प्रस्तुत अप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥

अर्थात् एक प्रस्तुत और दूसरे अप्रस्तुत पदार्थों में यदि एक धर्म का

[1] भामह काव्यालङ्कार २, २५-२९।
[2] साहित्यदर्पण १०,४९।

दीपकवन्निदर्शनमपि संक्षिप्तमित्याह—

क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् । ४, ३, २० ।

क्रिययैव शुद्धया स्वस्यात्मनस्तदर्थस्य चान्वयस्य सम्बन्धस्य ख्यापनं संलुलितहेतुदृष्टान्तविभागदर्शनान्निदर्शनम् । यथा—

सम्बन्ध हो तो एक प्रकार का 'दीपक' होता है। इसको हम वामन के 'क्रियादीपक' के स्थान पर समझ सकते हैं। और यदि अनेक क्रियाओं में एक कारक हो तो दीपक का यह दूसरा भेद होगा जिसे हम 'कारक-दीपक' कह सकते हैं। प्रथम प्रकार के दीपक का उदाहरण जैसे—

बलावलेपादधुनाऽपि पूर्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥

दूसरे प्रकार के 'कारक दीपक' का उदाहरण निम्न दिया है—

दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे, भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा।
उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीयमायाति याति हसिति श्वसिति क्षणेन ॥

इस उदाहरण में उत्तिष्ठति, स्वपिति, आयाति, याति, हसति, श्वसिति आदि अनेक क्रियाओं में एक ही कर्ता 'सा' कारक रूप से अन्वित होता है इसलिए इसको कारक-दीपक का उदाहरण कहा जा सकता है। कुन्तक ने भामह के 'क्रिया दीपक' सिद्धान्त का बहुत विस्तार के साथ खण्डन करके 'वस्तु-दीपक' का सिद्धान्त माना है। 'वक्रोक्ति जीवितम्' पर हमारी व्याख्या देखो ॥१९॥

दीपक के समान 'निदर्शन' ['निदर्शना' अलंकार] भी [बात को] संक्षिप्त [करने के लिए] होता है इसलिए [अगले सूत्र में 'निदर्शना' का लक्षण] कहते हैं। [इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'दीपक' अलंकार में एक क्रिया अथवा एक कारक के द्वारा संक्षेप से कथन करने का ढंग अपनाया जाता है इसी प्रकार 'निदर्शना' में संक्षेप शैली का ही आश्रय लिया जाता है। इसलिए 'दीपक' के बाद 'निदर्शना' का निरूपण करते हैं]।

क्रिया के द्वारा ही अपना और अपने प्रयोजन के सम्बन्ध का बोधन करना निदर्शन [नामक अलंकार कहलाता] है।

[अन्य निरपेक्ष] शुद्ध क्रिया के द्वारा ही अपना और अपने प्रयोजन के सम्बन्ध का बोधन, हेतु तथा दृष्टान्त के विभाग के मिश्रित दिखाई देने से 'निदर्शना' [कहलाता] है। जैसे—

अत्युच्चपदाध्यासः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत् ।
आपाण्डु पतति पत्रं तरोरिदं बन्धनग्रन्थेः ॥

पततीति क्रिया, तस्याः स्वं पतनम् । तदर्थो 'अत्युच्चपदाध्यासः पतनाय' इति शंसनम् । तस्य ख्यापनं 'अर्थशालिनां शंसत्' इति ॥ २० ॥

अर्थशालियों [धनवानों] का, अति उच्च पद पर पहुँचना [अन्त में उनके] पतन के लिए ही होता है, यह बात बतलाता हुआ वृक्ष का यह पीला पत्ता [वृक्ष की डाली में अपने जुड़े होने के स्थान] बन्धनग्रन्थि से [टूट कर] गिर रहा है।

[यहां] पतति यह क्रिया है । इसका स्व [स्वरूप, अर्थात्] पतन है । उसका प्रयोजन 'अत्यन्त उच्च पद की प्राप्ति पतन के लिए होती है' यह जतलाना है । उसका ख्यापन [यहां] 'अर्थशालिनां शंसत्' इस [पद] से दिखलाया गया है ।

भामह ने निदर्शना का वर्णन इस प्रकार किया है—

[२]क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात् ।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना ॥
अयं मन्दद्युतिर्भस्वानस्तं प्रति यियासति ।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान् ॥

साहित्यदर्पणकार ने 'निदर्शना' का लक्षण इस प्रकार किया है—

[३]सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्नपि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥

अर्थात् इस लक्षण में 'बिम्बानुबिम्बत्व भाव' के ऊपर विशेष बल दिया गया है । इसके उदाहरण में निम्न श्लोक को भी दिया गया है—

[४]क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

इस प्रकार के उदाहरणों में वामन का निदंशना का लक्षण नहीं पहुँच सकेगा । उसमें पतन जैसी क्रिया के द्वारा उसके प्रयोजन की सूचना आदि नहीं हो रही है । अतएव मम्मट, विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों का 'निदर्शना' का लक्षण वामन के लक्षण से भिन्न और अधिक व्यापक है ॥२०॥

---

[१] पूर्व संस्करण में 'तपोरिदं' पाठ था ।

[२] भामह काव्यालंकार ३, ३३-३४ ।

[३] साहित्यदर्पण १०, ५१ ।

[४] रघुवंश १, २ ।

इदञ्च नार्थान्तरन्यासः। स ह्यन्यथाभूतः। तमाह—

उक्तसिद्ध्यै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः।
४, ३, २१।

उक्तसिद्ध्यै उक्तस्यार्थस्य सिद्ध्यर्थं वस्तुनो वाक्यार्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः। वस्तुग्रहणादर्थस्य हेतोर्न्यसनान्नार्थान्तरन्यासः। यथा—

इह नातिदूरगोचरमस्ति सरः कमलसौगन्ध्यात्। इति

अर्थान्तरस्यैवेति वचनं, यत्र हेतुर्व्याप्तिगूढत्वात् कथञ्चित् प्रतीयते तत्र यथा स्यात्। यद्यत् कृतकं तत्तदनित्यमित्येवंप्रायेषु मा भूदिति।

उदाहरणम्—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तनी।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां, वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि॥ २१॥

यह [निदर्शना, अथवा उसका जो ऊपर उदाहरण दिया है वह] अर्थान्तर न्यास [अलङ्कार] नहीं है। [क्योंकि] वह तो [निदर्शना से भिन्न] अन्य प्रकार का होता है। उस [अर्थान्तरन्यास के लक्षण] को कहते हैं—

[उक्त] कथित [अर्थ] की सिद्धि [समर्थन] के लिए दूसरे [वाक्यार्थ रूप] अर्थ को प्रस्तुत करना अर्थान्तरन्यास [अलङ्कार कहलाता] है।

उक्त [अर्थ] की सिद्धि अर्थात् कथित अर्थ की सिद्धि [समर्थन] के लिए वस्तु अर्थात् दूसरे वाक्यार्थ का उपन्यास करना अर्थान्तरन्यास [अलंकार कहलाता] है। वस्तु ग्रहण से [तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुमान वाक्य में] अर्थ [या प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए हेतु दिया जाता है उस प्रकार] के हेतु को उपस्थित करना 'अर्थान्तरन्यास' नहीं [कहलाता] है। जैसे—

'यहाँ से तालाब बहुत दूर नहीं है, कमलों की सुगन्ध [यहां] होने से।' [यहां पहिली बात को सिद्ध करने के लिए 'कमलसौगन्ध्यात्' यह हेतु दिया गया है। परन्तु यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार नहीं है]

अर्थान्तर का ही कथन [यह जो सूत्र में] कहा गया है [वह इसलिए कहा गया है कि] जहां व्याप्ति के गूढ़ होने से हेतुत्व की प्रतीति कथञ्चित् [कठिनाई से] हो [अनुमान के हेतु के समान स्पष्ट रूप न हो] वहां ही [यह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार] हो। [और] जो-जो कृतक [बनाया हुआ, जन्य] है वह-वह अनित्य है इस प्रकार के उदाहरणों में [अर्थान्तरन्यास अलङ्कार] न हो।

[अर्थान्तरन्यास अलंङ्कार का] उदाहरण—

सपत्नियों [विपक्ष] के सामने [स्वयं] गूंथकर वक्षःस्थल पर पहिनाई हुई माला को जल [में स्नान करने] से ख़राब हो जाने पर भी किसी [सुन्दरी विशेष] ने फेंका नहीं । गुण तो प्रेम में रहते हैं वस्तु में नहीं ।

यहां जल से ख़राब हुई माला को भी क्यों नहीं फेंका इस बात का उपपादन करने के लिए 'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि' यह बात कही गई है । इस कथन से पूर्व कथन का औचित्य सिद्ध हो जाता है । परन्तु वह 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' इत्यादि अनुमान वाक्य के समान नहीं अपितु कुछ विलक्षण सुन्दरता के साथ सिद्ध होता है ।

भामह ने अर्थान्तरन्यास का लक्षण इस प्रकार किया है—

[1]उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ।। ७१ ।।
परानीकानि भीमानि विवक्षोर्न तव व्यथा ।
साधु वासाधु वागपि पुंसामात्मैव शंसति ।। ७२ ।।
हि शब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये ।
अयमर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यज्यते यथा ।। ७३ ।।
वहन्ति गिरयो मेघानभ्युपेतान् गुरूनपि ।
गरीयानेव हि गुरून् बिभर्ति प्रणयागतान् ।। ७४ ।।

नवीन आचार्यों ने अर्थान्तरन्यास का जो लक्षण किया है वह वामन और भामह दोनों के लक्षणों से अधिक स्पष्ट और सरल है । उन्होंने लक्षणभेद के साथ ही अर्थान्तरन्यास के आठ भेद भी किये हैं । साहित्यदर्पण में अर्थान्तरन्यास अलंकार का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

[2]सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।।

वामन का जो उदाहरण है वह साहित्यदर्पण के लक्षण के अनुसार सामान्य से विशेष के समर्थन का उदाहरण हो सकता है । क्योंकि उसमें 'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि' इस सामान्य नियम से 'स्रजं न काचिद् विजहौ जलाविलाम्' इस विशेष का समर्थन किया है । इसी प्रकार भामह के

[1] **भामह काव्यालंकार ३, ७१-७४ ।**
[2] **साहित्यदर्पण १०, ६१ ।**

अर्थान्तरन्यासस्य हेतुरूपत्वाद्, हेतोश्चान्वयव्यतिरेकात्मकत्वान्न पृथग् व्यतिरेक इति केचित्, तन्निरासार्थमाह—

उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः । ४, ३, २२ ।

उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद्, अर्थादुपमानात् स व्यतिरेकः । यथा—

सत्यं हरिणशावाक्ष्याः प्रसन्नसुभगं मुखम् ।
समानं शशिनः किन्तु स कलङ्कविडम्बितः ॥

दिये हुए दोनों उदाहरण भी इसी सामान्य से विशेष के समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास के उदाहरण हो सकते हैं । परन्तु साहित्यदर्पणकार ने अर्थान्तरन्यास के आठ भेद दिखाये हैं । उनमें से एक दो उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

सामान्य का विशेष से समर्थन का उदाहरण—

[1] बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥

कारण से कार्य के समर्थन का उदाहरण—

[2] पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां,
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत् त्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥ २४ ॥

'अर्थान्तरन्यास' के हेतु रूप होने से और हेतु के अन्वय-व्यतिरेकात्मक होने से व्यतिरेक [अलङ्कार, अर्थान्तरन्यास अलङ्कार से] पृथक् नहीं है ऐसा कुछ लोग मानते हैं । उनका खण्डन करने के लिए [अगले सूत्र में व्यतिरेक अलंकार का लक्षण] कहते हैं—

[उपमान की अपेक्षा] उपमेय के गुणों का आधिक्य [गुणातिरेकित्व] व्यतिरेक [अलंङ्कार कहा जाता] है ।

[उपमान की अपेक्षा] उपमेय का जो गुणातिरेकित्व अर्थात् गुणाधिक्य उपमान से वह 'व्यतिरेक' [अलंकार कहलाता] है । जैसे—

मृगनयनी [नायिका] का प्रसन्न और सुन्दर मुख चन्द्रमा के समान है

---

[1] शिशुपालवध २, ।

[2] बालरामायण १, ।

कश्चित्तु गम्यमानगुणो व्यतिरेकः । यथा—

कुवलयवनं प्रत्याख्यातं नवं मधु निन्दितम्,
हसितममृतं भग्नं स्वादोः पदं रससम्पदः ।
विषमुपहितं चिन्ताव्याजान्मनस्यपि कामिनां
चतुरललितैर्लीलातन्त्रैस्तवार्धविलोकितैः ।। २२ ।।

यह [कहना] सत्य है, परन्तु वह [चन्द्रमा] कलंक से युक्त है [परन्तु मुख कलङ्करहित होने से उससे उत्कृष्ट है] ।

यहां उपमानभूत चन्द्र में कलङ्क है परन्तु उपमेयभूत मुख कलङ्करहित होने से उस कलंकी चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक अच्छा है । इस प्रकार उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणाधिक्य होने से यहां व्यतिरेकालङ्कार है ।

कहीं गम्यमान गुण वाला व्यतिरेक होता है । [अर्थात् जिस गुण का आधिक्य हो वह शब्द से उपात्त नहीं होता है अपितु केवल गम्यमान होता है] जैसे—

चतुर और सुन्दर हावभाव युक्त तुम्हारे कटाक्षों ने नीलकमलों को तिरस्कृत कर दिया, नवीन [अनास्वादित] मधु को भी निन्दित कर दिया, अमृत का उपहास किया, सुस्वादु रससम्पत्ति का पद भी भग्न कर दिया और चिन्ता के बहाने से कामियों के मन में विष का आधान कर दिया है ।

यह गम्यमान गुण का उदाहरण है । गुणातिरेकित्व में गुण शब्द धर्म-मात्र का बोधक है । वह धर्म भी वाच्य तथा गम्य दो प्रकार का होता है । और उनमें से प्रत्येक उपमानगत होकर उसके अपकर्ष का हेतु अथवा उपमेय-गत होकर उसके उत्कर्ष का बोधक होता है । जब उपमानगत अपकर्षहेतु धर्म होता है तब उससे उपमान का अपकर्ष होने से उपमेय का उत्कर्ष सूचित होता है । वह 'आर्थ' अथवा गम्यमान उत्कर्ष कहलाता है । और जब स्वयं उपमेय-निष्ठ धर्म उसके उत्कर्ष का कारण होता है तब वह गुणातिरेकित्व वाच्य अथवा शाब्द कहलाता है । उनमें से प्रथम उदाहरण उपमान अर्थात् चन्द्रगत कलङ्कित्व धर्म से उपमेय मुख के गुणातिरेकित्व का द्योतक होने से और उसके शब्दतः उपात्त होने से उपमानगत वाच्यगुण प्रयुक्त व्यतिरेक का उदाहरण है । दूसरा उदाहरण उपमानगत गम्यमान गुण प्रयुक्त व्यतिरेक का है । कुवलयवन, मधु, आदि उपमानों के प्रत्याख्यान 'निन्दा' आदि से अवगम्यमान 'चतुरललित-लीलातंत्रत्व राहित्य' रूप अपकर्ष हेतु से कटाक्ष में 'चतुरलतितलीलातंत्रत्व' जो वस्तुतः शाब्द है परन्तु इस ढंग से कहने से अधिक उत्कर्ष से स्थित होता

है। इसलिए इसको गम्यमान गुण प्रयुक्त व्यतिरेक का उदाहरण दिया गया है।

भामह ने व्यतिरेक अलङ्कार का निरूपण इस प्रकार किया है—

[१] उपमानवतोऽर्थस्य यद् विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद् यथा ॥
सितासिते पक्ष्मवती नेत्रे ते ताम्रराजिनी।
एकान्तशुभ्रश्यामे तु पुण्डरीकासितोत्पले ॥

भामह और वामन दोनों ने केवल एक, उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणातिरेक गुणाधिक्य में ही व्यतिरेकालङ्कार माना है। परन्तु मम्मट, विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने उपमेय के आधिक्य और न्यूनता दोनों में, व्यतिरेकालङ्कार माना है। विश्वनाथ ने उसके ४८ भेद भी प्रतिपादन किए हैं।

[२] आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा।
व्यतिरेकः, एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा ॥ ५२ ॥
चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः।
आक्षेपाच्च द्वादशधा, श्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा ॥ ५३ ॥
प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाऽष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः ॥ ५४ ॥

उपमेय के उपमान से आधिक्य का हेतु उपमेयगत उत्कर्षकारण अथवा उपमानगत अपकर्षकारण हो सकता है इन दोनों के उक्त होने पर उक्तहेतुक एक प्रकार का भेद हुआ। हेतु के अनुक्त होने की स्थिति में उपमेयगत उत्कर्ष कारण की अनुक्ति, २. उपमानगत अपकर्ष कारण की अनुक्ति, और ३. इन दोनों की समुच्चित अनुक्ति, इस प्रकार तीन भेद हो जाते हैं। यह तीन और एक पहिला भेद मिल कर चार हुए। इन चारों भेदों में साम्य कहीं शाब्द, कहीं आर्थ और कहीं आक्षेप से सिद्ध होने के कारण चार तियां बारह—यह बारह भेद हो गए। इनके भी श्लेष और विना श्लेष होने से २४ भेद हुए। २४ प्रकार के भेद उपमेय के आधिक्य में, इसी प्रकार के २४ भेद उपमेय की न्यूनता में कुल मिल कर ४८ होते हैं॥ २२ ॥

व्यतिरेकाद् विशेषोक्तेर्भेदं दर्शयितुमाह—

एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः । ४,३,२३ ।

एकस्य गुणस्य हानेः कल्पनायां शेषैर्गुणैस्साम्यं यत् तस्य दार्ढ्यं विशेषोक्तिः । रूपकं चेदं प्रायेण । यथा—

'भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः' ।

'द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्' ।

'निद्रेयमकमला लक्ष्मीः' ।

'हस्ती हि जङ्गमं दुर्गम्' इति ।

अत्रापि जङ्गमशब्दस्य स्थावरत्वनिवृत्तिप्रतिपादनत्वादेकगुणहानिकल्पनैव ।

व्यतिरेक से विशेषोक्ति का भेद दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में विशेषोक्ति का लक्षण] कहते हैं—

एक गुण की न्यूनता की कल्पना करने पर जो साम्य की पुष्टि [की जाय] वह विशेषोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है ।

एक गुण की हानि [न्यूनता] की कल्पना करने पर शेष गुणों से जो साम्य है उस की दृढ़ता में विशेषोक्ति [अलङ्कार होता] है । और यह प्रायः रूपक [तुल्य] होता है । जैसे—

जहां [हिमालय पर्वत पर] रात्रि के समय औषधियां ही [स्वयं प्रकाशमान होने से] बिना तेल के सुरत [काल में] दीपक [का काम करने वाली] होती हैं ।

यह कुमारसम्भव का श्लोक है । औषधियों के प्रकाशमान होने से उनकी उपमा दीपक से दी जा सकती है । उसमें भेद करने के लिए 'अतैलपूराः' विशेषण दिया है । इससे एक गुण की न्यूनता प्रतीत होती है । औषधियां दीपक तो हैं परन्तु बिना तेल का दीपक हैं । इस एक गुण की हानि से औषधियों के दीपक के साथ साम्य की दृढ़ता होती है । इसलिए यह विशेषोक्ति अलङ्कार है । और औषधियों को सुरतप्रदीप रूप कहने से उसमें रूपक सादृश्य भी है । इसलिए उसको 'प्रायेण' रूपक कहा है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी देते हैं—

जुआ [द्यूत क्रीड़ा] बिना सिंहासन का राज्य है ।

यह निद्रा बिना कमल के [रहने वाली] लक्ष्मी है ।

हाथी चलता-फिरता क़िला है ।

एतेन—'वैश्या हि नाम मूर्तिमत्येव निकृतिः'। 'व्यसनं हि नाम सोच्छ्वासं मरणम्।' 'द्विजो भूमिबृहस्पतिः' इत्येवमादिष्वेकगुणहानि-कल्पना व्याख्याता ॥ २३ ॥

यहां ['हस्ती हि जङ्गमो दुर्गम्' इस उदाहरण में] जङ्गम शब्द के स्थावरत्व के अभाव का बोधक होने से एक गुण की हानि की कल्पना है ही।

इस [उपर्युक्त उदाहरणों की व्याख्या] से—वेश्या मूर्तिमती तिरस्कृति [अपमान स्वरूप] है। [व्यसनं] दुःख जीवित रहते [सोच्छ्वास] मरण है। ब्राह्मण पृथिवी का बृहस्पति है। इत्यादि [उदाहरणों] में [भी] एक गुण हानि की कल्पना की व्याख्या हो गई।

भामह ने विशेषोक्ति का निरूपण इस प्रकार किया है।—

[1]एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ॥२३॥
स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥ २४ ॥

विश्वनाथ मम्मट आदि ने, कारण होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होने पर विशेषोक्ति अलंकार माना है। और उसको उक्तनिमित्ता तथा अनुक्त-निमित्ता दो प्रकार का बतलाया है।

[2]सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।

अचिन्त्यनिमित्ता भी एक भेद और हो सकता है परन्तु उसको अनुक्तनिमित्ता का ही रूप मान कर साहित्यदर्पणकार ने यह तीसरा भेद अलग नहीं किया है। इस अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण भामह का 'एकस्त्रीणि जयन्ति जगन्ति कुसुमायुधः' यह श्लोक ही दिया है। उक्त-निमित्ता का उदाहरण निम्न दिया है—

धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥

यहां धनिक होने पर भी निरुन्माद होने, यौवन होने पर भी चञ्चल न होने और प्रभु होने पर भी अप्रमत्त होने का कारण चतुर्थ चरण में 'महा-महिमशालिनः' कह कर दिया है ॥२३॥

व्यतिरेकविशेषोक्तिभ्यां व्याजस्तुतिं भिन्नां दर्शयितुमाह—

सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः । ४, ३, २४ ।

अत्यन्तगुणाधिको विशिष्टः । तस्य च कम विशिष्टकर्म । तस्य सम्भाव्यमानस्य कर्तुं शक्यस्याकरणान्निन्दा विशिष्टसाम्यसम्पादनेन स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः । यथा—

वबन्ध सेतुं गिरिचक्रवालैर्बिभेद सप्तैकशरेण तालान् ।
एवंविधं कर्म ततान रामस्त्वया कृतं तन्न मुधैव गर्वः ॥ २४ ॥

व्यतिरेक और विशेषोक्ति से व्याजस्तुति को अलग दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में उसका लक्षण] कहते हैं—

कर सकने योग्य [सम्भाव्य] विशिष्ट [पुरुष के] कर्म के न करने से [वस्तुतः] स्तुति के लिए जो निन्दा करना है वह व्याजस्तुति [अलङ्कार कहलाता] है।

गुणों में [उपमेय की अपेक्षा] अत्यन्त अधिक [पुरुष] विशिष्ट [पुरुष] कहलाता है। उसका कर्म विशिष्ट कर्म [यह षष्ठी तत्पुरुष समास] हुआ। उस सम्भाव्य अर्थात् कर सकने योग्य [कर्म] के न करने से [जो] निन्दा [उस] विशिष्ट के साथ साम्य सम्पादन द्वारा [उपमेय की वास्तविक] स्तुति के लिए [की जाय] वह व्याजस्तुति [अलंकार कहलाता] है। जैसे—

[रामचन्द्र ने] पर्वतों [के पत्थरों] के समूह से [समुद्र का] पुल बांधा, एक बाण से सात ताल वृक्षों का भेदन किया। इस प्रकार के [आश्चर्य जनक] कर्म रामचन्द्र ने किए थे। तुमने उनमें से एक भी नहीं किया फिर व्यर्थ ही गर्व क्यों करते हो।

यहां रामचन्द्र के किए हुए विशिष्ट कर्मों के न करने से राजा की ऊपरी तौर से निन्दा की गई है। परन्तु उससे राजा का राम के साथ सादृश्य अभीष्ट है इसलिए यहां निन्दा के स्तुतिपरक होने से 'व्याज स्तुति' है।

भामह ने इस 'व्याज स्तुति' अलङ्कार का निरूपण इस प्रकार किया है—

[1]दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम् ।
किञ्चिद् विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा ॥

---

[1] भामह काव्यालंकार ३, ३१ ।

व्याजस्तुतेर्व्याजोक्तिं भिन्नां दर्शयितुमाह—

व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः । ४, ३, २५ ।

व्याजस्य छद्मना सत्येन सारूप्यं व्याजोक्तिः । यां मायोक्तिरित्याहुः । यथा—

---

[1]रामः सप्ताभिनत् तालान् गिरिं क्रौञ्चं भृगूत्तमः ।
शतांशेनापि भवता किं तयोः सदृशं कृतम् ॥

भामह तथा वामन दोनों ने केवल स्तुति के लिए की जाने वाली निन्दा को 'व्याजस्तुति' कहा है । परन्तु मम्मट विश्वनाथ आदि आचार्यों ने निन्दा के लिए की जाने वाली स्तुति को भी 'व्याजस्तुति' कहा है । साहित्यदर्पण में 'व्याजस्तुति' का निरूपण इस प्रकार किया है—

[2]उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ॥

स्तुति से गम्यमान निन्दा का उदाहरण निम्न श्लोक दिया है—

व्याजस्तुतिस्तव पयोद मयोदितेयं
यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।
स्तोत्रं तु ते महदिदं घन धर्मराज-
साहाय्यमर्जयसि यत् पथिकान्निहत्य ॥

यहां मेघ की वास्तविक स्तुति यह बतलाई गई है कि वह वियोगियों को मार कर धर्मराज-यम-का सहायक होता है । यह देखने में भले ही स्तुति हो परन्तु वह वस्तुतः उसकी 'निन्दा' ही है । इसलिए यह 'व्याजस्तुति' कही गई है ॥२४॥

व्याजस्तुति से व्याजोक्ति भिन्न [अलङ्कार] है [उसको दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में व्याजोक्ति का लक्षण] कहते हैं—

व्याज [बहाने से कही हुई बात] का सत्य के साथ सारूप्य [प्रदर्शित करना] व्याजोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है ।

असत्य [व्याज] के बहाने से सत्य का सादृश्य [प्रतिपादन करना] व्याजोक्ति [अलंकार कहलाता] है । जिसको अन्य लोग 'मायोक्ति' कहते हैं । [उसका उदाहरण] जैसे—

शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि ।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम् ॥ २५ ॥

व्याजस्तुतेः पृथक् तुल्ययोगितेत्याह—

शरच्चन्द्र की किरणों के समान शुभ्र, वायु से लाए गए, काशपुष्प के तिनके ने [आंख में पड़ कर] यह मुख अश्रुपातयुक्त कर दिया ।

यहां सात्विक भाव से होने वाले अश्रुपात को काशपुष्प के तिनके के आंख में पड़ जाने से होने वाला अश्रुपात कह कर सत्य को छिपाने का यत्न किया गया है । इसलिए यहां व्याजोक्ति अलंकार है । नवीन आचार्यों ने जो छिपाने योग्य बात किसी प्रकार दूसरे पर प्रकट हो जाय उसको किसी बहाने से छिपाने के प्रयत्न को व्याजोक्ति अलंकार कहा है । विश्वनाथ ने उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

[1]व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।

जैसे—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस—
द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् वः शिवः ॥

यहां शिव और पार्वती के विवाह के अवसर पर कन्यादान करने के समय, पार्वती के हाथ का शिव के हाथ से स्पर्श होने से उनके भीतर कम्प आदि सात्विक भावों के उदय होने के कारण जब विधि में गड़-बड़ होने लगी तो अपने सात्विक भाव जन्य कम्पादि को छिपाने के लिए शिव जी पर्वतराज के हाथों की शीतलता का आश्रय लेते हैं । 'आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोः' कह कर उस सात्विक भाव रूप यथार्थ कम्प को छिपाने का प्रयत्न किया गया है । इसलिए यहां व्याजोक्ति अलङ्कार है । वामन के लक्षण का भी अभिप्राय यही है । पर वह उतना स्पष्ट नहीं हुआ है ॥ २५ ॥

व्याजस्तुति से तुल्ययोगिता [अलङ्कार] पृथक् है यह [दिखलाने के लिए अगले सूत्र में तुल्ययोगिता का लक्षण] कहते हैं—

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ९२ ।

विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता ।
४, ३, २६ ।

विशिष्टेन न्यूनस्य साम्यार्थमेककालायां क्रियायां योगस्तुल्ययोगिता । यथा—

जलधिरशनामिमां धरित्रीं वहति भुजङ्गविभुर्भवद्भुजश्च ॥१६॥

विशिष्ट [अधिक गुण वाले उपमान] के साथ [न्यून गुण वाले उपमेय के] साम्य [प्रतिपादन] के लिए [उन दोनों का] एक काल [एक साथ] होने वाली क्रिया के साथ योग [सम्बन्ध प्रदर्शित करना] तुल्ययोगिता [नामक अलङ्कार कहलाता] है ।

विशिष्ट [अधिक गुण वाले उपमान] के साथ न्यून गुण [वाले उपमेय] के साम्य के [प्रतिपादन] के लिए [उन दोनों का] एक काल में होने वाली क्रिया में योग [तुल्यकालीन क्रिया में योग होने के कारण] 'तुल्य योगिता' अलङ्कार [कहलाता] है । जैसे—

समुद्ररूप रशना को धारण किए हुई [चारों ओर समुद्र से घिरी हुई] इस पृथिवी को सर्पराज [शेषनाग] और आपकी भुजा [यह दोनों] धारण करते हैं ।

यहां तुम्हारी भुजा शेपनाग के समान है इस प्रकार विशिष्ट अर्थात् अधिक गुण वाले उपमानभूत शेषनाग के साथ साम्य दिखलाने के लिए भूमि के धारण करने रूप तुल्य क्रिया, एककालीन क्रिया के साथ उन दोनों का योग किया गया है । 'धरित्रीं वहति भुजंगविभुर्भवद्भुजश्च ।' इस प्रकार उपमानभूत शेषनाग और उपमेय भूत भुजा के साथ एक तुल्य धर्म का योग होने से यहां तुल्ययोगिता अलंकार है ।

भामह ने तुल्ययोगिता अलंकार का जो निरूपण किया है । उसके अनुसार तुल्ययोगिता के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार होंगे—

[१] न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥
शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः ।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं विभृथ क्षितिम् ॥

उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः । ४, ३, २७ ।

उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः उपमानाक्षेपः। तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्य-विवक्षायाम् यथा—

तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना,
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च ते किं नाम नीलोत्पलैः।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे,
हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः ॥

। मम्मट, विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने अपने लक्षणों में विशेष बात यह कही है कि जिन पदार्थों में एक धर्म का सम्वन्ध वर्णन किया जाय वह सब या तो प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्य हों अथवा सब अप्रस्तुत हों। यदि उनमें से कोई पदार्थ प्रस्तुत तथा कोई अप्रस्तुत होगा तो वहां 'तुल्ययोगिता' नहीं अपितु 'दीपक' अलङ्कार होगा। साहित्यदर्पण में लिखा है—

[1] पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात् तदा तुल्ययोगिता ॥

प्रस्तुत पदार्थों के एक धर्माभिसम्बन्धरूप तुल्ययोगिता का उदाहरण—

अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः।
समयेन तेन सुचिरं शयितप्रतिबोधितस्मरमबोधिषत ॥

इसमें सन्ध्या काल का वर्णन है अतएव अनुलेप, कुसुम, अबला, दीपदशा यह सब ही वर्ण्य प्रस्तुत हैं। उन सब में प्रबोधन रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार हुआ। अप्रस्तुत पदार्थों के एक धर्माभिसम्वन्ध-रूप तुल्ययोगिता का उदाहरण—

तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥

यहां मालती आदि सभी अप्रस्तुत पदार्थों में कठोरता रूप एकधर्माभि-सम्वन्ध होने से तुल्ययोगितालङ्कार है ॥ २६ ॥

उपमान का आक्षेप [प्रतिषेध] आक्षेप [अलंकार] है।

उपमान का आक्षेप अर्थात् प्रतिषेध उपमानाक्षेप [कहलाता] है। तुल्य कार्य वाले अर्थ की निरर्थकता की विवक्षा होने पर [यह आक्षेप अलङ्कार होता है]। जैसे—

---

[1] **साहित्यदर्पण १०, ४८।**

उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः ।

यथा—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकञ्चकार ॥

अत्र शरद् वेश्येव, इन्दुं नायकमिव, रवेः प्रतिनायकस्येव इत्युपमानानि गम्यन्ते इति ॥ २७ ॥

यदि उस [नायिका] का सौम्य और सुन्दर मुख विद्यमान है तो फिर [उसी के समान कार्य करने वाले] पूर्णिमा के चन्द्रमा से क्या लाभ। और यदि सौन्दर्य के निधानभूत [उस नायिका के] नेत्र विद्यमान हैं तो [उसी के समान] नील कमलों से क्या लाभ। और वहां [उस मुख में] यदि अधर विद्यमान हैं तो फिर [उसके सदृश ही] कोमल कान्ति वाले किसलयों से क्या प्रयोजन। [इन सब की रचना बिल्कुल व्यर्थ है। लेकिन फिर भी विधाता ने इनको रचा है।] खेद है कि विधाता को पुनरुक्त [व्यर्थ] वस्तुओं के बनाने का [ऐसा] अपूर्व आग्रह [शौक] है।

यहां तुल्यकार्यकारी चन्द्र, नीलोत्पल, किसलय आदि उपमानों के आनर्थक्य का प्रतिपादन किया गया है। अतएव यहां आक्षेपालंकार है।

उपमान की आक्षेप से [अर्थतः] प्रतिपत्ति [ज्ञान] भी [आक्षेप अलंकार कहा जा सकता है यह इस] सूत्र का अर्थ [हो सकता] है।

जैसे [निम्न श्लोक में]—

[पाण्डु] शुभ्रवर्ण के मेघों के ऊपर [दूसरे पक्ष में स्तनों के ऊपर] ताज़े नखक्षतों के समान इन्द्र धनुष को धारण किए हुए [शरद ऋतु, दूसरे पक्ष में नायिका] कलंकी [कलंकयुक्त, दूसरे पक्ष में पराङ्गनोपभोग रूप कलंक से युक्त] चन्द्र को, निर्मल करती [दूसरे पक्ष में मनाती] हुई शरद् [ऋतु, दूसरे पक्ष में नायिका] ने [नायक रूप] सूर्य के ताप [दूसरे पक्ष में धूप की तीव्रता] को और अधिक कर दिया।

इस में शरद् वेश्या के समान, इन्दु नायक के समान और सूर्य प्रतिनायक के समान यह उपमान [आक्षेप से] प्रतीत होते हैं। [इसलिए यहां दूसरे प्रकार का आक्षेप अलंकार है]।

[१]समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रकृतेऽन्यस्य वस्तुनः ।।

इस प्रकार किया है । यहां समान कार्य और लिंग से शरद् में वेश्या अथवा नायिका और सूर्य तथा चन्द्रमा में नायक प्रतिनायकादि के व्यवहार का आरोप होने से नवीन मत में यह 'समासोक्ति' का उदाहरण है; 'आक्षेप' का नहीं । आक्षेप अलङ्कार का लक्षण नवीन आचार्यों ने बिल्कुल भिन्न प्रकार से इस प्रकार किया है—

[२]वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ।।

अर्थात् जो बात कहना चाहते हों परन्तु उसमें विशेषता लाने के लिए उसका निषेध सा किया जाय उसको 'आक्षेप' अलंकार कहते हैं । यह निषेध कहीं बात को कह चुकने के बाद कही हुई बात का किया जाता है । और कहीं आगे कही जाने वाली बात का कहे बिना पहिले ही निषेध कर दिया जाता है । इस प्रकार के निषेधसे बात की विशेषता बढ़ जाती है । उसी विशेष प्रतिपत्ति के लिए निषेधसा किया जाता है । इन दोनों प्रकार के आक्षेपों के उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

स्मरशरशतविधुराया भणामि सख्याः कृते किमपि ।
क्षणमिह विश्रम्य सखे निर्दयहृदयस्य किं वदाम्यथवा ।।

यहां विरहिणी की व्यथा का सामान्यतः सूचन करने के बाद 'निर्दय-हृदयस्य किं वदाम्यथवा' कह कर उसका निषेध किया गया है । इसलिए यहां उक्तविषयक 'आक्षेप' अलङ्कार है । वक्ष्यमाण विषयक 'आक्षेप' का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम् ।
हन्त नितान्तमिदानीमाः किं हत जल्पितैरथवा ।।

यहां 'मरने वाली है' यह अंश नहीं कहा है उसी वक्ष्यमाण अंश का निषेध किया गया है । अतएव यह दूसरे प्रकार का 'आक्षेप' अलङ्कार है ।

इन दो भेदों के अतिरिक्त अनिष्ट अर्थ का विध्याभास रूप एक तीसरे प्रकार के आक्षेप अलङ्कार का निरूपण भी साहित्यदर्पणकार ने किया है—

[३]अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः ।

---

[१] सा० द० १०, ५६ । [२] सा० द० १०, ६५ । [३] सा० द० १०, ६६ ।

इस अनिष्ट अर्थ की विध्याभासना रूप 'आक्षेप' अलङ्कार का उदाहरण इस प्रकार है—

गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥

यहां प्रिय का परदेश गमन नायिका को अनिष्ट है। तुम्हारे चले जाने पर मैं जीवित नहीं रह सकूंगी यह कह कर वह उसको रोकना चाहती है। परन्तु ऊपर से 'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त' कह कर जाने को कह रही है। साथ ही 'ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्' कह कर अपने भावी मरण की सूचना दे रही है। इस प्रकार यहां गमन का विधान वस्तुतः विधि रूप नहीं अपितु विध्याभास रूप है। इसलिए 'आक्षेप' अलङ्कार है। इस प्रकार नवीन आचार्यों ने 'आक्षेप' अलङ्कार के तीन भेद माने हैं। परन्तु वह सब ही वामन के 'आक्षेप' के लक्षण से बिल्कुल भिन्न हैं। वामन ने जो आक्षेप के दो लक्षण किए हैं उनको नवीन आचार्यों ने नहीं माना है। उनके दोनों उदाहरणों में से अन्तिम उदाहरण को 'समासोक्ति' अलङ्कार में नवीन लोग मानते हैं यह अभी ऊपर दिखला चुके हैं। उसका पहिला भेद नवीन आचार्यों के यहां 'प्रतीप' अलङ्कार नाम से कहा जाता है। 'प्रतीप' अलङ्कार का लक्षण साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार किया है—

[1] प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥

उसका उदाहरण निम्न दिया है—

तद् वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद् द्युतिः
तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत् स्मितं का सुधा ।
धिक् कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः ॥

इस प्रकार वामन ने आक्षेपालङ्कार के जो दो रूप प्रदर्शित किए हैं नवीन आचार्यों ने वह दोनों रूप 'प्रतीप' तथा 'समासोक्ति' अलङ्कार माने हैं। उनके यहां 'आक्षेप' अलङ्कार वामन से बिलकुल भिन्न रूप में माना गया है।

वामन से प्राचीन भामह ने भी आक्षेप अलङ्कार का जो स्वरूप माना है वह वामन से भिन्न है और नवीन आचार्यों के मत से बहुत-कुछ मिलता हुआ है। भामह ने लिखा है—

तुल्ययोगितायाः सहोक्तेर्भेदमाह—

वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः । ४, ३, २८ ।

वस्तुद्वयस्य क्रिययोस्तुल्यकालयोरेकेन पदेनाभिधानं सहार्थशब्द-सामर्थ्यात् सहोक्तिः । यथा—

अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि ।

अत्रार्थयोन्यूनत्वविशिष्टत्वे न स्तः । इति नेयं तुल्ययोगिता ॥ २८॥

[1] प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तं शंसन्ति द्विविधं यथा ॥
अहं त्वां यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः ।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते ॥
स्वविक्रमाक्रान्तभुवश्चित्रं यन्न तवोद्धतिः ।
को वा सेतुरलं सिन्धोर्विकारकरणं प्रति ॥

'तुल्ययोगिता' से 'सहोक्ति' का भेद [दिखलाने के लिए सहोक्ति अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

दो वस्तुओं की तुल्यकालीन [दो] क्रियाओं का एक [ही] पद से [एक साथ] कथन करना सहोक्ति अलङ्कार [कहलाता] है ।

दो वस्तुओं की तुल्यकालीन दो क्रियाओं का एक ही पद से कथन करना सहार्थक शब्द [के प्रयोग] के सामर्थ्य से 'सहोक्ति' [अलङ्कार कहलाता] है । जैसे—

शत्रुओं के साथ यह सूर्य [भी] अस्ताचल की ओर चल दिया। अतएव अब सेनाओं को वापिस कर लो ।

[तुल्ययोगिता अलङ्कार में भी दो पदार्थों में एक ही क्रिया का योग होता है । परन्तु वहां अर्थो में न्यूनाधिक-भाव विवक्षित होता है ।] यहां [सहोक्ति अलङ्कार में] अर्थों का न्यूनाधिकत्व [विवक्षित] नहीं है इसलिए यह तुल्ययोगिता [अलङ्कार] नहीं है । [अपितु उससे भिन्न अलङ्कार है ।]

[1] भामह काव्यालङ्कार २, ६८-७० ।

समाहितमेकमवशिष्यते, तल्लक्षणार्थमाह—

यत्सादृश्यं तत्सम्पत्तिः समाहितम् । ४, ३, २९ ।

यस्य वस्तुनः सादृश्यं गृह्यते तस्य वस्तुनः सम्पत्तिः समाहितम् ।

यथा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

अत्र पुरूरवसो लतायामुर्वश्याः सादृश्यं गृह्णतः सैव लतोर्वशी सम्पन्नेति ॥२९॥

साहित्यदर्पणकार ने सहोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

[१] सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्निगद्यते ॥

भामह ने सहोक्ति का लक्षण इस प्रकार नहीं किया है ॥ २८ ॥

[हमारे उद्दिष्ट ३३ अर्थालङ्कारों में से ३२ के लक्षण आदि यहां तक किए जा चुके हैं । अब] एक समाहित [अलङ्कार] शेष रह जाता है । उसका लक्षण करने के लिए [अगला सूत्र] कहते हैं ।

जिस वस्तु का सादृश्य [उपमेय में दिखलाना अभीष्ट] है, [उपमेय को] तद्रूपता प्राप्ति [को] समाहित [अलङ्कार कहा जाता] है ।

जिस वस्तु का सादृश्य [उपमेय में] गृहीत होता है [उपमेय के द्वारा] उस वस्तु [के स्वरूप] की प्राप्ति [को] समाहित [अलङ्कार कहा जाता] है । जैसे—

तन्वी [उर्वशी] पैरों पर पड़े हुए मुझ [पुरूरवा] को तिरस्कृत करके पश्चात्तापयुक्त होकर आंसुओं से गीले अधर के समान वर्षा के जल से आर्द्र पल्लवों को धारण किए हुए, ऋतुकाल के न होने से पुष्पोद्गम से रहित आभरण शून्य-सी, भौंरों के शब्द के अभाव में चिन्ता से मौन को प्राप्त [लता रूप में] दिखलाई दे रही है ।

यहां लता में उर्वशी के सादृश्य को देखने [ग्रहण करने] वाले पुरूरवा के लिए [कल्पनावश] उर्वशी वह लता ही बन गई है [इसलिए यहां 'समाहित' अलङ्कार है] ॥ २९ ॥

एते चालङ्काराः शुद्धा मिश्राश्च प्रयोक्तव्या इति विशिष्टानामलङ्काराणां मिश्रितत्वं संसृष्टिरित्याह—

अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः । ४,३ ३० ।

अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं यदसौ संसृष्टिरिति । संसृष्टिः संसर्गः सम्बन्ध इति ॥३०॥

तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ । ४, ३, ३१ ।

तस्याः संसृष्टेर्भेदावुपमा रूपकञ्चोत्प्रेक्षावयवश्चेति ॥ ३१ ॥

उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम् । ४, ३, ३२ ।

स्पष्टम् । यथा—

निरवधि च निराश्रयञ्च यत्र स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥

यह अलङ्कार शुद्ध और मिश्र रूप में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। इसलिए विशिष्ट अलङ्कारों का मिश्रण संसृष्टि [अलङ्कार] होता है, यह [अगले सूत्र में] कहते हैं—

[एक] अलङ्कार का जो अलङ्कार हेतुत्व [अर्थात् दूसरे अलङ्कार के साथ कार्यकारण भाव सम्बन्ध] है उसको संसृष्टि [अलङ्कार] कहते हैं।

[एक] अलङ्कार का जो [दूसरे] अलङ्कार के प्रति हेतुत्व [अर्थात् दूसरे अलङ्कार के साथ जो कार्यकारण-भाव सम्बन्ध] है वह संसृष्टि [अलङ्कार कहलाता] है। संसृष्टि [का अर्थ] संसर्ग [अर्थात्] सम्बन्ध है ॥ ३० ॥

उसके 'उपमारूपक' तथा 'उत्प्रेक्षावयव' दो भेद हैं।

उस संसृष्टि के उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव [यह] दो भेद हैं।

'अलङ्कारयोनित्व' जो संसृष्टि का लक्षण किया है उसमें एक 'अलङ्कार कारण है जिसमें' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास करके उपमारूपक को संसृष्टि कहा जाता है क्योंकि उसमें उपमा रूपक का कारण है। और दूसरे भेद 'उत्प्रेक्षावयव' में अलङ्कारयोनित्व पद में तत्पुरुष समास किया जाता है। उत्प्रेक्षा का अवयव 'उत्प्रेक्षावयव' कहलाता है। इस प्रकार संसृष्टि के दो भेदों में 'अलङ्कारयोनित्व' पद के दो भिन्न-भिन्न समास किए जाते हैं ॥ ३१ ॥

इन भेदों में से पहले उपमारूपक का लक्षण करते हैं।

उपमा से जन्य रूपक उपमारूपक [कहलाता] है।

[सूत्र का अर्थ] स्पष्ट है। [उदाहरण] जैसे—

जिनके ऊपर यह अनन्त [निरवधि] और [अन्य] किसी आधार पर

एवं 'रजनीपुरन्ध्रिलोध्रतिलक' इत्येवमादयस्तद्भेदा द्रष्टव्याः ॥३२॥

उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः । ४, ३, ३३ ।

उत्प्रेक्षाया हेतुरुत्प्रेक्षावयवः । अवयवशब्दो ह्यारम्भकं लक्षयति । यथा—

अंगुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ ३३ ॥

न टिका हुआ [निराश्रय], आश्चर्यमय [अनिर्वर्तितकौतुकं] संसार [प्रपञ्च] स्थित है, चौदह लोकरूप लताओं के मूलरूप कूर्म स्वरूप, आप जगत् में अद्वितीय और सर्वोत्कर्षशाली हैं।

यहां 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से 'लोको वल्लिरिव इति लोकवल्लिः' इस प्रकार का उपमित समास होकर 'लोकवल्लि' पद बनता है। फिर उसका कन्द के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास होकर 'लोकवल्ल्याः कन्दः इति लोकवल्लिकन्दः' यह पद बनता है। इस प्रकार पहले 'लोकवल्लिः' का उपमित समास होने के बाद कूर्ममूर्ति के ऊपर 'कन्द' का आरोप किया जाता है। इसलिए यह उपमाजन्य, उपमामूलक, रूपक अलङ्कार है अतः 'उपमारूपक' कहलाता है। इसमें उपमा और रूपक दोनों का मिश्रण होने से 'संसृष्टि' अलङ्कार कहलाता है।

दूसरे ढंग से विचार करें तो पहिले 'कूर्ममूर्ति' पर कन्दत्व का आरोप करके फिर लोक पर वल्लित्व का आरोप पीछे किया जाय यह भी हो सकता है। उस दशा में यह रूपकमूलक रूपक होगा। जिसे नवीन लोग 'परम्परित रूपक' भी कहते हैं। परन्तु वामन ने यहां रूपक मूलक या परम्परित रूपक न मान कर उपमाजन्य रूपक माना है। इसका अभिप्राय यह है कि वामन को यहां पहिले 'लोकवल्लि' पद में उपमित समास ही अभीष्ट है॥ ३२॥

उत्प्रेक्षा का हेतु [रूपकादि दूसरा अलङ्कार] उत्प्रेक्षावयव [कहलाता] है।

उत्प्रेक्षा का हेतु [दूसरा अलङ्कार] उत्प्रेक्षा अवयव [कहलाता] है। अवयव शब्द [लक्षणा से] आरम्भक [इस अर्थ] को बोधित करता है। [उदाहरण] जैसे—

सञ्चय रूप अन्धकार को हटा कर मुंदे हुए कमल-नयनों वाले रजनी [नायिका] के मुख को चन्द्रमा चुम्बन-सा कर रहा है ।

यहां 'चुम्बतीव रजनीमुखं शशी' यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । यह उपमा और रूपक से अनुप्राणित हो रहा है । इसलिए उत्प्रेक्षा हेतु या उत्प्रेक्षावयव रूप संसृष्टि अलङ्कार का उदाहरण है ।

भामह ने 'उपमारूपक' तथा 'उत्प्रेक्षावयव' अलङ्कारों का निरूपण तो किया है, परन्तु वामन के समान उन्हें संसृष्टि का भेद नहीं माना है । संसृष्टि को उन दोनों से भिन्न अलग ही अलङ्कार माना है और तीनों अलङ्कारों का स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग इस प्रकार निरूपण किया है—

[1] उपमानेन तद्भावमुपमेयस्य साधयत् ।
यां वदन्त्युपमामेतदुपमारूपकं यथा ॥
समग्रगगनायाममानदण्डो रथांगिनः ।
पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः ॥

[2] श्लिष्टस्यार्थेन च संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वितः ।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥
तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रति भास्वति ।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमीगुहाम् ॥

[3] वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः ।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ॥
गाम्भीर्यलाघववतोर्युवयोः प्राज्यरत्नयोः ।
सुखसेव्यो जनानां त्वं दुष्टग्राहोऽम्भसां पतिः ॥
अनलंकृतकान्तं ते वदनं, वनजद्युति ।
निशाकृतः प्रकृत्यैव चारोः का वास्त्यलंकृतिः ॥
अन्येषामपि कर्तव्या संसृष्टिरनया दिशा ।
कियदुद्घट्टितज्ञेभ्यः शक्यं कथयितुं मया ॥

इस प्रकार भामह तथा वामन के मत में बहुत भेद है । वामन उपमा-रूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को संसृष्टि का भेद मानते हैं । परन्तु भामह उन तीनों को अलग-अलग अलङ्कार मानते हैं ।

---

[1] भामह काव्यालङ्कार ३, ३५-३६ ।
[2] भामह काव्यालङ्कार ३, ४७-४८ ।
[3] भामह काव्यालङ्कार ५, ४९-४२ ।

नवीन आचार्यों ने अनेक अलङ्कारों के मिश्रण की स्थिति में सङ्कर और संसृष्टि दो प्रकार के अलङ्कार माने हैं। जब कि वामन और भामह दोनों मिश्रण की स्थिति में केवल एक संसृष्टि अलङ्कार ही मानते हैं। मम्मट, विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों के मत में यदि दो या अधिक अलङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति होती है तभी संसृष्टि अलङ्कार माना गया है। कार्यकारण-भावादि होने पर संसृष्टि नहीं अपितु संकर अलङ्कार होता है। उन्होंने सङ्कर के अंगांगिभाव संकर, २ सन्देह संकर, तथा एकाश्रयानुप्रवेश संकर इस प्रकार तीन भेद माने हैं। और परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों की स्थिति में संसृष्टि अलङ्कार माना है। साहित्यदर्पण में इनका निरूपण इस प्रकार किया है—

> यदैत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः।
> तदा पृथगलङ्कारो संसृष्टिः संकरस्तथा।
> मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।
> अंगांगित्वेऽप्यलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।
> सन्दिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः॥

संसृष्टि के भी फिर अनेक भेद हो सकते हैं। जैसे शब्दालङ्कारों की संसृष्टि, अथवा अर्थालङ्कारों की संसृष्टि अथवा शब्दार्थालङ्कारों की संसृष्टि। इन तीनों प्रकार की संसृष्टि एक ही उदाहरण में इस प्रकार दिखलाई गई है।

> देवः पायादपायान्तः स्मेरेन्दीवरलोचनः।
> संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः॥

इसके पहिले चरण 'पायादपायाद्' में यमक है। तीसरे चरण 'संसार-ध्वान्त विध्वंसहंसः' में अनुप्रास अलङ्कार है। यह दोनों परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित हैं। इसलिए यह शब्दालङ्कारों की संसृष्टि हुई। द्वितीय पाद में 'स्मेरेन्दीवर-लोचनः' में उपमा अलङ्कार और श्लोक के उत्तरार्द्ध में सूर्य के आरोप मूलक रूपक अलङ्कार होने से यहां अर्थालङ्कारों की संसृष्टि हुई। और श्लोक में शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार दोनों के होने से उभयालङ्कार की संसृष्टि हुई।

इस संसृष्टि के विषय में प्राचीन तथा नवीन आचार्यों के मत में बहुत भेद है। वामन आदि तो कार्य-कारण भाव आदि होने पर संसृष्टि मानते हैं परन्तु नवीन आचार्य उसको संसृष्टि न कह कर सङ्कर कहते हैं। और अनेक अलङ्कारों की निरपेक्ष स्थिति को संसृष्टि कहते हैं। सङ्करालङ्कार के सन्देह

एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः ।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता ॥
अलङ्कारैकदेशा ये मता सौभाग्यभागिनः ।
तेऽप्यलङ्कारदेशीया योजनीयाः कवीश्वरैः ॥

इति श्री काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
आलङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः
समाप्तञ्चेदमालङ्कारिकं चतुर्थमधिकरणम् ॥

सङ्कर, अंगांगिभाव सङ्कर और एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर तीनों प्रकार के अनेक उदाहरण दिए गये हैं ।

इस अधिकरण के अन्त में अधिकरण का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं :—

अपने [स्वरचित] तथा बहुत से दूसरों के [बनाए हुए] इन उदाहरणों के द्वारा, शब्दों के वैचित्र्य से परिपूर्ण [अनेक अलङ्कारों के रूप में] यह उपमा [अलङ्कार] का ही [प्रपञ्च] विस्तार किया है ।

इन अलङ्कारों के जो [कोई] भाग [एकदेश] सुन्दर [सौभाग्य भागिनः] हों अलङ्कारदेशीय [ईषदसमाप्तौ कल्पकल्पब्देश्यदेशीयरः । अलङ्कारसदृश] वह भी कवीश्वरों को [अपने काव्यों में] प्रयुक्त करने चाहिएं ॥ ३४ ॥

इति श्री काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में
अलङ्कारनिरूपणपरक [आलङ्कारिक] चतुर्थ अधिकरण में
तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।
और यह आलङ्कारिक चतुर्थ अधिकरण [भी] समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यालङ्कारदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
चतुर्थाधिकरणे तृतीयोऽध्यायः समाप्त :

समाप्तञ्चेदमालङ्कारिकं चतुर्थमधिकरणम् ।

'प्रायोगिकं' नाम पञ्चममधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः

[काव्यसमयः]

सम्प्रति काव्यसमयं शब्दशुद्धिञ्च दर्शयितुं प्रायोगिकाख्यमधिकरणमारभ्यते। तत्र काव्यसमयस्तावदुच्यते।

(1) नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण। ५, १, १।

पञ्चम अधिकरण का प्रथम अध्याय

पिछले अधिकरणों में से 'शारीर' नामक प्रथम अधिकरण में काव्य का प्रयोजन, रीति तथा काव्याङ्गों का, 'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण में शब्द-दोष और अर्थ-दोषों का, 'गुणविवेचन' नामक तृतीय अधिकरण में गुण तथा अलङ्कार का भेद और शब्द-गुण तथा अर्थगुणों का, और चतुर्थ अधिकरण में शब्दालङ्कारों तथा उपमा और उपमाप्रपञ्च रूप अन्य अर्थालङ्कारों का विवेचन कर चुके हैं। इस प्रकार काव्यालङ्कार ग्रन्थ का विषय प्रायः प्रतिपादित हो चुका है। अब 'प्रायोगिक' नामक इस पञ्चम अधिकरण में 'काव्य-समय' अर्थात् काव्य की अनुसरणीय परम्पराओं और 'शब्दशुद्धि' रूप प्रयोगसम्बन्धी बातों का निरूपण करेंगे इसलिए इस अधिकरण का नाम 'प्रायोगिक' अधिकरण है। इसके दो अध्याय हैं। जिनमें से पहले अध्याय में 'काव्य-समय' अर्थात् महाकवियों की काव्यसम्बन्धी परम्पराओं का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

अब [इस पञ्चम अधिकरण में] 'काव्य-समय' [काव्य में ध्यान देने योग्य आचार या परम्पराओं] और शब्दशुद्धि के दिखलाने के लिए 'प्रायोगिक' नामक [यह पञ्चम] अधिकरण आरम्भ करते हैं। उसमें पहिले [प्रथम अध्याय में] 'काव्य-समय' [काव्य के परम्पराप्राप्त नियम या आचार] कहते हैं।

[काव्य में] प्रायः एक पद का दो बार [एक साथ या एक वाक्य में] प्रयोग नहीं करना चाहिए।

एकं पदं न द्विः प्रयोज्यं प्रायेण बाहुल्येन । यथा पयोद पयोद इति । किञ्चिदेव चादिपदं द्विरपि प्रयोक्तव्यमिति । यथा—

सन्तः सन्तः खलाः खलाः ॥ १ ॥

नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम् । ५, १, २ ।

एक पद का [एक साथ या एक वाक्य में] दो बार प्रयोग अधिकता से नहीं करना चाहिए । [क्योंकि इस प्रयोग की पुनरुक्ति से काव्य की शोभा नहीं रहती है । और कवि की अशक्ति का परिचय मिलता है] । जैसे 'पयोद पयोद' [इस प्रकार का प्रयोग किसी कवि ने किया है, वह अनुचित है] । 'च' आदि कोई-कोई पद ही [एक ही वाक्य में] दो बार भी प्रयुक्त हो सकते हैं । जैसे—

सज्जन [पुरुष] सज्जन ही होते हैं और दुष्ट दुष्ट ही ठहरे ।

यहां दूसरा 'सन्त' पद दयाभावनादिविशिष्ट सन्त का बोधक होने से और दूसरा खल शब्द क्रूरत्वादि विशिष्ट खल अर्थ का बोधक होने से विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसलिए पुनरुक्त न होने से दोषाधायक नहीं है ।

वाराणसीय प्रथम संस्करण में इस सूत्र की वृत्ति में 'किञ्चिदिवादिपदं द्विरपि प्रयोक्तव्यमिति' इस प्रकार का पाठ दिया हुआ है । इसकी व्याख्या करते हुए त्रिपुरहर भूपाल ने लिखा है—

किञ्चिदिति यथा—

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः । इति ।

इसे टीकाकार ने 'किञ्चिदिवादिपदं' का उदाहरण दिया है । इस उदाहरण में चकार का दो बार प्रयोग किया गया है । इसलिए यह चादि पद के द्विः प्रयोग का उदाहरण हुआ । इससे प्रतीत होता है कि वृत्तिग्रन्थ में च छपने में छूट गया है । और इव के स्थान पर एव पाठ उचित प्रतीत होता है । इसलिए 'किञ्चिदिवादि पदं' के स्थान पर 'किञ्चिदेव चादिपदं' पाठ होना चाहिए था । 'किञ्चिदिवादिपदं' पाठ ठीक नहीं है । इसीलिए हमने यहां मूल में 'किञ्चिदेव चादिपदं' यह पाठ ही रखा है । आदि पद से पादानुप्रास, पादयमक आदि में द्विःप्रयोग उचित ही है यह बात सूचित की है ॥ १ ॥

काव्य निर्माण करते समय ध्यान रखने योग्य दूसरा नियम या 'काव्य-समय' बतलाते हैं—

एक पद के समान [श्लोक के] पादों में [आए हुए पदों में] सन्धि अवश्य [नित्य] करनी चाहिए । [श्लोकार्ध रूप] अर्धान्त को छोड़ कर ।

नित्यं संहिता पादेष्वेकपदवदेकस्मिन्निव पदे । तत्र हि नित्या संहितेत्याम्नायः । यथा—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।

इति । अर्धान्तवर्जमर्धान्तं वर्जयित्वा ॥ २ ॥

न पादान्तलघोर्गुरुत्वञ्च सर्वत्र । ५, १, ३ ।

एक पद के समान अर्थात् जैसे [सुरेश, महेश आदि] एक पद में [सन्धि नित्य अपरिहार्य है] इसी प्रकार [श्लोक के प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय और चतुर्थ] [चरणों में प्राप्त सन्धि] नित्य [अपरिहार्य] सन्धि होनी चाहिए । वहां [एकपद में, संहिता] सन्धि नित्य होती है इस प्रकार का [आम्नाय] शास्त्र वचन है । जैसे—

एक पद में सन्धि नित्य होती है, और धातु तथा उपसर्ग [के बीच] में भी नित्य सन्धि होती है ।

यह 'अर्धान्त वर्ज' अर्थात् [श्लोक के] अर्धान्त को छोड़ कर ।

अर्थात् श्लोक के पूर्वार्द्ध के अन्त में आए हुए और उत्तरार्ध के प्रारम्भ में आए हुए अक्षरों में यदि नियम के अनुसार कोई सन्धि प्राप्त होती है तो नित्य सन्धि नहीं होगी । परन्तु उसको छोड़ कर श्लोक के पादों में आए हुए शब्दों में अथवा प्रथम और द्वितीय चरण के बीच में या तृतीय और चतुर्थ चरण के बीच में जहां सन्धि प्राप्त हो वहां सन्धि अवश्य करनी चाहिए । इस प्रकार की सन्धि न करने में 'विसन्धि' दोष हो जाता है । उसे वामन ने 'विसन्धि' और नए आचार्यों ने 'सन्धि विश्लेष' दोष कहा है । 'दोषाधिकरण' में इसका निरूपण किया जा चुका है ॥ २ ॥

छन्दः शास्त्र में वृत्त के लघु-गुरु वर्णों की व्याख्या करते हुए 'पादान्तस्थं विकल्पेन' इस नियम के अनुसार पादान्त में स्थित लघु वर्ण विकल्प से गुरु हो सकता है । अर्थात् पादान्त में आया हुआ लघु वर्ण आवश्यकतानुसार गुरु या लघु कुछ भी माना जा सकता है । जहां छन्द के लक्षण के अनुसार पादान्त में लघु अक्षर की आवश्यकता है वहां वह लघु वर्ण गिना जायगा । और जहां गुरु वर्ण की आवश्यकता है वहां पादान्त में स्थित वह लघु वर्ण गुरु गिना जायगा यह नियम है । इस नियम के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नियम सार्वत्रिक नहीं है । अर्थात् सब छन्दों में यह लागू नहीं होता है । इन्द्रवज्रा आदि कुछ छन्दों में अन्तिम लघु वर्ण गुरु हो जाता है परन्तु कुछ छन्दों में वह गुरु नहीं

पादान्तलघोर्गुरुत्वं प्रयोक्तव्यम् । न सर्वत्र, न सर्वस्मिन् वृत्त इति । यथा—

यासां बलिर्भवति मद्गृहदेहलीनां,
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः ।
तास्वेव पूर्वबलिरूढयवांकुरासु,
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः ॥

एवम्प्रायेष्वेव वृत्तेष्विति । न पुनः—

वरूथिनीनां रजसि प्रसर्पति,
समस्तमासीद् विनिमीलितं जगत् ।

होता है । इसी बात को 'काव्य-समय' के तृतीय नियम के रूप में अगले सूत्र में कहते हैं ।

और पाद के अन्त [में स्थित] में लघु का सर्वत्र [सब छन्दों में] गुरुत्व नहीं होता है । जैसे [निम्न लिखित वृत्त में तो पादान्त लघु को गुरु हो जाता है]—

[मृच्छकटिक नाटक में चारुदत्त अपनी दरिद्रावस्था पर खेद प्रकट करते हुए कहता है कि] पहिले [मेरी समृद्ध-अवस्था में] मेरी [घर की] जिन देहलियों की बलि [पक्षियों को दिए गए बलिवैश्वदेव यज्ञ के भोज्य द्रव्य] को [मेरे यहां पले हुए] हंस तथा सारस खा जाते थे [आज मेरी दरिद्रावस्था में उस 'बलि' को खाने वाले हंस आदि के न होने से और उन दरवाजों की सफाई आदि भी न हो सकने से वहां पड़े हुए दानों के उग आने से] यवांकुरों से युक्त [घर की] उन्हीं [देहलियों] पर [चींटे आदि] कीड़ों के खाए हुए बीजों का ढेर गिर रहा है ।

यह 'वसन्ततिलका' वृत्त का उदाहरण है । वसन्ततिलका का लक्षण है 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' । इसके अनुसार पाद के अन्त में गुरु वर्ण होना चाहिए परन्तु इस श्लोक के तीसरे चरण का अन्तिम वर्ण 'सु' गुरु नहीं किन्तु लघु है परन्तु 'पादान्तस्थं विकल्पेन' इस नियम के अनुसार उसको गुरु मानकर वृत्त का लक्षण समन्वित हो जाता है ।

इस प्रकार के [वसन्ततिलका आदि] वृतों में ही [पदान्तस्थ लघु वर्ण गुरु हो सकता है] यह अभिप्राय है न कि—

सेनाओं की धूल उड़ने पर सारा जगत् [उस धूल में] छिप गया । इत्यादि में ।

इत्यादिषु । चकारोऽर्धान्तवर्जमित्यस्यानुकर्षणार्थः ॥ ३ ॥

न गद्ये समाप्तप्रायं वृत्तमन्यत्रोद्गतादिभ्यः संवादात् । ५, १, ४ ।

गद्ये समाप्तप्रायं वृत्तं न विधेयं, शोभाभ्रंशात् । अन्यत्रोद्गतादिभ्यो विषमवृत्तेभ्यः । संवादाद् गद्येनेति ॥ ४ ॥

न पादादौ खल्वादयः । ५, १, ५ ।

यह 'वंशस्थ' वृत्त का उदाहरण है। वंशस्थ वृत्त का लक्षण 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।' यह है। इसके अन्त में मध्य-लघु 'रगण' रहता है। इसलिए इस वृत्त में पादों के अन्त में गुरुवर्ण होना चाहिए। परन्तु इस श्लोक के प्रथम चरण के अन्त में 'ति' लघु वर्ण प्रयुक्त हुआ है। वह 'पादान्तस्थं विकल्पेन' इस नियम के अनुसार गुरु हो सकता है। परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि यहां यह नियम लागू नहीं हो सकता है। ऐसी दशामें यहां 'हतवृत्त' दोष होगा।

[सूत्र में पिछले सूत्र से] 'अर्धान्तवर्जम्' इसकी अनुवृत्ति के लिए चकार का ग्रहण किया है।

अर्थात् अर्धान्त में तो सर्वत्र यह नियम लागू होता है। श्लोक के पूर्वार्द्ध अथवा उत्तरार्द्ध के अन्त में आया हुआ लघु वर्ण आवश्यकता के अनुसार सब ही छन्दों में गुरुभाव को प्राप्त हो सकता है ॥३॥

'काव्यसमय' का चौथा नियम बतलाते हैं—

गद्य [रचना के बीच] में अपूर्ण छन्द [समाप्तप्रायं-परिपूर्णकल्पं] नहीं [प्रयुक्त] करना चाहिए। उद्गतादि [विषम वृत्तों] को छोड़ कर। [उन उद्गतादि का गद्य के साथ] साम्य होने से। [उनका तो गद्य के साथ साम्य होने से अपूर्ण छन्द का प्रयोग हो सकता है। परन्तु उनको छोड़ कर अन्य अपूर्ण वृत्तों का गद्य रचना में प्रयोग नहीं करना चाहिए]।

गद्य में [समाप्तप्राय] अपूर्ण वृत्त [छन्द का प्रयोग] नहीं करना चाहिए। शोभा का नाश हो जाने से। उद्गतादि विषम वृत्तों का गद्य के साथ मेल हो जाने से उनको छोड़ कर [अन्य अपूर्ण वृत्तों का गद्य में प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि उनके प्रयोग से गद्य की शोभा का नाश हो जाता है] ॥४॥

'काव्यसमय' का पांचवां नियम बतलाते हैं—

पाद के आदि में 'खलु' आदि [पदों] का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

पादादौ खल्वादयः शब्दाः न प्रयोज्याः । आदिशब्दः प्रकारार्थः । येषामादौ प्रयोगो न श्लिष्यति ते गृह्यन्ते, । न पुनर्वत हन्त प्रभृतयः ॥ ५ ॥

नाऽर्धे किञ्चिदसमाप्तप्रायं वाक्यम् । ५, १, ६ ।

वृत्तस्यार्धे किञ्चिदसमाप्तप्रायं वाक्यं न प्रयोक्तव्यम् । यथा—

जयन्ति ताण्डवे शम्भोर्भङ्गुराङ्गुलिकोटयः ।
कराः कृष्णस्य च भुजाश्चक्रांशुकपिशत्विषः ॥ ६ ॥

पाद के आदि में 'खलु' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए । [सूत्र में] आदि शब्द प्रकारार्थक है । [अर्थात् खलु के समान] जिन [शब्दों] का प्रयोग [पाद के] आदि में सुसंगत नहीं होता है वे [सब 'खल्वादि' में आए हुए 'आदि' शब्द से] ग्रहण किए जाते हैं [किन्तु जिनका प्रयोग पाद के आदि में अरुचिकर या असंगत नहीं होता ऐसे]' वत', 'हन्त' आदि आदि [शब्द से खल्वादि में] नहीं [ग्रहण किए जाते हैं] ।

'इव सीतां मृगछद्मच्छन्नो लंकापतिः पुरा' ।
'किल सृजति कामिनीनां किलकिञ्चितमेव कामिजनमोहम् ।'

इत्यादि उदाहरणों में 'इव', 'किल', आदि पदों का पाद के आदि में प्रयोग कविसमय में अनादरणीय ही माना गया है । वत, हन्त आदि का नहीं ।।५।।

'काव्य-समय का छठा नियम बतलाते हैं—

[छन्द के] अर्ध [श्लोकार्ध] में कोई असमाप्तप्राय [अपूर्ण] वाक्य प्रयुक्त नहीं करना चाहिए ।

वृत्त के अर्ध [पूर्वार्द्ध के अन्त] में कोई अपूर्ण [असमाप्तप्राय] वाक्य प्रयुक्त नहीं करना चाहिए । जैसे—

ताण्डव [नृत्य के काल] में मुड़ी हुई अंगुलियों वाले शिव के हाथ, और चक्र की किरण से पीत कान्तिवाली कृष्ण की भुजाएं सर्वोत्कर्ष युक्त हैं ।

इस श्लोक में उत्तरार्द्ध का 'कराः' पद वस्तुतः पूर्वार्द्ध के वाक्य का पद है । उसके वहां प्रयुक्त न होकर दूसरे उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त होने से पूर्वार्द्ध में अपूर्ण वाक्य का प्रयोग हुआ है । यह उचित नहीं है । नवीन आचार्यों ने इसको 'अर्धान्तरैकपदता' नामक दोष माना है । और उसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

(८) न कर्मधारयो बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकरः । ५, १, ७ ।

बहुव्रीहिप्रतिपत्तिं करोति यः कर्मधारयः स न प्रयोक्तव्यः । यथा—अध्यासितश्चासौ तरुश्च अध्यासिततरुः ॥ ७ ॥

(८) तेन विपर्ययो व्याख्यातः । ५, १, ८ ।

बहुव्रीहिरपि कर्मधारयप्रतिपत्तिकरो न प्रयोक्तव्यः । यथा—वीराः

इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवलयन् करैः ।
जगन्मा कुरु तन्वंगि मानं पादानते प्रिये ॥

इसमें उत्तरार्ध का 'जगत्' शब्द पूर्वार्द्ध में आना चाहिए था । उसके उत्तरार्द्ध में आने से 'अर्धान्तरैकपदता' दोष है । इसी दोष के कारण प्रकृत ग्रन्थकार ने इस सूत्र में उसका निषेध किया है ॥६॥

काव्यसमय के सातवें नियम को दिखलाते हैं

बहुव्रीहि [समास] की प्रतीति कराने वाला कर्मधारय [समास] प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

जो कर्मधारय [समास] बहुव्रीहि [समास] की प्रतीति कराता है उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए । जैसे [वानर आदि के द्वारा] अध्यासित जो तरु [इस प्रकार का कर्मधारय समास करके] 'अध्यासिततरुः' ।

ऐसे पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए । क्योंकि इस पद में 'अध्यासितः तरुर्येन सः अध्यासिततरुः' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास भी प्रतीत हो सकता है । इस एक ही पद में दो प्रकार के समास हो सकने से अर्थ में सन्देह उत्पन्न हो जाता है । इसलिए इस प्रकार का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यह अभिप्राय है ।

इस प्रकार बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकर कर्मधारय समास का निषेध किया गया है । अर्थात् कवियों को इस प्रकार के कर्मधारय समास का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥७॥

उस [बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकर कर्मधारय के निषेध] से विपरीत [कर्मधारयप्रतिपत्तिकर बहुव्रीहि समास के प्रयोग] की [भी] व्याख्या हो गई । [अर्थात् कर्मधारय की प्रतीति कराने वाला बहुव्रीहि समास भी प्रयुक्त नहीं करना चाहिए] ।

कर्मधारय की प्रतीति कराने वाला बहुव्रीहि [समास] भी प्रयुक्त नहीं करना चाहिए । जैसे—वीर पुरुष जिस [ग्राम आदि] के हों वह

पुरुषा यस्य स वीरपुरुषः। कलः रवो यस्य स कलरवः। इति ॥ ८ ॥

सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ। ५, १, ९।

सम्भाव्यस्य निषेधस्य निवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ प्रयोक्तव्यौ। यथा—

समरमूर्धनि तेन तरस्विना न न जितो विजयी त्रिदशेश्वरः।
स खलु तापसबाणपरम्पराकवलितक्षतजः क्षितिमाश्रितः ॥९॥

विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ। ५, १, १०।

'वीरपुरुषः ग्रामः' [यह बहुव्रीहि समास है। इससे अन्य पदार्थ ग्रामादि की प्रतीति होती है। परन्तु इस पद में 'वीरश्चासौ पुरुषः वीरपुरुषः' इस प्रकार समानाधिकरण कर्मधारय समास भी हो सकता है। इसलिए कर्मधारय प्रतिपत्ति-कर इस बहुव्रीहि का प्रयोग नहीं करना चाहिए]। कल अर्थात् मनोहर रव शब्द जिसका वह 'कलरव' है [कोई पक्षिविशेष आदि बहुव्रीहि समास से कलरवः कहला सकता] है। [परन्तु उसी पद में 'कलश्चासौ रवः' इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर 'सुन्दर शब्द' यह 'कलरव' का अर्थ होगा। इस प्रकार कर्मधारय-प्रतिपत्तिकर बहुव्रीहि समास का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए] ॥८॥

'काव्यसमय' का नवम नियम बतलाते हैं—

सम्भावित [बात] के निषेध के प्रतिषेध [द्वारा सम्भाव्य सद्भाव के द्योतन] के लिए दो प्रतिषेध [नञ्द्वय] का प्रयोग करना चाहिए।

सम्भाव्य के निषेध की निवृत्ति के लिए दो प्रतिषेध [नञ्द्वय] का प्रयोग करना चाहिए। जैसे—

उस बलवान् [रावण] ने युद्ध [भूमि] में [अन्य सबके] विजयी [देवराज] इन्द्र को न जीता था सो [बात] नहीं [जीत ही लिया था] किन्तु तापस [राम] के बाणों की परम्परा से रक्तपान किया हुआ वह [रावण भी] पृथ्वी पर गिर पड़ा।

यहां 'न न जितः' यह जो नञ्द्वय का प्रयोग हुआ है वह सम्भाव्य के निषेध अर्थात् असम्भवता के निवर्तन के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् उसने इन्द्र को जीत लिया हो यह असम्भव नहीं है सम्भव है। परन्तु इन्द्र को जीतने वाले इतने बलवान् उस रावण को भी तपस्वी राम के बाणों ने उसका रक्तपान कर धराशायी कर दिया, यह इसका भाव है ॥९॥

काव्यसमय का दसवां नियम अगले सूत्र में बतलाते हैं—

विशेष्य की प्रतीति [अर्थतः या प्रकारान्तर से] हो जाने पर केवल

विशेष्यस्य प्रतिपत्तौ जातायां विशेषणमात्रस्यैव प्रयोगः । यथा—

निधानगर्भामिव सागराम्बराम् ।

अत्र हि पृथिव्या विशेषणमात्रमेव हिं प्रयुक्तम् । एतेन—

'क्रुद्धस्य तस्याथ पुरामरातेर्ललाटपट्टादुदगादुदर्चिः' ।

'गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः' ।

इत्यादयः प्रयोगा व्याख्याताः ॥१०॥

विशेषणमात्र का [ही] प्रयोग करना चाहिए ।

विशेष्य की [प्रसिद्धि आदि वश] प्रतीति हो जाने पर केवल विशेषण का ही प्रयोग किया जा सकता है। [विशेष्य के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है] । जैसे—

निधि [रत्नों] से भरी हुई सागराम्बरा [पृथिवी] के समान ।

[यह कालिदास के रघुवंश का श्लोक है । गर्भवती सुदक्षिणा रत्नों से भरी पृथिवी के समान है । इस प्रकार का वर्णन करता है] यहां पृथिवी के केवल विशेषण मात्र ['निधान गर्भा' तथा 'सागराम्बरा' पद] का प्रयोग किया गया है । [विशेष्य पृथिवी का नहीं] इस [उदाहरण] से [इसी प्रकार के]—

तब उस क्रुद्ध हुए पुरारि [शिव] के मस्तक से लम्बी ज्वालाओं वाला [अग्नि] निकलने लगा । [इसमें 'उदर्चि' विशेषण मात्र का प्रयोग किया गया है । विशेष्य पद अग्नि का नहीं] ।

तब तक पर्वत पर से मेघ के समान अत्युच्चतर कृष्ण जी, [नारद मुनि के स्वागत के लिए] उठकर खड़े हो गए ।

इत्यादि प्रयोगों की व्याख्या हो गई ।

यह माघ का श्लोक है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुपाराञ्जनपर्वताविव ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिप्टदच्युतः ॥

यहां 'तडित्वान्' और 'अच्युतः' पद का प्रयोग किया गया है । वे विशेषण पद हैं ।

ग्रन्थकार ने यहां जो उदाहरण दिए है उनमें 'सागराम्वरा,' 'उदर्चिः' 'तड़ित्वान्' 'अच्युतः' आदि पदों को केवल विशेषणमात्र पद माना है । वैसे यह स्वयं ही विशेष्य पद हो सकते हैं । इनके साथ अलग विशेप्य पद की आवश्यकता नहीं है । अर्थात् विवक्षा के अनुसार इनको विशेष्य अथवा विशेषण मात्र माना जा सकता है । ग्रन्थकार ने यहां उनको केवल विशेषणमात्र पद मान कर उद्धृत किया है ॥१०॥

सर्वनाम्नाऽनुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्य । ५, १, ११ ।

सर्वनाम्नाऽनुसन्धिरनुसन्धानं प्रत्यवमर्शः । वृत्तौ समासे छन्नस्य गुणीभूतस्य ।

यथा—

तवापि नीलोत्पलपत्रचक्षुषो
मुखस्य तद्रेणुसमानगन्धिनः । इति ॥ ११ ॥

'काव्य समय' का ग्यारहवां नियम बतलाते हैं—

सर्वनाम से समास में गुणीभूत का परामर्श हो सकता है ।

सर्वनाम से अनुसन्धि, अनुसन्धान अर्थात् प्रत्यवमर्श, परामर्श [हो सकता है । 'वृत्तिच्छन्नस्य' का अर्थ 'वृत्तौ' अर्थात् समास में 'छन्नस्य' अर्थात् गुणीभूत का । अर्थात्] समास में गुणीभूत अर्थ का भी [सर्वनाम से परामर्श हो सकता है] । जैसे—

नीलकमल के पत्ते सदृश चक्षु वाले और उसके पराग के समान गन्ध वाले तुम्हारे मुख के ।

इस उदाहरण में 'तद्रेणुसमानगन्धिनः' पद में आए हुए 'तत्' इस सर्वनाम पद से 'नीलोत्पल' का परामर्श अर्थात् ग्रहण होता है । उसके अर्थात् नीलोत्पल के पराग के समान गन्ध वाले । परन्तु 'नीलोत्पल' पद स्वयं 'नीलोत्पलपत्रचक्षुषः' इस समस्त पद का एक अंग है । यह बहुव्रीहि समास है । 'नीलोत्पलपत्रे इव चक्षुषी यस्य तस्य नीलोत्पलपत्रचक्षुषः' इस प्रकार के अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास में आया हुआ 'नीलोत्पल' शब्द गुणीभूत हो जाता है । उसका प्राधान्य नहीं रहता है । सामान्य नियम के अनुसार प्रधान अर्थ का ही अन्य के साथ सम्बन्ध हो सकता है अप्रधान का नहीं । इसलिए सामान्यतः नीलोत्पल के गुणीभूत होने के कारण तत् शब्द से उसका ग्रहण नहीं होना चाहिए था । परन्तु यह विशेष नियम माना गया है कि सर्वनाम से समास में गुणीभूत अर्थ का भी परामर्श हो सकता है । श्री वाचस्पति मिश्र ने अपनी सांख्यतत्त्वकौमुदी, में 'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ' सांख्यकारिका की इस प्रथम कारिका की व्याख्या में लिखा है कि 'उपसर्जनस्यापि बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य तदा परामर्शः' । अर्थात् 'तदपघातके हेतौ' यहां आए हुए 'तत्' शब्द से 'दुःखत्रय' का ग्रहण होता है । यद्यपि 'दुःखत्रयाभिघातात्' इस समस्त पद के अन्तर्गत होनेसे 'दुःख-त्रय' में का 'दुःख' पद उपसर्जन अर्थात् गौण है । परन्तु बुद्धि में सन्निकृष्ट होने के कारण उपसर्जन अर्थात् गुणीभूत होने पर भी उसका 'तदा' अर्थात् 'तत्'

(१२) सम्बन्धसम्बन्धेऽपि षष्ठी क्वचित् ॥ ५, १, १२ ॥

सम्बन्धेन सम्बन्धः सम्बन्धसम्बन्धस्तस्मिन् षष्ठी प्रयोज्या क्वचित्। न सर्वत्रेति। यथा—'कमलस्य कन्दः' इति। कमलेन सम्बद्धा कमलिनी, तस्याः कन्द इति सम्बन्धः। तेन कदलीकाण्डादयो व्याख्याताः ॥१२॥

(१३) अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम् ॥ ५,१,१३ ॥

अतीव कविभिः प्रयुक्तं देशभाषापदं प्रयोज्यम्। यथा—
योषिदित्यभिललाप न हालाम्।

इस सर्वनाम से परामर्श-ग्रहण-होता है। इसी नियम का प्रतिपादन यहां ग्रन्थकार वामन ने किया है। इसलिए 'तद्रेणुसमानगन्धिनः' में आए हुए 'तत्' सर्वनाम से 'नीलोत्पलपत्रचक्षुषः' इस समास में गुणीभूत 'नीलोत्पल' का परामर्श हो जाता है। कह काव्यसमय का ग्यारहवां नियम बतलाया ॥११॥

आगे 'काव्य-समय' का बारहवां नियम बतलाते हैं—

कहीं-कहीं सम्बन्ध के सम्बन्ध [बोधन] में [परम्परा से भी] षष्ठी [विभक्ति प्रयुक्त] हो सकती है।

सम्बन्ध से सम्बन्ध [अर्थात् परम्परासम्बन्ध] 'सम्बन्धसम्बन्ध' [शब्द से अभिप्रेत] है। उस [परम्परासम्बन्ध] में [भी] कहीं षष्ठी प्रयुक्त की जा सकती है। जैसे—'कमल का कन्दः, इस प्रयोग में। [कमल की जड़ नहीं होती। कमल का अर्थ कमलपुष्प है। उसकी कन्द या जड़ नहीं होती है अपितु] कमल से सम्बद्ध [हुई] कमलिनी [कमलपुष्प युक्त लता] उसका कन्द [कमल कन्द हुआ] इस प्रकार का [परम्परा] सम्बन्ध [यहां विवक्षित] है। उस [कमल कन्द के उदाहरण] से 'कदली-काण्ड' आदि की [भी] व्याख्या हो गई। [अर्थात् कदली शब्द का मुख्य अर्थ केले का फल है। उसका काण्ड अर्थात् तना नहीं होता है। अपितु कदली फल से सम्बद्ध जो वृक्ष उसका काण्ड इस प्रकार यहां भी परम्परा सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त हुई है] ॥१२॥

'काव्य-समय' का तेरहवां नियम अगले सूत्र में बतलाते हैं—

अत्यधिक प्रयुक्त होने वाले देशज [किसी देश विशेष में प्रयुक्त होने वाले] पद का [संस्कृत काव्य में भी] प्रयोग किया जा सकता है।

कवियों के द्वारा अत्यधिक प्रयुक्त किए जाने वाले देशभाषा के पद का [संस्कृत काव्य में भी] प्रयोग हो सकता है। जैसे—

इत्यत्र हालेति देशभाषापदम् । अनतिप्रयुक्तं तु न प्रयोज्यम् । यथा—

कङ्केलीकाननालीरविरलविलसत्पल्लवा नर्तयन्तः ।

इत्यत्र कङ्केली पदम् ॥१३॥

लिङ्गाध्याहारौ ॥ ५, १, १४ ॥

लिङ्गञ्चाध्याहारश्च लिङ्गाध्याहारावतिप्रयुक्तौ प्रयोज्याविति । यथा—

वत्से मा बहु निश्वसीः कुरु सुरागण्डूषमेकं शनैः ।

इत्यादिषु गण्डूषशब्दः पुंसि भूयसा प्रयुक्तो, न स्त्रियाम्, आम्नातोऽपि स्त्रीत्वे । अध्याहारो यथा—

कर [उसने] हाला [शराब] से बात भी नहीं की [शराब का भी सेवन नहीं किया]।

यहां 'हाला' शब्द देशभाषा का है । [परन्तु प्रचुर प्रयोग के कारण संस्कृत काव्य में उसका प्रयोग दोषाधायक नहीं है] । परन्तु जो [देश-भाषा पद] अधिक प्रयुक्त न किया गया हो उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए । जैसे—

सघन पत्तों से शोभायमान अशोकवन की पंक्तियों को नचाते हुए ।

इस उदाहरण में 'कङ्केली' पद [अनतिप्रयुक्त देशभाषा पद है जो अशोक के लिए प्रयुक्त किया है । परन्तु अधिक प्रयुक्त न होने के कारण यहां उसका प्रयोग उचित नहीं हुआ है] ॥१३॥

'काव्यसमय' का चौदहवां नियम अगले सूत्र में दिखलाते हैं—

[अति प्रयुक्त] लिङ्ग तथा [अतिप्रयुक्त पदों का] अध्याहार [भी काव्य में] किया जा सकता है ।

लिङ्ग और अध्याहार [इस प्रकार द्वन्द्व समास करके] लिङ्गाध्याहार [पद बना है] अतिप्रयुक्त [ही] प्रयुक्त करने चाहिएं । जैसे—

हे वत्से ! बहुत दुःखी न हो [अपने दुःख को भुलाने के लिए 'गम गलत' करने के लिए] धीरे से [चुपके से] सुरा का एक कुल्ला कर डालो । [एक घूँट उतार जाओ]।

इत्यादि [उदाहरणों] में [गण्डूष शब्द का पुंल्लिग में प्रयोग, अतिप्रयोग के कारण हुआ है और उचित है] गण्डूष शब्द अधिकतर पुंल्लिग में प्रयुक्त होता है ['शुण्डाग्रभागे गण्डूषा द्वयोस्तु मुखपूरणे' इस कोष के अनुसार]

मा भवन्तमनलः पवनो वा, वारणो मदकलः परशुर्वा ।
वाहिनीजलभरः कुलिशं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष ॥
अत्र धाक्षीदित्यादीनामध्याहारोऽन्वयोऽतिप्रयुक्तः ॥१४॥

लक्षणाशब्दाश्च ॥ ५,१,१५ ॥

लक्षणाशब्दाश्चातिप्रयुक्ताः प्रयोक्तव्याः। यथा द्विरेफ-रोदर-शब्दौ भ्रमर-चक्रवाकार्थौ लक्षणापरौ। अनतिप्रयुक्ताश्च न प्रयोज्याः। यथा द्विकः काक इति ॥१५॥

न तद्बाहुल्यमेकत्र ॥ ५,१,१६ ॥

स्त्रीलिङ्ग में पठित होने पर भी स्त्रीलिङ्ग में [अधिक] प्रयुक्त नहीं होता है ।

अध्याहार [का उदाहरण] जैसे—

वे वृक्ष ! तुमको अग्नि [न जलावे] अथवा वायु [न गिरावे] मदमत्त हाथी [न तोड़े] अथवा फरसा [न काटे] नदी के जल का प्रवाह [न बहावे] अथवा बिजली [न नष्ट करे]। [स्त्री रूप] लता के साथ तुम्हारा [सदा] कल्याण हो ।

यहां [अनलः आदि के बाद यथोचित] धाक्षीत् [चछैत्सीत् भैत्सीत्] आदि [उपयुक्त पदों] का अध्याहार अन्वय अतिप्रयोग से है ।

यहां वाराणसीय संस्करण में 'अध्याहारोऽन्वयप्रयुक्तः' पाठ छपा है । वह संगत नहीं होता है ॥ १४ ॥

'काव्य-समय' का पन्द्रहवां नियम अगले सूत्र में कहते हैं—

और लक्षणा शब्द [भी अतिप्रयुक्त होने पर ही प्रयोग करने चाहिएं]।

लक्षणा शब्द भी अतिप्रयुक्त [होने पर] ही प्रयुक्त करने चाहिएं। जैसे 'द्विरेफ' और 'रोदर' शब्द [क्रमशः] भ्रमर तथा चक्रवाक के अर्थ में लक्षणा परक [शब्द] हैं। [वह काव्य में अत्यन्त प्रचलित हो गए हैं इसलिए उनका प्रयोग करने में कोई दोष नहीं होता है। परन्तु] अधिक प्रयुक्त न होने वाले [लक्षणा शब्द] प्रयोग में नहीं लाने चाहिएं। जैसे [कौए के अर्थ में] 'द्विक' [दो ककार वाला] काक यह [लक्षणा शब्द प्रयुक्त नहीं करना चाहिए]॥ १५ ॥

तेषां लक्षणाशब्दानां बाहुल्यमेकस्मिन् वाक्ये न प्रयोज्यम् । शक्यते ह्येकस्यावाचकस्य वाचकवद्भावः कर्तुं, न बहूनामिति ॥१६॥

(९) स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा जातिः प्रायेण । ५, १, १७ ।

स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा द्वित्वाध्यासिता जातिः प्रायेण बाहुल्येनेति । यथा—'स्तनयोस्तरुणीजनस्य' । इति । प्रायेणेति वचनात् क्वचिन्न भवति । यथा—'स्त्रीणां चक्षुः' इति ।

अथ कथं द्वित्वाविष्टत्वं जातेः । तद्धि द्रव्ये न जातौ । अतद्रूपत्वात् तस्याः ।

उन लक्षणा शब्दों का बाहुल्य [अर्थात् अनेक लक्षणा शब्द] एक वाक्य में नहीं प्रयुक्त करने चाहिएं । [किसी वाक्य में यदि कोई एक इस प्रकार का लक्षणा शब्द आ जाय तो उस] एक अवाचक [शब्द] का वाचकवद्भाव [तो कथञ्चित्] किया जा सकता है । किन्तु बहुत से [अवाचक शब्दों] का वाचकवद्भाव] नहीं [किया जा सकता है] ॥ १६ ॥

काव्यसमय का १७वां नियम अगले सूत्र में कहते हैं—

स्तन आदि की प्रायः द्वित्व विशिष्ट जाति होती है । [अर्थात् स्तन, चक्षु, कर, आदि जो दो-दो अवयव होते हैं उन शब्दों का प्रायः द्विवचन में ही प्रयोग करना उचित होता है] ।

स्तन आदि [युग्म अवयवों के बोधक शब्दों] की प्रायः द्वित्वविशिष्ट द्विवचन युक्त जाति होती है । [उनका प्रायः द्विवचन में ही प्रयोग होता है] जैसे—

'तरुणी जनों के [दोनों] स्तनों का' ।

[यहां 'स्तनयोः' यह द्विवचन का ही प्रयोग किया है यदि एक तरुणी के स्तनों के लिए प्रयुक्त होगा तब भी द्विवचन में ही स्तन शब्द का प्रयोग होगा । इसी प्रकार 'स्तनयोस्तरुणीजनस्य' में अनेक तरुणियों के स्तनों के लिए भी 'स्तनयोः' यह द्विवचन ही प्रयुक्त किया गया है] । 'प्रायेण' इस कथन से कहीं-कहीं [द्विवचन का प्रयोग] नहीं [भी] होता है । जैसे स्त्रियों की चक्षु । [यहां 'चक्षुः' यह एकवचन का ही प्रयोग किया गया है] ।

[प्रश्न] जाति द्वित्वाविष्ट कैसे होगी । [क्योंकि] वह [द्वित्व गुण] तो द्रव्य में रहता है जाति में नहीं । जाति के द्रव्य से भिन्न होने से । [तब आप जाति को द्वित्वाविष्ट कैसे कहते हैं ? इसके अनुसार द्वित्व की गणना

नदोषः । तदतद्रूपत्वाज्जातेः ।

कथं तदतद्रूपत्वं जातेः ।

तद्धि जैमिनीया जानन्ति । वयन्तु लक्ष्यसिद्धौ सिद्धपरमतानुवादिनः । न चैवमतिप्रसङ्गः लक्ष्यानुसारित्वान्न्यायस्येति । एवमन्यत्रापि व्यवस्थोह्या ॥ १७ ॥

इति श्री काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'प्रायोगिके' पञ्चमेऽधिकरणे प्रथमोध्यायः ।
काव्यसमयः ।

गुणों में की जाती है। और गुण केवल द्रव्य में रहते हैं, जाति आदि में गुण नहीं रहते हैं। इसलिए जाति को द्वित्वाविष्ट नहीं कहा जा सकता है]।

[उत्तर] यह दोष नहीं है। जाति के तदतद्रूप [अर्थात् जाति का व्यक्ति के साथ भेदाभेद] होने के कारण [द्वित्व गुण जाति का धर्म हो सकता है]।

[प्रश्न--इस पर पूर्वपक्षी फिर प्रश्न करता है कि भेदाभेद तो परस्पर विरुद्ध धर्म है तब जाति का व्यक्ति के साथ भेदाभेद कैसे बनेगा] जाति का तदतद्रूपत्व कैसे होगा ?

[उत्तर] यह तो ['जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थाः' अर्थात् जाति, आकृति और व्यक्ति तीनों को सम्मिलित रूप से पदार्थ मानने वाले जैमिनि दर्शन के अनुयायी] मीमांसक जानें । [अर्थात् इस विषय पर शास्त्रार्थ करना हो तो आप मीमांसकों के साथ शास्त्रार्थ करें ।] हम तो अपने लक्ष्य की सिद्धि में [प्रमाणों से] सिद्ध हुए दूसरे [मीमांसकों] के मत का अनुवाद करने वाले हैं ।

[प्रश्नकर्ता] ऐसे तो [फिर किसी की बात लेकर कुछ भी सिद्ध किया जा सकेगा इसलिए] अतिप्रसङ्ग होगा ।

[उत्तर] नहीं [इस प्रकार अतिप्रसंग की शंका नहीं करनी चाहिए] लक्ष्य के अनुसार न्याय [युक्ति, प्रमाण या लक्षण] के होने से ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवस्था स्वयं समझ लेनी चाहिए ।

इति श्री काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में
'प्रायोगिक' पञ्चम अधिकरण में
प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

—o—

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यालंकारदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
'प्रायोगिके' पञ्चमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

'प्रायोगिक' नाम्नि पञ्चमाधिकरणे

द्वितीयोऽध्यायः

[शब्दशुद्धिः]

साम्प्रतं शब्दशुद्धिरुच्यते ।

रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्यः । ५, २, १ ।

रुद्रावित्यत्र प्रयोगे एकशेषोऽन्वेष्योऽन्वेषणीयः । रुद्रश्च रुद्राणी

'प्रायोगिक' पञ्चम अधिकरण में द्वितीय अध्याय

पञ्चम अधिकरण का नाम 'प्रायोगिक' अधिकरण है । इसमें कवियों के लिए शब्द वाक्य आदि के प्रयोग के नियम बतलाए हैं इसलिए इसका नाम 'प्रायोगिक' अधिकरण रखा गया है । इस के प्रथम अध्याय में 'काव्य-समय' नाम से काव्य में प्रयुक्त होने वाली सामान्य बातों का उल्लेख किया गया है । इस अध्याय में 'शब्दशुद्धि' के विषय में लिखेंगे । कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो देखने में शुद्ध मालूम होते हैं परन्तु वास्तव में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उनका प्रयोग उचित नहीं होता है । और कुछ शब्द इस प्रकार के होते हैं जिनको अशुद्ध मानकर कवि लोग उनका प्रयोग नहीं करते हैं । पर वास्तव में वह शुद्ध होते हैं और प्रयुक्त किए जा सकते हैं । इन दोनों प्रकार के कुछ प्रचलित शब्दों की विवेचना इस अध्याय में करेंगे । सबसे पहले शिव और पार्वती दोनों के लिए सम्मिलित रूप से होने वाले 'रुद्रौ' इस प्रयोग को लेते हैं ।

अब शब्दशुद्धि का कथन करते हैं ।

रुद्रौ' इस [प्रयोग] में एकशेष [का विधान] खोजना होगा [अर्थात् मिलता नहीं है । अतएव यहां एकशेष करके शिव तथा पार्वती दोनों के लिए 'रुद्रौ' यह प्रयोग करना उचित नहीं] है ।

[शिव और पार्वती दोनों के लिए सम्मिलित रूप में एकशेष द्वारा] 'रुद्रौ' इस प्रयोग में एकशेष [विधायक सूत्र का] अन्वेषण करना होगा । रुद्र और [रुद्रस्य पत्नी] रुद्राणी ['इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्यमातुला-

चेति [1]'पुमान् स्त्रिया:' इत्येकशेषः । स च न प्राप्नोति । तत्र हि [2]'तल्लक्षण-श्चेदेव विशेष' इत्यनुवर्तते । इति तत्रैवकारकरणात् स्त्रीपुंसकृत एव विशेषो भवतीति व्यवस्थितम् । अत्र तु [3]'पुंयोगादाख्यायाम्' इति विशेषान्तरमप्यस्तीति । एतेन इन्द्रौ, भवौ, शर्वौ इत्यादयः प्रयोगाः प्रत्युक्ताः ॥ १ ॥

चार्याणामानुक्' इस सूत्र से स्त्रीलिंग में रुद्र शब्द से ङीष् प्रत्यय और आनुक् का आगम होकर 'रुद्राणी' पद बनता है ।] इस [विग्रह] में 'पुमान् स्त्रिया' [अष्टाध्यायी १, २, ६७] इस सूत्र से एकशेष हो सकता था । परन्तु वह प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि उस ['पुमान् स्त्रिया' सूत्र] में [इससे पहिले के 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' अष्टाध्यायी १, २, ६६ सूत्र से] 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इसकी अनुवृत्ति आती है । उसमें 'एवकार' के होने से स्त्रीत्व-पुंस्त्वकृत भेद [में] ही [एकशेष] होता है । [अन्य किसी प्रकार का अन्तर होने पर एकशेष नहीं होता है] यह व्यवस्था की गई है । यहां ['रुद्रश्च रुद्राणी' च इस विग्रह म] तो 'पुंयोगादाख्यायाम्' इससे [अष्टाध्यायी ४, १, १८ पुरुष के योग से 'रुद्रस्य पत्नी रुद्राणी' अथवा 'गोपस्य पत्नी गोपी' इत्यादि के समान केवल स्त्रीत्व नहीं अपितु पत्नीत्व रूप] अन्य विशेषता भी हैं । [इसलिए यहां एकशेष नहीं हो सकता हैं । अतः एकशेष करके शिव और पार्वती दोनों के लिए 'रुद्रौ' पद का प्रयोग अनुचित है] । इससे ['रुद्रौ' पद में एकशेष की विवेचना से उसी के समान] 'इन्द्रौ', 'भवौ', 'शर्वौ'' इत्यादि ['इन्द्र-वरुण-भव-शर्व' इत्यादि अष्टाध्यायी के ४, १, ४९ सूत्र के आधार पर बने हुए पदों में भी एकशेष करके किए हुए] प्रयोगों का भी खण्डन हो गया । [अर्थात् उनका भी एकशेष करके 'भवौ', 'शर्वौ'' आदि प्रयोग नहीं करना चाहिए] ॥१॥

'मिलति', 'विक्लवति', 'क्षपयति' इत्यादि प्रयोग महाकवियों ने किए हैं । परन्तु इनके मूलभूत धातु धातुपाठ में नहीं मिलते हैं । तव यह प्रयोग कैसे बनते हैं इस प्रकार की शंका हो सकती है । इसका समाधान करने के लिए अगला सूत्र कहते हैं—

---

[1] अष्टाध्यायी १, २, ६७ ।

[2] अष्टाध्यायी १, २, ३६ ।

[3] अष्टाध्यायी ४, १, ४८ ।

मिलि-क्लबि-क्षपि-प्रभृतीनां धातुत्वं, धातुगणस्यासमाप्तेः । ५, १, २ ।

मिलति, विक्लबति, क्षपयति इत्यादयः प्रयोगाः । तत्र मिलि-क्लबि-क्षपि-प्रभृतीनां कथं धातुत्वम् । गणपाठाद्, गणपठितानामेव धातुसंज्ञाविधानात् । तत्राह । धातुगणस्यासमाप्तेः । वर्धते धातुगण इति हि शब्दविद आचक्षते । तेनैषां गणपाठोऽनुमतः, शिष्टप्रयोगादिति ॥ २ ॥

वलेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात् । ५, २, ३ ।

वलेरनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदं यत्, तदनित्यं दृश्यते, 'लज्जालोलं वलन्ती' इत्यादिप्रयोगेषु । तत्कथमित्याह ज्ञापकात् ॥ ३ ॥

'मिलि', 'क्लबि' और 'क्षपि' आदि [धातुपाठ में अपठित] का धातुत्व है । धातुगण [धातुपाठ मात्र में समस्त धातुओं] के समाप्त न होने से [धातुपाठ के अतिरिक्त धातु भी होते हैं] ।

'मिलति', 'विक्लबति', 'क्षपयति' इत्यादि प्रयोग पाए जाते हैं । उनमें [उनके मूलभूत] मिलि, क्लबि, क्षपि आदि का धातुत्व [धातुपाठ में पठित न होने के कारण] कैसे होगा ? गणपाठ से, [भ्वादि] गण पठितों की ही धातुसंज्ञा का विधान [[1]'भूवादयो धातवः' इस सूत्र में] होने से । [गणों में अपठित मिलि आदि का धातुत्व कैसे होगा, यह प्रश्न हुआ] ।

इसका उत्तर देते हैं । धातुगण के [उसी परिगणित धातुपाठ के भीतर] समाप्त न होने से । [धातुपाठ के बाहर भी बहुत धातु शिष्ट प्रयोग से मानी जा सकती हैं । इसीलिए] धातुगण बढ़ सकता है । यह शब्द-शास्त्रज्ञ [व्याकरण के आचार्य] कहते हैं । इसलिए इन [मिलि, क्लबि आदि] का गणपाठ [धातुत्व] शिष्ट प्रयोग से अभिमत है । ['प्रभृति'-ग्रहण से 'बीज' 'आन्दोल' आदि का ग्रहण भी करना चाहिए । 'शिष्ट' प्रयोग [शब्द] से अतिप्रसङ्ग का वारण किया है ॥ २ ॥

'वलि' [धातु] का [अनुदात्तेत् निमित्तक] आत्मनेपद [चक्षिङ् धातु में इकार तथा ङकार दो अनुबन्ध करने रूप] ज्ञापक [बल] से अनित्य है । [इसलिए परस्मैपद में भी उसका प्रयोग हो सकता है] ।

वलि [धातु] के अनुदात्त [इकार के] इत् होने से [[2]'अनुदात्तङित

---

[1] अष्टाध्यायी १, ३, १ ।

[2] अष्टाध्यायी १, ३, १२ ।

किं पुनस्तज्ज्ञापकमत आह—

चक्षिङो द्व्यनुबन्धकरणम् । ५, २, ४ ।

चक्षिङ इकारेणैवानुदात्तेन सिद्धमात्मनेपदं किमर्थं ङित्करणम् । यत् क्रियते अनुदात्तनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम् । एतेन वेदि-भर्त्सि तर्जि-प्रभृतयो व्याख्याताः । आवेदयति, भर्त्सयति, तर्जयति इत्यादीनां प्रयोगाणां दर्शनात् । अन्यत्राप्यनुदात्तनिबन्धनस्य आत्मनेपद-स्यानित्यत्वं ज्ञापकेन द्रष्टव्यमिति ॥ ४ ॥

आत्मनेपदम्' इस सूत्र से विहित] जो आत्मनेपद हुआ है वह 'लज्जालोलं वलन्ती' इत्यादि प्रयोगों में अनित्य दिखलाई देता [पाया जाता] है । वह ['वलन्ती' पद में परस्मैपदनिमित्तक शतृ प्रत्यय] कैसे हुआ [इस शङ्का के होने पर उस के समाधान के लिए] यह कहते है । [चक्षिङ् धातु में इकार तथा ङकार अनुदात्तेत् और ङित्करण रूप अनुबन्धद्वय की रचना रूप] ज्ञापक के होने से । [अनुदात्तेत् निमितक आत्मनेपद की अनित्यता होने से 'वलन्ती' में आत्मनेपद को अनित्य मान कर ही कवि ने 'वलन्ती' पद का प्रयोग किया है] ॥ ३ ॥

['वलन्ती' में अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद की अनित्यता का] वह ज्ञापक क्या है । इसके [दिखलाने के] लिए [अगले सूत्र में ज्ञापक] कहते हैं—

चक्षिङ् [धातु] के [इकार और ङकार रूप] दो अनुबन्धों का करना [ही इस विषय में ज्ञापक है] ।

चक्षिङ् [धातु में] के अनुदात्त 'इकार' [के इत् होने] से ही ['अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इस सूत्र से] आत्मनेपद सिद्ध हो सकता है फिर ङित्करण किसलिए किया है । जो [यह ङित्करण] किया है वह अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद के अनित्यत्वज्ञापन के लिए [ही] किया है । इस [अनुदात्तेत्-निमित्तक आत्मनेपद के अनित्यत्व-ज्ञापन] से वेदि, भर्त्सि, तर्जि प्रभृति [धातुओं में अनुदात्तेत् अर्थात् इकार की इत् संज्ञा होने पर भी आत्मने-पद के न होने के कारण] की व्याख्या हो गई । [उन धातुओं के अनुदात्तेत्-होने पर भी अनुदात्तेत्-निमित्तक आत्मनेपद के अनित्य होने से ही] आवेदयति, भर्त्सयति, तर्जयति आदि [परस्मैपद के] प्रयोग देखे जाने से । [चक्षिङ् धातु से] अन्यत्र भी अनुदात्तनिमित्तक आत्मनेपद का अनित्यत्व [इस] ज्ञापक से समझना चाहिए ॥ ४ ॥

इस प्रकार आत्मनेपदी धातुओं के परस्मैपद के रूपों का समर्थन कर

क्षीयते इति कर्मकर्तरि । ५, २, ५ ।

क्षीयते इति प्रयोगो दृश्यते । स कर्मकर्तरि द्रष्टव्यः । क्षीयतेरनात्मनेपदित्वात् ॥ ५ ॥

पद प्रयोगों के समर्थन का प्रकार अगले दो सूत्रों में दिखलाते हैं। इन दोनों प्रयोगों का समर्थन ग्रन्थकार ने कर्मकर्ता में उनका प्रयोग मान कर किया है। जब सौकर्य के अतिशय के द्योतन के लिए कर्तृत्व की अविवक्षा हो जाती है तब कर्म, करण आदि अन्य कारक भी कर्ता का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। जैसे हम कलम से लिखते हैं। लिखने में कलम साधन या करण है। परन्तु कभी कभी 'यह कलम बड़ा अच्छा लिखती है' अथवा 'यह कलम तो चलती ही नहीं' इस प्रकार के प्रयोग करते हैं। यहाँ वास्तविक कर्ता में कर्तृत्व की अविवक्षा होने से करणभूत कलम में कर्तृत्व आ जाता है। 'साध्वसिश्छिनत्ति' आदि प्रयोग ऐसे ही हैं। इसी प्रकार 'ओदनं पचति', 'काष्ठं भिनत्ति' आदि वाक्यों में जब सौकर्यातिशय द्योतन के लिए कर्तृत्व की अविवक्षा होती है तब कर्मरूप ओदन तथा काष्ठ भी कर्ता का स्थान ले लेते हैं। तब 'पच्यते ओदनः स्वयमेव,' 'भिद्यते काष्ठं स्वयमेव' इस प्रकार के प्रयोग होते हैं। इन्हीं को कर्मकर्ता में प्रयोग कहते हैं। जब कर्म कारक कर्ता का स्थान लेता है तब '[1]कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' सूत्र से कर्मवद्भाव होने से यक्, आत्मनेपद, चिण्वद्भाव, चिण्वद् इट् आदि कार्य होते हैं। इसलिए जिन धातुओं से साधारणतः कर्ता में प्रत्यय होने की अवस्था में परस्मैपद होता है जैसे 'ओदनं पचति', 'काष्ठं भिनत्ति' आदि में उन्हीं धातुओं के कर्मकर्ता में यक् प्रत्यय और आत्मनेपद होकर 'पच्यते ओदनः' 'भिद्यते काष्ठं' इस प्रकार के प्रयोग होते हैं। यह 'कर्मकर्ता' के प्रयोग कहलाते हैं। इसी प्रकार 'क्षीयते' तथा 'खिद्यते' प्रयोग भी कर्मकर्ता में होने से उनमें आत्मनेपद होता है इस बात का प्रतिपादन अगले दो सूत्रों में करते हैं।

क्षीयते यह [प्रयोग] कर्मकर्ता में [होने से यहां आत्मनेपद] है।

क्षीयते यह प्रयोग देखा जाता है । वह कर्मकर्ता में समझना चाहिए। 'क्षि' धातु के परस्मैपदी होने से।

'क्षि' धातु, धातुपाठ में तीन जगह आया है। पहिला भ्वादि गण में 'क्षि क्षये' धातु आया है, वह अकर्मक है। उसका 'क्षयति' रूप बनता है। दूसरा

---

[1] अष्टाध्यायी ३, १, ८७ ।

खिद्यते इति च । ५, ७, ६ ।

खिद्यते इति च प्रयोगो दृश्यते । सोऽपि कर्मकर्तर्येव द्रष्टव्यो, न कर्तरि । अदैवादिकत्वात् खिदेः ॥ ६ ॥

'क्षि हिंसायाम्' 'स्वादिगण' में आया है वहाँ 'क्षिणोति' रूप बनता है। और तीसरा 'क्षि निवासगत्योः' 'तुदादि गण' में आया है वहां भी परस्मैपदी धातुओं में ही उसका पाठ है इसलिए सभी जगह 'क्षीयते' में आत्मनेपद का उपपादन कर्मकर्ता में प्रयोग मान कर ही हो सकता है। 'व्ययः धनं क्षिणोति' इस वाक्य में जब व्यय रूप कर्ता में कर्तृत्व की अविवक्षा हो जाती है तब कर्मकर्ता में प्रयोग होकर 'धनं स्वयमेव क्षीयते' इस प्रकार का प्रयोग हो जाता है ॥ ५ ॥

और [इसी प्रकार] 'खिद्यते' यह [प्रयोग] भी [कर्मकर्ता का ही प्रयोग समझना चाहिए] ।

और 'खिद्यते' यह प्रयोग भी पाया जाता है वह भी कर्मकर्ता में [ही] समझना चाहिये, कर्ता में नहीं । 'खिद' धातु के [यहां] दैवादिक [दिवादिगणपठित] न होने से ।

यहां ग्रन्थकार लिख रहे हैं कि 'खिद' धातु 'दिवादिगण' की नहीं है इसलिए 'खिद्यते' रूप केवल कर्मकर्ता में बन सकता है। कर्ता में नहीं । परन्तु ग्रन्थकार का यह मत चिन्त्य है। क्योंकि 'दिवादि गण' में 'खिद दैन्ये' धातु पाया जाता है और वहाँ कर्ता में ही 'खिद्यते' रूप भी बनता है। वस्तुतः 'खिद' धातु भी धातुपाठ में तीन जगह आया है । 'तुदादिगण' में 'खिद परिघाते' धातु है उसका 'खिन्दति' रूप बनता है। इसके अतिरिक्त 'रुधादि' तथा 'दिवादि' गणों में 'खिद दैन्ये' इस रूप में 'खिद' धातु का पाठ हुआ है। 'रुधादिगण' में उसका 'खिन्ते' रूप बनता है और 'दिवादिगण' में 'खिद्यते' रूप कर्ता में बनता है। 'तुदादिगण' में 'खिद परिघाते' धातु के प्रकरण में ही सिद्धान्तकौमुदीकार ने 'अयं दैन्ये रुधादौ दिवादौ च' यह स्पष्ट रूप से लिख भी दिया है । परन्तु वामन मालूम नहीं किस आधार पर 'अदैवादिकत्वात् खिदेः' अर्थात् खिद धातु दैवादिक—दिवादिगण पठित नहीं है, यह लिख रहे हैं । 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' के अनुसार यदि इसकी संगति लगानी है तो इस प्रकार लगाई जा सकेगी कि वामन ने किसी विशेष स्थल के प्रयोग विशेष को 'परिघातार्थक तुदादिगणीय 'खिद' धातु से बना हुआ मान कर यह लिखा है कि यहां इस विशेष प्रयोग में प्रयुक्त 'खिद' धातु दिवादिगण पठित दैवादिक धातु नहीं है। इसलिए उस स्थल में 'खिद्यते' यह प्रयोग कर्मकर्ता में समझना चाहिए । दिवादिगण पठित खिद

मार्गेरात्मनेपदमलक्ष्म । ५, २, ७ ।

चुरादौ 'मार्ग अन्वेषणे' इति पठ्यते । 'आ धृषाद्वा' इति विकल्पितणिच्कः । तस्माद् यदात्मनेपदं दृश्यते 'मार्गन्तां देहभारमिति' तदलक्ष्म अलक्षणम् । परस्मैपदित्वान्मार्गेः । तथा च शिष्टप्रयोगः—

'करकिसलयं धूत्वा धूत्वा विमार्गति वाससी' ॥ ७ ॥

लोलमानादयश्चानशि । ५, २, ८ ।

लोलमानो वेल्लमान इत्यादयश्चानशि द्रष्टव्याः । शानचस्त्वभावः । परस्मैपदित्वाद् धातूनामिति ॥ ८ ॥

धातु का तो कर्ता में भी 'खिद्यते' प्रयोग बन सकता है। ग्रन्थकार का यह अभिप्राय मान कर ही प्रकृत ग्रन्थ की संगति लगानी चाहिए ॥ ६ ॥

'मार्ग' धातु का आत्मनेपद अशुद्ध है ।

'चुरादिगण' में 'मार्ग' अन्वेषणे' यह [धातु] पढ़ा जाता है । 'आधृषाद् वा' इस नियम से उससे [चुरादि सुलभ] णिच् विकल्प से कहा गया है । उस ['मार्ग' धातु] से जो आत्मनेपद देखा है जैसे 'मार्गन्तां देहभारम्' इस प्रयोग में [मार्ग धातु से लोट् लकार में 'मार्गन्ताम्' प्रयोग बनता है]। वह [अलक्ष्म ललणहीन-दूषित]अशुद्ध है । 'मार्ग' धातु के परस्मैपदी होने से । इसीलिए ['मार्ग' धातु का] शिष्ट प्रयोग [परस्मैपद में ही किया जाता है] जैसे—

[सम्भोग के अनन्तर नग्ना नायिका] कर किसलय को हिला-हिला कर [नीचे पहिनने और ऊपर ओढ़ने के] दोनों वस्त्रों को [पलंग पर इधर-उधर] खोजती है ।

यहां 'विमार्गति' यह 'मार्ग' धातु का परस्मैपद में प्रयोग किया गया है । यही शिष्टानुमोदित प्रयोग होने से शुद्ध प्रयोग है । और 'मार्गन्ताम्' आदि आत्मनेपद में बनाए हुए 'मार्ग' धातु के प्रयोग अशुद्ध हैं ॥ ७ ॥

लोलमान आदि [आत्मनेपदी सदृश प्रयोग] चानश् [प्रत्यय] में [बने समझने चाहिएं, आत्मनेपदी धातुओं से विहित शानच् प्रत्यय से बने हुए नहीं समझने चाहिएं] ।

लोलमानः वेल्लमानः इत्यादि [आत्मनेपदी धातुओं के सदृश दिखलाई

देने वाले प्रयोग आत्मनेपदी धातु से शानच् प्रत्यय में मुक् का आगम होकर नहीं अपितु परस्मैपदी धातु से ही] चानश [प्रत्यय] में [मुगागम करके बनाए हुए] समझने चाहिएं। [उन] धातुओं के परस्मैपदी होने से। [उन धातुओं से परे] शानच् [प्रत्यय] का अभाव है। [परस्मैपदी धातु से शानच् प्रत्यय नहीं हो सकता है अतएव [1]'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' सूत्र से 'चानश्' प्रत्यय करके उनकी सिद्धि होती है यह समझना चाहिए]

लोलमान, वेल्लमान शब्दों का प्रयोग निम्न श्लोक में इकट्ठा ही किया गया है—

> लोलमाननवमौक्तिकहारं वेल्लमानचिकुरश्लथमाल्यम्।
> स्विन्नवक्त्रमविकस्वरनेत्रं कौशलं विजयते कलकण्ठ्याः ॥८॥

लभ धातु 'डुलभष् प्राप्तौ' इस रूप में प्राप्ति अर्थ में भ्वादिगण में पढ़ा गया है। इस के 'ण्यन्तावस्था' में दो प्रकार के प्रयोग काव्यों में पाए जाते हैं। कहीं तो 'अण्यन्तावस्था' का लभ धातु का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्म हो गया है और उसमें द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हो रहा है। और कहीं अण्यन्तावस्था का लभ धातु का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्म नहीं हुआ है और उसमें ण्यन्तावस्था में द्वितीया के बजाय तृतीया विभक्ति का प्रयोग हो रहा है। पहिले प्रकार का उदाहरण—

> दीर्घिकासु कुमुदानि विकासं लम्भयन्ति शिशिराः शशिभासः।

है। इसमें 'लम्भयन्ति' यह णिजन्त का प्रयोग है। इसका अण्यन्तावस्था में 'कुमुदानि विकासं लभन्ते' इस प्रकार का प्रयोग होता है। इसमें 'कुमुदानि' कर्ता है, 'विकासं' कर्म है, 'लभन्ते' अण्यन्तावस्था की क्रिया है। 'कुमुदानि विकासं लभन्ते, तानि शशिभासः प्रेरयन्ति' इस प्रकार प्रयोजक कर्ता में णिच् प्रत्यय करने पर 'शशिभासः कुमुदानि विकासं लम्भयन्ति' यह प्रयोग बनता है। इसमें कुमुदानि यह कर्म विभक्ति है और द्वितीया का रूप है। पाणिनि के [2]'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इस सूत्र से गत्यर्थक आदि धातुओं का अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञक हो जाता है। और उसमें द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे—

---

[1] अष्टाध्यायी ३, २, १२९

[2] अष्टाध्यायी १, ४, ५२

लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे । ५, २, ९ ।

शत्रूनगमयत् स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद्विधिम् ।
आसयत् सलिले पृथिवीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ॥

इसी प्रकार 'शशिभासः कुमुदानि विकासं लम्भयन्ति' यह प्रयोग किया गया है । इसमें लभ धातु के प्राप्त्यर्थक होने पर भी उसमें गति का प्राधान्य और प्राप्ति की गौणता होने से गत्यर्थक मान कर अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्म हो गया है ।

दूसरे उदाहरण में 'सुतरां सितं मुनेर्वपुः विसारिभिः, द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः सितिम्ना लम्भयन् अच्युतः शुचिस्मितां वाचमवोचत्' इस दूसरे उदाहरण में 'सितिमा मुनेर्वपुः लभते' श्वेतिमा मुनि नारद के शरीर को प्राप्त करती है 'तं कृष्णः प्रेरयति' कृष्ण उसको प्रेरित करते हैं, इसलिए कृष्ण नारद मुनि के शरीर को शुक्लता से युक्त करते हुए बोले । यहां अण्यन्तावस्था के कर्ता की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति नहीं हुई है । अपितु कर्ता के उसके [1] 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र से उसके कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है । यहां कर्मसंज्ञा न होने का कारण लभ धातु की गत्यर्थता का न होना है । लभ धातु का साधारण अर्थ तो धातुपाठ के अनुसार प्राप्ति है । परन्तु वह प्राप्ति गतिपूर्वक ही होती है । उसमें कहीं गति का प्राधान्य और प्राप्ति का अप्राधान्य होता है तथा कहीं प्राप्ति का प्राधान्य ओर गति का अप्राधान्य होता है । इनमें से जहां गति का प्राधान्य होता है वहां धातु को गत्यर्थक मान कर [2] 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इस सूत्र से अण्यन्तावस्था के कर्ता की ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञा होती है । और उसमें द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है । और जहां प्राप्ति का प्राधान्य होता है गति गौण होती है वहां लभ धातु को गत्यर्थक नहीं माना जा सकता है अतएव वहां अण्यन्त अवस्था का कर्ता कर्मसंज्ञक नहीं होता है । वहां कर्ता में तृतीया विभक्ति होजाती है इस प्रकार लभ धातु के ण्यन्तावस्था में यह दो प्रकार के प्रयोग पाए जाते है । इस बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र में कहते हैं:—

लभ धातु के गत्यर्थक होने [और कहीं गत्यर्थक न होने] से णिजन्त

[1] अष्टाध्यायी २, ३, १८ ।

[2] अष्टाध्यायी १, ४, ५२ ।

अस्त्ययं लभिर्यः प्राप्त्युपसर्जनां गतिमाह। अस्ति च गत्युपसर्जनां प्राप्तिमाहेति। अत्र पूर्वस्मिन् पक्षे गत्यर्थत्वाभावाल्लभेर्णिच्यणौ कर्ता तस्य [1]गत्यादिसूत्रेण कर्मसंज्ञा। यथा—

दीर्घिकासु कुमुदानि विकासं लम्भयन्ति शिशिराः शशिभासः।

द्वितीयपक्षे गत्यर्थत्वाभावाल्लभेर्णिच्यणौ कर्तुर्न कर्मसंज्ञा। यथा—

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपु-
र्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः
शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः॥ ६॥

[में प्रयोजक कर्ता की अवस्था] में अण्यन्त अवस्था के कर्ता का कर्मत्व और अकर्मत्व [कहीं कर्मसंज्ञा और कहीं उसका अभाव] होता है।

एक इस प्रकार का लभ धातु [का प्रयोग] है जो, प्राप्ति जिसमें उपसर्जन [गुणीभूत] है ऐसी गति को कहता है। और [दूसरा इस प्रकार का लभ धातु का प्रयोग है] जो, गति जिसमें उपसर्जनीभूत है इस प्रकार की प्राप्ति को कहता है। उन [दोनों में से प्राप्ति जिसमें गुणीभूत है ऐसे गतिप्रधान] प्रथम पक्ष में लभ धातु के गत्यर्थक [गतिप्रधानार्थक] होने से अण्यन्तावस्था में जो कर्ता उसकी [[2]'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इत्यादि] गत्यादि सूत्र से कर्मसंज्ञा हो जाती है। जैसे—

चन्द्रमा की शीतल किरणें बावड़ियों में कुमुदों को खिलाती [विकास को प्राप्त कराती] हैं।

यहां कुमुद विकास को प्राप्त करते हैं इस अण्यन्तावस्था के वाक्य में कुमुद कर्ता है। शीतल शशिकिरणें कुमुदों को विकास प्राप्त करवाती हैं। इस णिजन्तावस्था में प्रयोजक कर्ता शशिकिरणें हैं। और अण्यन्तावस्था का कर्ता कुमुद यहां कर्म हो गया है।

[प्राप्ति प्रधान] दूसरे पक्ष में [लभ धातु के] गत्यर्थक न होने से णिजन्त में अण्यन्तावस्था के कर्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती है। जैसे—

स्वभावतः गौर वर्ण [नारद] मुनि के शरीर को [चारों ओर] फैलने

---

[1] अष्टाध्यायी १, ४, ५२।

[2] अष्टाध्यायी १, ४, ५२।

ते मे शब्दौ निपातेषु ॥ ५,२,१० ॥

त्वया मयेत्यस्मिन्नर्थे ते मे शब्दौ निपातेषु द्रष्टव्यौ । यथा—

श्रुतं ते वचनं तस्य ।
वेदानधीत इति नाधिगतं पुरा मे ॥१०॥

तिरस्कृत इति परिभूतेऽन्तर्ध्युपचारात् ॥ ५,२,११॥

वाली दन्तपंक्ति के बहाने चन्द्रमा की किरणों से [और भी अधिक] श्वेतिमा को प्राप्त कराते हुए कृष्ण जी शुभ्रस्मित युक्त वाणी बोले ।

यहां 'लम्भयन्' यह ण्यन्तावस्था की क्रिया है उसका अण्यन्तावस्था का कर्ता 'सितिमा' है । परन्तु यहां गत्यर्थ की प्रधानता न होने से 'गतिबुद्धि' इत्यादि सूत्र से 'सितिमा' की कर्म संज्ञा नहीं हुई । तब 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र से उसमें तृतीया होकर 'सितिम्ना लम्भयन्' यह प्रयोग बना है ॥ ९ ॥

युष्मद्-अस्मद् शब्द के षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में 'तुभ्यं', 'ते' और 'तव', 'ते' यह दो प्रकार के रूप बनते हैं । परन्तु इन दो विभक्तियों के अतिरिक्त कहीं-कहीं तृतीयादि विभक्ति में भी 'ते' 'मे' पदों का प्रयोग देखा जाता है । जैसे 'श्रुतं ते वचनं तस्य' यहाँ 'त्वया' के स्थान पर 'ते' प्रयुक्त किया गया है । 'वेदानधीते इति नाधिगतं पुरा मे' यहाँ 'मे नाधिगतं' का अर्थ 'मया नाधिगतम्' है । इस प्रकार इन उदाहरणों में तृतीया विभक्ति में 'ते', 'मे' शब्दों का प्रयोग कैसे हुआ है यह शङ्का होती है । उसका समाधान ग्रन्थकार यह करते हैं कि 'ते', 'मे' शब्दों का निपातों में पाठ मान कर यहां प्रयोग किया गया है । इसी बात को अगले सूत्र में कहते हैं—

'ते', 'मे' शब्द निपातों में [पठित] हैं ।

'त्वया' 'मया' इस [तृतीयान्त के] अर्थ में 'ते' [त्वया], 'मे' [मया] शब्द निपातों में देखने चाहिएं । जैसे—

तुमने उसका वचन सुना ।
[वह] वेद पढ़ता है यह बात मैंने पहले नहीं जानी ।

[इन दोनों उदाहरणों में निपात पठित 'ते', 'मे' शब्दों का प्रयोग समझना चाहिए] ॥ १० ॥

'तिरस्कृत' यह [शब्द] परिभूत [अपमानित] अर्थ में अन्तर्धान [छिप जाने] के सादृश्य से [गौणीवृत्ति लक्षणा से प्रयुक्त होता] है ।

तिरस्कृत इति शब्दः परिभूते दृश्यते। 'राज्ञा तिरस्कृत' इति। स च न प्राप्नोति। तिरः शब्दस्य हि [1]"तिरोऽन्तर्धौ" इत्यन्तर्धौ गतिसंज्ञा। तस्यां च सत्यां [2]"तिरसोऽन्यतरस्याम्" इति सकारः। तत्कथं तिरस्कृत इति परिभूते।

आह, अन्तर्ध्युपचारात्, इति। परिभूतो ह्यन्तर्हितवद् भवति। मुख्यस्तु प्रयोगो यथा—

लावण्यप्रसरतिरस्कृताङ्गलेखाम् ॥ ११ ॥

'तिरस्कृतः' यह शब्द अपमानित इस अर्थ में [प्रयुक्त हुआ] देखा जाता है। [जैसे] 'राजा से तिरस्कृत' [राजा से अपमानित]। वह [परिभूत या अपमानित अर्थ में तिरस्कृत शब्द का प्रयोग व्याकरण के नियमानुसार] प्राप्त नहीं होता है। 'तिरः' शब्द की अन्तर्धान [अर्थ] में [3]'तिरोऽन्तर्धौ' सूत्र से गति संज्ञा होती है। और उस [गतिसंज्ञा] के हो जाने पर [4]'तिरसोऽन्यतरस्याम्' इस सूत्र से [विसर्ग को क के परे रहते] सकार [होकर 'तिरस्कृतः' यह रूप] होता है। तब परिभूत अर्थ में [गतिसंज्ञा न होने से] 'तिरस्कृतः' यह [प्रयोग] कैसे होगा।

[इस शङ्का के होने पर उसके समाधान के लिए] कहते हैं। अन्तर्धान का [अपमानित में] सादृश्य होने से। अपमानित [व्यक्ति] अन्तर्हित के समान [अलक्ष्य, उपेक्षित] हो जाता है। [इसलिए सादृश्य लक्षणा से परिभूत के लिए भी तिरस्कृत शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। इस तिरस्कृत शब्द का] मुख्य प्रयोग तो [इस प्रकार के उदाहरणों में समझना चाहिए] जैसे—

सौन्दर्य के प्रसार से जिसकी देह रेखाएं छिप गई हैं [ऐसी सुन्दरी को] ॥ ११ ॥

निषेध के अर्थ में नञ् का प्रयोग होता है। इसका [5]'नञ्' इस सूत्र से सुबन्त के साथ समास होता है। उसके बाद [6]'नलोपो नञः' इस सूत्र से उत्तरपद परे रहते नञ् के न का लोप हो जाता है। उसके बाद यदि 'द्वितीय' आदि उत्तरपद परे हैं तब अद्वितीय रूप बन जाता है। परन्तु जहाँ अजादि 'एक' आदि

[1-3] अष्टाध्यायी १, ४, ७१।

[2-4] अष्टाध्यायी ८, ३, ४२।

[5] अष्टाध्यायी २, २, ६।

[6] अष्टाध्यायी ६, ३, ७२।

नैकशब्दः सुप्सुपेति समासात् ॥ ५,२,१२ ॥

अरण्यानीस्थानं फलनमितनैकद्रुमिदम् ।

इत्यादिषु नैकशब्दो दृश्यते । स च न सिद्ध्यति । नञ्समासे हि [1]'नलोपो नञः' इति नलोपे [2]'तस्मान्नुडचि' इति नुडागमे सति अनेकमिति रूपं स्यात् । निरनुबन्धस्य न शब्दस्य समासे लक्षणं नास्ति । तत्कथं 'नैक' शब्द इत्याह । सुप्सुपेति समासात् ॥१२॥

शब्द परे हों वहाँ [3]'तस्मान्नुडचि' इस सूत्र से लुप्त नकार 'नञ्' से परे, अजादि 'एक' के पूर्व 'नुट्' का आगम होकर 'अनेक' पद बनता है। इसलिए नञ् का 'एक' पद के साथ समास होकर 'अनेक' यह रूप बनता है। 'नैक' पद नहीं बनता है। 'नञ' के अतिरिक्त निषेधार्थ में 'न' पद भी हो सकता है। परन्तु उसके समास का विधायक कोई सूत्र नहीं है। 'नञ्' इस सूत्र से 'नञ्' का ही समास होता है 'न' का नहीं। तब 'नैक' पद का प्रयोग कैसे होता है। यह शङ्का है। इसका उत्तर ग्रन्थकार ने यह दिया है कि 'नैकः' इस पद में नञ् का नहीं अपितु निषेधार्थक केवल 'न' पद का 'एक' पद के साथ 'सुप्सुपा'—'सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते' इस नियम के अनुसार समास करके 'नैक' पद का प्रयोग किया जाता है। इसी बात को अगले सूत्र में कहते हैं—

'नैक' शब्द [का प्रयोग] सुप्सुपा [इस नियम के अनुसार किए हुए] समास से [सिद्ध होता है]।

यह वनस्थान फलों से झुके हुए अनेक वृक्षों से युक्त है।

इत्यादि [उदाहरणों] में 'नैक' शब्द [का प्रयोग] देखा जाता है। [परन्तु व्याकरण के नियम के अनुसार] वह सिद्ध नहीं होता है। [क्योंकि 'नञ्' सूत्र से] नञ् समास होने पर [4]'नलोपो नञः' इस सूत्र से [नञ् के] न का लोप होने पर और [5]'तस्मान्नुडचि' इस सूत्र से नुडागम करने पर 'अनेकम्' यह रूप [सिद्ध] होगा। ['नैकम्' यह सिद्ध नहीं होगा। और नकार रूप] अनुबन्ध रहित [केवल] न शब्द का समास होने का [विधायक] सूत्र नहीं है। तब 'नैक' इस शब्द [की सिद्धि] कैसे होगी [इस शङ्का का समाधान करने] के लिए कहते हैं। 'सुप्सुपा' इस [नियम] से समास होने से ['नैक' शब्द सिद्ध होता है]।

[1-4] अष्टाध्यायी ६, ३, ७२।

[2-3] अष्टाध्यायी ६, ३, ७३।

मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पाठात् ।।५, २, १३।।

मधुपिपासुमधुव्रतसेवितं मुकुलजालमजृम्भत वीरुधाम् ।

इत्यादिषु मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पिपासु-प्रभृतीनां पाठात् । श्रितादिषु गमिगाम्यादीनां द्वितीयासमासलक्षणं दर्शयति ।।१३।।

'सुप्सुपा' समास का अभिप्राय यह है कि महाभाष्यकार ने [1]'सह सुपा' सूत्र का योग-विभाग कर जो 'सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते' यह नियम बनाया है उसके अनुसार 'न' और 'एक' पद का समास होकर 'नैकः' पद सिद्ध किया जा सकता है ।। १२ ।।

समास के प्रसंग में 'मधुपिपासु' सदृश समासों का विषय भी संदिग्ध हो सकता है इसलिए उसका स्पष्टीकरण करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं । 'मधुपिपासु' में मधु को पीने की इच्छा वाला इस प्रकार का द्वितीया समास अथवा मधु का पिपासु इस प्रकार का षष्ठी तत्पुरुष समास हो सकता है । परन्तु द्वितीया समास के विधायक [2]'द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इस सूत्र में पिपासु आदि पदों का पाठ न होने से द्वितीया तत्पुरुष नहीं हो सकता है । और [3]'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इस सूत्र से 'पिपासु' 'दिदृक्षु' आदि 'उ' प्रत्ययान्तों के, योग में षष्ठी विभक्ति का ही निषेध होने से षष्ठी-तत्पुरुष समास भी नहीं हो सकता है । तब 'मधुपिपासु' आदि प्रयोग कैसे बन सकते हैं । यह शङ्का होती है । उसका समाधान यह करते हैं कि इस प्रकार के प्रयोगों में 'गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक के अनुसार द्वितीया तत्पुरुष समास हो सकता है । इसी बात को अगले सूत्र में कहते हैं ।

मधुपिपासु इत्यादि [पदों] का [द्वितीया तत्पुरुष] समास ['गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक के अन्तर्गत] गमिगाम्यादिकों में पाठ होने से [हो जाता] है ।

मधुपिपासु भ्रमरकुल से सेवित लताओं का पुष्पसमूह विकसित हुआ । इत्यादि [प्रयोगों] में 'मधुपिपासु' इत्यादि [शब्दों] का समास 'गमिगाम्या-

---

[1] अष्टाध्यायी २, १, ४ ।

[2] अष्टाध्यायी २, १, २४ ।

[3] अष्टाध्यायी २, ३, ६९ ।

त्रिवलीशब्दः सिद्धः संज्ञा चेत् । ५, २, १४ ।

त्रिवलीशब्दः सिद्धो यदि संज्ञा । [1]'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति संज्ञायामेव समासविधानात् ॥ १४ ॥

बिम्बाधर इति वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम् । ५, २, १५ ।

दिकों' में 'पिपासु' प्रभृति [पदों] का पाठ होने से [हो सकता] है। 'श्रितादि' में 'गमिगाम्यादिकों' के [द्वितीया तत्पुरष] समास का विधान [विधायक सूत्र] दिखलाया है ॥ १३ ॥

समास के प्रसंग में ही 'त्रिवली' शब्द का समास भी सन्देहास्पद हो सकता है। यदि त्रिवली शब्द असंज्ञा हो तो उसमें [2]'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इस सूत्र से संख्यावाचक 'त्रि' शब्द का 'वली' के साथ समास कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ 'पञ्चकपालं' के समान 'तद्धितार्थ' विषय नहीं है। और न 'पञ्चगवधनः' के समान 'उत्तरपद' विषय है और नहीं 'पञ्चपात्रं' इत्यादि के समान 'समाहार' विवक्षित है क्योंकि समाहार पक्ष मानने पर [3]'स नपुंसकम्' इस सूत्र के अनुसार 'त्रिवली' पद नपुंसक लिंग हो जाना चाहिए था। इसलिए [4]'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इस सूत्र से समास नहीं हो सकता है। यह शङ्का होती है। इसका समाधान सूत्रकार इस प्रकार करते हैं कि 'त्रिवली' शब्द को संज्ञा शब्द मान कर [5]'दिक्संख्ये संज्ञायाम्', इस सूत्र से 'त्र्यवयवा वली त्रिवली' इस विग्रह में समास होकर 'त्रिवली' पद सिद्ध होता है। यह बात अगले सूत्र में कहते हैं।

त्रिवली शब्द [का समास] सिद्ध है यदि वह संज्ञा है।

'त्रिवली' शब्द सिद्ध है यदि संज्ञा है। 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' [अष्टाध्यायी २, १ ५०] इस [सूत्र] से संज्ञा में ही समास का विधान होने से।

'त्रिवली' शब्द का प्रयोग निम्न उदाहरण में पाया जाता है।

कोणस्त्रिवल्येव कुचावलाबूस्तस्यास्तु दण्डस्तनुरोमराजिः ।
हारोऽपि तन्त्रीरिति मन्मथस्य संगीतविद्यासरलस्य वीणा ॥ १४ ॥

'बिम्बाधर' यह [समस्त पद] मध्यमपदलोपी समास होने पर [सिद्ध हो सकता] है।

[1-5] अष्टाध्यायी २, १, ५० ।
[2] अष्टाध्यायी २, १, ५१ ।
[3] अष्टाध्यायी २, ४, १७ ।
[4] अष्टाध्यायी २, १, ५१ ।

'बिम्बाधरः पीयते' इति प्रयोगो दृश्यते । स च न युक्तः । 'अधर-बिम्ब' इति भवितव्यम् । [1]'उपमितं व्याघ्रादिभि' रिति समासे सति कथं बिम्बाधर इत्याह । वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम् । 'शाकपार्थिवत्वात्' समासे । मध्यमपदलोपिनि समासे सति बिम्बाकारोऽधरो बिम्बाधर इति । तेन बिम्बोष्ठशब्दोऽपि व्याख्यात. । अत्रापि पूर्ववद् वृत्तिः । शिष्टप्रयोगेषु चैष विधिः । तेन नातिप्रसङ्गः ॥ १५ ॥

आमूललोलादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवत् । ५, २, १६ ।

'आमूललोलम्' 'आमूलसरसम्' इत्यादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवत् [2]मयूरव्यंसकादित्वात् ॥ १६ ॥

'बिम्बाधरः पीयते' इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है । वह उचित नहीं है । [अधरो बिम्बमिव इस विग्रह में] [3]'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से समास होने पर 'अधरबिम्ब' यह [प्रयोग] होना चाहिए । [बिम्बाधर नहीं] तो 'बिम्बाधरः' प्रयोग कैसे होता है । इस [शङ्का के होने] पर [उसके समाधान के लिए] कहते हैं । ['बिम्बाकारोऽधरः बिम्बाधरः' इस प्रकार 'आकार' रूप] मध्यमपदलोपी वृत्ति में 'शाकपार्थिवत्वात्' समास होने पर [बिम्बाधरः पद बनता है । अर्थात् 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तर-पदलोपस्योपसंख्यानम्' इस वार्तिक से 'शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः' के समान 'शाकपार्थिवत्वात्'] । मध्यमपदलोपी समास करने पर 'बिम्बाकारो अधरः बिम्बाधरः' इस प्रकार 'बिम्बाधर' यह [पद बन सकता] है । इसी से 'बिम्बोष्ठः' शब्द की भी व्याख्या हो गई । [यहां 'बिम्बाकार ओष्ठः' इस विग्रह में 'शाकपार्थिवत्वात्' मध्यमपदलोपी समास होकर 'बिम्बोष्ठः' पद सिद्ध हो सकता है] । यहां भी पूर्व [बिम्बाधर] के समान [मध्यमपदलोपी] समास है । यह प्रकार शिष्ट प्रयोगों के लिए ही है । इसलिए ['व्याघ्राकारः पुरुष व्याघ्र-पुरुषः' इस प्रकार के नए प्रयोग में] अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है ॥१५॥

'आमूललोलम्' इत्यादि में 'विस्पष्टपटु' के समान [[4]'मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्र से अविहितलक्षण तत्पुरुष समास होता है]।

'आमूललोलम्' 'आमूलसरसम् इत्यादि [प्रयोगों] में 'विस्पष्ट पटु' के समान 'मयूरव्यंसकादित्वात्' समास होता है ॥ १६ ॥

[1-3] अष्टाध्यायी २, १, ५६ ।

न धान्यषष्ठादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेधः पूरणेनान्यतद्धितान्तत्वात् ॥ ५, २, १७ ।

'धान्यषष्ठम्', 'तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि' इत्यादिषु न षष्ठीसमासप्रतिषेधः । पूरणेन, पूरणप्रत्ययान्तेनान्यतद्धितान्तत्वात् । षष्ठो भागः षष्ठ इति '[1]पूरणाद्भागे तीयादन्' '[2]षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इत्यन् विधानात् स प्राप्तः ॥ १७ ॥

पत्रपीतिमादिषु गुणवचनेन । ५, २, १८ ।

'पत्रपीतिमा, पक्ष्माली-पिङ्गलिमा' इत्यादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेधो गुणवचनेन प्राप्तो, बालिश्यात्तु न कृतः ॥ १८ ॥

'धान्यषष्ठः' इत्यादि [प्रयोगों] में [3]'पूरण-गुण-सुहितार्थ-सदव्यय-तव्य-समानाधिकरणेन' [इत्यादि सूत्र से 'सतां षष्ठः' के समान] षष्ठी समास का प्रतिषेध नहीं होता है। [क्योंकि 'धान्यषष्ठः' में प्रयुक्त षष्ठ शब्द के] पूरण [अर्थक प्रत्यय] से अन्य [[4]'पूरणाद्भागे तीयादन्', इस सूत्र के अधिकार में 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' ५, ३, ५० इस सूत्र से अन् प्रत्यय रूप] तद्धितान्त होने से।

'धान्यषष्ठम्' 'उञ्छषष्ठ से अङ्कित बालू वाले' [प्रयोगों] में [पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन २, २, ११ इस सूत्र से 'षष्ठ' शब्द को 'पूरणप्रत्ययान्त' मान कर] षष्ठी समास का निषेध नहीं किया जा सकता है [क्योंकि षष्ठ शब्द में] पूरण अर्थात् पूरण प्रत्ययान्त से अन्य ['पूरणाद्भागे तीयादन्' ५, ३, ४८ के अधिकार में 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' ५, ३, ५० इस सूत्र से विहित 'अन्' प्रत्यय रूप] तद्धितान्त होने से। 'षष्ठो भागः षष्ठः' इस [विग्रह] में 'पूरणाद्भागे तीयादन्' [की अनुवृत्ति में] 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' [५, ३, ५०] इस से अन् का विधान होने से वह [षष्ठी तत्पुरुष समास] प्राप्त है ॥१७॥

'पत्रपीतिमा' इत्यादि [प्रयोगों] में [पीतिमा रूप] गुण [का] वचन होने से ['पूरणगुण' इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार षष्ठी समास का निषेध होना चाहिए। वह नहीं किया गया है। अतः यह प्रयोग दूषित है]।

'पत्रपीतिमा', 'पक्ष्मालीपिङ्गलिमा' इत्यादि [प्रयोगों] में गुणवचन

[1-4] अष्टाध्यायी ५, ३, ४८ ।

[2] अष्टाध्यायी ५, ३, ५० ।

[3] अष्टाध्यायी २, २, ११ ।

अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः । ५, २, १९ ।

अवर्ज्यो न वर्जनीयो व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । जन्माद्युत्तरपदं यस्य स जन्माद्युत्तरपदः ।

यथा—

'सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभः' ।
'कान्तवृत्तयः प्राणा' इति ॥ १९ ॥

[पीतिमा, पिङ्गलिमा आदि गुणों का कथन होने] से गुणवचन से [अर्थात् 'पूरणगुण' इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र से] षष्ठी समास का प्रतिषेध प्राप्त है। [परन्तु इन प्रयोगों में प्रयोगकर्ता ने] मूर्खतावश [समास का निषेध] नहीं किया [अर्थात् समास कर दिया] है। [अतः यह प्रयोग दूषित है]।

सिद्धान्तकौमुदीकार ने 'अनित्योऽयं गुणेन निषेधः। तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् इत्यादिनिर्देशात्' लिख कर इस गुण के साथ षष्ठी समास के प्रतिषेध की अनित्यता सूचित की है। उस दशा में यह शिष्टप्रयोग बन सकते हैं। यह अन्य लोगों का मत है ॥ १८ ॥

जन्मादि उत्तरपद वाला बहुव्रीहि [समास] अवर्जनीय है।

यद्यपि साधारणतः 'पीतं अम्बरं यस्य स पीताम्बरः' आदि के समान बहुव्रीहि समास में समस्यमान दोनों पदों का सामानाधिकरण्य अर्थात् विशेष रूप से प्रथमान्तत्व ही होता है। इसका प्रतिपादन 'बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम्' इस वार्तिक में किया गया है। परन्तु इस वार्तिक का बाधक 'न वा नभिधानादसमानाधिकरणेषु समाससंज्ञाभावः' यह वार्तिक भी पाया जाता है। इस वार्तिक से व्यधिकरण समास का भी समर्थन होता है इसलिए जन्मादि के उत्तरपद होने पर व्यधिकरण बहुव्रीहि भी हो सकता है यह तात्पर्य है।

व्यधिकरण बहुव्रीहि अवर्ज्य अर्थात् वर्जनीय [निषिद्ध] नहीं है। जन्मादि [पद] जिसके उत्तरपद हैं वह जन्माद्युत्तरपद वाला [व्यधिकरण बहुव्रीहि समास वर्जनीय नहीं है]।

जैसे—

'सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभः' [में 'सच्छास्त्रात् जन्म यस्य' इस बहुव्रीहि में सच्छास्त्रात् पञ्चमी विभक्ति और 'जन्म' प्रथमान्त होने से व्यधिकरण बहुव्रीहि है] और 'कान्तवृत्तयः प्राणाः' [में 'कान्ते प्रिये वृत्तिर्येषां ते कान्तवृत्तयः' में 'कान्ते' सप्तम्यन्त तथा 'वृत्तिः' प्रथमान्त होने से व्यधिकरण बहुव्रीहि है] ॥ १९ ॥

हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदात् । ५, २, २० ।

हस्ताग्रम्, अग्रहस्तः, पुष्पाग्रम्, अग्रपुष्पमित्यादयः प्रयोगाः कथम्। [1]आहिताग्न्यादिषु अपाठात्। पाठे वा तदनियमः स्यात्। आह, गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्। तत्र भेदाद् हस्ताग्रादयः अभेदादग्रहस्तादयः ॥ २० ॥

'हस्ताग्र' तथा 'अग्रहस्त' आदि [प्रयोग] गुण-गुणी के भेद और अभेद से [सिद्ध हो सकते] हैं।

'हस्ताग्रम्', 'अग्रहस्तः', 'पुष्पाग्रम्' और 'अग्रपुष्पम्' इत्यादि [परस्पर भिन्न] प्रयोग कैसे [सिद्ध] होते हैं। [आहिताग्नि गण में पठित शब्दों में [2]'वाहिताग्न्यादिषु' इस सूत्र से विकल्प होने के कारण 'आहिताग्निः' और 'अग्न्याहितः' यह दोनों प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं। उसी प्रकार इन 'हस्ताग्रम्' 'अग्रहस्तः' आदि प्रयोगों को सिद्ध करना चाहें तो वह भी नहीं हो सकता है]। 'आहिताग्नि आदि' [गण] में [हस्ताग्रम्, अग्रहस्तः आदि का] पाठ न होने से। [और यदि 'आहिताग्नि गण' को 'आकृतिगण' मान कर उसमें अपठित 'हस्ताग्रम्' आदि शब्दों का पाठ मानना चाहें तो भी उचित नहीं होगा क्योंकि वह सूत्र बहुव्रीहि समास के प्रकरण का है और 'हस्ताग्रम्' आदि में षष्ठी तत्पुरुष समास ही सङ्गत हो सकता है बहुव्रीहि नहीं। इसलिए 'आहिताग्नि गण' में हस्ताग्रम् आदि का] पाठ मानने पर उस ['वाहिताग्न्यादिषु' इस सूत्र] का [बहुव्रीहि समासविषयक] नियम नहीं बनेगा। [यह शङ्का हो सकती है] इसलिए [उसके समाधानार्थ] कहते हैं। गुण और गुणी के भेद तथा अभेद से [यह द्विविध प्रयोग बनते हैं। यहां गुण शब्द का अर्थ अवयव है। 'अत्र गुणशब्देन परार्थत्वसादृश्यादवयवा लक्ष्यन्ते]। उसमें [हस्त रूप गुणी और उसके अवयव भूत अग्र रूप गुण का] भेद [मानने] से ['हस्तस्य अग्रम्' इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास करके] 'हस्ताग्रम्' आदि [प्रयोग बनते हैं।] और [हस्त रूप गुणी तथा उसके अवयवभूत अग्र रूप का] अभेद मानने पर [अग्रश्चासौ हस्तः] 'अग्रहस्त' आदि [प्रयोग सिद्ध होते हैं]। इनमें [3]'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इस सूत्र से समास होता है] ॥ २० ॥

---

[1] अष्टाध्यायी २, २, ३७।

[2] अष्टाध्यायी २, १, ५७।

पूर्वनिपातेऽपभ्रंशो लक्ष्यः । ५, २, २१ ।

काष्ठतृणं, तृणकाष्ठमिति यदृच्छया पूर्वनिपातं कुर्वन्ति । तत्रापभ्रंशो लक्ष्यः परिहरणीयः । अनित्यत्वज्ञापनं तु न सर्वविषयमिति ॥२१॥

निपातेनाऽप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः परिगणनस्य प्रायिकत्वात् । ५, २, २२ ।

सामान्यतः[1] 'अल्पाच्तरम्' इस सूत्र के अनुसार द्वन्द्वसमास में समस्यमान शब्दों में से अल्प अच् वाले शब्द का पूर्वनिपात होना है। समसंख्यक अच् वाले पदों में 'लघ्वक्षरं पूर्वम्' इस वार्तिक के अनुसार लघु अक्षर वाले का पूर्व-निपात होना चाहिए। इस नियम के अनुसार 'काष्ठ' और 'तृण' पदों का द्वन्द्व समास होने पर लघ्वक्षर वाले 'तृण' पद का पूर्वनिपात करके 'तृणकाष्ठम्' यह प्रयोग करना चाहिए। इसके विपरीत जो लोग 'काष्ठतृणं' इस प्रकार का प्रयोग करते हैं, वह ठीक नहीं है उसका बचाव [परिहार] करना चाहिए। इसी बात को अगले सूत्र में कहते हैं।

पूर्वनिपात [के विषय] में पथभ्रष्टता [न हो इस] का ध्यान रखना चाहिए।

[कुछ लोग] 'काष्ठतृणं' [तथा] 'तृणकाष्ठं' इस प्रकार का अपनी इच्छा से [दोनों में से किसी प्रकार का] प्रयोग करते हैं। उनमें अपभ्रंश ['काष्ठतृणम्' इस अशुद्ध प्रयोग] का परिहार करना चाहिए। ['लघ्वक्षरं पूर्वम्' इस वार्तिक के अनुसार लघु अक्षर वाले 'तृण' का पूर्वनिपात होना चाहिए। 'कुमारशीर्षयोर्णिनिः' इस सूत्र में लघ्वक्षर के पूर्वनिपात का] अनित्यत्व ज्ञापन सर्वविषयक नहीं है। [सर्वत्र लागू नहीं होता है इसलिए 'तृणकाष्ठम्' प्रयोग ही उचित है 'काष्ठतृणम्' नहीं] ॥ २१ ॥

निपात से अभिहित कर्म में भी कर्मविभक्ति नहीं होती है [[2]'अनभिहिते' सूत्र में किए हुए 'तिङ् कृत् तद्धित समासैः अनभिहिते' इस] परिगणन के प्रायिक होने से [उसमें निपात का भी ग्रहण करना चाहिए। इसलिए निपात से भी अनभिहित कर्म में ही द्वितीया विभक्ति हो सकती है। निपात से अभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति नहीं हो सकती है]।

[कारक प्रकरण के] [3] 'अनभिहिते' इस सूत्र में [वार्तिककार ने]

---

[1] अष्टाध्यायी २, २, ३४।

[1]'अनभिहिते' इत्यत्र सूत्रे तिङ्कृत्तद्धितसमासैरिति परिगणनं कृतम्। तस्य प्रायिकत्वान्निपातेनाऽप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः। यथा—

'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।'
'पण्डितं मूर्ख इति मन्यन्ते।' इति॥ २२॥

शक्यमिति रूपं विलिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधायां सामान्योपक्रमात्। ५, २, २३।

'तिङ्कृत्तद्धितसमासैः' [अनभिहिते अर्थात् १. तिङ्, २. कृत्, ३. तद्धित तथा ४. समास से अनभिहित कर्म में 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीया विभक्ति हो] इस प्रकार का परिगणन किया है। उसके प्रायिक [अपूर्ण] होने से [उसमें निपात का भी संग्रह होता है। इसलिए] निपात से अभिहित कर्म में भी कर्म-विभक्ति [कर्मणि द्वितीया विभक्ति] नहीं होती है। [निपात से भी अनभिहित कर्म में ही द्वितीया विभक्ति होती है। निपात से अभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति नहीं होती है] जैसे—

विषवृक्ष भी स्वयं बढ़ा कर स्वयं काटना उचित नहीं है।

'पण्डित को मूर्ख यह समझते हैं।'

'[2]विषवृक्षोऽपि सम्वर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' में विषवृक्ष कर्म है परन्तु वह 'असाम्प्रतम्' इस निपात से अभिहित है इसलिए उसमें द्वितीया विभक्ति नहीं होती है। 'मूर्ख इति मन्यते' इसमें मूर्ख कर्मपद है। परन्तु 'इति' इस निपात से अभिहित होने के कारण उसमें द्वितीया विभक्ति नहीं होती है। 'साम्प्रतं' तद्धित का रूप भी हो सकता है परन्तु 'युक्ते काले च साम्प्रतम्' इस कोश के अनुसार उसको निपात मान कर ही कौमुदीकार आदि ने यह उदाहरण दिया है॥ २२॥

विभिन्न लिङ्ग और विभिन्न वचन वाले कर्म के कथन करने में भी [लिङ्ग सामान्य अर्थात् नपुंसकलिङ्ग और वचन सामान्य अर्थात् एकवचन रूप] सामान्य का उपक्रम होने से 'शक्यम्' यह रूप [पुल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग और द्विवचन या बहुवचन के कर्म के साथ भी प्रयुक्त] हो सकता है।

---

[1] शिशुपालवध २।

शकेः 'शकिसहोश्च' इति कर्मणि यति सति 'शक्यम्' इति रूपं भवति। विलिङ्गवचनस्यापि विरुद्धलिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधायां कर्मवचने सामान्योपक्रमाद् विशेषानपेक्षायामिति। यथा—

> शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव।
> अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसम्पुटैः कराः॥

अत्र भाष्यकृद्वचनं लिङ्गम्। यथा 'शक्यञ्च श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्' इति। न चैकान्तिकः सामान्योपक्रमः। तेन—

[शक्लृ शक्तौ] शक धातु से [3] 'शकिसहोश्च' इस [सूत्र] से कर्म में यत् [प्रत्यय] करने पर 'शक्यम्' यह रूप होता है। विलिङ्गवचन अर्थात् [शक्यम् पद के नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन से] विरुद्ध लिङ्ग [स्त्रीलिङ्ग अथवा पुंलिङ्ग] और विरुद्ध वचन [अर्थात् 'शक्यं' के एकवचन से भिन्न द्विवचन अथवा बहुवचनान्त] कर्म के कथन करने में विशेष [लिङ्गविशेष और वचनविशेष] की अविवक्षा में सामान्य [लिङ्गसामान्य नपुंसकलिङ्ग और वचनसामान्य एकवचन] का अवलम्बन [उपक्रम] करने से 'शक्यम्' यह रूप हो सकता है। जैसे—

तुम्हारे कर्णपूर की रचना के लिए नवीन यव [जौ] की सूची के समान कोमल [ओषधिपति] चन्द्रमा की नवीन उदय हुई किरणें नखों के अग्रभाग से तोड़ने [खोंटने] योग्य हैं [खोंटी जा सकती हैं]।

यहां 'ओषधिपतेर्नवोदयाः कराः छेत्तुं शक्यम्' इस प्रकार वाक्य का अन्वय है। 'नवोदयाः कराः' इस कर्म पद में पुंलिङ्ग और बहुवचन का प्रयोग है। परन्तु उसके साथ 'शक्यम्' यह नपुंसकलिङ्ग के एकवचन का प्रयोग किया गया है। इसी लिङ्ग-भेद और वचन-भेद का समर्थन इस सूत्र में किया गया है। इस प्रकार के प्रयोग के समर्थन के लिए आगे महाभाष्यकार का वचन प्रमाण रूप से उद्धृत करते हैं।

इस विषय में भाष्यकार का वचन प्रमाण है। जैसे [कि उन्होंने] 'शक्यं च श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्—कुत्ते आदि के मांस से भी भूख मिटाई जा सकती है।' यह [प्रयोग किया है। इस प्रयोग में 'क्षुत्' शब्द स्त्रीलिङ्ग है परन्तु उसके साथ 'शक्यं' यह नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग भाष्यकार ने किया है।

शक्या भङ्क्तुं झटिति बिसिनीकन्दवच्चन्द्रपादाः।
इत्यपि भवति ॥ २३ ॥

हानिवदाधिक्यमप्यङ्गानां विकारः । ५, २, २४ ।

[1]'येनाङ्गविकारः' इत्यत्र सूत्रे यथाङ्गानां हानिस्तथाधिक्यमपि विकारः। यथा 'अक्ष्णा काणः' इति भवति तथा 'मुखेन त्रिलोचनः' इत्यपि भवति ॥ २४ ॥

न कृमिकीटानामित्येकवद्भावप्रसङ्गात् । ५, २, २५ ।

पद का प्रयोग भाष्यकार को अभिमत है । भाष्यकार का] यह सामान्योपक्रम ऐकान्तिक नहीं है [अर्थात् सर्वत्र सामान्य का उपक्रम मान कर 'शक्यं' इस एकवचन नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग ही अनिवार्य नहीं है । अन्य लिङ्ग तथा वचन में भी शक्य शब्द का प्रयोग हो सकता है] इसलिए—

'शक्या भङ्क्तुं झटिति बिसिनीकन्दवच्चन्द्रपादाः' ।

'कमलिनी के कन्द [मृणाल] के समान चन्द्रमा की किरणें तोड़ी जा सकती हैं ।

यह [प्रयोग] भी होता है । [यहां 'शक्यम्' का नहीं अपितु पुलिङ्ग बहुवचन 'शक्याः' पद का प्रयोग किया गया है । इसलिए सामान्योपक्रम ही सर्वत्र ऐकान्तिक नहीं है] ॥ २३ ॥

[अङ्गों की] कमी के समान अधिकता भी अङ्गों का विकार है ।

[2]'येनाङ्गविकार' इस सूत्र में जैसे अङ्गों की न्यूनता [विकार है] उसी प्रकार [अङ्गों की] अधिकता भी विकार है [अर्थात् चक्षु रूप अङ्ग की न्यूनता में] जैसे 'अक्षणा काणः' आंख से काना है इस प्रकार का प्रयोग होता है उसी प्रकार [नेत्र रूप अङ्ग की अधिकता में] 'मुखेन त्रिलोचनः' मुख से त्रिनेत्र है वह ['मुखेन' में तृतीया का प्रयोग] भी होता है [महाकवि माघ ने इसका प्रयोग इस प्रकार किया है]—

[3]स बाल आसीद् वपुषा चतुर्भुजः मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः ।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः ॥२४॥

'कृमिकीटानां' यह [प्रयोग] उचित नहीं है [[2]'क्षुद्रजन्तवः' इस सूत्र से क्षुद्रजन्तुओं के द्वन्द्वसमास में] एकवद्भाव होने से ['कृमिकीटस्य' इस प्रकार का एकवचन का प्रयोग होना चाहिए । बहुवचन का प्रयोग उचित नहीं है]।

[1-2] अष्टाध्यायी २, ३, २० ।
[3] शिशुपालवध १, २४ ।

'आयुषः कृमिकीटानामलङ्करणमल्पता' इत्यत्र कृमिकीटानामिति प्रयोगो न युक्तः। [1]'क्षुद्रजन्तवः' इत्येकवद्भावप्रसङ्गात्। न च मध्यमपदलोपी समासो युक्तः। तस्याऽसर्वविषयत्वात् ॥ २५ ॥

न खरोष्ट्रावुष्ट्रखरमिति पाठात्। ५, २, २६।

'खरोष्ट्रौ वाहनं येषां' इत्यत्र खरोष्ट्राविति प्रयोगो न युक्तः गवाश्वप्रभृतिषु 'उष्ट्रखरम्' इति पाठात् ॥ २६ ॥

आसेत्यसतेः। ५, २, २७।

'आयुषः कृमिकीटानामलङ्करणमल्पता' कृमि, कीट आदि की आयु की अल्पता अलंकार ही है। इस उदाहरण में 'कृमिकीटानां' यह [बहुवचनान्त] प्रयोग युक्त नहीं है। [2]'क्षुद्रजन्तवः' इस [सूत्र] से एकवद्भाव प्राप्त होने से। ['मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' इस पाणिनि सूत्र में 'मुखसहिता नासिका मुखनासिका' यह मध्यमपदलोपी समास जैसे किया जाता है उसी प्रकार यहां 'कृमिसहिताः कीटा कृमिकीटाः' यह] मध्यमपदलोपी समास भी उचित नहीं है। उस [प्रकार के मध्यमपदलोपी समास] के सार्वत्रिक न होने से। [इसलिए 'कृमिकीटानां' प्रयोग अनुचित ही है] ॥२५॥

[खरश्च उष्ट्रश्च इस प्रकार के द्वन्द्व समास में] 'खरोष्ट्रौ' [यह प्रयोग] उचित नहीं है। [[3]'गवाश्वप्रभृतीनि च' इस सूत्र के गणपाठ में] 'उष्ट्रखरम्' यह पाठ होने से।

'खरोष्ट्रौ वाहनं येषां' [यह जो प्रयोग किसी ने किया है] यहां 'खरोष्ट्रौ' यह प्रयोग उचित नहीं है। 'गवाश्वप्रभृति' ['गवाश्वप्रभृतीनि च' इस सूत्र के गणपाठ] में 'उष्ट्रखरम्' यह पाठ होने से ['उष्ट्रखरम्' ही प्रयुक्त करना चाहिए 'खरोष्ट्रम्' नहीं] ॥२६॥

[भूतकाल लिट् लकार का] आस यह प्रयोग 'अस' ['अस गतिदीप्त्यादानेषु' इस भ्वादिगणी] धातु से बनता है, [अदादिगणी 'अस भुवि' धातु से नहीं। क्योंकि उस धातु को आर्धधातुक लिट् लकार में [4]'अस्तेर्भूः' इस सूत्र से भू 'आदेश होकर' 'भू' धातु के समान 'बभूव' आदि रूप बनते हैं]।

'लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः' इत्यत्र आस इति असतेर्धातोः। 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' इत्यस्य प्रयोगो, नास्तेः, भूभावविधानात् ॥ २७ ॥

युध्येदिति युधः क्यचि । ५, २, २८ ।

'यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्' इति प्रयोगः । स चाऽयुक्तः, युधेरात्मनेपदित्वात्। तत्कथं युध्येदित्याह । युधः क्यचि । युधमात्मन इच्छेद् युध्येदिति ॥ २८ ॥

विरलायमानादिषु क्यङ्निरूप्यः । ५, २, २९ ।

'लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः' [मुख के लिए] लावण्य के उत्पन्न करने के लिए मानों [विधाता का] यत्न था । इस [उदाहरण] में 'अस' धातु अर्थात् [भ्वादिगणी] 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' इस धातु का [लिट् लकार का] प्रयोग है [अदादिगणी 'अस भुवि' रूप] 'अस' धातु का नहीं । [अदादिगणी 'अस' धातु को आर्धधातुक लिट् लकार में] भू भाव का विधान होने से । [उस अदादिगणी 'अस' धातु का लिट् लकार में 'बभूव' रूप बनेगा 'आस' नहीं । अतः यह 'आस' रूप भ्वादिगणी 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' धातु का है] ॥ २७ ॥

'युध्येत्' यह प्रयोग [युध धातु के आत्मनेपदी होने से 'युद्ध्येत' यह रूप बनेगा हलन्त युध्येत् रूप नहीं बन सकता है । अतएव] युध [शब्द से [1]'सुप आत्मनः क्यच्' इस सूत्र] से 'क्यच्' [प्रत्यय] करने पर बनता है ।

'यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्' यह प्रयोग पाया जाता है । परन्तु 'युध' धातु के आत्मनेपदी होने से वह [हलन्त 'युध्येत्' प्रयोग] उचित नहीं है । तब युध्येत् यह [प्रयोग] कैसे [किया गया] है । [इस शंका के होने पर उसके समाधानार्थ] यह कहते हैं 'युध' [शब्द से 'सुप आत्मनः क्यच्' इस सूत्र] से 'क्यच्' प्रत्यय करने पर 'युधमात्मन इच्छेद् इति युध्येत्' यह [रूप] बन सकता है [जो अपने को युध्—योद्धा बनाना चाहे यह अर्थ होगा ।] २८ ॥

'विरलायमान' आदि [प्रयोगों] में 'क्यङ्' खोजना चाहिए । [अर्थात् मिलता नहीं है । अतः 'विरलायमान' आदि प्रयोग उचित नहीं हैं] ।

'विरलायमाने मलयमारुते' इस [प्रयोग] में 'क्यङ्' [प्रत्यय] की खोज करनी होगी । [[2]'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' इस क्यङ् विधायक

---

[1] अष्टाध्यायी ३, १, ८ ।

[2] अष्टाध्यायी ३, १, १२ ।

'विरलायमाने मलयमारुते' इत्यादिषु क्यङ् निरूप्यः। भृशादिष्व-
पाठात्। नापि क्यष्, लोहितादिष्वपाठात्॥ २६॥

अहेतौ हन्तेर्णिच्. चुरादिपाठात्। ५, २, ३०।

'घातयित्वा दशास्यम्' इत्यत्राहेतौ णिज् दृश्यते, स कथमित्याह। चुरादिपाठात्। चुरादिषु 'चट स्फुट भेदे', 'घट सङ्घाते' 'हन्त्यर्थाश्च' इति पाठात्॥ ३०॥

अनुचरीति चरेष्टित्त्वात्। ५, २, ३१।

'अनुचरी प्रियतमा मदालसा' इत्यत्रानुचरीति न युक्तः, ईकार-

सूत्र के] भृशादिकों में, [विरल आदि शब्दों का] पाठ न होने से [उस सूत्र से क्यङ् प्रत्यय नहीं हो सकता है]। और न 'क्यष्' प्रत्यय ही हो सकता है [अर्थात् [1]'लोहितादि डाज्भ्यः क्यष्' इस सूत्र से 'क्यष्' प्रत्यय करके भी 'विरलायमान' पद की सिद्धि नहीं की जा सकती है] लोहितादि [गणपठित शब्दों] में [भी विरल आदि शब्दों का] पाठ न होने से [अतः विरलायमान आदि शब्द का प्रयोग अनुचित है]॥ २९॥

हन धातु से [प्रयोजक] हेतु के बिना णिच् हो सकता है। चुरादिगण में पाठ होने से।

'घातयित्वा दशास्यम्' [इस प्रकार का प्रयोग 'हत्वा' के अर्थ में 'घातयित्वा' प्रयोग पाया जाता है।] यहां [प्रयोजक] हेतु के बिना [स्वार्थमात्र में] 'णिच्' [प्रत्यय का 'घातयित्वा' यह रूप] देखा जाता है। वह कैसे हो सकता है। यह कहते हैं। चुरादि गण में पाठ होने से। चुरादि गण में 'चट स्फुट भेदे', 'घट संघाते' [के बाद] 'हन्त्यर्थाश्च' यह पाठ होने से। [नव गणों में हन्ति के अर्थ में पठित समस्त धातुओं से प्रयोजक कर्ता के बिना स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय हो सकता है। 'नवगण्यामुक्ता अपि हन्त्यर्थाः स्वार्थे णिचं लभन्ते इत्यर्थः'—सि. कौ.— इस नियम के अनुसार हन धातु से स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय करने से हेतु के बिना अर्थात् 'हत्वा' के अर्थ में 'घातयित्वा' प्रयोग बन सकता है। उसी को 'घातयित्वा दशास्यम्' में प्रयुक्त किया गया है]॥ ३०॥

'अनुचरी' यह प्रयोग [पचादि गण में चरट् इस रूप में] चर [धातु] के टित् होने से [[2]'टिड्ढाण' इत्यादि सूत्र से ङीप् होकर सिद्ध होता] है।

---

[1] अष्टाध्यायी ३, १, १३।

लक्षणाभावात् । तत्कथम् । आह । चरेष्टित्त्वात् । पचादिषु चरडिति पठ्यते ॥ ३१ ॥

केसरालमित्यलतेरणि । ५, २, ३२ ।

'केसरालं शिलीध्रम्' इत्यत्र केसरालमिति कथम् । आह । अलतेरणि । 'अल भूषणपर्याप्तिवारणेषु' इत्यस्माद्धातोः केसरशब्दे [१] 'कर्मण्यण्' इत्यनेन अणि सति केसरालमिति सिद्धयति ॥ ३२ ॥

'अनुचरी प्रियतमा मदालसा' इस [प्रयोग] में अनुचरी यह [ङीबन्त प्रयोग] उचित नहीं है । ईकार [ङीप्, ङीष्] का विधायक [कोई] सूत्र न होने से । [यहां [२] 'अजाद्यतष्टाप्' इस सूत्र से टाप् प्रत्यय करके 'अनुचरा' रूप होना चाहिए था 'अनुचरी' नहीं । यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय है] । तो फिर वह [अनुचरी यह प्रयोग] कैसे [किया गया है । इसके उत्तर में] कहते हैं । चर [धातु] के टित् होने से । [[३] नन्दिग्रहि पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः अष्टाध्यायी ३, १, १३४ । इस सूत्र के] पचादि गण में चरट् [धातु शब्द] पढ़ा गया है । [उसी से बने अनुचर शब्द में टित्त्वात् ङीप् होकर अनुचरी यह प्रयोग बनता है] ॥ ३१ ॥

'केसरालं' यह [प्रयोग] 'अल' [धातु] से अण् प्रत्यय करने पर [बनता] है ।

'केसरालं शिलीध्रम्' इस [प्रयोग] में 'केसरालं' यह कैसे बनेगा । [[४] 'प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्' इस सूत्र से जो लच् प्रत्यय होता है वह प्राण्यङ्गवाची आकारान्त शब्द से होता है । चूडा शब्द से लच् प्रत्यय करके 'चूडालः' शब्द बन जाता है । परन्तु केसर शब्द आकारान्त नहीं है और यहां 'केसरालं शिलीध्रम्' में प्राणी के अङ्ग का द्योतक भी नहीं है । इसलिए उससे लच् प्रत्यय नहीं हो सकता है । तब 'केसरालं' यह पद कैसे बनेगा । यह शङ्का हो सकती है । इसके समाधान के लिए] कहते हैं । अल [धातु] से अण् [प्रत्यय] करने पर । 'अल भूषणपर्याप्तिवारणेषु' इस धातु से 'केसर' शब्द उपपद रहते [५] 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण् [प्रत्यय] होने पर 'केसरालं' यह सिद्ध होता है । [अतः 'केसरालम् शिलीध्रम्' यह प्रयोग उचित है] ॥ ३२ ॥

[१-५] अष्टाध्यायी ३, २, १ ।
[२] अष्टाध्यायी ४, १, ४ ।
[३] अष्टाध्यायी ३, १, १३४ ।
[४] अष्टाध्यायी ५, २, ९६ ।

पत्रलमिति लातेः के । ५, २, ३३ ।

'पत्रलं वनमिदं विराजते' इत्यत्र पत्रलमिति कथम् । आह । लातेः के । 'ला आदाने' इत्येतस्माद्धातोरादानार्थाद् पत्रशब्दे कर्मण्युपपदे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति क प्रत्यये सतीति । ।३३ ॥

महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनात् । ५, २, ३४ ।

महीध्र-धरणीध्रादयः शब्दा मूलविभुजादिदर्शनात् 'क' प्रत्यये महीं धरतीति महीध्र इत्येवमादयोऽन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥ ३४ ॥

ब्रह्मादिषु हन्तेर्नियमादरिहाद्यसिद्धिः । ५, २, ३५ ।

ब्रह्मादिषूपपदेषु हन्तेः क्विब्विधौ, 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु' इत्यत्र अरिहा

'पत्रलं' यह [प्रयोग पत्र उपपद रहते] 'ला' [आदाने] धातु से [[१] 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस सूत्र से] 'क' प्रत्यय होने पर [बनता] है ।

'पत्रल' पत्रयुक्त यह वन शोभित होता है । यहां 'पत्रलं' यह [प्रयोग] कैसे [बनेगा यह शंका होती है । उसका निवारण करने के लिए] यह कहते हैं । 'ला' धातु से 'क' प्रत्यय करने पर ['पत्रलं' शब्द बनेगा] । 'ला आदाने' इस आदानार्थक धातु से पत्र शब्द [रूप] कर्म उपपद रहते 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस सूत्र से 'क' प्रत्यय होने पर ['पत्रलम्' शब्द की सिद्धि होती है] ॥ ३३ ॥

'महीध्र' आदि [शब्द] मूलविभुजादि [गण] में दृष्ट होने से ['क' प्रत्यय होकर तथा कित् होने से गुण का निषेध होकर] सिद्ध होते हैं ।

'महीध्र' 'धरणीध्र' आदि शब्द मूलविभुजादि [गण] में दृष्ट होने से 'क' प्रत्यय होने पर [कित् होने से गुण का निषेध होकर] सिद्ध होते है । 'महीं' मही को 'धरति' धारण करता है वह 'महीध्रः' [होता] है । इस प्रकार के अन्य शब्द भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिएं ॥ ३४ ॥

[२]['ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इस सूत्र में] ब्रह्म आदि शब्दों के उपपद होने पर हन् धातु से [ही क्विप् विधान का] नियम होने से [अरि, रिपु आदि से परे हन् से क्विप् प्रत्यय न होने से] 'अरिहा', ['रिपुहा'] आदि [शब्दों] की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

ब्रह्म आदि के उपपद रहते हन् धातु से क्विप् [प्रत्यय] के विधान में 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु' इस [सूत्र] में 'अरिहा' 'रिपुहा' इत्यादि [प्रयोगों] की सिद्धि

रिपुहा इत्येवमादीनामसिद्धिः। नियमात्। ब्रह्मादिष्वेव, हन्तेरेव, क्विबेव भूतकाल एवेति चतुर्विधश्चात्र नियम इति। नियमान्यतरविषयो निरूप्यः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मविदादयः कृदन्तवृत्त्या। ५, २, ३६।

ब्रह्मविद्, वृत्रभिद्, इत्यादयः प्रयोगा न युक्ताः ब्रह्मभ्रूण इत्यादिषु हन्तेरेव इति नियमात्। आह, कृदन्तवृत्त्या। वेत्तीति वित्, भिनत्तीति भित्। 'क्विप् च' इति क्विप्। ततः कृदन्तैर्विदादिभिः सह ब्रह्मादीनां षष्ठीसमास इति ॥ ३६ ॥

नहीं होती। नियम होने से। [यह नियम चार प्रकार के हैं] १. ब्रह्म आदि [शब्दों] के उपपद होने पर ही [अरि रिपु आदि के उपपद होने पर नहीं], २. हन् धातु से ही [अन्य धातुओं से नहीं], ३. क्विप् [प्रत्यय] ही और ४. भूतकाल में ही यह चार प्रकार का नियम [यहां अभिप्रेत] है। इनमें से किसी एक का विषय [अवश्य] निरूपण करना चाहिए। [अरिहा रिपुहा आदि में उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है]॥ ३५ ॥

'ब्रह्मवित्' आदि [शब्द] कृदन्त [वेत्तीति 'वित्' पद] के साथ [ब्रह्मादि पदों के षष्ठी तत्पुरुष] समास से बनते हैं।

[पूर्वपक्ष] ब्रह्मवित्, वृत्रभित् इत्यादि प्रयोग उचित नहीं हैं। ['ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्'[1] इस सूत्र के अनुसार] ब्रह्म, भ्रूण आदि उपपद होने पर हन् धातु से ही [क्विप् प्रत्यय है]। यह नियम होने से। [ब्रह्म आदि के उपपद रहते 'विद्' आदि धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय का विधान न होने से 'ब्रह्मवित्', 'वृत्रभित्' आदि प्रयोग नहीं बन सकते हैं। यह पूर्वपक्ष हुआ। इसके समाधानार्थ] कहते हैं। कृदन्त [वेत्तीति 'वित्', 'भिनत्तीति भित्' इन कृदन्त पदों] के साथ [षष्ठी तत्पुरुष] समास करने से [यह शब्द सिद्ध होते हैं]। 'वेत्तीति वित्' जो जानता है वह 'वित्' और 'भिनत्तीति भित्' जो नाश करता है वह 'भित्' हुआ। यहां [2]'क्विप् च' इस सूत्र से क्विप् [प्रत्यय होकर 'वित्', भित्' आदि कृदन्त पद] होता है। उसके बाद 'वित्' [भित्] आदि कृदन्त पदों के साथ

---

[1] अष्टाध्यायी ३, २, ८७।

[2] अष्टाध्यायी ३, २, ७६।

तैर्महीधरादयो व्याख्याताः । ५, २, ३७ ।

तैर्विदादिभिर्महीधरादयो व्याख्याताः । धरतीति धरः । मह्या धरो महीधरः । एवं गङ्गाधरादयो व्याख्याताः ॥ ३७ ॥

भिदुरादयः कर्मकर्तरि कर्तरि च । ५, २, ३८ ।

भिदुरं काष्ठम्, भिदुरं तमः, तिमिरभिदुरं व्योम्नः शृङ्गम्, इति। छिदुरातपो दिवसः । मत्सरच्छिदुरं प्रेम । भङ्गुरा प्रीतिः । मातङ्गं मानभङ्गुरम् । इत्यादयोऽपि प्रयोगा दृश्यन्ते । कथमित्याह । ते कर्मकर्तरि, कर्तरि च भवन्ति । 'कर्मकर्तरि चायमिष्यते' इत्यत्र चकारः 'कर्तरि च' इत्यस्य समुच्चयार्थः ॥ ३८ ॥

ब्रह्म [वृत्र] आदि [पदों] का षष्ठी [तत्पुरुष] समास होता है । [इस प्रकार 'ब्रह्मवित्', 'वृत्रभित्' आदि पद बनते हैं । और यह शुद्ध पद हैं] ॥३६॥

उन ['ब्रह्मवित् आदि पदा] से [उसी प्रकार के 'धरतीति धरः' आदि कृदन्त पद बना कर उनका 'मही' आदि के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास करके] 'महीधर' आदि [पदों] की व्याख्या भी हो गई ।

उन [कृदन्त] 'विद्' आदि [पदों] से 'महीधर' आदि [शब्द] की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए । [इसका अभिप्राय यह है कि साधारणतः 'मही' आदि कर्म उपपद रहते 'धृ' धातु से 'कर्मण्यण्' इस सूत्र से अण् प्रत्यय होकर 'कुम्भं करोतीति कुम्भकारः' के समान 'मही धरतीति महीधारः' प्रयोग होना चाहिए था 'महीधरः' नहीं । परन्तु 'ब्रह्मवित्' आदि के समान पहले] 'धरतीति धरः' ['पचाद्यच्' से अच् प्रत्यय द्वारा 'धरः' यह कृदन्त पद बना कर फिर] मही का धारण करने वाला [मह्या धरः] 'महीधर' [यह प्रयोग बन जावेगा] इसी प्रकार 'गङ्गाधरः' इत्यादि की भी व्याख्या हो गई ॥३७॥

भिदुर' आदि [प्रयोग] कर्मकर्ता और कर्ता में [दोनों प्रकार से होते] हैं।

'भिदुरं काष्ठम्' लकड़ी टूटने वाली है, अन्धकार भङ्ग होने वाला है । आकाश का ऊपरी भाग तिमिर भग्न है । दिन आतपहीन है । प्रेम ईर्ष्या से नष्ट हो जाता है । मातङ्ग मानभंगुर है । इत्यादि प्रयोग भी देखे जाते हैं । यह कैसे [बनते] हैं, यह कहते हैं । वह कर्मकर्ता और कर्ता [दोनों] में होते हैं । [भाष्यकार के] 'कर्मकर्तरि चायमिष्यते' इस वचन में चकार [यह अव्यय पद] 'कर्तरि च' [कर्ता में भी हो] इसके समुच्चय के लिए है । [इसलिए प्रयोग

गुणविस्तरादयश्चिन्त्याः । ५, ३, ३९ ।

गुणविस्तरः, व्याक्षेपविस्तरः इत्यादयः प्रयोगाश्चिन्त्याः । [1]'प्रथने वावशब्दे' इति घञ् प्रसङ्गात् ॥ ३२ ॥

अवतरापचायशब्दयोर्दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानाम् । ५, २, ४० ।

अवतरशब्दस्यापचायशब्दस्य च दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानां बालिशानां प्रयोगेष्विति । ते ह्यवतरणमवतार इति प्रयुञ्जते । मारुतावतार इति । स ह्ययुक्तः । भावे तरतेरब्विधानात् । अपचायमपचय इति प्रयुञ्जते पुष्पापचय इति । अत्र [2]'हस्तादाने चेरस्तेये' इति घञ् प्राप्त इति ॥ ४० ॥

शोभेति निपातनात् । ५, २, ४१ ।

शोभेत्ययं शब्दः साधुः । निपातनात् । 'शुभ शुम्भ शोभार्थौ' इति ।

गुणविस्तर आदि [प्रयोग] चिन्त्य [अशुद्ध] हैं ।

'गुण विस्तरः' 'व्यक्षेप विस्तरः' इत्यादि प्रयोग चिन्त्य [असाधु] हैं । 'प्रथने वाव शब्द' इस सूत्र से [वि पूर्वक स्तृ धातु से] घञ् का विधान होने से ['गुणविस्तारः' प्रयोग होना चाहिए । 'गुणविस्तरः' नहीं] ॥ ३९ ॥

'अवतर' और 'अपचाय' शब्दों में दीर्घ ह्रस्व का परिवर्तन मूर्खों का [प्रयोग] है ।

'अवतर' शब्द और 'अपचाय' शब्द के दीर्घ ह्रस्व का उलट-पुलट बालकों अर्थात् मूर्खों [बालिशों] के प्रयोगों में हो जाता है । वे [मूर्ख पुरुष] अवतरण को 'अवतार' इस रूप में प्रयुक्त करते हैं । जैसे 'मारुतावतार' । वह [अवतार रूप प्रयोग] अयुक्त है । भाव में तृ धातु से [[3]'ऋदोरप्' इस सूत्र से] अप् [प्रत्यय] का विधान होने से । 'अपचाय' के स्थान पर 'अपचय' यह प्रयोग करते हैं । जैसे 'पुष्पापचय' । यहां 'हस्तादाने चेरस्तेये' इस सूत्र से घञ् प्राप्त है । [अतः यहां 'पुष्पापचायः' यह प्रयोग होना चाहिए । 'अवतरः' की जगह 'अवतारः' और 'अपचायः' की जगह 'अपचयः' प्रयोग में दीर्घ ह्रस्व की गड़बड़ बालिशता की सूचक है] ॥ ४० ॥

शोभा यह [शब्द] निपातन से [बनता] है ।

शोभा यह शब्द [भी] शुद्ध है । निपातन से । 'शुभ शुम्भ शोभार्थौ'

---

[1] अष्टाध्यायी ३, ३, ३३ । [2] अष्टाध्यायी ३, ३, ४०
[3] अष्टाध्यायी ३, ३. ५७ ।

शुभेर्भिदादेराकृतिगणत्वात् अङ् सिद्ध एव । गुणप्रतिषेधाभावस्तु निपात्यते इति । शोभार्थावित्यत्रैकदेशे किं 'शोभा' आहोस्विन् 'शोभ' इति विशेषावगतिराचार्यपरम्परोपदेशादिति ॥ ४१ ॥

अविधौ गुरोः स्त्रियां बहुलं विवक्षा । ५, २, ४२ ।

अविधौ 'अ' विधाने 'गुरोश्च हल' इति स्त्रियां बहुलं विवक्षा ।

यह ['शोभा' पद का पाठ 'शोभा' शब्द की साधुता को सूचित करता है]। शुभ धातु से भिदादि ['षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इस सूत्र में पठित भिदादि] [गण] के आकृति गण होने से अङ् [प्रत्यय] तो सिद्ध ही है । [परन्तु अङ् प्रत्यय के होने पर ङित् होने से गुण का प्रतिषेध प्राप्त होने पर] गुण के प्रतिषेध का अभाव [अर्थात् गुण की प्राप्ति] निपातित है । 'शोभार्थौ' इस पद के एक देश में क्या 'शोभा' [यह पदच्छेद किया जाय] यह अथवा 'शोभ' यह [पदच्छेद किया जाय] इस विशेष ['शोभा' या 'शोभ' पद] का निर्णय आचार्य परम्परा के उपदेश से समझना चाहिए ।

अर्थात् धातुपाठ 'शुभ शुम्भ शोभार्थौ' में शोभार्थौ' इस निपातन से ही 'अङ्' प्रत्यय परे रहते शुभ धातु में गुण का निपातन किया है । इस प्रकार 'शोभ शब्द बन जाने के बाद 'अ प्रत्ययात्' [1] सूत्र में स्त्रीलिंग में 'अ' प्रत्यय होकर 'शोभा' शब्द बन सकता है । और या जैसे कि अगले सूत्र में 'अ' प्रत्यय की 'बहुल विवक्षा' का वर्णन करेंगे उसके अनुसार यदि यह 'अ' प्रत्यय न किया जाय तो 'शोभ' यह पुल्लिग प्रयोग भी बन सकता है । जैसे 'बाधा' और 'बाधः,' 'ऊहा' और 'ऊहः,' 'व्रीडा' और 'व्रीडः' यह दोनों प्रकार के रूप बनते हैं । इसी प्रकार 'शोभा' और 'शोभः' यह दोनों प्रकार के रूप बन सकते हैं । उनमें से यहां 'शोभार्थौ' इस पाठ में 'शोभा' पदच्छेद किया जाय या 'शोभ', यह बात आचार्य परम्परा से समझनी चाहिए । अर्थात् यहां 'शोभा' पदच्छेद ही करना चाहिए क्योंकि 'शोभा' शब्द की सिद्धि करने के लिए ही यह सूत्र लिखा गया है ॥ ४१ ॥

'अ' प्रत्यय के विधान में ['गुरोश्च हलः' इस सूत्र से] स्त्रीलिङ्ग में गुरुवर्णयुक्त शब्द से 'अ' प्रत्यय की बहुल विवक्षा होती है ।

'अ' प्रत्यय के विधान में 'गुरोश्च हलः' [2] [इस सूत्र से विहित

क्वचिद्विवक्षा, क्वचिदविवक्षा, क्वचिदुभयमिति। विवक्षा यथा 'ईहा', 'लज्जा' इति। अविवक्षा यथा 'आतंक' इति। विवक्षाऽविवक्षे यथा 'बाधा', 'बाधः'; 'ऊहा', 'ऊहः'; 'व्रीडा', 'व्रीड' इति॥ ४२॥

व्यवसितादिषु क्तः कर्तरि चकारात्। ५, २, ४३।

'व्यवसितः' 'प्रतिपन्न' इत्यादिषु भावकर्मविहितोऽपि क्तः कर्तरि। गत्यादिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्। भावकर्मानुकर्षणार्थत्वञ्चकारस्येति चेत्, आवृत्तिः कर्तव्या॥ ४३॥

'अ' प्रत्यय] की स्त्रीलिङ्ग में बहुल करके विवक्षा होती है। १. कहीं विवक्षा हो २. कहीं विवक्षा न हो, ३. कहीं दोनों हों [यह 'बहुल' पद का अभिप्राय है]। विवक्षा [का उदाहरण] जैसे 'ईहा', 'लज्जा' [यहां 'अ' प्रत्यय हुआ है]। अविवक्षा [का उदाहरण] जैसे 'आतङ्क' [यहां 'अ' प्रत्यय नहीं हुआ है]। विवक्षाविवक्षा उभय [का उदाहरण] जैसे 'बाधा' 'बाधः'; 'ऊहा' 'ऊहः'; 'व्रीडा, 'व्रीडः' [इनमें 'अ' प्रत्यय हुआ भी है और नहीं भी हुआ है। इसलिए विकल्प से दो प्रकार के रूप बने हैं]।

बाहुलक का इसी आशय का लक्षण व्याकरण ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है—

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥ ४२॥

'व्यवसितः' इत्यादि में 'क्त' प्रत्यय कर्ता में होता है [गत्यादि सूत्र में] चकार से [अनुक्त का समुच्चय होने से]।

[साधारणतः] भाव कर्म में विहित [होने पर] भी 'क्त' [प्रत्यय] 'व्यवसितः' [किमसि कर्तुं व्यवसितः] 'प्रतिपन्नः' इत्यादि [प्रयोगों] में [भाव या कर्म में न होकर] कर्ता में हुआ है। गत्यादि [गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च] सूत्र में [गत्यर्थक, अकर्मक, श्लिष, शीङ्, स्था, अस, वस, जन, रुह, जॄ धातुओं से क्त प्रत्यय का कर्ता में विशेष रूप से विधान किया गया है। सूत्र के अन्त में जोड़े हुए] 'चकार' के अनुक्त समुच्चयार्थक होने से। [उस अनुक्त समुच्चय वश से ही 'व्यवसितः' 'प्रतिपन्न' इत्यादि में भी कर्ता में 'क्त' प्रत्यय हो जाता है। यदि यह कहो कि उक्त गत्यादि सूत्र में अनुक्त समुच्चय के लिए चकार का ग्रहण नहीं किया गया अपितु] भाव कर्म के अनुकर्षण [अनुवृत्ति लाने] के लिए चकार [का ग्रहण] है तो

आहेति भूतेऽन्यणलन्तभ्रमाद् ब्रुवो लटि । ५, २, ४४ ।

'ब्रुवः पञ्चानाम्' इत्यादिना 'आह' इति लटि व्युत्पादितः । स भूते प्रयुक्तः । 'इत्याह भगवान् प्रभुः' इति । अन्यस्य भूतकालाभिधायिनो णलन्तस्य लिटि भ्रमात् । निपुणाश्चैवं प्रयुञ्जते । 'आह स्म स्मितमधुमधुराक्षरां गिरम्' इति । 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' इत्यत्रापि मन्ये 'स्म' शब्दः कविना प्रयुक्तो लेखकैस्तु प्रमादान्न लिखित इति ॥ ४४ ॥

[फिर चकार की] आवृत्ति करनी चाहिए। [जिससे एक चकार से भाव कर्म का अनुकर्षण हो सके और आवृत्ति किये हुए दूसरे चकार से अनुक्त का समुच्चय भी हो सके । इस प्रकार गत्यादि सूत्र में उक्त चकार अथवा आवृत्ति द्वारा सिद्ध चकार से अनुक्त का समुच्चय मान कर 'व्यवसितः, 'प्रतिपन्नः' इत्यादि सकर्मक धातुमूलक प्रयोगों में कर्ता में भी 'क्त' प्रत्यय हो सकेगा] ॥ ४३ ॥

ब्रू ['ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि'] धातु का [वर्तमान काल सूचक] लट् [लकार] में [बना हुआ] 'आह' इस [वर्तमान काल के बोधक प्रयोग को कुछ लोग कभी-कभी 'उवास' आदि] अन्य णलन्त [प्रयोगों] के [समान समझकर] भ्रम से भूत काल में [प्रयुक्त कर देते हैं । यह उचित नहीं भ्रान्त प्रयोग] है ।

'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' अष्टा० ३, ४, ८४ इत्यादि [सूत्र] से [परस्मैपद में ब्रू धातु के लट् लकार के आदि से पांच अर्थात् १. तिप्, २. तस्, ३. झि, ४. सिप्, ५. थस् के स्थान पर क्रमशः १. णल्, २. अतुस्, ३. उस्, ४. थल्, ५. अथुस्, यह पांच आदेश, और 'ब्रू' धातु को 'आह' आदेश होकर] 'आह' यह पद [वर्तमानता सूचक] लट् लकार में सिद्ध किया गया है । [कहीं-कहीं] वह भूतकाल में प्रयुक्त हुआ है । जैसे यह—

[स्वयं] भगवान् प्रभु ने यह कहा [इत्याह]

[परन्तु भूतकाल में किया गया 'आह' का प्रयोग] अन्य [प्रयोगों में] भूतकाल के बोधक [लिट् लकार के] णलन्त का [अन्य प्रयोगों के समान यहां भी आदेश हुए 'णल्' आदि लिट् लकार में ही हुए हैं ऐसा समझ कर] लिट् में [बने हुए प्रयोग का] भ्रम होने से [ही 'आह' पद भूतकाल में प्रयुक्त] होता है। चतुर लोग तो इस [भूतकाल के बोधन के लिए लट् लकार के रूप के साथ 'स्म' जोड़ कर] इस प्रकार प्रयुक्त करते हैं—

स्मित रूप मधु से मधुर अक्षरों वाली वाणी को ['आह स्म' बोलता भया] बोला । 'भगवान् नारायण का अनुकरण करता है' यहां भी [अनुकरोति

शबलादिभ्यः स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः । ५, ५, ४५ ।

'उपस्रोतः स्वस्थस्थितमहिषशृङ्गाग्रशबलाः
स्रवन्तीनां जाताः प्रमुदितविहङ्गास्तटभुवः' ॥
'भ्रमरोत्करकल्माषाः कुसुमानां समृद्धयः' ॥

इत्यादिषु स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः ।[1] 'अन्यतो ङीष्' इति ङीष् विधानात् । तेन 'शबली' 'कल्माषी' इति भवति ॥ ४५ ॥

प्राणिनि नीलेति चिन्त्यम् । ५, २, ४६ ।

शब्द के साथ] कवि ने [भूतकाल सूचक] 'स्म' का प्रयोग किया था [परन्तु बाद में] लेखकों ने असावधानी से उसको लिखा नहीं, ऐसा [मैं मानता हूं] मालूम होता है। [अर्थात् 'आह' आदि का वर्तमान काल में प्रयोग अनुचित है। यदि उनको प्रयुक्त किया जाय तो उनके साथ 'स्म' पद का भी प्रयोग करना चाहिए। तब दोष नहीं रहेगा] ॥ ४४ ॥

'शबल' आदि [शब्दों] से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' नहीं हो सकता है। [इसलिए 'शबला' आदि प्रयोग न करके 'शबली' प्रयोग करना उचित है]।

प्रमुदित विहङ्गों से युक्त नदियों के किनारे की भूमियां, धारा के समीप स्वस्थ [निश्चिन्त] होकर बैठे हुए भैंसों के सींगों के अग्रभागों से 'शबल' [चित्रविचित्र, कर्बुर] हो गई थीं।

पुष्पों की समृद्धियां [समूह] भ्रमर पंक्तियों से चित्रित ['शबला' कर्बुर] हो रही है।

इत्यादि [प्रयोगों] में स्त्रीलिङ्ग में [जो टाप् करके 'शबला', 'कल्माषा' आदि प्रयोग बनाए हैं, वह उचित नहीं हैं क्योंकि उनमें], टाप् नहीं [प्राप्त] हो सकता है। 'अन्यतो 'ङीष्' [अष्टा० ४, १, ४०] इस सूत्र से [तकारोपध से भिन्न वर्णवाची अनुदात्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में] ङीष्' का विधान होने से। इसलिए [इन शब्दों से 'ङीष्' प्रत्यय करके] 'शबली', 'कल्माषी' यह [प्रयोग शुद्ध] होता है। ['शबला', 'कल्माषा' यह प्रयोग अनुचित हैं] ॥ ४५ ॥

प्राणी [के सम्बन्ध बोधन] में स्त्रीलिङ्ग में 'नीला' यह [प्रयोग भी] चिन्त्य [अशुद्ध] है।

---

[1] अष्टाध्यायी ४, १, ४० ।

'कुवलयदलनीला कोकिला बालचूते'

इत्यादिषु 'नीला' इति चिन्त्यम्। 'कोकिला नीली' भवितव्यम्। नीलशब्दात् [1]'जानपद' इत्यादि सूत्रेण 'प्राणिनि च' इति ङीप्-विधानात्॥ ४६॥

मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे। ५, २, ४७।

आम्र के नये वृक्ष पर कुवलय दल के समान नीला [नीलवर्णा] कोकिला [बैठी है]।

इत्यादि [प्रयोगों] में [कोकिला के विशेषण रूप में प्रयुक्त] 'नीला' यह [पद] चिन्त्य [अशुद्ध] है। कोकिला [के साथ स्त्रीलिङ्ग में] 'नीली' यह [विशेषण] होना चाहिए। नील शब्द से [जानपद-कुण्ड गोण-स्थल-भाज-नाग-काल-नील-कुश-कामुक-कबराद् वृत्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु। अष्टा० ४, १, ४२] जानपद इत्यादि सूत्र से ['नीला-दौषधौ' इस वार्तिक से औषधि अर्थ में तथा] 'प्राणिनि च' इस [वार्तिक] से [प्राणी के सम्बन्ध बोध में] 'ङीष्' का विधान होने से ['नीली गौः' 'नीली कोकिला' इत्यादि प्रयोग होने चाहिएं। 'नीला कोकिला' प्रयोग नहीं होना चाहिए। अतः नीला प्रयोग अशुद्ध है]॥ ४६॥

[इकारान्त उकारान्त मनुष्यजातिपरक शब्दों में] मनुष्य जाति की विवक्षा और अविवक्षा [दोनों होती] हैं।

मनुष्य जाति की विवक्षा होने पर इकारान्त 'निम्ननाभि' आदि शब्दों से 'इतो मनुष्यजातेः' सूत्र से 'ङीष्' होकर 'निम्ननाभी' पद बना और उसके सम्बोधन में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व होकर हे 'निम्ननाभि' पद बनता है। इसी प्रकार उकारान्त 'सुतनु' शब्द से ऊङुतः ४, १, ६६, सूत्र से 'ऊङ्' प्रत्यय हो कर 'सुतनू' शब्द बना और उसका सम्बुद्धि में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः'. पा० ७, ३, १०७। सूत्र से ह्रस्व होकर 'हे सुतनु' शब्द बनता है। और मनुष्य-जाति की अविवक्षा में इकारान्त 'निम्ननाभि' शब्द का षष्ठी में 'निम्ननाभेः' प्रयोग बनता है अन्यथा 'निम्ननाभ्याः' होता। 'वरतनु' में मनुष्य जाति की विवक्षा न होने पर 'ऊङ्' नहीं होता है इसलिए 'वरतनुः' प्रथमा के एक वचन में बनता है। अन्यथा विवक्षा होने पर ऊङ् होकर 'वरतनूः' प्रयोग होगा। इसलिए—

---

[1] अष्टाध्यायी ४, १, ४२।

[1]'इतो मनुष्यजातेः' [2]'ऊङुतः' इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवक्षा अविवक्षा च लक्ष्यानुसारतः ।

मन्दरस्य मदिराक्षि पार्श्वतो निम्ननाभि न भवन्ति निम्नगाः ।
वासु वासुकिविकर्षणोद्भवा भामिनीह पदवी विभाव्यते ॥

अत्र मनुष्यजातेर्विवक्षायां 'इतो मनुष्यजातेः' इति 'ङीषि' सति [3]'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति सम्बुद्धौ ह्रस्वत्वं सिद्ध्यति ।

इतो मनुष्यजातेः [पा० ४, १, ६५] और ऊङुतः [पा० ४, १, ६६] यहां [इन सूत्रों में] मनुष्यजाति की विवक्षा और अविवक्षा लक्ष्य के अनुसार होती है।

हे निम्ननाभि [वाली] मदिराक्षि [वासु] बालिके [भामिनि] प्रिये मन्दराचल के किनारे यह नदियां नहीं हैं [तुम जिनको नदी समझ रही हो] वह [समुद्र-मन्थन के समय वासुकि सर्प जिसको मन्थनदण्ड रई के स्थानापन्न मन्दराचल के चारों ओर रस्सी के स्थान पर बांध कर और उसको खींच-खींच कर समुद्र का मन्थन किया गया था । उस] वासुकि के [बार-बार] खींचने से उत्पन्न हुई लकीर दिखलाई देती हैं।

यहां मनुष्यजाति की विवक्षा में [निम्ननाभि तथा मदिराक्षि आदि शब्दों में] 'इतो मनुष्यजातेः' [पा० ४, १, ६५] इस सूत्र से 'ङीष्' [प्रत्यय] होने पर [निम्ननाभी मदिराक्षी शब्दों के] सम्बोधन के एकवचन में 'अम्बार्थ-नद्योर्ह्रस्वः' [अ० ७, ३, १०७] इस सूत्र से ह्रस्वत्व [और सु का लोपादि होकर हे निम्ननाभि, हे मदिराक्षि आदि पद] सिद्ध होता है [अन्यथा हे निम्ननाभे आदि रूप बनेंगे]।

यह हो सकता है कि निम्ननाभि में 'इतश्च प्राण्यंगवाचिनो वा ङीष् वक्तव्यः' इस नियम के अनुसार नाभि शब्द से ङीष् कर लेने पर भी 'अम्बार्थ नद्योर्ह्रस्वः' से ह्रस्व होकर 'हे निम्ननाभि' रूप बन सकता है। तब मनुष्य जाति की विवक्षा अविवक्षा मानकर ङीष् करने का प्रयत्न क्यों किया जाय।

इसका उत्तर वृत्तिकार यह करते हैं कि 'निम्ननाभि' पद में 'निम्न है नाभि जिसकी वह निम्ननाभि है' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास है । उस

---

[1] अष्टाध्यायी ४, १, ६५ ।
[2] अष्टाध्यायी ४, १, ६६ ।
[3] अष्टाध्यायी ७, ३, १०७ ।

नाभिशब्दात् पुनः [1]'इतश्च प्राण्यङ्गात्' इतीकारे कृते निम्नना-भीकेति स्यात्।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिर्निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम्।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम्॥

अत्र निमग्ननाभेरिति मनुष्यजातेरविवक्षेति ङीष् न कृतः।

बहुव्रीहि समास वाले पद में स्त्रीलिंग में 'इतश्च प्राण्यंगवाचिनो वा ङीष् वक्तव्यः' इस नियम के अनुसार यदि ङीष् करके 'निम्ननाभी' यह स्त्रीलिंग का रूप बनाया जाय तो उससे 'नद्यृतश्च' [अ० ५, ४, १५३] इस सूत्र से समासान्त कप् प्रत्यय होकर 'केऽणः' [अष्टा० ७, ४, १३] से प्राप्त होने वाले ह्रस्व का 'न कपि' [अष्टा० ७, ४, १४] से निषेध हो जाने से 'निम्न-नाभीका' यह प्रयोग बनने लगेगा। 'निम्ननाभि' यह प्रयोग नहीं बनेगा। इसी बात को वृत्तिकार इस प्रकार कहते हैं।

और नाभि शब्द से 'इतश्च प्राण्यङ्गात्' इस से ईकार अर्थात् ङीष् करने पर 'निम्ननाभीका' यह प्रयोग होने लगेगा।

यह स्थल कुछ सन्दिग्ध है। मूल ग्रन्थ में 'निम्ननाभिकेति' स्यात् यह पाठ दिया है। डा० गंगानाथ ने भी अपने आंग्लभाषानुवाद में 'निम्ननाभिका' यही पाठ माना है। परन्तु काव्यालंकार सूत्रवृत्रि के टीकाकार त्रिपुरहर भूपाल ने ईकार होने के बाद कप् प्रत्यय और उसके परे रहते ह्रस्वत्व का निषेध करके 'निम्ननाभीका इति स्यात्' ऐसा पाठ दिया है। टीकाकार के अनुरोध से हमने भी यहाँ मूल में 'निम्ननाभीकेति' पाठ ही रखा है।

मनुष्यजाति की अविवक्षा में ङीष् के अभाव का दूसरा उदाहरण दिखलाते हैं—

क्रोध के कारण विशृंखल गतिवाली निमग्ननाभि [प्रियतमा] के ओष्ठ पर गिर कर ओष्ठराग का हरण करने वाले [रोने के कारण] टपकते हुए आंसुओं से अंकित शुक के उदर के समान हरित वर्ण यह चोली [स्तनांशुक] गिर पड़ी है।

यहां मनुष्यजाति की अविवक्षा है इसलिए 'निमग्ननाभेः' इस पद में ङीष् नहीं किया है। [अन्यथा षष्ठी विभक्ति में नदी शब्द के समान 'निमग्ननाभ्याः' यह रूप बनता]।

---

[1] अष्टाध्यायी।

'सुतनु जहीहि मानं पश्य पादानतं माम् ।'

इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवक्षेति सुतनुशब्दाद् 'ऊङुतः' इत्यूङि सति ह्रस्वत्वे 'सुतनु' इति सिद्धयति ।

'वरतनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे ।'

अत्र मनुष्यजातेरविवक्षेति ऊङ् न कृतः ॥ ४७ ॥

ऊकारान्तादप्यूङ् प्रवृत्तेः । ५, २, ४८ ।

उत ऊङ् विहित ऊकारान्तादपि क्वचिद् भवति । आचार्यप्रवृत्तेः । क्वासौ प्रवृत्तिः । 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्' इति । अलाबूः कर्कन्धूरित्युदाहरणम् । तेन

'सुभ्रु किं सम्भ्रमेण'

अत्र 'सुभ्रु' शब्द ऊङि सिद्धो भवति । ऊङित्वसति "सुभ्रू" इति स्यात् ॥ ४८ ॥

'हे सुतनु [सुन्दरी] मान को छोड़ो और पैरों पर झुके हुए मुझको देखो' यहां [सुतनु शब्द में] मनुष्यजाति की विवक्षा है इसलिए सुतनु शब्द से ऊङुतः [अष्टा० ४, १, ६६] इस सूत्र से ऊङ् प्रत्यय होने पर [सम्बोधन के एक वचन में पूर्वोक्त 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः [इस सूत्र से] ह्रस्व होने पर 'सुतनु' यह सिद्ध होता है ।

अथवा तुमने मेरी वरतनु [सुन्दरी प्रियतमा] को नहीं देखा है ।

यहां मनुष्यजाति की विवक्षा नहीं है इसलिए ऊङ् नहीं किया है । [अन्यथा ऊङ् करने पर 'वरतनूः' का रूप होता] ॥ ४७ ॥

[ऊङुतः ४, १, ६६ में जो उकारान्त शब्दों से ऊङ् प्रत्यय] कहा है वह] ऊकारान्त [शब्द से] भी ऊङ् होता है । आचार्य [वार्तिककार] की प्रवृत्ति [सूत्ररचना] होने से ।

[ऊङुतः इस सूत्र से केवल] उकारान्त से ऊङ् का विधान किया गया है । वह कहीं कहीं ऊकारान्त [शब्द] से भी हो जाता है । आचार्य [वार्तिककार] की प्रवृत्ति [एतद्विषयक सूत्र रचना] होने से । वह ऊकारान्त से ऊङ् विधायक प्रवृत्ति [सूत्र रचना] कहां की गई है । [यह प्रश्न किया गया है । इसका उत्तर करते हैं] 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्' [प्राणिजातिवाचक शब्दों से भिन्न और रज्जु आदि शब्दों को छोड़ कर शेष उकारान्त शब्दों से ऊङ् प्रत्यय हो] । इस [सूत्र] में ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों प्रकार के उकारान्त शब्दों से ऊङ का विधान वार्तिककार ने किया है] । 'अलाबूः, कर्कन्धूः'

कार्तिकीय इति ठञ् दुर्धरः ५, २, ४९ ।

'कार्तिकीयो नभस्वान्' इत्यत्र 'कालाट्ठञ्' इति ठञ् दुर्धरः । ठञ भवनं दुःखेन ध्रियते ॥ ४६ ॥

शार्वरमिति च । ५, २, ५० ।

'शार्वरं तम' इत्यत्र च 'कालाट्ठञ्' इति ठञ् दुर्धरः ॥ ५० ॥

शाश्वतमिति प्रयुक्तेः । ५, २, ५१ ।

यह उसके उदाहरण हैं । ['अलाबूः कर्कन्धूः' शब्द स्वतः ही दीर्घ ऊकारान्त शब्द है । फिर भी उनसे ऊङ् प्रत्यय करने का फल 'नोङ्धात्वोः' अष्टा० ६, १, १७५ इस सूत्र से विभक्ति के उदात्तत्व का प्रतिषेध करना ही है । प्राणिजातिवाची 'कृकवाकुः' इत्यादि में तथा 'रज्जुः हनुः' इत्यादि में यह ऊङ् प्रत्ययः नहीं होता है। अन्य उकारान्त शब्दों से ऊङ् हो सकता है] इसलिए—

हे सुभ्रु घबड़ाती क्यों हो ।

यहां सुभ्रु शब्द से ऊङ् प्रत्यय करके [सम्बुद्धि में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इस सूत्र से ह्रस्व करके] सुभ्रु यह [रूप] सिद्ध हो जाता है । ऊङ् [प्रत्यय] के न होने [हे श्रीः के समान हे] 'सुभ्रूः' यह [रूप] होगा ॥ ४८ ॥

कार्तिकीय इस [प्रयोग] में ['कालाट्ठञ्' इस सूत्र से प्राप्त होने वाला] ठञ् [प्रत्यय] रोका नहीं जा सकता है । [अतः कार्तिक शब्द से ठञ् प्रत्यय होकर 'कार्तिकिकः' प्रयोग होना चाहिए । कार्तिकीयः प्रयोग अशुद्ध है] ।

'कार्तिकीयो नभस्वान्' [कार्तिक का वायु] इस [प्रयोग] में 'कालाट्ठञ्' [अष्टा० ४, ३, ११] इस सूत्र से [प्राप्त होने वाला] ठञ् प्रत्यय का रोकना कठिन है । [ठञ् का होना मुश्किल से रुक सकता है, नहीं रुक सकता है । अतएव 'कार्तिकीयः' यह प्रयोग शुद्ध नहीं है 'कार्तिकिकः' यह प्रयोग होना चाहिए] ॥ ४९ ॥

और शार्वरं यह भी [प्रयोग ठीक नहीं है] ।

'शार्वरं तमः' रात्रि का अन्धकार यहां भी ['शार्वरं' पद में 'शर्वरी' शब्द से] 'कालाट्ठञ्' इस सूत्र से ठञ् रुक नहीं सकता है । [इसलिए 'शार्वरिकं तमः' ऐसा प्रयोग होना चाहिए था 'शार्वरं तमः' प्रयोग उचित नहीं है] ॥ ५० ॥

'शाश्वतम्' यह [शब्द, वार्तिककार के 'शाश्वते प्रतिषेधः' इस] प्रयोग से [सिद्ध होता है] ।

'शाश्वतं ज्योतिः' इत्यत्र शाश्वतमिति न सिद्ध्यति । [1]'कालाट्ठञ्' इति ठञ् प्रसङ्गात् । 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' इति सूत्रकारस्यापि प्रयोगः ।

आह प्रयुक्तेः । 'शाश्वते प्रतिषेध' इति प्रयोगात्, शाश्वतमिति भवति ॥ ५१ ॥

राजवंश्यादयः साध्वर्थे यति भवन्ति । ५, २, ५२ ।

'राजवंश्याः' 'सूर्यवंश्या' इत्यादयः शब्दाः, 'तत्र साधुः' इत्यनेन साध्वर्थे यति प्रत्यये सति साधवो भवन्ति । भवार्थे पुनर्दिगादिपाठेऽपि वंशशब्दस्य वंशशब्दान्तान्न यत् प्रत्ययः । तदन्तविधेः प्रतिषेधात् ॥ ५२ ॥

[पूर्वपक्ष] 'शाश्वतं ज्योतिः' इस [खण्डवाक्य] में 'शाश्वतं' यह [पद] सिद्ध नहीं होता है । 'कालाट्ठञ्' इस [पूर्वोक्त सूत्र] से ठञ् प्राप्त होने से ['शाश्वतं' के बजाय 'शाश्वतिकं' प्रयोग होना चाहिए] । 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' [अष्टाध्यायी २, ४, ९] यह सूत्रकार [पाणिनि] का भी ['शाश्वतिकः' ही] प्रयोग है । [अतएव 'शाश्वतम्' यह प्रयोग उचित नहीं है] ।

[उत्तरपक्ष] कहते हैं । ['शाश्वतम्' यह प्रयोग भी वार्तिककार द्वारा] प्रयुक्त होने से [ठीक है । वार्तिककार के] 'शाश्वते प्रतिषेधः' इस [प्रकार अण् प्रत्ययान्त 'शाश्वत' शब्द के] प्रयोग से 'शाश्वतम्' यह [प्रयोग भी शुद्ध] होता है ॥ ५१ ॥

'राजवंश्य' आदि शब्द ['तत्र साधुः' अष्टाध्यायी ४, ४, ८९ इस सूत्र से] साधु अर्थ में यत् [प्रत्यय] होने पर [सिद्ध] होते हैं । [भवार्थ में नहीं] ।

राजवंश्य, सूर्यवंश्य इत्यादि शब्द 'तत्र साधुः' [अष्टाध्यायी ४, ४, ८९] इस [सूत्र] से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होने पर शुद्ध होते हैं । भवार्थ में [यत् प्रत्यय का विधान करने वाले 'दिगादिभ्यो यत्' अष्टाध्यायी ४, ३ ५४ में निर्दिष्ट] दिगादि [गण] में वंश शब्द का पाठ होने पर भी वंश शब्दान्त [राजवंश, सूर्यवंश इत्यादि शब्दों] से यत् प्रत्यय नहीं होता है । ['ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधः' इस परिभाषा के अनुसार] तदन्तविधि का प्रतिषेध होने से ['राजवंशे भवः राजवंश्यः', 'सूर्यवंशे भवः सूर्यवंश्यः' यह प्रयोग

दारवशब्दो दुष्प्रयुक्तः । ५, २, ५३ ।

'दारवं पात्रम्' इति 'दारव' शब्दो दुष्प्रयुक्तः । 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इति मयटा भवितव्यम् । ननु विकारावयवयोरर्थयोर्मयड् विधीयते । अत्र तु दारुण इदमिति विवक्षायां 'दारवम्' इति भविष्यति । नैतदेवमपि स्यात् । 'वृद्धाच्छः' इति 'छ' विधानात् ॥ ५३ ॥

मुग्धिमादिषु इमनिज् मृग्यः । ५, २, ५४ ।

नहीं बन सकते । किन्तु 'तत्र साधुः' इस सूत्र से साधु अर्थ में 'यत्' प्रत्यय करके 'राजवंशे साधुः राजवंश्यः', 'सूर्यवंशे साधुः सूर्यवंश्यः' इस प्रकार के प्रयोग बन सकते हैं ।] ॥ ५२ ॥

['दारुण इदं दारवं' लकड़ी का इस अर्थ में प्रयुक्त] 'दारवम्' यह शब्द दुष्प्रयुक्त [अशुद्ध प्रयोग] है ।

[लकड़ी का बना हुआ पात्र है इस अर्थ में प्रयुक्त] 'दारवं पात्रम्' यह 'दारव' शब्द अनुचित [अशुद्ध] प्रयोग है । [यहां दारु शब्द से] 'नित्यं वृद्ध-शरादिभ्यः' [अष्टाध्यायी ९, ३, १४४] इस [सूत्र] से मयट् [प्रत्यय होकर 'दारुमयं' इस प्रकार का प्रयोग] होना चाहिए ।

[प्रश्न] मयट् प्रत्यय तो विकार और अवयव अर्थ में होता है । यहां तो 'दारुण इदं' यह लकड़ी का है इस [सम्बन्ध सामान्य] की विवक्षा में ['तस्येदं' अष्टाध्यायी ४, ३, १२० इस सूत्र से अण् प्रत्यय होकर] 'दारवं' यह [प्रयोग ठीक] हो जायगा । [फिर आप उसको दुष्प्रयुक्त या अशुद्ध प्रयोग क्यों कहते हैं ?]

[उत्तर] इस प्रकार भी यह [दारवम्] नहीं बन सकता है । 'वृद्धाच्छः' [अष्टाध्यायी ५, २, ११४] इस [सूत्र] से 'छ' का विधान होने से ['दार्वीयं पात्रम्' यह प्रयोग होना चाहिए । अतः 'दारवं पात्रम्' यह प्रयोग ठीक नहीं है] ॥ ५३ ॥

मुग्धिमा आदि [प्रयोगों] में [दिखाई देने वाला] इमनिज् [प्रत्यय] खोजना पड़ेगा । [साधारणतः 'पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा' अष्टाध्यायी ५, १, १२२ इस सूत्र से पृथ्वादि गण पठित शब्दों से इमनिच् प्रत्यय विकल्प से होता है । परन्तु उस पृथ्वादिगण में मुग्ध, प्रौढ़, आदि शब्दों का पाठ नहीं है । इसलिए इन शब्दों से इमनिच् प्रत्यय सम्भव नहीं है] ।

'मुग्धिमा' 'प्रौढ़िमा' इत्यादिषु इमनिज् मृग्यः । अन्वेषणीय इति ॥ ५४ ॥

औपम्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत् । ५, २, ५५ ।

औपम्यं, सान्निध्यम्, इत्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत् । 'गुणवचन' इत्यत्र 'चातुर्वर्ण्यादीनामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकात् स्वार्थिकष्यञन्तः ॥ ५५ ॥

ष्यञः षित्करणादीकारो बहुलम् । ५, २, ५६ ।

'गुणवचनब्राह्मणादिभ्य' इति षित्करणादीकारो भवति । स बहुलम् । 'ब्राह्मण्यम्' इत्यादिषु न भवति । 'सामग्र्य' सामग्री, वैदग्ध्यं वैदग्धीति ॥ ५६ ॥

मुग्धिमा, प्रौढ़िमा इत्यादि [प्रयोगों] में [श्रूयमाण] इमनिच् [प्रत्यय मृग्य अर्थात्] अन्वेषणीय है । [पृथ्वादि गण में मुग्ध, प्रौढ़ आदि शब्दों का पाठ न होने से इमनिज् विधायक 'पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा' अष्टाध्यायी ५, १, १२२ इस सूत्र से इमनिच् प्रत्यय होना सम्भव नहीं है । अतः यह प्रयोग अशुद्ध है] ॥ ५४ ॥

औपम्य आदि [शब्द] चातुर्वर्ण्य [शब्द] के समान ['चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय करके बनते] हैं ।

'औपम्यं', 'सान्निध्यं' इत्यादि [प्रयोग] चातुर्वर्ण्य [शब्द] के समान [स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय करके सिद्ध होते] हैं । ['गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' अष्टाध्यायी ५, १, १२४ इस सूत्र के प्रतीक रूप] गुणवचन इस [सूत्र] में 'चतुर्वर्णादीनाम् स्वार्थ उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्ययान्त [जैसे चातुर्वर्ण्यम् पद बनता है । इसी प्रकार स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय करके ही 'उपमैव औपम्यम्', 'सन्निधिरेव सान्निध्यम्' आदि प्रयोग बनते] हैं ॥ ५५ ॥

[गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः ष्यञ् इस सूत्र से विहित] ष्यञ् [प्रत्यय] के षित्करण से [उसके आधार पर 'षिद्गौरादिभ्यश्च' । अष्टा० ४, १, ४१ इस सूत्र से किए हुए 'ङीष्' प्रत्यय का अवशेष रूप] ईकार बहुल करके होता है ।

'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च [अष्टाध्यायी ५, १, १२४] इस [सूत्र] से जो [ङीष् प्रत्यय का अवशेष रूप] ईकार होता है वह बहुल करके [कहीं होता, कहीं नहीं] होता है । [जैसे] 'ब्राह्मण्यम्' इत्यादि [प्रयोगों] में नहीं

धन्वीति व्रीह्यादिपाठात् । ५, २, ५७ ।

व्रीह्यादिषु 'धन्व' शब्दस्य पाठात् 'धन्वी' इति इनौ सति सिद्धो भवति ॥ ५७ ॥

चतुरस्रशोभीति णिनौ । ५, २, ५८ ।

बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ।

होता है । सामग्र्यम् सामग्री, वैदग्ध्यम् वैदग्धी [इन प्रयोगों में विकल्प करके होता है । अर्थात् जहाँ स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय होता है वहाँ उसके षित् होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से विहित ङीष् प्रत्यय बहुल करके होता है । इसलिए 'ब्राह्मण्यम्' आदि में ङीष् नहीं होता और अन्यत्र विकल्प से होता है] ।

यहाँ काशी वाले संस्करण में सामग्र्यम्-सामग्री, वैदग्ध्यम्-वैदग्धी इन उदाहरणों को इसी सूत्र की वृत्ति में जोड़ दिया है । परन्तु डा० गंगानाथ जी भी ने इस ग्रन्थ का जो अंग्रेजी अनुवाद किया है उसमें इस सूत्र के बाद 'सामग्र्यादिषु विकल्पेन' यह सूत्र और दिया है । और 'सामग्र्यम्' आदि को उस सूत्र का उदाहरण माना है । काशी वाले संस्करण में वह सूत्र नहीं है ॥ ५६ ॥

धन्वी यह [पद] व्रीह्यादि [गण में धन्व शब्द का] पाठ होने से [सिद्ध होता है] ।

[धन्वन् शब्द के अदन्त न होने से 'अत इनिठनौ' अष्टाध्यायी ५, २, ११५ सूत्र से इनि प्रत्यय नहीं हो सकता है । इसलिए] व्रीह्यादि गण में [उसको आकृतिगण मान कर] 'धन्व' शब्द का पाठ होने से ['व्रीह्यादिभ्यश्च' अष्टा० ५, २, ११६ । इस सूत्र से] इनि प्रत्यय होकर 'धन्वी' यह [पद] सिद्ध होता है । [वृत्ति के वाराणसीय संस्करण में 'धन्वन्' शब्द का व्रीह्यादि गण में पाठ माना है । उसके स्थान पर डा० गंगानाथ झा ने 'धन्व' शब्द का पाठ रखा है । वही अधिक अच्छा है इसलिए हमने भी मूल में उसी पाठ को स्थान दिया है] ॥ ५८ ॥

['सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' अष्टा० ३, २, ७८ सूत्र से ताच्छील्य अर्थ में 'चतुरस्रं शोभितुं शीलं अस्य' इस विग्रह में] णिनि प्रत्यय होने पर 'चतुरस्रशोभी' यह [पद] सिद्ध होता है ।

नव यौवन से विभक्त उसका शरीर चारों ओर से शोभायुक्त होगया ।

इत्यत्र 'चतुरस्रशोभि' इति न युक्तम्। व्रीह्यादिषु शोभाशब्दस्य पाठेऽपि इनिरत्र न सिद्ध्यति 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात्'।

भवतु वा तदन्तविधिः। कर्मधारयान्मत्वर्थीयानुपपत्तिः। लघु-

'यहां चतुरस्रशोभि' यह [वपु का विशेषण] ठीक नहीं है। [क्योंकि 'शोभा शब्द' अदन्त नहीं है इसलिए 'अत इनिठनौ', अष्टा० ५, २, ११५। सूत्र से इनि प्रत्यय नहीं हो सकता है। व्रीह्यादि गण में यदि उसका पाठ होता तो 'व्रीह्यादिभ्यश्च' अष्टा० ५, २, ११६ सूत्र से इनि प्रत्यय हो सकता था। परन्तु वहां भी 'शोभा' शब्द का पाठ नहीं है। तीसरा मार्ग यह हो सकता था कि जैसे पिछले सूत्र में व्रीह्यादि गण को आकृतिगण मान कर उसमें अपठित 'धन्व' शब्द का व्रीह्यादि गण में पाठ मान लिया गया है। इसी प्रकार इस 'शोभा' शब्द का भी व्रीह्यादि गण में पाठ मान कर 'इनि' प्रत्यय कर लिया जाय। सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि], व्रीह्यादि [गण को आकृति गण मान कर उस] में शोभा शब्द का पाठ मानने पर भी यहां इनि [प्रत्यय] सिद्ध नहीं हो सकता है। 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' [इत्यादि के अनुसार] से तदन्तविधि का निषेध होने से। [शोभा शब्द जिसके अन्त में है ऐसे 'चतुरस्र-शोभा' पद से 'इनि' नहीं हो सकता है]।

अथवा दुर्जनतोष-न्याय से तदन्त विधि भी मान लें तो भी 'चतुरस्र-शोभी' यह पद नहीं बन सकता है। क्योंकि 'चतुरस्रा च सा शोभा चतुरस्रशोभा' यह कर्मधारय समास हुआ। 'सा अस्यास्ति इति चतुरस्रशोभि' इस प्रकार कर्म-धारय से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करने पर 'चतुरस्रशोभि' पद को सिद्ध किया जाय यह चौथा प्रकार हो सकता था। परन्तु वह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि 'न कर्म-धारयान् मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकरः' इस के अनुसार कर्मधारय समास से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय नहीं हो सकता है। क्योंकि 'चतुरस्रा शोभा यस्य तत् चतुरस्रशोभम्' इस बहुव्रीहि समास से भी वह अर्थ निकल आता है। और इस बहुव्रीहि की प्रक्रिया में लाघव रहता है। इसलिए 'चतुरस्रशोभि' पद की सिद्धि के लिए कर्मधारय से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय के गुरुभूत चतुर्थ मार्ग का भी अवलम्बन नहीं किया जा सकता है। इसी बात को आगे कहते हैं।

अथवा [दुर्जनतोष-न्याय से कथञ्चित्] तदन्तविधि भी [मान्य] हो जाय [फिर भी] कर्मधारय [समास] से मत्वर्थीय [इनि प्रत्यय] की अनुपपत्ति है। [क्योंकि उसमें प्रक्रिया का गौरव, आधिक्य होता है। और

त्वात् प्रक्रमस्येति बहुव्रीहिरणैव भवितव्यम् । तत्कथमिति मत्वर्थीयस्याप्राप्तौ चतुरस्रशोभीति प्रयोगः ।

आह । णिनौ । चतुरस्रं शोभते इति ताच्छीलिके णिनावयं प्रयोगः

अथ, अनुमेयशोभीति कथम् । नह्यत्र पूर्ववद् वृत्तिः शक्य कर्तुमिति ।

शुभेः साधुकारिण्यावश्यके वा णिनिं कृत्वा तदन्ताच्च भावप्रत्यये पश्चाद् बहुव्रीहिः कर्तव्यः । अनुमेयं शोभित्वं यस्य इति । भावप्रत्ययस्तु गतार्थत्वान्न प्रयुक्तः । यथा निराकुलं तिष्ठति, सधीरमुवाच इति ॥ ५८ ।

बहुव्रीहि समास में दुबारा 'इनि' आदि के करने बिना ही वह अर्थ प्रतीत हो जाता है इसलिए] प्रक्रिया के लाघव से बहुव्रीहि [समास] ही होना चाहिए । तो इस प्रकार [कर्मधारय से] मत्वर्थीय [इनि प्रत्यय] के प्राप्त न होने पर 'चतुरस्रशोभि' यह प्रयोग कैसे होगा । [यह पूर्वपक्ष हुआ ।]।

[उत्तर] कहते हैं । ['व्रीह्यादिभ्यश्च' से इनि प्रत्यय नहीं अपितु 'चतुरस्रं शोभितुं शीलं अस्य' इस विग्रह में 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' अष्टा० ३,२,७८ इस सूत्र से] 'चतुरस्रं शोभते' इस प्रकार ताच्छील्यक णिनि [प्रत्यय] के होने पर यह [चतुरस्रशोभि] प्रयोग सिद्ध होता है ।

[प्रश्न] अच्छा 'अनुमेयशोभि' [यह प्रयोग] कैसे बनेगा । [यह प्रश्न करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि 'चतुरस्रशोभि' के समान ताच्छील्य में णिनि करने से भी इस 'अनुमेयशोभि' शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि] यहां ['अनुमेयशोभि' इस पद में] पूर्व [चतुरस्रशोभि] के समान ['अनुमेयं शोभितुं शीलं अस्य' इस प्रकार का] विग्रह नहीं किया जा सकता है । [क्योंकि यहां इस प्रकार के अर्थ की सङ्गति नहीं लगती है । और ताच्छील्य में णिनि करने के लिए कर्म का उपपद होना आवश्यक है । परन्तु यहां किसी कर्म की विवक्षा सम्भव नहीं है । और उसके बिना ताच्छील्य णिनि नहीं हो सकता है । तब 'अनुमेयशोभि' पद कैसे बनेगा । यह पूर्वपक्षी का प्रश्न है । आगे इसका उत्तर देते हैं] ।

[उत्तर] शुभ [धातु] से साधुकारी [अर्थ] में [साधुकारिण्युपसंख्यानम् इस वार्तिक से] अथवा आवश्यक [अर्थ] में [आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः अष्टा० ३, ३, १७० इस सूत्र से] णिनि [प्रत्यय] करके ['शोभि' पद बन जाने पर] उस णिनि प्रत्ययान्त ['शोभि' शब्द] से ['तस्यभावस्त्वतलौ' अष्टा० ५, १, ११९ सूत्र से] भाव प्रत्यय [त्व] होने पर पीछे [उस 'शोभित्व' शब्द का 'अनुमेय' शब्द के साथ] बहुव्रीहि [समास] करना चाहिए । 'अनुमेय है शोभित्व

कञ्चुकीया इति क्यचि । ५, २, ५९ ।

'जीवन्ति राजमहिषीमनु कञ्चुकीयाः' इति कथम् ? मत्वर्थीयस्य 'छ' प्रत्ययस्याभावात् । अत आह, 'क्यचि' । 'क्यच्' प्रत्यये सति कञ्चुकीया इति भवति । 'कञ्चुकमात्मन इच्छन्ति' कञ्चुकीयाः ॥ ५९ ॥

बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामपि आतिशायनिकाः । ५, २, ६० ।

जिसका' [यह बहुव्रीहि समास का स्वरूप होगा । इस प्रकार के समास होने पर 'अनुमेयशोभित्व' पद बन सकता है। इसमें से अनुमेयशोभित्व पद के अन्त का 'त्व' रूप] भावप्रत्यय तो [बिना बोले भी] गतार्थ हो जाने से [यहां अनुमेयशोभि पद में] प्रयुक्त नहीं किया है । जैसे ['निराकुलत्वं यथा स्यात् तथा तिष्ठति' अथवा 'धीरत्वेन सह इति सधीरमुवाच' इन विग्रहों में प्रयुक्त] 'निराकुलं तिष्ठति' तथा 'सधीरमुवाच' [प्रयोगों] में [गतार्थ होने से 'त्व' रूप भाव प्रत्यय का प्रयोग नहीं किया जाता है । इसी प्रकार 'अनुमेयं शोभित्वं यस्य' इस विग्रह में 'त्व' रूप भाव प्रत्यय का प्रयोग न करने पर 'अनुमेयशोभि' पद की सिद्धि हो सकती है ।] ॥ ५८ ॥

'कञ्चुकीयाः' यह [प्रयोग 'सुप आत्मनः क्यच्' सूत्र से] क्यच् [प्रत्यय] होने पर [सिद्ध होता है] ।

राजमहिषी के साथ कञ्चुकीय जीवित रहते हैं ।

यह ['कञ्चुकीयाः' पद का प्रयोग] कैसे [सिद्ध होगा] ? [क्योंकि 'कञ्चुका येषां सन्ति इति कञ्चुकीयाः' इस अर्थ में कञ्चुक शब्द से] मत्वर्थीय छ प्रत्यय का [विधायक कोई सूत्र न होने के कारण] अभाव होने से । [कञ्चुकीया पद सिद्ध नहीं हो सकता है । यह पूर्वपक्ष हुआ] इस [समाधान] के लिए कहते हैं । क्यचि अर्थात् ['सुप आत्मनः क्यच्' अष्टा० १, १, ८ सूत्र से] क्यच् प्रत्यय होने पर [और 'क्यचि च' अष्टा० ७, ४, ३३ सूत्र से कञ्चुक शब्द के अन्तिम अकार के स्थान पर ईकार होकर] 'कञ्चुकीयाः' यह [पद सिद्ध] होता है । [उसका विग्रह अथवा अर्थ] 'कञ्चुकमात्मन इच्छन्ति' अपने लिए 'कञ्चुक' चाहते हैं इस अर्थ में 'कञ्चुकीयाः' [यह प्रयोग सिद्ध होता] है ॥ ५९ ॥

बौद्ध [शब्द से उपात्त न होने पर भी बुद्धि में सन्निकृष्ट] प्रतियोगी की अपेक्षा में भी अतिशयार्थक [तरप् तमप् आदि प्रत्यय] हो सकते हैं ।

[साधारणतः देवदत्त यज्ञदत्त से अधिक बलवान् है इस प्रकार देवदत्त यज्ञदत्त रूप दोनों प्रतियोगियों के शब्दतः उपात्त होने पर ही 'बलवत्तरः'

बौद्धस्य प्रतियोगिनोऽपेक्षायामप्यातिशायनिकास्तरबादयो भवन्ति। घनतरं तमः, बहुलतरं प्रेम इति ॥ ६० ॥

कौशिलादय इलचि वर्णलोपात् । ५, २. ६१ ।

'कौशिलो' 'वासिल' इत्यादयः कथम्? आह। कौशिकवासिष्ठादिभ्यः शब्देभ्यो नीतावनुकम्पायां वा 'घनिलचौ च'[1] इति इलचि कृते, 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः'[2] इति वर्णलोपात् सिद्ध्यन्ति ॥ ६१ ॥

'बलवत्तमः' आदि तरप् तमप् प्रत्ययान्त प्रयोग होते हैं। परन्तु कहीं-कहीं शब्दतः उपात्त न होने पर भी] बुद्धि निष्ठ प्रतियोगी की अपेक्षा में भी अतिशयार्थक तरप् आदि [प्रत्यय] होते हैं। जैसे 'घनतर' अन्धकार, अथवा 'बहुलतर' प्रेम है। [यहां किसकी अपेक्षा 'घनतर' अथवा किसकी अपेक्षा 'बहुलतर' है यह बात शब्दतः उपात्त नहीं है। परन्तु 'इदं घनं, इदं च घनं, इदमनयोरतिशयेन घनमिति घनतरं' इस रूप में बुद्धिनिष्ठ प्रतियोगी की अपेक्षा में घनतर शब्द का प्रयोग हुआ है]॥ ६० ॥

कौशिल आदि [शब्द 'घनिलचौ च' अष्टा० ५, ३, ७९ सूत्र से] इलच् [प्रत्यय] होने पर ['ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः' अष्टा० ५, ३, ८३ सूत्र से कौशिक शब्द के द्वितीय अच् से परें 'क' इसका, और वासिष्ठ शब्द के द्वितीय अच् से परे 'ष्ठ' इस] वर्ण के लोप से [और 'यस्येति च' अष्टा० ६, ४, १४८ सूत्र से इकार का लोप होकर 'कौशिलः', 'वासिलः' आदि शब्द सिद्ध होते हैं]।

['अनुकम्पितः कौशिकः, कौशिलः' 'अनुकम्पितो वसिष्ठः वासिलः' इस अर्थ या विग्रह में] कौशिलः वासिलः इत्यादि [शब्द प्रयुक्त होते हैं वह] कैसे [बनते हैं। यह प्रश्न है]। [इसका उत्तर] कहते हैं। कौशिक और वसिष्ठ आदि शब्दों से नीति अथवा अनुकम्पा में ['अनुकम्पायाम्' अष्टा० ५, ३, ७६, 'नीतौ च तद्युक्ते' अष्टा० ५, ३, ७७ इन सूत्रों के प्रकरण में] 'घनिलचौ च' [अष्टा० ५, ३, ७९] सूत्र से इलच् [प्रत्यय] करने पर 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः' [अष्टा० ५, ३, ८३] इस [सूत्र] से [द्वितीय अच् 'इ' के बाद के 'क' तथा 'ष्ठ'] वर्ण को लोप होने से [कौशिलः वासिलः यह शब्द] सिद्ध होते हैं॥६१॥

---

[1] अष्टाध्यायी ५, ३, ७९।

[2] अष्टाध्यायी ५, ३, ८३।

मौक्तिकमिति विनयादिपाठात् । ५, २, ६२ ।

मुक्तैव मौक्तिकमिति विनयादिपाठाद् द्रष्टव्यम् । 'स्वार्थिकाश्च प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति नपुंसकत्वम् ॥ ६२ ॥

प्रातिभादयः प्रज्ञादिषु । ५, २, ६३ ।

प्रातिभादयः शब्दाः प्रज्ञादिषु द्रष्टव्याः । प्रतिभा-विकृति-द्विता-दिभ्यः शब्देभ्यः प्रज्ञादिपाठादणि स्वार्थिके कृते प्रातिभं, वैकृतं, द्वैतम् इत्यादयः प्रयोगाः सिद्ध्यन्तीति ॥ ६३ ॥

न सरजसमित्यनव्ययीभावे । ५, २, ६४ ।

'मौक्तिकम्' यह [शब्द मुक्ता शब्द से 'मुक्तैव मौक्तिकम्' इस विग्रह में स्वार्थ में] विनयादि [गण] में पाठ होने से [विनयादिभ्यष्ठक् अष्टा० ५, ४, ३४ इस सूत्र से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है] ।

'मुक्ता ही मौक्तिक' है यह [मुक्ता शब्द में स्वार्थ में ठक् प्रत्यय, मुक्ता शब्द के] विनयादि [गण को आकृतिगण मान कर उस] में [मुक्ता शब्द का] पाठ [मानने] से [सिद्ध हुआ] समझना चाहिए । [यहां यह प्रश्न हो सकता है कि मुक्ता शब्द से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय करके जो 'मौक्तिक' शब्द बना है उसका लिङ्ग मुक्ता शब्द के समान स्त्रीलिंग ही होना चाहिए । 'मौक्तिकम्' यह नपुंसकलिंग का प्रयोग नहीं होना चाहिए । इस शंका के समाधान के लिए भाष्यकार का वचन उद्धृत कर लिंग और वचन भेद का समर्थन करते हैं] स्वार्थिक [प्रत्यय से सिद्ध शब्द अपनी] प्रकृति [भूत मूल शब्द] से लिंग और वचन में भिन्न हो सकते हैं इस [भाष्यकार के वचन] से [मौक्तिकम्] यह नपुंसकलिंग [का प्रयोग किया गया] है ॥ ६२ ॥

'प्रातिभ' आदि [शब्द प्रतिभा आदि शब्दों का] प्रज्ञादि [गण] में [पाठ मान कर सिद्ध होते] हैं ।

प्रातिभ आदि शब्द [उनके मूल भूत प्रतिभा आदि शब्दों को] प्रज्ञादि [गण को आकृतिगण मान कर उनमें पठित न होने पर भी उन] में समझने चाहियें । प्रतिभा, विकृति, द्विता आदि शब्दों से [उनका] प्रज्ञादि [गण] में पाठ [मानने] से ['प्रज्ञादिभ्यश्च' अष्टा० ५, ४, ३८ सूत्र से] स्वार्थ में अण् [प्रत्यय] करने पर, प्रातिभं, वैकृतं, द्वैतं इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं ॥ ६३ ॥

अव्ययीभाव [समास] के अतिरिक्त [स्थलों] में 'सरजसम्' यह [प्रयोग] नहीं [करना चाहिए] ।

'मधु सरजसं मध्येपद्मं पिबन्ति शिलीमुखाः'

इत्यादिषु 'सरजसम्', इति न युक्तः प्रयोगोऽनव्ययीभावे। अव्ययीभाव एव सरजसशब्दस्येष्टत्वात्॥ ६४॥

न धृतधनुषीत्यसंज्ञायाम्। ५, २, ६५।

'धृतधनुषि शौर्यशालिनि' इत्यत्र 'धृतधनुषि' इत्यसंज्ञायां न युक्तः प्रयोगः। [1]'धनुषश्च' इत्यनङ्विधानात्। संज्ञायां ह्यनङ् विकल्पितः। [2]'वा संज्ञायाम्' इति॥ ६५॥

कमलों के भीतर भ्रमर पराग के सहित मधु का पान करते हैं।

इत्यादि [उदाहरणों] में अव्ययीभाव [समास] से भिन्न स्थल में 'सरजसम्' यह प्रयोग उचित नहीं है। अव्ययीभाव समास में ही ['अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु', अष्टा० २, १, ६ सूत्र से 'रजोऽपि अपरित्यज्य' इस विग्रह में] 'सरजसम्' पद के इष्ट होने से। [बहुव्रीहि समास में भी 'तेन सहेति तुल्ययोगे' अष्टा० २, २, २८ सूत्र से बहुव्रीहि समास होकर 'वोपसर्जनस्य' अष्टा० ६, ३, ८२ सूत्र से बहुव्रीहि के अवयवभूत 'सह' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश होकर 'पुत्रेण सह सपुत्रः सहपुत्रो' वा प्रयोग जैसे बनते हैं, इसी प्रकार बहुव्रीहि समास में 'सरजसम्' के बजाय सरजस्कम् यह प्रयोग होगा। अव्ययीभाव समास में 'सरजसम्' पद भी इष्ट है]॥ ६४॥

'धृतधनुषि' यह [प्रयोग] असंज्ञा [पक्ष] में इष्ट नहीं है।

'धृतधनुषि शौर्यशालिनि' धनुष धारण किए हुए पराक्रमी में' यहां 'धृतधनुषि' यह प्रयोग असंज्ञा [पक्ष] में उचित नहीं है। ['धृतं धनुर्येन' इस धनुः शब्दान्त बहुव्रीहि समास में] 'धनुषश्च' [अष्टा० ५, ४, १३२] इस सूत्र से अनङ् का विधान होने से ['धृतधनुः' नहीं अपितु 'धृतधन्वा' यह प्रयोग होगा। सप्तमी विभक्ति में 'धृतधनुषि' के स्थान पर 'धृतधन्वनि' प्रयोग होगा] संज्ञा [पक्ष] में 'वा संज्ञायाम्' [अष्टा० ५, ४, ३३] इस [सूत्र] से अनङ् [आदेश] का विकल्प कर दिया गया है। [इसलिए संज्ञा पक्ष में 'धृतधनुः' और 'धृतधन्वा' दोनों प्रकार के प्रयोग प्रथमा में तथा 'धृतधनुषि' और 'धृतधन्वनि' दोनों प्रकार के प्रयोग सप्तमी विभक्ति में हो सकते हैं]॥ ६५॥

---

[1] अष्टाध्यायी ५, ४, १३२।

[2] अष्टाध्यायी ५, ४, ३३।

'दुर्गन्धि' पदे इद् दुर्लभः । ५, २, ६६ ।

'दुर्गन्धिः कायः' इत्यादिषु दुर्गन्धिपदे इत् समासान्तो दुर्लभः । उत्पूत्यादिषु 'दुः' शब्दस्यापाठात् ॥ ६६ ॥

सुदत्यादयः प्रतिविधेयाः । ५, २, ६७ ।

'सा दक्षरोषात् सुदती ससर्ज' । 'शिखरदति पतति रशना' इत्यादिषु सुदत्यादयः शब्दाः प्रतिविधेयाः । दत्रादेशलक्षणाभावात् ।

तत्र प्रतिविधानम् । 'अग्रान्त' आदिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् सुदत्यादिषु दत्रादेश इत्येके ।

अन्ये तु वर्णयन्ति । सुदत्यादयः स्त्र्यभिधायिनो योगरूढशब्दाः । तेषु 'स्त्रियां संज्ञायाम्' इति दत्रादेशो विकल्पेन सिद्ध एवेति ॥ ६७ ॥

'दुर्गन्धि' पद में [श्रूयमाण] इद् [अन्तादेश] दुर्लभ है । ['गन्धस्य इत् उत्पूतिसुसुरभिभ्यः' अष्टा० ५, ४, १३५ सूत्र से उत्, पूति, सु, सुरभि शब्दों से परे गन्ध शब्द को इकार अन्तादेश हो जाता है । इस प्रकार 'उद्गन्धिः, पूतिगन्धिः, सुगन्धिः, सुरभिगन्धिः' आदि प्रयोग बनते हैं । परन्तु इन शब्दों में 'दुर्' का पाठ न होने से उसके परे गन्ध को अन्त में इकारान्तादेश नहीं हो सकता है । इसलिए 'दुर्गन्धि' पद नहीं बन सकता है । उसके स्थान पर सदा दुर्गन्ध पद का प्रयोग करना चाहिए] ।

दुर्गन्धि देह है इत्यादि [प्रयोगों] में दुर्गन्धि पद में [श्रूयमाण अन्तादेश] समासान्त इकार दुर्लभ है [नहीं हो सकता है] । उत् पूति आदि [शब्दों] में 'दुर्' शब्द के पाठ न होने से । ['दुर्गन्ध' पद ही बनेगा 'दुर्गन्धि' पद नहीं बनेगा । अतः 'दुर्गन्धि' पद का प्रयोग अशुद्ध है] ॥ ६६ ॥

सुदती आदि [शब्द] समाधेय [प्रतिविधेय] हैं ।

'सा दक्षरोषात् सुदती ससर्ज' सुन्दर दांतों वाली उस [पार्वती] ने दक्ष के प्रति क्रोध के कारण अपना शरीर छोड़ दिया । [यहां सुदती शब्द में तथा] हे नुकीले दांतों वाली [मानिनि] तुम्हारी रशना गिरी जा रही है । [यहां शिखरदति पद में] इत्यादि [उदाहरणों] में सुदती [शिखरदति] आदि शब्द [प्रतिविधेय समाधेय] समाधान करने योग्य हैं । [क्योंकि 'संख्या सुपूर्वस्य' अष्टा० ५, ४, १४० इस सूत्र से 'सु' से परे 'दन्त' शब्द को 'दतृ' आदेश होकर और 'उगितश्च' अष्टा० ४, १, ८ इस सूत्र से ङीष् होकर अवस्था के द्योतन में

क्षतदृढोरस इति न कप् तदन्तविधिप्रतिषेधात् । ५, २, ६८ ।

प्लवङ्गनखकोटिभिः क्षतदृढोरसो राक्षसाः ।

इत्यत्र दृढोरः शब्दात् 'उरः प्रभृतिभ्यः कप्' [1] इति कप् न कृतः । ग्रहणवता प्रातिपदिकेनेति तदन्तविधेः प्रतिषेधात् । समासवाक्यं त्वेवं कर्तव्यम् । क्षतं दृढोरो येषामिति ॥ ६८ ॥

तो 'सुदती' शब्द बन सकता है। परन्तु अवस्था द्योतन से भिन्न अर्थ में जैसे कि यहां प्रयुक्त हुआ है इस प्रकार के 'सुदती' और 'शिखरदति' शब्दों में] दतृ आदेश का [विधायक कोई] सूत्र न होने से । [सुदती तथा शिखरदति शब्द अशुद्ध प्रतीत होते हैं] ।

उसका समाधान [इस प्रकार करना चाहिए । समाधान के दो प्रकार हैं । उनमें से पहिला प्रकार तो यह है कि] अग्रान्तादि ['अग्रान्तशुद्धशुभ्रवराहेभ्यश्च' अष्टा० ५, ३, १४५ इस] सूत्र में चकार के अनुक्तसमुच्चयार्थक होने से [सु शिखर आदि शब्दों का भी समुच्चय होने से] सुदती आदि [शब्दों] में दतृ [दन्त शब्द] का आदेश हो सकता है। ऐसा कुछ लोग [समाधान] कहते हैं ।

दूसरे लोग [दूसरे प्रकार से] यह समाधान करते हैं कि 'सुदती' आदि शब्द स्त्री के वाचक योगरूढ़ शब्द है। उनमें 'स्त्रियां संज्ञायाम्' [अष्टा० ५, ४, १४३] इस सूत्र से [दन्त शब्द को] दतृ [शब्द का] आदेश विकल्प से सिद्ध ही है । [अतः 'सुदती' आदि शब्द अशुद्ध शब्द नहीं हैं] ।। ६७ ।।

'क्षतदृढोरसः' इस [प्रयोग] में ['क्षतं दृढोरः' यस्य इस बहुव्रीहि समास में 'उरः प्रभृतिभ्यः कप्' अष्टा० ५, ४, १५१ इस सूत्र से] कप् नहीं होता है [ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' इत्यादि परिभाषा के अनुसार] तदन्तविधि का निषेध होने से ।

वानरों के नखों के अग्रभागों से जिनका दृढ़ वक्षस्थल घायल हो गया है इस प्रकार हो गए हैं ।

यहां 'दृढोरः' शब्द से 'उरः प्रभृतिभ्यः कप्' [अष्टा० ५, ४, १५१] इस [सूत्र] से कप् [समासान्त प्रत्यय] नहीं किया गया है । 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' इस [परिभाषा के अनुरोध] से तदन्तविधि का निषेध होने से [इस 'क्षतदृढोरः' पद का] समास वाक्य तो 'क्षतं दृढोरः येषां' जिनका दृढ़ वक्षःस्थल घायल हो गया है इस प्रकार करना चाहिए । [अर्थात् पहिले 'दृढं च तदुरः

---

[1] अष्टाध्यायी ५, ४, १५१ ।

अवैहीति वृद्धिरवद्या । ५, २, ६९ ।

अवैहीति वृद्धिरवद्या । गुण एव युक्त इति ॥ ६९ ॥

अपाङ्गनेत्रेति लुगलभ्यः । ५, २, ७० ।

अपांगे नेत्रे यस्याः सेयमपाङ्गनेत्रा इत्यत्र लुगलभ्यः । 'अमूर्ध-मस्तकात् स्वाङ्गादकामे' इति सप्तम्या अलुग् विधानात् ॥ ७० ॥

दृढोरः' इस कर्मधारय समास द्वारा 'दृढोरः' पद बना लेना चाहिए । उसके बाद 'क्षतं दृढोरः येषां' यह बहुव्रीहि समास करना चाहिए । इस प्रकार यह शब्द सिद्ध हो सकता है] ॥ ६८ ॥

'अवैहि' यह वृद्धि दोषयुक्त है [अवेहि प्रयोग करना चाहिए] ।

'अवैहि' इस [प्रयोग] में [की हुई] वृद्धि दोषयुक्त है । [अर्थात् वृद्धि नहीं करनी चाहिए । अपितु] गुण ही [होना] उचित है । [अर्थात् 'अवैहि' के स्थान पर 'अवेहि' का प्रयोग करना चाहिए] ।

'इण् गतौ' धातु मे लोट् लकार के मध्यम पुरुष के एकवचन में 'सेर्ह्यपिच्च' अष्टा० ३, ४, ८७ सूत्र मे 'सि' को 'हि' आदेश और 'लोटो लङ्वत्', अष्टा० ३, ४, ८५ सूत्र के अनुसार ङिद्वद्भाव होने से गुण का अभाव होने से 'इहि' यह रूप वनता है । उसके साथ 'अव' उपसर्ग का पूर्व प्रयोग होने पर गुण होकर 'अवेहि' यह शब्द वनता है, 'अवैहि' नहीं, अतः 'अवैहि' प्रयोग अशुद्ध है।

यदि अव और आङ् दोनों उपसर्गो का प्रयोग किया तब भी अवेहि यही रूप वनेगा । पहिले 'आ इहि' इस स्थिति में 'आद्गुणः' से गुण होकर 'एहि' रूप वन जावेगा । फिर अव के जोड़ने पर 'ओमाङोश्च' अष्टा० ६, १, ९५ सूत्र से पररूप होकर भी 'अवेहि' यही रूप वनेगा । वृद्धि किसी प्रकार नहीं होगी ॥६९॥

'अपाङ्गनेत्रा' इस में ['अपांगे नेत्रप्रान्ते नेत्रं कनीनिका यस्याः सा अपाङ्ग-नेत्रा' इस प्रकार सप्तमी विभक्ति का] लुक् असम्भव [अलभ्य] है ।

[अपांगे] नेत्र के किनारे की ओर नेत्र-कनीनिका [पुतली] है जिसकी वह 'अपाङ्गनेत्रा' [इस प्रकार जो 'अपाङ्गनेत्रा' शब्द बनाया गया है] इसमें [सप्तमी विभक्ति का] लुक् प्राप्त नहीं होता है । अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे [अष्टा० ६,३,१२] इस सूत्र से [मूर्धा और मस्तक को छोड़ कर स्वांगवाची शब्दों से परे सप्तमी का लुक् न हो काम शब्द के परे होने को छोड़ कर । जैसे 'कण्ठेकाल.', 'उरसिलोमा' में सप्तमी का लुक् नहीं होता है । इसी प्रकार 'अपांगे नेत्रं यस्याः' में भी] सप्तमी का अलुक् विधान होने से । ['कण्ठे कालः' के समान 'अपांगे नेत्रा' प्रयोग होना चाहिए, 'अपांगनेत्रा' नहीं] ॥ ७० ॥

नेष्टाः श्लिष्टप्रियादयः पुंवद्भावप्रतिषेधात् । ५, २, ७१ ।

श्लिष्टप्रियः, विश्लिष्टकान्तः इत्यादयो नेष्टाः । स्त्रियाः पुंवदिति पुंवद्भावस्य प्रियादिषु निषेधात् ॥ ७१ ॥

दृढभक्तिरसौ सर्वत्र । ५, २, ७२ ।

'दृढभक्तिरसौ ज्येष्ठे' अत्र पूर्वपदस्य स्त्रियामित्यविवक्षितत्वात् ॥ ७२ ॥

[प्रिय आदि शब्दों के परे रहते] पुंवद्भाव का निषेध होने से ['श्लिष्टा प्रिया येन' इस विग्रह में प्रिया शब्द के परे होने पर पूर्वपद को पुंवद्भाव करके बनाए गए] 'श्लिष्टप्रियः' आदि [शब्द] इष्ट नहीं हैं ।

['श्लिष्टा प्रिया येन सः,' 'विश्लिष्टा कान्ता यस्मात् स विश्लिष्ट-कान्तः' इस रूप में] 'श्लिष्टप्रियः' और 'विश्लिष्टकान्तः' आदि [प्रयोग] इष्ट नहीं हैं । स्त्रियाः पुंवद् ['स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्-समानाधिकरणे स्त्रिया-मपूरणीप्रियादिषु' । अष्टा० ६, २, ३४] इस [सूत्र] से प्रिय आदि के परे होने पर ['अपूरणीप्रियादिषु' इस वचन के अनुसार] पुंवद्भाव का निषेध होने से ['श्लिष्टप्रियः' आदि पुंवद्भाव युक्त प्रयोग नहीं होने चाहिएँ] ।

वाराणसीय संस्करण में दूसरा उदाहरण 'विश्लिष्टकान्तः' यह दिया गया है । परन्तु डा० गंगागानाथ झा ने अपने अँग्रेजी अनुवाद में उसके स्थान पर 'वृद्धकान्तः' यह उदाहरण दिया है । 'वृद्धा कान्ता यस्य स वृद्धकान्तः' इस प्रकार पुंवद्भाव युक्त प्रयोग इष्ट नहीं है] ॥७१॥

दृढ़भक्तिः यह [प्रयोग] सर्वत्र होता है ।

[महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश के १२, १९ में] ज्येष्ठ [राम-चन्द्र] में वह [लक्ष्मण सदा] दृढ़भक्ति रहा । यहां [भक्ति शब्द का प्रियादि में पाठ होने से यह वामन के टीकाकार त्रिपुरहर भूपाल ने 'भक्ति शब्द का प्रियादि में पाठ दिखलाया है] पूर्वपद [दृढ़ा] का [पुंवद्भाव साधारणतः नहीं हो सकता है । अतः दृढ़भक्ति पद नहीं बन सकेगा । तब कालिदास आदि ने उसका प्रयोग कैसे किया यह शंका होने पर उसके समाधान के लिए] स्त्री-लिंग में विवक्षा न होने से 'दृढं भक्तिर्यस्य' इस प्रकार का विग्रह करके 'दृढ-भक्ति' पद सिद्ध होता है] ।

इसके विषय में काशिका की 'न्यास' नामक टीका में भी लिखा है कि 'अदार्ढ्यनिवृत्तिपरे दृढशब्दे लिंगविशेषस्यानुपकारकत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षित-मेव । तस्मादस्त्रीलिंगस्यैव दृढशब्दस्यायं प्रयोगः इत्यभिप्रायः' ।

जम्बुलतादयो ह्रस्वविधेः । ५, २, ७३ ।

भोजराजस्त्वन्यथा समाधत्ते। 'भक्तौ च कर्मसाधनायाम्' इत्यत्र सूत्रे कर्म-साधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठाद् 'भवानीभक्तिः' इत्यादौ पुंवद्भावप्रति-षेधः। दृढभक्तिरित्यादौ भावसाधनत्वात् पुंवद्भावे सिद्धे स्त्रीपूर्वपदत्वमेवेति ॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि न्यासकार के मत से 'दृढभक्ति' पद में दृढ शब्द केवल अदृढता के अभाव का सूचक है। इसलिए उसको स्त्रीलिंग ही मानने की विशेष आवश्यकता नहीं है। इसलिए उसको नपुंसक लिंग शब्द मान कर 'दृढं यथा स्यात् तथा भक्तिर्यस्य' इस प्रकार का विग्रह करने पर 'दृढभक्ति' यह प्रयोग बन सकता है। उसमें पुंवद्भाव की कहीं आवश्यकता ही नहीं पड़ती है।

भोजराज ने अपने ग्रन्थ में इस 'दृढभक्ति' शब्द को सिद्ध करने का दूसरा प्रकार दिखलाया है। उनका कहना है कि पुंवद्भाव का निषेध करने वाले प्रियादि गण में जो भक्ति शब्द का पाठ है वह 'कर्मसाधना भक्ति' का ग्राहक है। जहां भक्ति शब्द के साथ उसके कर्म अर्थात् आराध्य का सम्बन्ध हो वहीं पुंवद्भाव का प्रतिषेध होता है। जैसे 'भवानी में जिसकी भक्ति है' वह पुरुष 'भवानीभक्ति' कहलावेगा। यहां 'भवानी' पद का स्त्रीलिंग में ही प्रयोग होता है पुंवद्भाव नहीं होता है। परन्तु 'दृढभक्ति' पद में 'दृढ' पद कर्म-पद नहीं है अपितु क्रियाविशेषण है। इसलिए 'दृढा भक्तिर्यस्य स दृढभक्तिः इस विग्रह में पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता है। इसलिए 'दृढ़भक्ति' प्रयोग बन जाता है।

इस प्रकार कालिदास के इस 'दृढभक्ति' पद की साधुताप्रदर्शन के लिए, अनेक प्रकार का प्रयत्न किया गया है। इनमें से वामन तथा न्यासकार जिनेन्द्र-बुद्धि ने दृढ़ पद में स्त्रीलिंग की अविवक्षा करके 'दृढं यथा स्यात् तथा भक्ति र्यस्य स दृढभक्तिः' इस प्रकार का विग्रह किया है। जिसमें पुंवद्भाव की आवश्य-कता ही नहीं होती है। और भोजराज ने कर्मसाधना भक्ति में ही पुंवद्भाव का निषेध सम्भव होने से 'दृढभक्ति' में पुंवद्भाव हो सकता है यह समाधान किया है।

जम्बुलता आदि [कर्कन्धग्रहणम्] कर्कन्धू आदि का भी ग्रहण करना चाहिए। शब्द] ह्रस्व के विधान होने से [सिद्ध होते हैं]।

जम्बुलतादयः प्रयोगाः कथम् आह, ह्रस्वविधेः । 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इति ह्रस्वविधानात् ॥ ७३ ॥

तिलकादयोऽजिरादिषु । ५, २, ७४ ।

तिलकादयः शब्दा अजिरादिषु द्रष्टव्याः । अन्यथा 'तिलकवती, कनकवती' इत्यादिषु मतुपि, 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्' इति दीर्घत्वं न स्यात् ।

अन्ये तु वर्णयन्ति, 'नद्यां मतुप्' इति यो मतुप् तत्रायं विधिः । तेषां मतेन 'अमरावती' इत्यादीनामसिद्धिः ॥ ७४ ॥

जम्बुलता आदि [ह्रस्व उकारयुक्त] प्रयोग कैसे बनेंगे । [उत्तर] कहते हैं, ह्रस्व का विधान होने से । 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' [अष्टा० ६, ३, ६१] इस [सूत्र]से ह्रस्व का विधान होने से । ['जम्बुलता', 'कर्कन्धुग्रहणम्' आदि शब्द सिद्ध होते हैं । अन्यथा 'जम्बूलता', 'कर्कन्धूग्रहणम्' आदि रूप होने चाहिएँ । [डा० गंगानाथ झा ने जम्बुलता के स्थान पर 'जलजम्बुलता' पाठ दिया है । और 'कर्कन्धुग्रहणम्' यह अधिक पाठ कोष्ठक में दिया है] ॥ ७३ ॥

तिलक [कनक] आदि [शब्दों] को अजिरादि [गण] में [उसको आकृतिगण मान कर] समझना चाहिए ।

तिलक [कनक] आदि शब्द अजिरादि [गण को आकृतिगण मान कर उस] में समझने चाहिएँ । अन्यथा 'तिलकवती', 'कनकवती' इत्यादि [प्रयोगों] में मतुप् [प्रत्यय] के परे होने पर 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्' [अष्टा० ६, ३, ११९] इस [सूत्र से] मतुप् परे रहते 'बहुत अच् वाले शब्दों के अन्तिम अच् को दीर्घ हो जाने से 'तिलकावती' आदि प्रयोग बनने लगेंगे । अजिरादि गण में तिलक आदि शब्दों का पाठ मान लेने पर तो 'अनजिरादीनाम्' यह निषेध होने से अजिरादिगण पठित तिलक आदि शब्दों के अन्तिम अच् को दीर्घ प्राप्त नहीं होता है । इसलिए तिलकादि शब्दों को अजिरादिगण में मानना चाहिए, अन्यथा [दीर्घ हो जायगा] ।

दूसरे [व्याख्याकार] तो यह कहते हैं कि 'नद्यां मतुप्' [अष्टा० ४, २, ८५] इस [सूत्र] से जो मतुप् होता है वहां ही यह ['मतौ बह्वचोऽनजिरादीनां' इस सूत्र से पूर्वपद के अन्तिम अच् के दीर्घ होने का] विधि है । [अन्य सूत्रों से 'मतुप्' होने पर इस सूत्र से दीर्घ नहीं हो सकता है । इसलिए 'तिलकवती' आदि में जहां 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' [अष्टा० ५, २, ९४] इस सूत्र से 'मतुप्' हुआ है वहां दीर्घ प्राप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है । इनके मत का खंडन करते हैं] ।

निशम्य निशमय्यशब्दौ प्रकृतिभेदात् । ५, २, ७५ ।

निशम्य, निशमय्य इत्येतौ शब्दौ श्रुत्वा इत्येतस्मिन्नर्थे। शमेः, 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशे सति निशमय्य इति भवितव्यम् । न निशम्येति ।

आह । प्रकृतिभेदात् । शमेर्दैवादिकस्य निशम्येति रूपम् । 'शमो दर्शने' इति चुरादौ णिचि मित्संज्ञकस्य निशमय्य इति रूपम् ॥ ७५ ॥

उनके मत में 'अमरावती' आदि [पदों के दीर्घ] की सिद्धि नहीं हो सकेगी । [क्योंकि 'नद्यां मतुप्' सूत्र से इकारान्त उकारान्त शब्दों से ही मतुप् हो सकता है जैसे 'इक्षुमती', 'अमरावती' में । अकारान्त अमर शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस सूत्र से ही 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है, 'नद्यां मतुप्' से नहीं । यदि 'नद्यां मतुप्' से जहां मतुप् हो वहीं 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्' सूत्र से दीर्घ हो तो 'अमरावती' में दीर्घ नहीं हो सकेगा । अतः यह कथन ठीक नहीं है ॥ ७४] ॥

'निशम्य' और 'निशमय्य' यह [प्रयोग] प्रकृति के भेद से [बने] हैं ।

'निशम्य' और 'निशमय्य' यह दोनों शब्द 'श्रुत्वा' [सुनकर] के अर्थ में [प्रयुक्त होते] हैं । [इस पर शङ्का यह है कि 'नि' उपसर्गपूर्वक] शम धातु से ['समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' अ० ७, १, ३७ इस सूत्र से 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' होने पर] 'ल्यपि लघुपूर्वात् [अ० ६, ४, ५६] इस सूत्र से [णि को] 'अय' आदेश होने पर 'निशमय्य' यह [प्रयोग]होना चाहिए । निशम्य' यह [प्रयोग] नहीं होना चाहिए ।

[इस का शङ्का समाधान करने के लिए] कहते हैं । प्रकृति [मूल धातु] के भेद से ['निशम्य' शब्द बनता है] । दिवादिगण के [शमु उपशमे] 'शम' धातु से 'निशम्य' यह रूप बनता है और चुरादिगण में [पठित] 'शमो दर्शने' धातु से णिच् होकर मित्संज्ञक होने से ['मितां ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व होकर] 'निशमय्य' यह रूप बनता है ।

यहां वृत्तिकार ने 'शमो दर्शने' को चुरादि गण की धातु लिखा है । परन्तु धातुपाठ के अनुसार चुरादि गण में पठित 'शम' धातु का अर्थ 'दर्शन' नहीं 'आलोचन' है । 'लक्ष शम आलोचने' इस प्रकार का पाठ चुरादि गण में है। उसके साथ ही वृत्तिकार चुरादिगणपठित 'शम' धातु को 'मित्संज्ञक' मानते हैं । परन्तु सिद्धान्तकौमुदी में उसके मित्संज्ञकत्व का निषेध किया है । सिद्धान्तकौमुदी में लिखा है—'शम लक्ष आलोचने' । नान्ये मित इति मित्त्वनिषेधः । शामयते ।' अतः यह लेख ठीक नहीं है । वृत्तिकार ने जिस 'शमो दर्शने' धातु का उल्लेख

संयम्य-नियम्य-शब्दावणिजन्तत्वात् । ५, २, ७६ ।

कथं संयम्य-नियम्य-शब्दौ 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशेन भवितव्यम् । आह । अणिजन्तत्वात् । धातोर्णिच् तु न । गतार्थत्वात् । यथा वाचं नियच्छति इति । णिजर्थानवगतौ णिच् प्रयुज्यत एव । यथा 'संयमयितुमारब्ध' इति ॥ ७६ ॥

किया है वह चुरादि गण में नहीं अपितु भ्वादिगण में पाई जाती है। और सिद्धान्तकौमुदीकार ने 'निशमय्य' रूप इस भ्वादिगण की 'शमो दर्शने' धातु से बनाया है। उन्होंने लिखा है :—

'शमो दर्शने' । शाम्यतिर्दर्शने मिन्न स्यात् । निशामयति रूपम् । अन्यत्र तु 'प्रणयिनो निशमय्य वधूः कथाः' । कथं तर्हि, 'निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम' इति । 'शम आलोचने' इति चौरादिकस्य । धातूनामनेकार्थत्वाच्छ्रवणे वृत्तिः शाम्यतिवत् ।

इस प्रकार वृत्तिकार का प्रकृत लेख भ्रान्त प्रतीत होता है।

शम धातु का पाठ भ्वादि, दिवादि और चुरादि तीन गणों में आया है। परन्तु उनमें से एक भी जगह उसका श्रवण अर्थ नहीं दिखलाया गया है। भ्वादि में 'शमो दर्शने', दिवादि में 'शमु उपशमे' और चुरादि में 'शमु लक्ष आलोचने' इस प्रकार के पाठ हैं। परन्तु श्रवण के अर्थ में उसका प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। इसी लिए सिद्धान्तकौमुदीकार ने 'धातूनामनेकार्थत्वात् श्रवणे वृत्तिः' यह लिखा है ॥ ७५ ॥

संयम्य नियम्य [यह प्रयोग धातु के] अणिजन्त होने से [होते] हैं।

[यम धातु का पाठ १. 'यमो परिवेषणे', २. 'यम मैथुने', ३. 'यम उपरमे' यह तीनों स्थान पर भ्वादिगण में और एक जगह चुरादिगण में 'यम च परिवेषणे' आया है। इनमें से भ्वादिगण के 'यम उपरमे' धातु से] 'संयम्य', 'नियम्य' शब्द कैसे बनते हैं। [अर्थात् बांधकर आदि में प्रयोजक व्यापार की प्रतीति होने से णिच् होना चाहिए। और णिच् होने पर] 'ल्यपि लघुपूर्वात्' [अष्टा० ६, ४, ५६] से 'णि' को 'अय' आदेश [हो कर 'संयमय्य', 'नियमय्य' यह रूप] होना चाहिए। [यह शङ्का हुई। उसका समाधान] कहते हैं। [बांध कर आदि में प्रयोजक व्यापार की प्रतीति न होने से और] धातु के अणिजन्त होने से यहां [धातु से] णिच् तो नहीं होता है। [प्रयोजक व्यापार शून्य सकर्मक प्रकृत्यर्थ के धातु से] गतार्थ हो जाने से। जैसे 'वाचं नियच्छति' यह [यह प्रयोग होता है। यहां वाणी रुकती

प्रपीयेति पीङः । ५, २, ७७ ।

'प्रपीय' इत्ययं शब्दः 'पीङ् पाने' इत्येतस्य। पिबतेर्हि 'न ल्यपि' इति ईत्वप्रतिषेधात् 'प्रपाय' इति भवति ॥ ७७॥

दूरयतीति बहुलग्रहणात् । ५, २, ७८ ।

'दूरयत्यवनते विवस्वति' इत्यत्र दूरयतीति कथम् ? णाविष्ठवद्भावे, 'स्थूलदूर' इत्यादिना गुणलोपयोः कृतयोर्दवयतीति भवितव्यम् ।

आह। बहुलग्रहणात्। 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' इत्यत्र बहुलग्रहणात् 'स्थूलदूरादि' सूत्रेण यद् विहितं तन्न भविष्यतीति ॥ ७८॥

है और बोलने वाला उसको रोकता है। यह प्रयोजक व्यापार धातु से ही गतार्थ हो जाता है इसलिए यहां णिच् नहीं होता है। इसी प्रकार सकर्मक 'संयम्य', 'नियम्य' आदि में जिसका संयम या नियम किया जाता है उसके धातु से ही गतार्थ हो जाने से णिच् नहीं होता है। अयादेश की प्राप्ति होने से तब 'संयम्य', 'नियम्य' शब्द बन जाते हैं। और] णिजर्थ की अवगति [सत्यार्थ रूप में] न होने पर णिच् का प्रयोग होता ही है जैसे 'संयमयितुमारब्धः' बंधवाना शुरू कर दिया [यहां णिच् का प्रयोग हुआ है।]॥ ७६ ॥

प्रपीय यह [प्रयोग] पीङ् [पाने] धातु का है।

प्रपीय यह शब्द पीङ् पाने इस [धातु] का है। पिबति [पा पाने] धातु का तो 'न ल्यपि' [अष्टा० ६, २, ६९] इस सूत्र से इत्व का प्रतिषेध होने से 'प्रपाय' यह [रूप] होता है ॥ ७७ ॥

['दूरं करोति गच्छति वा' इस अर्थ में] 'दूरयति' यह [रूप] बहुल ग्रहण से होता है।

'दूरयत्यवनते विवस्वति' अस्त होते हुए सूर्य के दूर होने पर यहां 'दूरयति' यह [प्रयोग कैसे होगा। 'दूर' प्रतिपादिक से धात्वर्थ में] णिच् के होने पर ['प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' इस नियम के अनुसार] इष्ठवद्भाव होने पर 'स्थूल दूर' इत्यादि [अर्थात् स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' अष्टा० ६, ४, १५६] सूत्र से [दू के ऊ को] गुण [ओ] और [र] का लोप कर देने पर 'दवयति' यह [रूप] होना चाहिए। [दूरयति यह प्रयोग कैसे किया गया है। यह शङ्का होती है]।

[उसका समाधान] कहते हैं। बहुल ग्रहण से। [अर्थात्] 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' [प्रातिपादिक से णि और उसके इष्ठवद्भाव का

गच्छतीप्रभृतिष्वनिषेध्यो नुम् ५, २, ७९ ।

'हरति हि वनराजिर्गच्छती श्यामभावम्' ।

इत्यादिषु 'गच्छती' प्रभृतिषु शब्देषु, 'श्यप्श्यनोर्नित्यम्' इति 'नुम्' अनिषेध्यो निषेद्धुमशक्यः ॥ ७९ ॥

मित्रेण गोप्त्रेति पुँवद्भावात् । ५, २, ८० ।

'मित्रेण गोप्त्रा' इति कथम्? गोप्तृणा भवितव्यम् । 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुम् विधानात् । आह । पुंवद्भावात् । 'तृतीयादिषु भाषित-पुंस्कं पुंवद् गालवस्य' इति पुंवद्भावेन 'गोप्त्रा' इति भवति ॥ ८० ॥

विधान करने वाले सूत्र में] यहां बहुल [शब्द] का ग्रहण होने से 'स्थूलदूर' सूत्र से जो [यणादि पर का लोप और पूर्व को गुण का] विधान किया गया है वह सब नहीं होगा । [इस प्रकार 'दूरयति' रूप बन सकेगा अतः उसका प्रयोग दूषित नहीं है] ॥ ७८ ॥

'गच्छती' आदि में 'नुम्' का निषेध नहीं किया जा सकता है । [अर्थात नुम् अवश्य होगा । इसलिए 'गच्छती' प्रयोग अशुद्ध है] ।

'हरति हि वनराजिर्गच्छती श्यामभावम्' । श्यामभाव [हरियाली] को प्राप्त होती हुई वन पंक्ति [मन को] हरण करती है ।

इत्यादि [उदाहरणों] में 'गच्छती' आदि शब्दों में 'शप्श्यनोर्नित्यम्' [अष्टा० ७, १, ८१] इस से [नित्य प्राप्त होने वाला] नुम् अनिषेध्य है अर्थात् रोका नहीं जा सकता है [अतएव 'गचछती' के स्थान पर 'गच्छन्ती' प्रयोग अनिवार्य है । 'गच्छती' प्रयोग अशुद्ध है] ॥ ७९ ॥

'मित्रेण गोप्त्रा ' यह [नपुंसकलिंग मित्र शब्द के साथ उसके विशेषण-भत 'गोप्तृ' पद का पुंलिग का 'गोप्त्रा' यह रूप] पुंवद्भाव से होता है ।

'मित्रेण गोप्त्रा' यह [नपुंसकलिंग मित्र शब्द के साथ उसके विशेषण रूप में पुंलिंग 'गोप्त्रा' पद का प्रयोग] कैसे [संगत होगा ।] गोप्तृणा होना चाहिए । [क्योंकि इगन्त नपुंसकलिंग गोप्तृ शब्द को अजादि विभक्ति टा का आ परे रहते] 'इकोऽचि विभक्तौ' [अष्टा० ७, १ ,७३] इस [सूत्र] से नुम् का विधान होने से [अन्त्य अच् ऋ से परे नुम् होकर गोप्तृणा होना चाहिए था । यह शङ्का होती हैं । उसका समाधान करने के लिए] कहते हैं । पुंवद्भाव हो जाने से [नुम् नहीं होता है] 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य' [अष्टा० ७, १, ७४] इस [सूत्र] से [गोप्तृ शब्द के भाषितपुंस्क अर्थात् पुंलिग में

वेत्स्यसीति पदभङ्गात् । ५, २, ८१ ।

'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' इत्यत्र 'वेत्स्यसि' इति न सिद्ध्यति । इट्-प्रसङ्गात् । आह । पदभङ्गात् सिद्ध्यति । वेत्स्यसि इति पदं भज्यते 'वेत्सि' 'असि' । असीत्ययं निपातस्त्वमित्यस्मिन्नर्थे क्वचिद् वाक्यालङ्कारे प्रयुज्यते । यथा—

पार्थिव त्वमसि सत्यमभ्यधाः इति ॥ ८१ ॥

कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत् ॥ ५, २, ८२ ॥

कामयानशब्दः सिद्धः । 'आगमानुशासनमनित्यम्' इति मुक्यकृते, यद्यनादिः स्यात् ॥ ८२ ॥

भी तृतीया आदि विभक्तियों में] पुंवद्भाव हो जाने से 'गोप्त्रा' यह [रूप] होता है । ॥ ८० ॥

'वेत्स्यसि' यह [प्रयोग] पदों के भंग [पदच्छेद] से होता है ।

'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' पृथ्वी पर गिरा हुआ देखोगे । यहां [प्रयुक्त किया हुआ] 'वेत्स्यसि' [यह प्रयोग] सिद्ध नहीं होता है । [ज्ञानार्थक विद् धातु के अनुदात्तोपदेश न होने से] इट् प्राप्त होने से ['वेदिष्यति' प्रयोग होना चाहिए । 'वेत्स्यसि' प्रयोग कैसे किया गया है । इस शङ्का का समाधान] कहते हैं । ['वेत्सि असि' इस प्रकार के] पद-भङ्ग से ['वेत्स्यसि' यह रूप] सिद्ध होता है । 'वेत्स्यसि' इस पद का विभाग करते हैं--'वेत्सि, असि' । [यहां] असि यह निपात 'त्वम्' इस अर्थ में है । कहीं ['असि' यह निपात] वाक्यालंकार में प्रयुक्त होता है । जैसे—

हे राजन् तुमने ठीक कहा ।

[यहां 'त्वम्' और 'असि' दोनों का प्रयोग है । इसलिए 'असि' को 'त्वम्' के अर्थ में नहीं गान सकते हैं । अतः यहां 'असि' का प्रयोग वाक्यालंकार के रूप में हुआ है] ।

यहां वामन ने 'वेत्स्यसि' पद को 'वेत्सि असि' पदच्छेद करने से वना तो अवश्य दिया है । परन्तु यह 'वेत्सि' रूप तो वर्तमान काल का हुआ । और जहां 'वेत्स्यसि' यह प्रयोग किया गया है वहां भविष्यत्काल के रूप में उसका प्रयोग हुआ है । इसलिए यह उचित समाधान नहीं हुआ है ॥ ८१ ॥

यदि अनादि [चिरकाल से प्रचुर रूप में प्रयुक्त हो रहा] है तो 'कामयान' शब्द [प्रयोग प्राचुर्य से] सिद्ध है ।

['कामयमानः' के स्थान पर 'मुक्' के आगमन से रहित] 'कामयान' शब्द

सौहृददौर्हृदशब्दावणि हृद्भावात् । ५, २, ८३ ।

सुहृदय-दुर्हृदय शब्दाभ्यां युवादिपाठादणि कृते हृदयस्य हृद्भावः। आदिवृद्धौ सौहृद-दौर्हृदशब्दौ भवतः। सुहृद्-दुर्हृच्छब्दाभ्यां युवादिपाठादेवाणि कृते 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते' इति हृदन्तस्य तद्धितेऽणि कृते उभयपदवृद्धौ सत्यां सौहार्दं दौहार्दमिति भवति ॥ ८३ ॥

विरम इति निपातनात् । ५, २, ८४ ।

सिद्ध हो सकता है। 'आगमानुशासनमनित्यम्' इस नियम के अनुसार मुक् का आगम न करने पर। यदि यह अनादि [प्रचुर प्रयुक्त] हो तो। [अन्यथा 'कामयमानः' प्रयोग होना चाहिए । 'अनादिश्चेत्' कहने का अभिप्राय यह है कि यदि अनादि काल से इस 'कामयानः' पद का प्रयोग चला आ रहा हो तो उसका उपपादन करने का मार्ग आगमानुशासन को अनित्य मान कर निकाला जा सकता है । परन्तु वास्तव में वह अनादि अथवा प्रचुर प्रयुक्त शब्द नहीं है इसलिए उसका प्रयोग न करके 'कामयमानः' यह प्रयोग ही करना चाहिए]॥ ८२ ॥

सौहृद, दौर्हृद शब्दों से ['शोभनं हृदयं यस्य' इस विग्रह में सिद्ध हुए सुहृदय दुर्हृदय शब्दों से भावार्थ में 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' अष्टा० ५, १, १३० सूत्र से अण् [प्रत्यय] करने पर ['हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' अष्टा० ६, ३, ५० इस सूत्र से] हृदय [शब्द] को हृद् भाव होता है। [और 'तद्धितेष्वचामादेः' अष्टा० ७, २, ११७ सूत्र से] आदि वृद्धि होने पर सौहृद, दौर्हृद शब्द [सिद्ध] होते हैं। और सुहृद् दुर्हृद् शब्दों से युवादि पाठ से ही ['हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' सूत्र से] अण् प्रत्यय करने पर 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' [अष्टा० ७, ३, १;] से, हृदन्त तद्धित अण् [प्रत्यय] करने पर [सुहृद्, दुर्हृद्] शब्दों को उभयपद वृद्धि होकर [सुहृदो अपत्यं सौहार्दः आदि अथवा] सौहार्दम् दौर्हार्दम् यह [रूप सिद्ध] होते हैं ॥ ८३ ॥

[वि उपसर्ग पूर्वक रम धातु के मान्त होने पर भी अनुदात्तोपदेश होने से 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' अष्टा० ७, ३, ३४ सूत्र से वृद्धि के निषेध का अभाव होने से, वृद्धि होने पर 'विराम' ऐसा प्रयोग होना चाहिए था। 'विरम' यह प्रयोग कैसे होता है । इस शङ्का का समाधान करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं।]

'विरम' यह शब्द ['यम उपरमे' इस प्रकार धातुपाठ में] निपातित होने से [सिद्ध होता] है।

रमेरनुदात्तोपदेशत्वाद्, 'नोदात्तोपदेशस्य' इत्यादिना वृद्धिप्रतिषेधस्याभावात् कथं विरम इति। आह, निपातनात्। एतत्तु 'यम उपरमे' इत्यत्रोपरमे इति। अतन्त्रं चोपसर्ग इति ॥ ८४ ॥

उपर्यादिषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु द्वितीया। ५, २, ८५।

उपर्यादिषु शब्देषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु, 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' इत्यनेन उपर्यादिषु त्रिषु, 'द्वितीया आम्रेडितान्तेषु' इति द्वितीया। वीप्सायान्तु द्विरुक्तेषु षष्ठ्येव भवति। 'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः' ॥ ८५ ॥

मन्दं मन्दमित्यप्रकारार्थत्वे। ५, २, ८६।

[वि उपसर्गपूर्वक] रम धातु के अनुदात्तोपदेश होने से 'नोदात्तोपदेशस्य' इत्यादि ['नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' अष्टा ७, ३, ३४ सूत्र] से वृद्धि के प्रतिषेध का अभाव होने से 'विरम' यह प्रयोग कैसे बनेगा। [इसके समाधान के लिए] कहते हैं। निपात से। यह [निपातन] तो 'यम उपरमे' [धातुपाठ] इसमें 'उपरमे' यह [पद] है। [यद्यपि यहां उप उपसर्ग पूर्वक रम धातु का 'उपरमे' यह रूप निपातित किया गया है परन्तु] उपसर्ग प्रयोजक नहीं है। [इसलिए वि उपसर्ग पूर्वक रम धातु का 'विरम' रूप भी बन सकता है। अतः 'उपरम' के समान 'विरम' प्रयोग भी उचित है] ॥ ८४ ॥

उपरि आदि [शब्दों] में सामीप्य [अर्थ] में ['उपर्यध्यधसः सामीप्ये' अष्टा० ८, १, ७ इस सूत्र से] द्विरुक्त होने पर द्वितीया होती है।

'उपरि' आदि शब्दों के सामीप्य [अर्थ] में 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' [अष्टा० ८, १, ७] इस [सूत्र] से उपर्यादि तीन में 'द्वितीयाम्रेडितान्तेषु' इस [कारिकोक्त वचन] से द्वितीया [विभक्ति] होती है। वीप्सा [और आभीक्ष्ण्य] में ['नित्यं वीप्सयोः' अष्टा० ९, १, ४ इस सूत्र से] द्विरुक्त होने पर तो षष्ठी विभक्ति ही होती है। जैसे—

[प्राणियों की] बुद्धियों के ऊपर ही ईश्वर की बुद्धि चलती है। [क्रियागुणाभ्यां युगपत् प्रयोक्तुर्व्याप्तुमिच्छा वीप्सा] ॥ ८५ ॥

मन्दं मन्दं यह [प्रयोग] अप्रकारार्थक [अर्थात् वीप्सार्थक] है।

[महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में] 'मन्दं मन्दं नुदति पवनः' [आदि लिखा है] यहां 'मन्दं मन्दं' यह प्रकारार्थ से भिन्न [वीप्सा] अर्थ में [प्रयोग हुआ] है। प्रकारार्थ में [प्रयोग मानने पर] तो 'प्रकारे गुणवचनस्य'

'मन्दं मन्दं नुदति पवनः' इत्यत्र मन्दं मन्दं इत्यप्रकारार्थे भवति। प्रकारार्थत्वे तु 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्वचने कृते कर्मधारयवद्भावे च मन्दमन्दमिति प्रयोगः। मन्दं मन्दं इत्यत्र तु नित्यवीप्सयोरिति द्विर्वचनम्। अनेकभावात्मकस्य नुदेर्यदा सर्वे भावा मन्दत्वेन व्याप्तुमिष्टा भवन्ति तदा वीप्सेति ॥ ८६ ॥

न निद्राद्रुगिति भष्भावप्राप्तेः। ५, २, ८७।

'निद्राद्रुक्-कद्रवैयच्छविरुपरिलसद्घर्घरो वारिवाहः।'

इत्यत्र 'निद्राद्रुक्' इति न युक्तः। 'एकाचो बशो भष्' इति भष्भावप्राप्तेः। अनुप्रासप्रियैस्त्वपभ्रंशः कृतः। ॥ ८७ ॥

[अष्टा० ८, १, ११] इस [सूत्र] से [गुणवाचक 'मन्दं' शब्द को] द्विर्वचन करने पर [उस 'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र के 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' अष्टा० ६, १, ११ इस सूत्र के अधिकार में होने से कर्मधारयवद्भाव [कर्मधारय समास के समान कार्य] होने से [सु आदि विभक्ति लोप होकर] 'मन्दमन्दं' यह प्रयोग होगा। ['मन्दं मन्दं' प्रयोग नहीं बनेगा]। 'मन्दं मन्दं' इस [कालिदास के प्रयोग] में तो 'नित्यं वीप्सयोः' [अष्टा० ८, १, ४] इस [सूत्र] से द्विर्वचन हुआ है ['प्रकारे गुणवचनस्य' से नहीं]। [अनेकभावविषय व्याप्त इच्छा वीप्सा] अनेक भावात्मक [अनेक पदार्थों से सम्बद्ध] नुद् [णुद् प्रेरणे] धातु के [सम्बद्ध] सब पदार्थों में [एक साथ] जब व्याप्ति इष्ट हो तब 'वीप्सा' कहलाती है। [यह वीप्सा का लक्षण है। यहां वीप्सा में द्विर्वचन हुआ है। अतएव कर्मधारयवद्भाव न होने से विभक्ति लोप आदि नहीं होता है। अतः 'मन्दं मन्दं नुदति पवनः' यह प्रयोग बन जाता है।]॥ ८६ ॥

'निद्राद्रुक्' यह [प्रयोग] उचित नहीं है। ['एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' अष्टा० ८, २, ३७ इस सूत्र से द् के स्थान पर ध रूप] भष् भाव की प्राप्ति होने से। [निद्राध्रुक् प्रयोग होना चाहिए]।

ऊपर गड़-गड़ करता हुआ राक्षस के समान [भयंकर] बादल निद्रानाशक है [सोने नहीं देता है]।

यहां [इस उदाहरण में] 'निद्राद्रुक्' यह [प्रयोग] उचित नहीं है। 'एकाचो बशो भष् ['एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' अष्टा० ८, २, ३७] इस [सूत्र] से भष् भाव [द के स्थान पर ध] के प्राप्त होने से ['निद्राध्रुक्' प्रयोग होना चाहिए था। परन्तु] अनुप्रासप्रिय [कवियों] ने [उस शब्द को] बिगाड़ [कर निद्राद्रुक् कर] दिया है ॥ ८७ ॥

निष्यन्द इति षत्वं चिन्त्यम् । ५, २, ८८ ।

न ह्यत्र षत्वलक्षणमस्ति । कस्कादिपाठोऽप्यस्य न निश्चितः ॥ ८८ ॥

नांगुलिसंग इति मूर्धन्यविधेः । ५, २, ८९ ।

'म्लायन्त्यंगुलिसंगेऽपि कोमलाः कुसुमस्रजः' । इत्यत्र 'अंगुलिसंग' इति न युक्तः । 'समासे अंगुलेः संगः' इति मूर्धन्यविधानात् ॥ ८९ ॥

तेनावन्तिसेनादयः प्रत्युक्ताः । ५, २, ९० ।

तेनांगुलिसंग इत्यनेन अविन्तसेनः इन्दुसेनः, एवमादयः शब्दाः प्रत्युक्ताः प्रत्याख्याताः । 'सुषामादिषु च', 'एति संज्ञायामगात्' इति मूर्धन्यविधानात् ॥ ९० ॥

नेन्द्रवाहने णत्वमाहितत्वस्याविवक्षितत्वात् । ५, २, ९१ ।

'निष्यन्द' इस [प्रयोग] में [किया हुआ] षत्व चिन्त्य [अशुद्ध] है।

यहां ['निस्यन्द' पद में विसर्ग को] षत्व विधान करने वाला कोई सूत्र नहीं है। 'कस्कादिगण' में इसका पाठ भी निश्चित नहीं है। [कि 'कस्कादिषु च' अष्टा० ८, ३, ४८ इस सूत्र से इण् से उत्तर विसर्ग को षत्व किया जा सके। अतः 'निष्यन्दः' प्रयोग उचित नहीं है उसके स्थान पर 'निस्यन्दः' यह षत्वरहित प्रयोग करना चाहिए] ॥ ८८ ॥

'अंगुलिसङ्गः' यह [षत्वरहित प्रयोग] उचित नहीं है। ['समासे अंगुलेः सङ्गः' अष्टा० ८, २३, ८० इस सूत्र से] मूर्धन्य [षत्व] का विधान होने से। [अंगुलिषङ्गः यह प्रयोग करना चाहिए]।

अंगुलि का संग होने से भी कोमल पुष्पमालाएं मुरझा जाती हैं।

इस [उदाहरण में 'अंगुलिसङ्गः' यह षत्वरहित प्रयोग] उचित नहीं है। 'समासे अंगुलेः संगः' इस [सूत्र] से मूर्धन्य [षत्व] का विधान होने से ॥ ८९ ॥

उस ['अंगुलिसङ्गः' प्रयोग] से 'अवन्तिसेन' आदि [षत्वरहित] प्रयोग खण्डित हो गए।

उस 'अंगुलिसंगः' इस [के निषेध से] से 'अवन्तिसेनः' 'इन्दुसेनः' इस प्रकार के शब्दों का खण्डन हो गया। 'सुषामादिषु' च [० ८, ३, ९८] और 'एति संज्ञायामगात्' [०८, ३, ९०] इस [सूत्र] से मूर्धन्य का विधान होने से। ['अवन्तिषेणः', 'इन्दुषेणः प्रयुक्त करना चाहिए] ॥ ९० ॥

'इन्द्रवाहन' [शब्द] में णत्व नहीं होगा आहितत्व [लदाव] के विवक्षित न होने से। [आहितत्व अर्थात् लदाव के विवक्षित होने पर 'इन्द्रवाहणम्' ऐसा प्रयोग होगा]।

'कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्' इत्यत्र 'इन्द्रवाहन' शब्दे 'वाहनमाहितात्' इति णत्वं न भवति । आहितत्वस्याविवक्षितत्वात् । स्वस्वामिभावमात्रं ह्यत्र विवक्षितम् । तेन सिद्धं 'इन्द्रवाहनम्' इति ॥ ९१ ॥

सदसन्तो मया शब्दा विविच्यैवं निदर्शिताः ।
अनयैव दिशा कार्यं शेषाणामप्यवेक्षणम् ॥

इति श्रीकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
प्रायोगिके पञ्चमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।
शब्दशुद्धिः ।
समाप्तं चेदं 'प्रायोगिकं' पञ्चममधिकरणम् ॥

[महाकवि माघ ने] झूल से शोभित इन्द्रवाहन [ऐरावत] हाथी के समान । [यह प्रयोग किया है] इसमें इन्द्रवाहन शब्द में 'वाहनमाहितात्' [अष्टाध्यायी ८, ४, ८] इस [सूत्र] से णत्व नहीं होता है । आहितत्व [लदाव] के विवक्षित न होने से । यहां [इन्द्र का ऐरावत हाथी के साथ] केवल स्व-स्वामिभाव [सम्बन्ध] ही विवक्षित है [इन्द्र ऐरावत पर बैठे हुए हैं इस प्रकार का आहितत्व विवक्षित नहीं है] इसलिए यह सिद्ध हो जाता है ॥ ९१ ॥

इस प्रकार मैंने शुद्ध या अशुद्ध [रूप में प्रयुक्त होने वाले कुछ विशेष] शब्द विवेचना करके [यहां] दिखलाए हैं । इसी शैली से शेष [सन्दिग्ध] शब्दों का भी विचार करना चाहिए ।

इति श्री काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति के 'प्रायोगिक' पञ्चमाधिकरण में
द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ । शब्दशुद्धिः ।
यह प्रायोगिक पञ्चम अधिकरण समाप्त हुआ ।

—०—

माघफाल्गुनमासाभ्यां द्विसहस्रे नवोत्तरे ।
काव्यालङ्कारसूत्राणां वृत्तेर्व्याख्या प्रपूरिता ॥

—०—

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मक़तुल' ग्रामनिवासिनां
श्री शिवलालबख्शी महोदयानां तनुजनुषा
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्येन, तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता
एम० ए० इत्युपपदधारिणा श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना
विरचिता 'काव्यालङ्कारदीपिका' हिन्दीव्याख्या समाप्ता
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

परिशिष्ट सं० १

मूल ग्रन्थ में आए हुए उद्धरणों की वर्णानुक्रम से सूची